व्याकरण की दार्शनिक भूमिका

सत्यकाम वर्मा

सत्यकाम वर्मा

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका

MUNSHIRAM MANOHARLAL

सत्यकाम वर्मा

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका

MUNSHIRAM MANOHARLAL

"विगत वर्षों में 'भाषाविज्ञान' के क्षेत्र में हुई अभिनव प्रगति से 'व्याकरण' और 'अर्थविज्ञान' के बीच बढ़ती खाई को पाटने में विशेष सहायता मिली है। इस दिशा में श्री **दे सौस्यूर** और **शोम्स्की** अग्रणी कहे जा सकते हैं। इससे पूर्व 'व्याकरण' के दार्शनिक अध्ययन की दिशा में **येस्पर्सन** ने अनूठा कार्य किया था।

'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका' उसी दिशा में अनूठा प्रयास है। लेखक ने इस दिशा में पाणिनि सरीखे महावैयाकरण और पतंजलि एवं भर्तृहरि सदृश महान् दार्शनिक भाषाविदों का मार्गदर्शन स्वीकार किया है। उसकी धारणा है कि इस प्रकार के अध्ययन से 'भाषाविज्ञान', 'अर्थविज्ञान' और 'व्याकरण' की पुरानी दूरी कम हो सकेगी। तभी 'व्याकरण' का सही 'अन्तरराष्ट्रीय आधार' भी सामने आ सकेगा।

प्रस्तुत प्रयास इसी आशा से बढ़ा है।"

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका

THE PHILOSOPHY OF GRAMMAR

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका

भर्तृहरि पर मुख्यतः आधारित

THE PHILOSOPHY OF GRAMMAR

According to Bhartṛhari

डा० सत्यकाम वर्मा

रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय

मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली

MUNSHIRAM MANOHARLAL
Post Box 5715
54, Rani Jhansi Road, New Delhi-5
Book Shop : 4416, Nai Sarak, Delhi-6

VYĀKARANA KĪ DĀRŚANIKA BHŪMIKĀ

By Dr. SATYAKAM VARMA
Reader, Delhi University

First Published : September, 1971

Printed at Printsman, 18A/11 Doriwalan, New Rohtak Road, New Delhi-5

स्वर्गस्थ पिता श्री विद्याधर विद्यालंकार
की वास्तविक वसीयत
जो उनके हस्ताक्षर न पाकर
अप्रमाणित ही रह गई

भर्तृहरि की अमूल्य निधि
जिसे पाकर विचार-जगत्
धन्य हो उठा

पूर्वभूमिका

जब इस प्रबन्ध पर कार्य आरम्भ हुआ, उस समय तक व्याकरण के अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप को पहचानने और उसकी मान्यताओं के पीछे स्थित दार्शनिक पृष्ठभूमि की खोज निकालने की दिशा में गिने-चुने ही प्रयास हुए थे। पश्चिम के ऐसे प्रयासकर्त्ताओं में **येस्पर्सन** को सर्वप्रमुख कहा जा सकता है। **ब्लूमफील्ड, गार्डिनर**, तथा अन्य कई विचारकों ने भी इस समस्या के विविध पहलुओं पर विविध ढंग से विचार किया। पर येस्पर्सन की सी सूक्ष्म और व्यापक पहुंच वे न पा सके। भारत में भी इस प्रकार के कुछ प्रयास हुए, किन्तु उनका सम्बन्ध संस्कृत व्याकरण की दार्शनिक भूमिका से ही है। **डा० पी० सी० चक्रवर्ती और रामाज्ञा पाण्डेय** आदि के प्रयास इसी कोटि के हैं। हाँ, भारतीय भाषाविदों में से कुछ ने पतंजलि, भर्तृहरि, आदि से चमत्कृत होकर भाषा-विज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि के विविध पहलुओं पर अवश्य लिखा। **डा० कपिलदेव द्विवेदी, डा० गौरीनाथ शास्त्री और डा० बाबूराम सक्सेना**, आदि के नाम इस क्षेत्र में प्रमुख हैं। इन सब का आधार मुख्यतः भर्तृहरि के **'वाक्यपदीय'** पर रहा है। तब तक भर्तृहरि के विशिष्ट मर्मज्ञ श्री के० ए० सुब्रह्मण्य ऐयर और कुमारी बियार्दो के प्रयास **'वाक्यपदीय'** के सम्पादन और अनुवाद तक ही सीमित थे। यह बात सन् १९६४ की है। श्री ऐयर का **'भर्तृहरि'** अभी गत वर्ष ही प्रकाशित हुआ है। अतः उससे अनभिज्ञ रहकर ही लेखक ने यह प्रयास पूरा किया!

यह प्रयास सन् १९६५ के अन्त तक पूरा हो चुका था। इसकी प्रेस कापी सन् १९६७ तक तैयार हो गई थी। किन्तु मुद्रण के लिए यह सन् १९६९ में ही जा सका। मुद्रण की पकड़ से इसकी मुक्ति का समय आज आया है। अतः स्वाभाविक है कि इस बीच प्रकाशित साहित्य से चाह कर भी मैं लाभ न उठा सकता था। उसका अर्थ होता, बहुत से स्थलों में परिवर्त्तन-परिवर्धन। पर यह सब आवश्यक भी न था। क्योंकि जो बात मैं जिस ढंग से कहना चाहता था, उस दिशा में न किसी ने प्रयास किया था, न उस प्रकार की कोई बात लिखी थी। अतः मुझे अपने पथ का निर्माण और निर्वाह स्वयं करना था।

हेतु, पथ और सीमा

ऊपर येस्पर्सन की बात आई है। इस दिशा में उनका अमर ग्रन्थ 'दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ ग्रामर' है। प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा और क्षेत्र भी मूलत: वैसा ही है। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध का मूल प्रेरणा-स्रोत येस्पर्सन का वह अमर ग्रन्थ ही है। परन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध न तो उसकी नकल है और न उसके प्रत्याख्यान का प्रयास! इसके निर्माण का अपना हेतु है, और तैयार किया अपना ही पथ।

इससे पूर्व मेरा एक शोध-प्रबन्ध 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के नाम से १९६३ में प्रकाश में आ चुका था। उसमें वाक् और भाषा के सम्बन्ध में भर्तृहरि के **'वाक्यपदीय'** और **'महाभाष्य त्रिपदी टीका'** में व्यक्त मन्तव्यों के प्रकाश में यत्किंचित् विचार हुआ था। संक्षिप्त होते हुए भी, उसमें मूलत: **वाक्यपदीय** के **प्रथम** और **द्वितीय** काण्ड के सभी प्रमुख विषय गृहीत हुए थे। 'वाक्यपदीय' के **तृतीय काण्ड** को **'प्रकीर्णक'** या **'पदकाण्ड'** के नाम से स्मरण किया जाता है। मूलत: इसके सभी विषय 'पद' से सम्बद्ध है: इसीलिए वे **व्याकरण** के विषय हैं। **जाति-समुद्देश** से लेकर **वृत्तिसमुद्देश** तक इस काण्ड में जो चौदह समुद्देश हैं, वे सभी व्याकरण के विविध पहलुओं से सम्बद्ध हैं। पाणिनि और पतंजलि के एतद्विषयक विचारों के प्रकाश में भर्तृहरि ने उनका सहेतुक दार्शनिक विवेचन किया है। यदि चौथे समुद्देश की स्वतन्त्र सत्ता को अमान्य कर उसे पंचम का अंग भी मान लिया जाए, तब भी हमारे वक्तव्य में कोई अन्तर नहीं आता। इन विषयों का कहीं-कहीं से आस्वाद-मात्र के रूप में ही मैंने **'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय'** में उपयोग किया था। भाषा के सामान्य स्वरूप पर उस प्रकार के नवीन एवं उत्तेजक विमर्श के बाद, भर्तृहरि के मतों के प्रकाश में, 'व्याकरण' से सम्बद्ध विविध विषयों पर भी विचार करना स्वाभाविक और अपेक्षित ही होता।

अत: मैंने **'वाक्यपदीय'** और **'त्रिपदी'** का आधार लेकर 'प्रकीर्णकाण्ड' में 'गृहीत' सभी व्याकरणात्मक विषयों पर विचार का निश्चय किया। सौभाग्य से उसकी रूपरेखा येस्पर्सन के उक्त ग्रन्थ की रूपरेखा से मिलती-जुलती बन गई। ऐसा स्वाभाविक ही था; क्योंकि दोनों का विचार्य विषय और क्षेत्र भी लगभग समान ही था। फिर भर्तृहरि तो अपने विमर्श के दार्शनिक आधार को स्पष्ट ही उद्घोषित भी करते हैं: **'न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।'** अर्थात्, उनके विमर्श का आधार **न्यायदर्शन** और **मीमांसादर्शन** पर है। पर साथ ही **व्याडि** और **पतंजलि** को भी उन्होंने इस दिशा में अपने प्रेरणा-स्रोत स्वीकार

किया है। 'संग्रह' और 'भाष्य' के प्रति उनकी आस्था इस सत्य को उद्घोषित कर ही रही है। सौभाग्य से महाभाष्य की उनकी 'त्रिपदी टीका' के उपलब्ध अंशों से भी इस विषय में पर्याप्त सहायता मिलती है। उसकी ओर अभी लेखकों का ध्यान कम ही गया है।

अतः इसके हेतु, पथ और सीमा स्वतःप्रसूत हैं; भले ही येस्पर्सन के प्रयास ने उनके अध्ययन की कितनी ही प्रेरणा प्रदान की हो।

आधुनिक भाषाविद्

भाषाविज्ञान की प्रगति के साथ-साथ उसके और **अर्थविज्ञान** के बीच खाई बढ़ने लगी। इसका मुख्य कारण '**ध्वनिविज्ञान**' या 'स्वनविज्ञान' (फोनेटिक्स) का विकास भी था। '**ध्वनि**' और '**अर्थ**' को दो विभक्त क्षेत्रों के रूप में देखा जाने लगा। 'अर्थविज्ञान' की इस पृथक्ता का कारण 'व्याकरण' और 'भाषाविज्ञान' की दूरी को कम करने का प्रयास भी कहा जा सकता है। परिणामतः '**व्याकरण**' और '**अर्थविज्ञान**' को भी दो पृथक् इकाइयां माना जाने लगा।

येस्पसर्न ब्रूनो, आदि इससे विपरीत दिशा के प्रतिनिधि थे। वे '**धारणा**' (नोशन) और '**वृत्ति**' (इण्टेण्ट) को वाक्-प्रक्रिया और '**व्याकरण**' का एक अभिन्न अंग स्वीकार करते थे। इन नए भाषाविदों ने उनकी मान्यताओं का पूरी तरह खण्डन किया और उन्हें '**मध्ययुग के उत्कृष्ट प्रवक्ता**' के रूप में घोषित किया।

किन्तु हाल में ही शोम्स्की और उसकी विचारधारा के अनुगामी विद्वानों ने 'वाक्यरचना' के सूत्रों की खोज के प्रयास में फिर से उसी निष्कर्ष को अनिवार्यतः उभरता पाया है, जिसे येस्पर्सन ने '**फ़ॉर्म**' और '**इण्टेण्ट**' के रूप में पहचाना था और जिसे भारतीय वैयाकरण सहस्राब्दियों पूर्व '**शब्द**' और '**अर्थ**' के रूप में बखान चुके थे। शोम्स्की आदि ने इन दोनों पक्षों को '**पृष्ठ-संरचना-व्याकरण**' और '**अन्तः संरचना-व्याकरण**' के रूप में देखा है। इस भेद को हम भारतीय परिभाषा में '**समास**' और '**वृत्ति**' के अन्तर के माध्यम से भी समझा सकते हैं।

इसीलिए अपनी कृति '**इन्ट्रोडक्शन टु थ्योरिटिकल लिंग्विस्टिक्स**' के उपसंहार पर प्रो० जोन लियोन्स ने आशा व्यक्त की है कि वह दिन दूर नहीं कि जब इन दोनों पक्षों का मतभेद दूर हो जाएगा, और आधुनिक भाषाविद् पुराने वैयाकरणों के सिद्धान्तों को ही नए रूप में सम्पुष्ट करता नज़र आएगा।

विषाद और सन्तोष

अत: प्रस्तुत प्रबन्ध को अपने पांच-सात वर्ष पुराने रूप में ही प्रस्तुत करते हुए, एक ओर जहां मुझे यह विषाद है कि इसमें प्रो० ऐयर जैसे महान् विद्वान् की कृति का कुछ भी लाभ न उठाया जा सका, वहां इस बात का परम सन्तोष भी है कि जोन लियोन्स द्वारा संकेतित अधुनातम दिशा का उसमें अविचल अनुसरण अनायास ही होगया है। निस्सन्देह ही ऐसा भर्तृहरि के उपागम का अनुसरण करने के कारण सम्भव हुआ है।

अन्य प्रयास

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रो० ऐयर के प्रयास से मैंने कुछ ग्रहण नहीं किया। अंग्रेज़ी में आनेवाला मेरा आगामी प्रबन्ध उनकी समस्त युक्तियों को ध्यान में रखकर ही बढ़ रहा है। समय आने पर वह भी पाठकों के हाथ में होगा। उसमें बहुत सी अछूती समस्याओं पर भी विचार समाहित होगा।

कठिनाई

मुद्रण की सुदीर्घ पकड़ के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रकाशन तक अन्य भी कई बाधाएं आईं। निस्सन्देह ये सभी बाधाएं कुपरिणामकारी न थीं। इनके ही सुपरिणाम से आज से एक वर्ष पूर्व **वाक्यपदीय** (ब्रह्मकाण्ड) की मेरी **त्रिभाषी टीका** सामने आ सकी। इन्हीं का परिणाम है कि मेरा ग्रन्थ '**संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास**' भी इस ग्रन्थ के साथ ही साथ प्रकाशित हो रहा है। और इसी अन्तर में '**भारतीय साहित्य रत्नमाला**' में संस्कृत खण्ड का मेरा अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। और सबसे बड़ा परिणाम हुआ है जोन लियोन्स की पूर्वोक्त पुस्तक के अनुवाद के रूप में, जो यथावसर शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

पर पिछला सारा वर्ष कुपरिणामकारी शारीरिक बाधाओं से भी व्याविद्ध रहा है। शरीर ने इतने दीर्घ समय तक कभी पीड़ा नहीं पाई। पर यदि ये परीक्षाएं न हों, तो श्रम और सफलता भी अपना स्वाद खो बैठते हैं।

आभार-दर्शन

व्याकरण की दिशा में कार्य करने वाले सभी पाश्चात्य और प्राच्य मनीषियों के प्रति मैं साभार हूं। उन की कृतियों ने मुझे समय-समय पर महान् प्रोत्साहन दिया है। भर्तृहरि और उनकी कृतियों पर कार्य करने वाले सभी

भारतीय-अभारतीय प्राच्यविदों के प्रति मैं विशेष रूप में अवनत हूं, जिनके कार्यों ने मुझे बहुत अधिक सहायता पहुंचाई है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकाशकों ने ऐसे प्रबन्ध के प्रकाशन का भार उठाकर सचमुच अपने सत्साहस का परिचय दिया है। पर ऐसा साहस तो उन्हें मेरी हर कृति के समय ही दिखाना होगा। हर बार अलग से आभार-प्रदर्शन करने से कहीं उसका मूल्य कम न हो जाए !

अन्त में इस प्रबन्ध में जो कुछ भी विचार्य और ग्राह्य है, वह भर्तृहरि और येस्पर्सन सरीखे विद्वानों से गृहीत है; और जो भी अक्षम्य त्रुटियों के रूप में है, वह मेरी अपनी नासमझी का परिणाम है। मुद्रणगत अशुद्धियां भी अनेक रह गई हैं, किन्तु उनमें अनर्थकारी कोई नहीं है। अतः पृथक् से शुद्धिपत्र देने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। एकाध जगह पैराग्राफ़ की संख्या भी अशुद्ध छप गई है। पर इससे भावनागत कोई भी विकृति नहीं आई है। इस दोष को भी मैं ही स्वयं पर लेता हूं।

अतः सुधीजन उदारतापूर्वक इस प्रयास का पर्यालोचन करेंगे।

स्नातकोत्तर सांध्य संस्थान,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
९ अगस्त, १९७१

सत्यकाम वर्मा

विषयानुक्रम

मुख्य संकेत

ऋग्वेद	— ऋ०
निरुक्त	— नि०
भगवद्गीता	— गीता०
दुर्गवृत्ति	— नि० दु०
मीमांसा दर्शन	— मी०
—, शबर भाष्य	— मी० शबर
सांख्य दर्शन	— सांख्य
वैशेषिक सूत्र	— वै० सू०
शब्दकल्पद्रुम	— श० द्रु०
वाचस्पत्य बृहदभिधान	— वाच०
पाणिनीय अष्टाध्यायी	— पा०
पातंजल महाभाष्य	— महा०
महाभाष्य, वार्त्तिक	— महा०, वा०
महाभाष्य भर्तृहरि टीका	— म० त्रि०, त्रि०, भ० टी०
वाक्यपदीय	— वा०
—, हेलाराज टीका	— वा०, हेला०
दि फिलासफी ऑफ़ ग्रामर	— दि फिला० ग्रा०,
—, येस्पर्सन	— —, येस्प०
अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन	— अर्थ० व्या०
भाषातत्त्व और वाक्यपदीय	— भा० वा०, भाषा० वाक्य०,
स्पीच एण्ड लैंग्वेज, गार्डिनर	— स्पी० लैं०
लैंग्वेज, ब्लूमफील्ड	— लैंग्वेज, ब्लू०
लैंग्वेज, येस्पर्सन	— लैंग्वेज, येस्प०
लैंग्वेज, जोशुआ व्हाट्माऊ	— लैं०

इत्यादि———

प्रवेश

१·१ व्याकरण और दर्शन : सामान्य धारणा

'व्याकरण-दर्शन' विषय का क्या अभिप्राय है और उसे क्यों ग्रहण किया गया है, यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। **'व्याकरण** और **'दर्शन'** के सम्बन्ध में जो मान्यताएं जन-सामान्य के मानस में रूढ़ हो चुकी हैं, उनके अनुसार इन दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। **'व्याकरण'** का अर्थ सामान्यत: 'भाषा-प्रयोग-सम्बन्धी नियमों' से लिया जाता है, जब कि **'दर्शन'** का अर्थ प्राय: 'जीव, जगत् और परमात्मा सम्बन्धी विचार' से लिया जाता है। भाषा जन-जन के दैनिक प्रयोग का विषय है। उसके विकास या स्वरूप के किन्हीं नियमों को ढूंढ निकालना या उन्हें निश्चित करना पर्याप्त कठिन कार्य है। समझा यह जाता है कि 'व्याकरण उन नियमों के समूह को कहते हैं, जिनसे किसी भाषा की गति, जीवन, और विकास की प्रक्रियाओं की व्याख्या हो सकती है।' इस प्रकार व्याकरण को एक सर्वतिशायिनी शक्ति मान कर 'विधात्री' या 'नियामिका शक्ति' का स्थान दे दिया जाता है। प्राय: ही यह धारणा बन जाती है कि कोई भी भाषा व्याकरण-सम्बन्धी नियमों से बाहर रहकर विकसित नहीं हो सकती।

'दर्शन' की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। 'व्याकरण का सम्बन्ध सीधा **'लोक-जीवन के माध्यम'** को नियन्त्रण करने से है। 'दर्शन' का सम्बन्ध उसके **'लोकोत्तर जीवन'** को नियन्त्रित या वशीभूत करने से समझ लिया जाता है। यह अद्भुत सत्य है कि वैदिक ऋषि ने जीवन के स्वरूप और उसकी वास्तविकता को हृदयंगम करने के प्रयास में जिन विचारों को आरम्भ किया था, उनकी परिणति, बाद में, उस 'दर्शन' में हुई जिसे प्राय: 'आत्मा-परमात्मा' के विवादों तक सीमित समझ लिया जाता है। अब तो हर धर्म और सम्प्रदाय का अपना दर्शन बन गया है। भारत ही नहीं, विश्व के दर्शन पर भी यह बात लागू होती है।

'व्याकरण' भी हर भाषा का भिन्न-भिन्न बन गया है। प्राय: यह स्वीकार कर लिया जाता है कि हर भाषा किन्हीं भिन्न सिद्धान्तों पर विकसित होती है।

तो क्या 'भाषा' और 'दर्शन', सचमुच एक समान रूप में विविधतामय और भिन्न आधारों पर गठित हैं, और इसीलिये विविध रूप में विभक्त हैं ?

१.२ भाषा और प्रादेशिकता

'भाषा' प्रादेशिक वस्तु है। स्पष्ट है कि उसका विकास भिन्न-भिन्न प्रादेशिक परिस्थितियों के अनुसार होता है। हर प्रदेश की भौगोलिक एवं अन्य परिस्थितियां इतनी भिन्न होती हैं कि उनमें विकसित होने वाली वस्तु को **'एक-रूप'** या **'समरूप'** स्वीकार करना असम्भव सा हो जाता है। भाषा का हर प्रादेशिक रूप इन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों की देन होता है। इसलिए प्रायः यह आवश्यक ही मान लिगा जाता है कि हर प्रदेश की भाषा दूसरे प्रदेश की भाषा से भिन्न है। **प्रदेश** की सीमा मनुष्य के विकास पर निर्भर करती है। जिस समय संचार-साधनों और अन्य सम्पर्क-सुविधाओं का अधिक विकास नहीं हुआ था, उस समय भाषा के ये प्रदेश बहुत सीमित एवं छोटे थे। आज, बढ़ते-बढ़ते, ये प्रदेश बड़ी से बड़ी सीमाओं को ग्रहण करते जा रहे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि, उन आरम्भिक छोटी प्रादेशिक इकाइयों की भांति, आज भी ऐसी सैकड़ों छोटी इकाइयां एक ही 'भाषा-प्रदेश' में खोजी जा सकती हैं, जहां उस 'भाषा' के अन्तर्वर्ती भेदों की सीमाएं परस्पर टकरा जाती हैं, अथवा जहां से वे बहुमुख होकर आरम्भ होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि **भाषा प्रादेशिक इकाइयों से किसी न किसी रूप में सीमित रहती हैं।**

१.३ दर्शन की सीमा

पर 'दर्शन' का सम्बन्ध इन भौतिक सीमाओं से स्वीकार नहीं किया जा सकता, यद्यपि देखने में यही आता है कि हर राष्ट्र या उसके विचारक अपने 'दर्शन' के पृथक् अस्तित्व की घोषणा में गौरव अनुभव करते हैं। भाषा की भांति दर्शन भी मन की वस्तु है। पर जहां 'भाषा' चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है, वहां 'दर्शन' स्वयं उस 'चिन्तन' को कहते हैं, जो चारों ओर से दृश्य-अदृश्य व्यापार के सम्बन्ध में, या उसकी प्रतिक्रिया के रूप में, किसी विचारक मन में होता रहता है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भले ही कोई प्रादेशिक भाषा हो, पर विचारक मन विचार या चिन्तन की वेला में किसी निश्चित प्रादेशिक सीमा में नहीं घिरा रहता। 'दृश्य जगत्' का तात्पर्य केवल प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गृहीत स्थल से ही नहीं लिया जा सकता।'दृश्य-जगत्' के स्पष्टतः दो विभाग हो सकते हैं : **विशिष्ट प्रादेशिक लक्षण और सामान्य विश्वात्मक लक्षण।**

स्पष्ट है कि विशिष्ट प्रादेशिक लक्षण 'दृश्य-जगत्' की सीमा को अत्यन्त संकुचित या सान्त कर देते हैं। परन्तु, सामान्य विश्वात्मक लक्षण उसी सीमा को अत्यन्त विस्तृत या अनन्त भी कर देते हैं। इसका अर्थ हुआ कि एक विशिष्ट प्रादेशिक सीमा में रहकर भी कोई विचारक उन बातों पर, दृश्य-जगत् की उन सम्भावनाओं पर भी विचार कर सकता है, जिन पर उससे हजारों मील दूर बैठा व्यक्ति विचार कर रहा होता है।

यह बात तो 'दृश्य-जगत्' के सम्बन्ध में है। हम कह चुके हैं कि दर्शन का क्षेत्र '**अदृश्य-जगत्**' भी है। स्पष्ट है कि अदृश्य-जगत् का स्वरूप और उसकी सीमाएं समस्त ब्रह्माण्ड के लिए एक भी हो सकती हैं, और भिन्न भी। पर, किसी भी रूप में ऐसी सीमाएं दृश्य-जगत् की परिधि से प्रभावित नहीं रह सकतीं।

अत: 'दर्शन' को 'भाषा' की भांति प्रादेशिक नहीं कहा जा सकता। दर्शन का आधार 'जीवन' पर है। 'दृश्य-जगत्' और 'अदृश्य-जगत्' की सीमाओं में बँट कर भी 'जीवन', अपने मूल रूप में, विश्वभर के लिए एक जैसा ही कहा जा सकता है। वह प्रादेशिक इकाइयों में विभक्त होकर भी मूलत: 'एक' और 'समान' रहता है। इसीलिए उस जीवन का चिन्तन भी, दृश्य और अदृश्य जगत् के परि-पार्श्व में, किसी भी रूप में प्रादेशिक सीमाओं में बद्ध अथवा सीमित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार भाषा का विचार करनेवाला शास्त्र—**व्याकरण** मूलतः **प्रादेशिक** दिखाई देता है, जब कि जीवन का विचारक शास्त्र – **दर्शन**—प्रादेशिक की अपेक्षा **सार्वत्रिक** कहा जा सकता है। मूलत: दर्शन का सम्बन्ध मानव-मन की प्रतिक्रिया से अधिक है, भौगोलिक सीमाओं या सामाजिक सम्पर्कों से कम। इसके विपरीत 'व्याकरण' का सम्बन्ध उस माध्यम—**भाषा**—से ही है, जो मूलत: प्रादेशिक है।

१.४ विरोधाभास

तो क्या क्रमश: प्रादेशिक और सार्वत्रिक प्रतीत होने वाले इन दोनों शास्त्रों—'**व्याकरण**' और '**दर्शन**'— का परस्पर साहचर्य-सम्बन्ध भी हो सकता है या नहीं? अथवा, कहीं उनका परस्पर विरोध ही तो नहीं?

दूसरे शब्दों में, जब हम 'व्याकरण-दर्शन' कहते हैं, तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि **व्याकरण एक प्रादेशिक वस्तु है और दर्शन सार्वत्रिक, तब क्या प्रत्येक व्याकरण का दर्शन प्रादेशिक ही कहलाएगा, या भिन्न-भिन्न व्याकरणों का दर्शन एक और समान होना सम्भव माना जाएगा**? यदि दर्शन को

भी **प्रादेशिक** मानलें, तब पहली स्थिति सम्भव है। पर यदि उसे 'सार्वत्रिक' मानते हैं, तब पहली स्थिति को 'अन्तिम' या 'पूर्ण' नहीं माना जा सकता। उस स्थिति में एक न एक दिन सम्पूर्ण भाषाओं के भिन्न-भिन्न व्याकरणों का 'दर्शन' भी एक ही, या एक समान ही, खोज निकाला जाएगा। सत्य यह है कि 'दर्शन' सार्वत्रिक है, इसलिए 'व्याकरण का दर्शन' भी, अपने वास्तविक रूप में, 'सार्वत्रिक' ही होना चाहिए।

१.५ वस्तुस्थिति

पर, वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। आजतक व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर विचार करते हुए जितने भी निर्णयों पर पहुँचा गया है, उनमें किसी न किसी रूप में **प्रादेशिकता या सीमान्त-वृत्ति** खोजी ही जा सकती है। 'संस्कृत के व्याकरण का दर्शन', 'व्याकरण-दर्शन', 'व्याकरण का दर्शन', या इसी प्रकार के अन्य नामों से व्याकरण के चिन्तन-पक्ष पर विचार करने वाले जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं, वे सभी किसी एक सीमा या दूसरी सीमा को स्वीकार करके चलते हैं। इसका कारण यह है कि 'व्याकरण' के रूप में जिन बातों का विवेचन करने की आदत विचारकों को पड़ गई है, वे सार्वत्रिक नहीं हैं। व्याकरण के मान्य विभागों को हम सभी भाषाओं पर समान रूप में घटता हुआ नहीं पाते। इसका एकमात्र कारण यह है कि व्याकरण के वर्तमान स्वीकृत विभागों को उन भाषाओं के अध्ययन के बाद स्वीकार किया गया है, जिनकी प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में एक दूसरे से मिलती-जुलती है। परन्तु संसार की शेष भाषाओं में से अनेक ऐसी हैं, जिन पर भाषा का वह 'वर्गीकरण' और 'विश्लेषण' पूरी तरह लागू नहीं होता।

उदाहरणार्थ, व्याकरण के कुछ प्रमुख विभाग हैं—**वचन, विभक्ति, तिङन्त सुबन्त, उपग्रह, लिंग, काल** और **पुरुष**। इन सब की स्थिति और रूप के विषय में हर व्याकरण में भिन्नता पाई जाती है।

१.६ वचन

वैदिक, संस्कृत, ग्रीक और लेटिन भाषाओं में **तीन** वचन पाए जाते हैं। उसकी मूल भावना तो अन्य भाषाओं की भांति **एक** और **अनेक** पर आधारित है। अर्थात् वहां भी मूलतः **एकवचन** और **बहुवचन** की समता अन्य भाषाओं की भांति ही स्वीकार की गई है। किन्तु, 'द्विवचन' की सत्ता इन भाषाओं के वेत्ताओं की एक विशिष्ट दर्शन-पद्धति या विचारधारा का परिणाम है। विज्ञान और

दर्शन आज जिस द्वन्द्वात्मक विचारधारा को आधार मानकर विश्वभर की, बल्कि ब्रह्माण्ड भर की, बातों की व्याख्या कर रहे हैं, उस द्वन्द्वात्मक स्थिति को वैदिक, ग्रीक, आदि भाषाओं के आर्य वक्ताओं ने बहुत पहले हृदयंगम कर लिया था। किसी भी दृष्टि को **समग्र** तभी कहा जा सकता है, यदि हम उसके पक्ष और विपक्ष पर, अथवा उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पक्ष पर, विचार करते हुए बढ़ें। 'क्या दीखता है' के अतिरिक्त 'क्या नहीं दीखता' या 'क्या नहीं दीख सकता' आदि पक्षों पर विचार भी उन आर्यों के **दर्शन** का अविभाज्य अंग बन गया था। **सुख** उनके लिए **दुःख** के बिना अधूरा था। **जीवन** और **मृत्यु** उनके लिए एक ही **प्रक्रिया** के दो पक्ष थे। इस प्रकार, संसार में **द्वन्द्वों** अथवा **युग्मों** की नित्य स्थिति को स्वीकार करने के बाद, उनके लिए **द्विवचन** की सत्ता को स्वीकार करना भी अनिवार्य हो जाता था। यद्यपि इसकी **प्रथम उल्लेख्य अभिव्यक्ति** हमें उन वैदिक द्वन्द्वों में मिलती है, जिन्हें **द्यावापृथिवी**, **सूर्याचन्द्रमसौ** या **अश्विनौ** आदि के रूप में हम पाते हैं। वैदिक ऋषि का द्विवचन-प्रयोग मूलतः वास्तविक और अनुभूत **द्वन्द्वों** के लिए ही हुआ था। पर धीरे-धीरे व्याकरण शास्त्र का अंग बनने के बाद इसे **शब्दों की रूप प्रक्रिया का अनिवार्य अंग** मान लिया गया। लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं में भी यही बात पाई जाती है। 'दर्शन' के इस परवर्ती विकास की अपेक्षा 'भाषा' का विकास बहुत पहले स्थिरता ग्रहण कर चुका था। परिणामतः 'द्विवचन' की सत्ता आर्यभाषाओं की मूल पद्धति में गृहीत होकर उनका अंग बन चुकी थी।

यह तो हुई आर्य परिवार की ही भाषाओं की बात! संसार की अनेक भाषाओं में यह बात भिन्न-भिन्न रूप में पाई जाती है। प्रायः ही यह मान लिया जाता है कि संसार की सभी भाषाओं में **एकवचन** और **बहुवचन** के रूप में दो वचनों की सत्ता स्वीकृत है। परन्तु ऐसी भी भाषाएं हैं, जहां वचनों की सत्ता को प्रत्यक्षतः स्वीकार ही नहीं किया गया है। कहीं हम 'बहुवचन' के लिए सर्वथा नया शब्द आता पाते हैं (यथा, हिन्दी में मैं<हम, और संस्कृत में त्वम्<यूयम्), तो कहीं एक स्वतन्त्र शब्द को पहली संज्ञा से मिलकर 'बहुवचन' बनाता हुआ पाते हैं (यथा—तुर्की भाषा में 'लर्' एवं 'लेर्'। इन दोनों ही स्थितियों में 'अनेक' की स्थिति को व्यक्त करने के लिए प्रत्यय से व्यज्यमान 'बहुवचन' जैसी कोई कल्पना नहीं की गई है। 'बहुवचन' की स्वतन्त्र या पराश्रित सत्ता कुछ भाषाओं में है ही नहीं। ऐसी स्थिति में उन भाषाओं में 'एकवचन' और 'बहुवचन' का भेद करना नितान्त व्यर्थ और निष्प्रयोजन हो जाता है।

१.७ विभक्ति और कारक

'विभक्ति' और **'कारक'** में क्या अन्तर है, इस विषय पर विस्तृत विचार अन्यत्र ही होगा। पर, यहां यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि 'कारक' की सत्ता सब भाषाओं में प्रायः समान ही होनी चाहिए। 'कारक' का सम्बन्ध वक्ता के मन से अधिक है, भाषा या तद्गत 'पद' के स्वरूप से नहीं। 'कारक उन सम्बन्धों को **कहते हैं, जिनके माध्यम से किसी द्रव्य या संज्ञा का सम्बन्ध क्रिया से सम्भव हो सकता है। 'विभक्ति' इसी को अभिव्यक्त करने का माध्यम है।** यह आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है कि एक 'कारक' के लिए एक ही 'विभक्ति' निश्चित हो। फिर भी, सुविधा के लिए ऐसा ही समझने-समझाने का प्रयास किया जाता है।

यह सत्य है कि **कारक** जिस सम्बन्ध-समुदाय का नाम है, वह प्रत्येक भाषा के लिए समान ही होना चाहिए; फिर भले ही कोई भाषाविद् उसे किसी भाषा के पदरूपों में ढूंढ पाए या न ढूंढ पाए। 'कारक' की इस भावना की अभि-व्यक्ति 'विभक्ति' के निश्चायक प्रत्ययों के माध्यम से होती है। पर यह बात भी नियम रूप में निश्चित नहीं है। 'विभक्ति' कुछ भाषाओं में **श्लेषात्मक या संज्ञा से श्लिष्ट'** रूप में पाई जाती है, जब कि कुछ में इसकी सत्ता स्वतन्त्र रूप में स्वीकृत होती है। इस परवर्ती स्थिति में भाषा **वियोगात्मक या विश्लिष्ट** प्रकृति की मानी जाती है। यह स्वतन्त्र विभक्ति 'संज्ञा' के निजी रूप पर किसी प्रकार का परिवर्तनात्मक प्रभाव नहीं डालती।

इस 'स्वतन्त्र विभक्ति' की भी दो स्थितियां उपलब्ध हैं : **एक में** विभक्ति पद से टूटकर अलग जा पड़ी है, **दूसरे में** 'विभक्ति' स्वतन्त्र शब्दों के रूप में विक-सित हुई है। हिन्दी-विभक्तियों में 'स्वतन्त्र-विभक्ति' की ये दोनों स्थितियां ही पाई जाती हैं, जब कि **अंग्रेजी** में प्रेपोज़िशन के रूप में केवल परवर्त्ती स्थिति ही पाई जाती है। हिन्दी में 'ने', 'में', 'से' का विकास स्पष्टतः संस्कृत विभक्तियों के क्रमशः **'ना'** या **'इन'**, **'स्मिन्'**, और **'स्मात्'** आदि प्रत्ययभागों से हुआ है, जब कि उसी के **'के लिए'**, **'को'**, आदि का विकास **'कृते'**, आदि कृदन्त अव्ययों से हुआ है। अंग्रेजी की विभक्तियाँ **'फ्रॉम'**, **'टु'**, **'फॉर'**, **'इन्'**, आदि[1] जिन प्रेपोज़ि-शनों से अभिव्यक्त की जाती हैं, वे स्वतन्त्र 'अव्यय' के रूप में स्थित रहते हैं। पर कहीं–कहीं 'हिम्', 'हिज़्' आदि के रूप में वहां जर्मन आगत विभक्त्यन्त रूप भी आभासित होते दीखते हैं। यह अद्भुत सत्य है कि अंग्रेजी के विभक्ति-सूचक अव्ययों, और उनके द्वारा व्यक्त कारकस्थितियों, की संख्या अनेक होने पर

१. From, To, For, In, etc.

भी, उस भाषा के वैयाकरण उसकी विभक्तियों की संख्या को **'ग्रीक'** और **'जर्मन'** विभक्तियों के नाम और संख्या के अनुरूप ही गिनाते हैं। इन भाषाविदों ने प्रायः विभक्तियों की संख्या 'चार' ही मानी है।[1]

बात यह है कि **जर्मन भाषा** में चार विभक्तियों के रूप स्पष्ट ही मिल जाते हैं। कई जगह तीन रूपों[2] को ही हम चार रूपों में बँटा मान लेते हैं। **संस्कृत** की सात विभक्तियों की अपेक्षा **पालि और प्राकृत** में भी हम विभक्तियों की यही स्थिति पाते हैं। **लातीनी** भाषाओं में भी ये ही चार विभक्तियां शेष हैं। उनके भी रूप तीन ही शेष हैं। **रूसी भाषा** की स्थिति भी अधिक भिन्न नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि इन सभी भाषाओं में कारकों की संख्या भी मात्र इतनी ही है। 'प्रेपोजिशनों' का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी कारकों की संख्या कम से कम सात या आठ ही ठहरती है; यद्यपि इन कारकों की अभिव्यक्ति अनेक अव्ययों (प्रेपोजिशनों) से की जाती है।

पर कारकों और विभक्तियों के प्रसंग में हमें **चीनी** भाषा तथा भाषाओं के उस वर्ग को भी नहीं भूलना चाहिए, जिसमें न कारकों की स्थिति का स्पष्ट विवेचन किया जा सकता है, और न विभक्ति-चिन्हों की सत्ता को ही स्वीकार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा में अनेकत्र **कारक परिवर्तन** की अभिव्यक्ति **स्थान या क्रम परिवर्तन** के द्वारा की जाती है। वहां शब्दों का स्थान या क्रम बदलकर कारक की परिवर्तित विशिष्ट स्थिति की सूचना दी जाती है। कुछ भाषाओं में यह बात भिन्न रूप में देखी जाती है।[3] इसके अतिरिक्त कुछ निरर्थक ध्वनियों को लाकर या समास-बहुलता का प्रदर्शन करके भी कारकों के अर्थ की अभिव्यक्ति कर दी जाती है।[4]

स्पष्ट है कि इन भाषाओं में **कारकों** की **विचारगत** उपस्थिति अथवा सत्ता तो सिद्ध की जा सकती है, पर **विभक्तियों** की परिगणना करना असम्भव ही है। फिर; वहां कारक भी निश्चित रूप में गिनाए नहीं जा सकते।

संक्षेप में : **कारक और विभक्ति की उपस्थिति सब भाषाओं में समान**

१. नॉमिनेटिव, एक्युजेटिव, डेटिव और पजे॑सिव (जेनेटिव सहित)।

२. ऐसे स्थलों पर एक्युजेटिव और डेटिव एक ही में अन्तर्गृहीत होते हैं।

३. यह बात भारोपीय परिवार की वैदिक, जर्मन, अंग्रेजी, आदि भाषाओं में भी किसी न किसी रूप में पाई जाती है। वैदिक क्रिया की निश्चित स्थिति के संबंध में श्री जे० गोण्डा की तत्सम्बद्ध पुस्तक में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

४. अमरीकी और अरबी भाषा पर समान रूप से लागू।

रूप और समान संख्या में होनी अनिवार्य प्रतीत नहीं होती।

१.८ तिङन्त-सुबन्त

इन्हें सामान्यतः हम 'आख्यात' (क्रिया) और 'नाम' (संज्ञा) अथवा 'भाव' और 'सत्त्व' के नाम से जानते है। इनकी स्थिति भी भाषा-भेद के अनुसार भिन्न होती है। किसी-किसी भाषा में तो रूपात्मक दृष्टि से ऐसा भेद कर पाना असम्भव एवं उपहासास्पद प्रतीत होता है।

भारोपीय भाषाओं के प्रायः सभी विभागों में **आख्यात और नाम** (संज्ञा) का यह भेद स्पष्ट है। आख्यात या तिङन्त के अपने प्रत्यय, या संयुक्त पराश्रयी धातुएं, पृथक् ही होती हैं। **अंग्रेजी में विल्** (Will), **शैल** (Shall), **कैन** (Can), एवं **बी** (Be), आदि इसी प्रकार के पराश्रयी या पर-संयुक्त क्रिया रूप या भाव हैं, जो कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में '**है**', या '**था**', आदि क्रियारूपों को इस वर्ग में गृहीत किया जा सकता है। पर, वैदिक, संस्कृत, जर्मन, ग्रीक, लातीनी, इतालीय, रूसी, आदि अनेक भाषाओं में आख्यातों के अपने पृथक्, किन्तु लगभग समान रूप वाले, प्रत्यय उपस्थित हैं, जिनसे प्रत्येक क्रिया काल, पुरुष, वचन आदि में विभक्त हो सकती है। संस्कृत और वैदिक के इन्हीं प्रत्ययों को 'तिङ्' के नाम से पुकारा जाता है। उक्त सभी भाषाओं में कई बार उपसर्ग भी प्रत्यय का कार्य निर्वाह करते हैं, और कई बार प्रत्यय का स्थान कोई 'आगम' (आदि या मध्य) भी ले सकता है। चाहे सुबन्त हो या तिङन्त, इन भाषाओं में प्रत्यय प्रायः अन्त में ही रहता है। इन भाषाओं में 'सुबन्त' की भी यही स्थिति है। 'विभक्ति' और 'वचन' के प्रसंग में हम स्पष्ट कर आए हैं कि सभी **सत्त्व या संज्ञा** शब्दों का प्रयोग वचन और विभक्ति चिह्नों के साथ ही होता है। फिर, वे चिह्न भले ही स्पष्ट हों या प्रयोगाश्रित, अथवा संयुक्त हों या स्वतन्त्र !

पर, **चीनी भाषा** और संसार की अन्य अनेक समृद्ध-असमृद्ध भाषाएं ऐसी हैं, जिनमें शब्दों का प्रयोग केवल अपने मूल रूपों में ही होता है। किन्हीं विशिष्ट प्रत्यय-चिन्हों के अभाव में उन मूल रूपों को देखकर वहां आख्यात और सत्त्व की पहिचान करना सर्वथा असम्भव हो जाता है। उनके अर्थ से ही यह भेद ज्ञात होना सम्भव रहता है। पहिचान का कोई बाह्य चिन्ह या 'प्रत्यय' उनमें उपस्थित नहीं रहता। यह बात विभक्ति-चिन्हों और वचन-चिन्हों पर समान रूप से लागू होती है। इससे शब्दों के मूल रूप में भी भाव और सत्त्व शब्दों की पहिचान असम्भव हो जाती है। परम्परा और प्रयोग द्वारा अर्थनिर्देश ही हमें वहां

सहायता पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में, उन भाषाओं में सभी शब्द अपने **प्रकृति** (या धातु) रूपों में ही प्रयुक्त होते हैं। वहां 'धातु' का अर्थ, 'क्रिया-मूल' न होकर, शब्द मात्र के 'मूल-रूप' (प्रकृति) से होता है।

१.९ काल और पुरुष

तिङन्त और क्रिया-रूपों (आख्यातों) की चर्चा ऊपर हो चुकी है। **'काल'** और **'पुरुष'** का सम्बन्ध इन्हीं क्रिया-रूपों से माना गया है। स्पष्ट है कि तिङन्त-रूपों की स्थिति-भिन्नता या सत्ता-असत्ता के साथ ही **काल और पुरुष** की भी स्थिति-भिन्नता एवं सत्ता-असत्ता का प्रश्न जुड़ा हुआ है। चीनी जैसी कुछ भाषाओं में इन तत्त्वों की सत्ता होती ही नहीं; यद्यपि अभिव्यक्ति तो वहां भी किसी न किसी प्रकार हो ही जाती है।

'पुरुष' के सम्बन्ध में यह अद्‌भुत सत्य है कि पाश्चात्य वैयाकरणों के 'प्रथम पुरुष' (फर्स्ट पर्सन) और भारतीय वैयाकरणों के 'प्रथम पुरुष' (थर्ड पर्सन) में आकाश-पाताल का अन्तर है। 'पुरुष' की संख्या दोनों जगह 'तीन' है, पर उनका वर्गीकरण और क्रम भिन्न रूप में स्वीकृत हुआ है। भारत से सहस्रों वर्षों तक सम्पर्क रखने पर भी पश्चिम ने अपनी इस मान्यता में परिवर्तन नहीं आने दिया। इसका कारण है **दार्शनिक पृष्ठभूमि**। 'अहं' को हम क्या स्थान देते हैं? इस प्रश्न पर ही सारा उत्तर आधारित है। जिसे वे लोग 'थर्ड पर्सन' या 'अन्य पुरुष' कहते हैं, उसे ही संस्कृत वैयाकरण 'प्रथम पुरुष' कहते हैं। हम 'प्रथम' किसे कहते हैं, या 'प्राथमिकता' किसे देते हैं, यह बात हमारी जीवन-दृष्टि पर आधारित रहती है। 'प्रथम पुरुष' के नाम से जिस 'अन्य पुरुष' को प्रधानता दी गई, उसे संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक 'चैतन्य' से भी ऊपर—सार्वभौम—प्रतिनिधि के रूप में मानते हैं।

स्पष्ट है कि जातीय दर्शन या जाति की दार्शनिक विचारधारा का उसकी भाषा पर और उसके व्याकरण-चिन्तन पर, पूरी तरह प्रभाव पड़ता है।

'काल' के सम्बन्ध में यह बात और भी अधिक लागू होती है। जर्मन भाषा में **'लुट लकार'** या **'आसन्न भविष्यत्'** (Impending Future) की सत्ता ही नहीं है। उधर लातीनी, अंग्रेजी, वैदिक और संस्कृत, आदि में इसकी सत्ता अत्यधिक महत्त्व के साथ स्वीकृत है। पर, इतने से ही यह कहना ठीक नहीं कि जर्मन लोग, अन्य भारोपीय जातियों की भांति, सूक्ष्म काल-चेतना नहीं रखते। सत्य यह है कि स्वयं पाणिनि के समय **'आसन्नभूत'** और **'आसन्न भविष्यत्'** को वर्तमान के

अन्तर्गत मानने की बात अत्यन्त बलवती थी।[1]

वैदिक ऋषि ने इस सब भेद को मिटाकर **लेट् लकार** (सब्जंक्टिव मूड) जैसे **कालहीन क्रिया-प्रयोग** को अधिकता से प्रयोग करना आरम्भ किया था। यह प्रयोग बाद में जनभाषा में इसलिए स्वीकृत न हुआ, क्योंकि तब काल की सूक्ष्म चेतना पर अधिक बल दिया जाने लगा था। इससे भारतीय चिन्तन की 'असीमता' और 'ससीमता' की दो स्पष्ट स्थितियों का आभास होता है। ग्रीक में भी 'सब्जंक्टिव मूड' के परवर्ती लोप का यही कारण है।

१.१० उपग्रह

वैदिक और संस्कृत भाषा के तिङन्त-विश्लेषण में जिन्हें हम **आत्मनेपद** और **परस्मैपद** का नाम देते हैं, उन्हें ही व्याकरण में **उपग्रह** कहा जाता है। ग्रीक भाषा के प्राचीन रूप के अन्तर्गत भी इनकी सत्ता स्वीकृत है। किन्तु, अन्य भारोपीय भाषाओं में यह भेद उतना स्पष्ट नहीं है। संसार की अनेक भाषाओं में तो इस प्रकार का कोई भेद मिलता ही नहीं।

१.११ लिंग

इसका सम्बन्ध 'संज्ञा' या 'सत्त्व' शब्दों से है। इस की सत्ता हर भाषा में स्वीकृत होती है। पर, इस सम्बन्ध में भेद दो बातों में है। **प्रथम** : कुछ भाषाएं लिंग-भेद को **प्रत्ययों** या **संकेत-चिन्हों** के द्वारा व्यक्त नहीं करती, जबकि दूसरी भाषाएं **विशिष्ट-चिन्हों** या प्रत्ययों द्वारा ऐसा भेद प्रकट करती हैं। 'हिन्दी' एक ऐसी भाषा है, जहां लिंग-भेद की सूचना, संज्ञा-शब्दों या विशेषण-शब्दों में ही न मिलकर, क्रिया-रूपों में भी मिलती है। निश्चय ही इसकी व्याख्या किसी दार्शनिक आधार को पाए बिना कर पाना असम्भव है। **द्वितीय** : यह कि लिंगों की संख्या भी भाषा-भेद के साथ भिन्न हो जाती है। हिन्दी में स्पष्टत: दो ही लिंग हैं (पुंलिग और स्त्रीलिंग), जब कि अन्य अधिकांश भारोपीय भाषाओं में लिंगों की संख्या **तीन** है। अफ्रीकी, चीनी, अमरीकी, आदि भाषाओं में भी लिंग की संख्या और उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम के बारे में एकरूपता नहीं हैं।

१.१२ परिणाम

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरण के ऐसे सर्वसामान्य विभाग अन्तिम रूप से निश्चित नहीं किए जा सकते, जिनके अन्तर्गत सभी भाषाओं का

१. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ॥ पा० ३. ३. १३१. ॥

रूपात्मक विश्लेषण संभव हो सके। अधिक से अधिक हम यही कर सकते हैं कि अपनी-अपनी भाषाओं के व्याकरण के ढाँचे में ही विश्वभर की भाषाओं का विश्लेषण कर सकें।

पाश्चात्य और भारतीय व्याकरण के ऐसे बहुत से आधार चीनी, जापानी, अमरीकी, अफ्रीकी और सामी परिवारों की भाषाओं पर लागू नहीं हो सकेंगे, जिन्हें हम भारोपीय भाषाओं के विचारप्रसंग में अनिवार्य समझ बैठते हैं। इस दृष्टि से यह उपहासास्पद ही लगता है कि हम अव्यय, उपसर्ग, क्रियाविशेषण, विशेषण, आदि की चर्चा किसी ऐसी भाषा के प्रसंग में करें, जिसमें इनका अस्तित्व ही उपलब्ध न होता हो।

१.१३ मूल प्रश्न

तब क्या यह स्वीकार कर लिया जाए कि विश्वभर की भाषाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि अलग-अलग है? यदि '**दर्शन**' किसी शास्त्र अथवा सार्वत्रिक चिन्तन-पद्धति का नाम है, तथा यदि उसे काल, क्रम और प्रदेश की सीमाओं से वेष्टित नहीं किया जा सकता, तब भाषाओं का बाह्य स्वरूप, और उस पर आधारित **व्याकरण**, भले ही भिन्न-भिन्न हो जाएं, किन्तु उनके पीछे छिपी चिन्तन-पद्धति, जो जन-मानस का विश्लेषण करती है, एक समान ही होनी चाहिए। हर प्रयोक्ता और विचारक की दृष्टि अपने 'दृश्य' और 'अदृश्य' परिवेश के प्रसंग में भिन्न-भिन्न हो सकती है। किन्तु उस चिन्तन की विविधता में भी, किसी-न-किसी रूप में, सार्वत्रिक एकता का सूत्र खोज निकाला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, कुछ ऐसे आधार अवश्य ढूंढे जा सकते हैं, जिनकी पृष्ठभूमि पर ही हर प्रयोक्ता अपनी इष्ट भाषा का प्रयोग करता है। फिर भले ही, इन आधारों को किसी प्रत्यय या शब्द आदि के रूप में बाह्य-अभिव्यक्ति मिले या न मिले! ऐसे आधारों को ही हम **भाषा-मात्र के दार्शनिक-आधार** कह सकते हैं।

इन्हें स्थिर कर लेने के बाद हम यह भी कर सकते हैं कि समस्त भाषाओं के ज्ञात वर्गीकरणों को प्रादेशिक और आंशिक मानते हुए, इन सार्वत्रिक आधारों के बल पर हम उन भाषाओं के व्याकरण-पक्ष पर नए सिरे से विचार करें। तब हम इन आधारों को **व्याकरण के दार्शनिक आधार** या उसकी '**दार्शनिक पृष्ठभूमि**' के रूप में कह सकेंगे। इस रूप में विचार करने पर ही हम जान पाएंगे कि **यद्यपि बाह्य रूप में सभी भाषाएं एक दूसरे से भिन्न हैं, पर उनकी यह भिन्नता कहीं शब्दकोश, कहीं प्रत्यय, एवं कहीं पद-भेद या रूप-भेद तक ही सीमित है मूलतः उनके विकास में मानव-मात्र प्रायः एक ही विचार धारा से प्रेरित रहता है। इसी-**

लिए, उनकी मूल-पृष्ठभूमि या दार्शनिक आधार' प्रायः एक ही है।

दूसरे शब्दों में, भाषा के बाह्य-रूप पर आधारित होने के कारण व्याकरण भाषा-भेद से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किन्तु, उनका सम्बन्ध केवल भाषा के बाह्य रूप से ही नहीं है। भाषा की अन्तर्वृत्ति या 'इण्टेण्ट' का सम्बन्ध भी व्याकरण से अनिवार्य रूप में है। यह 'इण्टेण्ट' या 'अन्तर्वृत्ति' सभी वक्ताओं या भाषा-प्रयोक्ताओं में समान ही होती है। व्याकरण का कार्य जहां भाषा के बाह्य-रूप पर विचार करना है, वहां उसका कार्य भाषा की इस अन्तर्वृत्ति पर विचार करना भी है। विश्वभाषाओं की अन्तर्वृत्ति पर विचार के आधार समान रूप में ही खोजे जाने चाहिएं। और, उनकी ऐसी उपलब्धि सम्भव है। अतः 'व्याकरण का दर्शन' भाषा-मात्र और उनके व्याकरणों के पीछे स्थित इन्हीं समान 'दार्शनिक आधारों' को खोजने का भार लेकर विचार में प्रवृत्त होता है।

१.१४ उद्देश्य

अतीत में भी ऐसे प्रयत्न हुए हैं तथा भविष्य में भी होंगे। किन्तु, इस प्रबन्ध में एक ऐसी सरणि दिखाने का प्रयत्न किया गया है, जिसे यदि हम अपना लें तो व्याकरण के क्षेत्र में आज की चिन्तनात्मक अस्थिरता का अन्त हो सकेगा और एक सच्चा सार्वत्रिक आधार खोजा जा सकेगा।

यह आश्चर्य का विषय है कि यह सरणि ईसा की छठी शती तक भारत के एक महान भाषाविद् ने खोज निकाली थी। इस सरणि का आविर्भाव और उद्घाटन तो हमें ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी मिलता है, पर इसका पूर्ण-विकास, पाणिनि और पतंजलि के क्रम से होता हुआ, भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' में ही हो पाया।

१.१५ पश्चिम के प्रयत्न

इस विषय में यह अवधेय है कि यद्यपि पश्चिम में व्याकरण का विकास पूर्व के समान प्राचीन नहीं कहा जा सकता, किन्तु अरस्तू के समय से लेकर अब तक वहां भी व्याकरणसम्बन्धी मान्यताओं में पर्याप्त विकास हुआ है। भारतीय विकास-परम्परा से यह विकास भिन्न है। भारतीय परम्परा में तो वैदिक काल से ही भाषा के विशिष्ट रूप के साथ-साथ उसके सर्वमान्य रूप पर भी विचार होता आया है। किन्तु पश्चिम में व्याकरण सम्बन्धी विचार एक निश्चित दिशा में, और निश्चित क्रम में बढ़ा है। यहां हम संक्षेप में उन सभी चरणों का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

स्थूल रूप में ये चरण **चार** कहे जा सकते हैं :

(१) अरस्तू-युग,

(२) अट्ठारहवीं शती तक का युग (लातीनी व्याकरण का युग),

(३) भाषा-वैज्ञानिकों का युग,

और, (४) भाषा-दार्शनिकों का युग।

१·१६ अरस्तू युग

अरस्तू के समय तक भारत और ग्रीस का सम्पर्क पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। इस पर भी भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार इतने महत्त्वहीन और अपूर्ण हैं कि उन्हें तत्कालीन समृद्ध संस्कृत-व्याकरण की छायामात्र तक स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपनी ओर से उन्होंने ग्रीक या यूनानी भाषा का ही विश्लेषण किया है। फिर, उन्होंने यह प्रयत्न, पृथक् 'शास्त्र' के रूप में न करके, 'काव्य-शास्त्र' के एक अंग के रूप में ही किया है।

भाषा के जितने सम्भाव्य '**अवयव**' (पार्ट्स ऑफ़ स्पीच) उन्होंने माने हैं, वे इस प्रकार हैं : **वर्ण**, **अक्षर**, **समुच्चयात्मक निपात**, **अव्यय** (आर्टिकल), **संज्ञा**, **आख्यात**, **विभक्ति** और **वाक्**। इस प्रकार वाणी के **आठ अवयव** या **पद** उन्होंने स्वीकार किए हैं। 'वर्ण' को वे अन्तिम अविभाज्य तत्त्व मानते हैं। यह तीन प्रकार का होता है : **स्वर**, **अर्धस्वर** और **व्यंजन** (पंगु)। **अक्षर** व्यंजन एवं स्वर अथवा अर्धस्वर के संयोग से बनता है। **समुच्चयात्मक निपात** सामान्यत: निरर्थक ध्वनि होती है, जो प्रसंगत: अर्थ ग्रहण कर लेती है। इसका कार्य दो शब्दों या दो ध्वनियों को आपस में संयुक्त कर देना भी होता है। **आर्टिकल** की धारणा अव्यय, उपसर्ग और प्रत्यय की संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धी धारणाओं का मिश्रित रूप है। यह शब्द के आदि, अन्त या मध्य में रह सकता है। '**संज्ञा**' के विषय में यह बात विशेष स्वीकार की गई है कि इसमें **काल-क्रम** की भावना का समावेश नहीं होता, न ही पद के अंशों का कोई स्वतन्त्र अर्थ रह जाता है। इसके विपरीत, '**आख्यात**' या क्रिया में मुख्य भावना काल की होती है। '**विभक्ति**' संज्ञा और क्रिया—दोनों—के साथ संयुक्त मानी गई है। '**पुरुष**' और 'विभक्ति' में उद्देश्य की दृष्टि से भेद स्वीकार नहीं किया गया। '**वाक्**' उस सार्थक ध्वनि समूह को कहा गया है, जिसके विविध अवयवों में से कुछ का निश्चित महत्त्व हो भी सकता है, और कुछ का नहीं भी।

अरस्तू के ये विभाग महत्त्वपूर्ण होकर भी अस्त-व्यस्त रूप में जोड़े गए प्रतीत होते हैं। इनका प्रतिसंस्कार उसके तुरन्त बाद ही आरम्भ हो गया था।

इस संस्कार-प्रक्रिया का अन्त हुआ **लातीनी व्याकरण** के आविर्भाव के साथ ।

१.१७ लातीनी व्याकरण का युग

रोम-साम्राज्य के आरम्भिक स्वर्णयुग से लातीनी व्याकरण का जो विकास आरम्भ हुआ, उसे चरम पूर्णता मिली अट्ठारहवीं शती की उस बेला में, जब कि रोम के अपार साम्राज्य का एक चिन्ह भी शेष न रहा था। स्वयं इतालिया उस समय टुकड़ों में बँटा हुआ था। इस व्याकरण का विकास इस सीमा तक हुआ कि अ-लातीनी भाषाओं ने भी अपने रूप की व्याख्या इसी व्याकरण के आधार पर करनी आरम्भ कर दी। यूं तो यूरोप की प्रायः सभी समृद्ध भाषाएं भारोपीय और आर्य परिवार की हैं, तथापि उनमें पर्याप्त भिन्नता उपस्थित है। जिस भाषा में जो तत्त्व उपस्थित ही न हो, उसके व्याकरण में उस तत्त्व पर विचार करना उपहासास्पद ही लगता है। यह प्रभाव यहां तक बढ़ा कि भारत में आने वाले यूरोपीय अनुसन्धित्सुओं ने भारतीय भाषाओं के व्याकरण भी उसी पद्धति पर लिखने आरम्भ कर दिए। आज हिन्दी और संस्कृत के भी अच्छे व्याकरण ग्रन्थ वे ही समझे जाते हैं, जिनमें लातीनी व्याकरण की पद्धति के अनुकरण पर ही विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकार एक समय आया, जब कि संसार की समृद्धतम भाषाओं के, विशेषकर भारोपीय परिवार की भाषाओं के, व्याकरण लातीनी व्याकरण के वर्गीकरण और विश्लेषण के आधार पर लिखे जाने लगे। इससे प्रोत्साहित होकर लातीनी वैयाकरणों ने यह सोचना आरम्भ कर दिया कि संसार की समस्त भाषाओं की कसौटी के रूप में लातीनी व्याकरण के वर्गीकरण को आदर्श स्वीकार किया जा सकता है। जब-जब उनके सामने किसी नई और अज्ञात भाषा की अज्ञात समस्याएं आईं, उन्होंने उनकी व्याख्या, एक या दूसरे रूप में, लातीनी व्याकरण के द्वारा ही करनी चाही।

बाद के युगों में, और अब तक भी, यह धारणा पूरी तरह दूर नहीं हुई। अब भी अधिकांश व्याकरण इसी पद्धति पर लिखे जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में दो आधुनिक किन्तु प्रमुख विचारकों के विचार निम्न रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं :

(१) उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित हो जाने पर भी, स्टुअर्ट मिल जैसे विद्वान् ने कहा था :

'क्षणभर के लिए सोचिए 'व्याकरण' क्या है ? यह तर्क का सर्वाधिक आरम्भिक तत्त्व है। चिन्तन-प्रक्रिया के विश्लेषण का यह आरम्भिक चरण है।

व्याकरण के सिद्धान्त और नियम वे माध्यम हैं, जिनसे भाषा के विविध रूपों को विश्वात्मक विचारों के विविध रूपों के साथ संगत बिठाने का प्रयास किया जाता है। संज्ञा की विभक्तियों, क्रिया के कालों और भावों, अव्ययों के कार्य, आदि को केवल भाषा का **पदभेदमात्र** मान बैठना उचित नहीं। इनसे तो विचारों की विविधता और विशिष्टता का विश्लेषण सम्भव हो पाता है। प्रत्येक वाक्य का विन्यास स्वयं '**तर्क शास्त्र**' का एक पाठ है। (सेंट एण्ड्रूज़ में आचार्यीय भाषण, १८६७)

(२) फ्रेंच विद्वान् बैली ने बीसवीं शती के आरम्भ में भी पूछा : 'क्या व्याकरण को भाषा-विषयक तर्कशास्त्र ही नहीं कहा जा सकता ?'[1]

इन दोनों विचारकों को अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों का दार्शनिक प्रतिनिधि कहा जा सकता है। सत्य यह है कि १८वीं शती तक के अधिकांश वैयाकरण धीरे-धीरे एक स्थिर मान्यता के होते जा रहे थे : '**व्याकरण अन्ततः भाषा-विषयक तर्क-शास्त्र ही है।**' आरम्भिक दिनों में व्याकरण को **प्रयोगात्मक तर्कशास्त्र** के अतिरिक्त कुछ माना भी नहीं जाता था। और, क्योंकि तर्कशास्त्र विश्वभर के लिए एक **समान** होना **सम्भव** था, अतः उनकी दृष्टि में विश्वभर की भाषाओं पर लगने वाले तर्क – **व्याकरण**—का भी विश्वात्मक रूप खोज पाना सम्भव था। इस प्रकार 'दर्शनाश्रित व्याकरणों का युग' आरम्भ हुआ और, तर्क से असंगत भाषाओं को छोड़कर, तर्कसंगत भाषाओं पर ही विचार होने लगा।[2]

परन्तु, इन लोगों के सामने व्याकरण का आदर्श **लातीनी व्याकरण** के रूप में ही था। इस व्याकरण का विकास इस सीमा तक हो भी गया था कि इसे '**पूर्णतम**' माना जाने लगा था। उस समय तक की ज्ञात भाषाओं पर इसके माध्यम से विचार सम्भव भी था। पर इस पर भी, अपनी ही ज्ञात किसी अन्य परिवार की भाषा पर विचार करते हुए ये लोग अटक जाते थे। बात यह थी कि ये लोग जिन पूर्व निश्चित मान्यताओं को लेकर चलते थे, और जिन्हें ये अन्तिम प्रमाण मानते थे, उनका विनिश्चय लातीनी वर्ग की भाषाओं के आधार पर ही हुआ था। इस प्रकार सभी भाषाओं पर एक ही व्याकरण को लादने के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि भारी त्रुटियां होने लगीं। 'ब्रिटिश एन्साइक्लोपीडिया' के नवें संस्करण में 'ग्रामर' शीर्षक के अधीन श्री येस्पर्सन ने, इसी कारण, लिखा था, "लतीनी व्याकरण के अंशों को अंग्रेजी में खोज निकालने के

१. बैली, 'त्रैत द स्ताइ०', (हीडलवर्ग. १९०९), पृष्ठ १५६ पर।
२. येस्पर्सन, 'दि फिला०', पृष्ठ ४७।

प्रयास का परिणाम भयानक अशुद्धियों के रूप में सामने आया है। इससे अंग्रेजी के प्रयोग की धारणा ही भ्रामक सिद्ध हो जाती है।"

१.१८ भाषा-वैज्ञानिकों का युग

उन्नीसवीं सदी में **तुलनात्मक भाषा-विज्ञान** और **भाषा-तत्त्व** का अध्ययन आरम्भ हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत-सी भाषाओं की आपसी भिन्नता सर्वथा स्पष्ट होकर सामने आने लगी। धीरे-धीरे भाषा-वैज्ञानिकों का मत बन गया कि प्रायः एक ही परिवार की समझी जाने वाली विविध भाषाएं भी बहुधा परस्पर इतनी भिन्न होती हैं कि उन्हें किसी एक ही मानदण्ड पर परीक्षित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, ग्रीक और लातीनी परिवार की अधिकांश भाषाओं में पाए जाने वाले आदि-निपात (आर्टिकल) की उपलब्धि आर्य-परिवार की ही अन्य बहुत-सी भाषाओं में सर्वथा नहीं होती। फिर, इन दो परिवारों की भाषाओं में भी परस्पर इन निपातों के रूप और प्रयोग में बहुत भिन्नता है। **उदाहरणार्थ**, अंग्रेजी में 'दि' और 'ए' अथवा 'ऐन' स्वतः **अपरिवर्त्ती** या **अव्यय** रूप हैं। उनमें किसी प्रकार का लिंगभेद या वचन-भेद नहीं होता। **परन्तु**, ग्रीक, **इतालवी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में** आदि-निपातों की संख्या ही भिन्न **नहीं है, बल्कि उनमें लिंग, वचन और** विभक्ति का योग भी रहता है। स्पष्ट है कि वहां यह **आदि-निपात** कभी **सर्वनाम या विशेषण** की स्थिति में रहा होगा, जबकि आज **अंग्रेजी** में वह केवल **अव्यय** बन कर रह गया है। **संस्कृत** में भी ऐसे अनेक **अव्यय** मिल जाएंगे, जो कभी **सर्वनाम** या **विशेषण** के रूप में लिंग, वचन और विभक्ति से युक्त रहे होंगे।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि 'आदि-निपात' की चर्चा में इन सब भाषाओं पर होने वाला विचार अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में नितान्त पंगु सिद्ध हो जाएगा। परन्तु जब हम इसी भारोपीय परिवार की रूसी, संस्कृत, फ़ारसी और हिन्दी आदि भाषाओं पर विचार करते हैं, तब यह 'आदि-निपात' की कल्पना भी निर्मूल ठहरती है। इसलिए इन नए भाषा-वैज्ञानिकों ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि व्याकरण का कोई ऐसा रूप निश्चित नहीं किया जा सकता, जिसके आधार पर विश्वभर की भाषाओं का विश्लेषण हो सके।

स्टाइन्थाल की दृष्टि इस दल की अधिक प्रतिनिधि दृष्टि कही जा सकती है : **'विश्वात्मक व्याकरण की कल्पना उतने ही अंश तक सम्भाव्य कही जा**

---

१. स्वम्, त्वः, स्वः, आदि; तथा 'क्रुन्मेजन्मः' से गृहीत शब्दराशि। इनमें से अनेक वैदिक भाषा में वचन-विभक्ति से युक्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

सकती है, जहां तक विश्वात्मक संविधान या विश्व-धर्म की कल्पना, अथवा जिस प्रकार किसी विश्वात्मक पौधे और जन्तु की स्थिति। इसलिए इस सम्बन्ध में भी हम यही कर सकते हैं कि देखें, वर्तमान भाषाओं में हम किन पद-विभागों को खोज सकते हैं। हमें किन्हीं पूर्वनिश्चित पद-विभागों के आधार पर भाषा-विश्लेषण में प्रवृत्त न होना चाहिए।"[1]

आगे चल कर बेन्फी ने स्पष्ट घोषणा की : "भाषाविज्ञान और भाषातत्त्व द्वारा उपलब्ध परिणामों के बाद 'विश्वात्मक' अथवा 'दार्शनिक' व्याकरण खोजने जैसे सभी प्रयास तुरन्त प्रभावहीन हो गए हैं। अब ऐसी चर्चा केवल उन्हीं पुस्तकों में पाई जा सकती है, जिसका वास्तविक विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है"।[2]

मॉड्विग ने स्पष्ट कहा, 'व्याकरणात्मक विभागों का जागतिक वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों से कोई सम्बन्ध नहीं है।'[3]

इस प्रकार भाषाविद् प्रायः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक भाषा के व्याकरण और व्याकरणात्मक विभाग पृथक्-पृथक् रूप में ही निश्चित होने चाहिएं। अन्यथा, किन्हीं निश्चित मान्यताओं और किसी निश्चित क्रम के अनुसार चलने पर हम स्वयं को अनेक स्थान पर अटकता हुआ पाएंगे।

१·१८·१ भाषा-दार्शनिकों का युग

इस भाषावैज्ञानिक प्रगति के बाद भी यह विचार किसी न किसी रूप में चलता ही रहा कि विश्व की भाषाओं में ऐसे भाव और संकेत 'सार्वत्रिक' या 'विश्वात्मक' रूप में, स्वयं भाषा-विषयक अध्ययन में, यत्र-तत्र मिलने सम्भव हैं। व्याकरण के 'विश्वात्मक' अथवा 'दार्शनिक' रूप के प्रति आन्तरिक विरोध रखने पर भी इन लोगों ने ऐसी सम्भावना को सामने आता पाया। इस प्रकार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "स्टडीज़ इन् इंगलिश सिण्टेक्स" में एल्फ़ान्ज़ो स्मिथ लिखते हैं :

"शब्द-राशि, ध्वनियों, प्रत्ययों और विभक्ति-रूपों में साम्य न होने पर भी वाक्य-रचना या शब्द-सम्बन्धों की विश्वात्मक समानता, किसी न किसी रूप में, भाषागत प्रक्रिया में खोजी ही जा सकती है। उदाहरणार्थ, पालिनेशियाई शब्द हमारी भाषा के नहीं हैं। फिर भी, उस भाषा में 'सब्जंक्टिव मूड (अनिर्दिष्ट

---

१. 'केरेक्टरिस्टिक' १०४ पृष्ठ।

२. बेन्फी, 'गश० स्प्राख०' पृष्ठ ३०६।

३. जे० एन० मॉड्विग, "क्लाइने फिलो०", पृ० १२१।

भाव)' पाया ही जाता है। इस भाषावर्ग में भी अपने काल, वाच्य, विभक्तियाँ आदि उपलब्ध हैं।[१] .. इसलिए यह विश्वास होने लगता है कि वाक्य-रचना के सिद्धान्त लगभग प्रायः अपरिवर्त्तनीय हैं और वे, चाहे-अनचाहे, हमें स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होते रहते हैं। इसीलिये उन्हें विश्वात्मक कहा जा सकता है।''[२]

डेन्मार्क के दार्शनिक **क्रोमान्** ने तर्क-संगत आधार पर नौ लकारों (कालों) की स्थापना करने के बाद लिखा, ''सत्य यह है कि वास्तव में हर भाषा में इन कालों की अभिव्यक्ति, किसी न किसी रूप में, खोज पानी आवश्यक है।''

ये दोनों विचार हमें सहसा सतर्क कर देते हैं। इन दोनों में ही कुछ सत्य भी है, और कुछ भ्रम भी। क्रोमान् के मत के सम्बन्ध में तो इतना ही कहा जा सकता है कि जब विकसित विश्वभाषाओं तक में भूत, भविष्यत्, वर्तमान के रूप में **तीन कालों** की अभिव्यक्ति ही पूरी तरह नहीं हो पाती, तब सभी विश्व-भाषाओं में **नौ लकारों या कालों** की उपस्थिति खोज निकालना उपहासास्पद प्रयत्न ही कहा जाएगा। अंग्रेजी जैसी समृद्ध भाषा में 'भविष्यत् काल' की सत्ता किसी एक लकार के रूप में नहीं है। विल् (Will), शेल् (Shall), मे (May), कैन् (Can), बी (Be), आदि जिन रूपों में उसकी अभिव्यक्ति की जाती है, वे सब स्वतन्त्र धातुएं हैं, और उनके अपने-अपने प्रयोग हैं। **भविष्यत्** के प्रयोगों में वे केवल 'सहायक' बनकर प्रयुक्त होती हैं। **येस्पर्सन** ने इस सम्भावना पर पूरी तरह विचार किया है।[३] फ्रैंच, इतालवी, जर्मन, आदि भाषाओं में संस्कृत के 'लृट् लकार (भविष्यत्-काल)' की स्थिति तो पूरी तरह कायम है, किन्तु 'लुट् लकार (आसन्न भविष्य)' के बारे में उनकी स्थिति परस्पर नितान्त भिन्न है।[४] अन्य कालों के विषय में भी यही स्थितिभेद लागू होता है।

एलफ़ान्ज़ो स्मिथ की 'सब्जंक्टिव' या 'अनिर्दिष्ट भाव' की सर्वत्र उपलब्धि की बात का विरोध भी **येस्पर्सन** ने किया है। उनकी दृष्टि में यह बात पूर्व-स्थापित मान्यताओं के कारण अधिक कही गई है, अपने अध्ययनगत परिणामों के आधार पर नहीं। अन्यथा, सब भाषाओं में कालों की संख्या का निश्चय और विभाजन भिन्न-भिन्न ढंग पर ही किया गया है।[५]

---

१ पृ० १०।

२ वही, पृ० २०।

३. ''दि फिला०'', पृष्ठ ५०।

४. फ्रैंच और इतालवी में कहा जाएगा, 'वह गिरने जा रहा है', जर्मन में यह रूप होगा, 'वह गिर रहा है।'

५. ''दि फिला०'', पृष्ठ ४८।

१.१८.२ येस्पर्सन :

परन्तु येस्पर्सन अत्यधिक विचार के बाद जिस परिणाम पर पहुँचे हैं, वह अन्य धारणाओं से बहुत भिन्न है। उनके मत में हम भाषा-जगत् और व्यवहार जगत् की तुलना करके कुछ न कुछ साम्य खोजने में समर्थ हो जाते हैं। इसी आधार पर हम विश्वभर की भाषाओं पर घटने वाले ऐसे कुछ **'मान'** पा सकते हैं, जिनके आधार पर विविध भाषाओं का विवेचन सम्भव हो सकता है। हो सकता है इन **मानों** या **तत्त्वों** को हम सर्वत्र एक ही रूप में न खोज पाएं, या उन्हें समान रूप और समान संख्या में घटता हुआ न पाएं। पर यह निश्चित है कुछ ऐसे **मान** हो सकते हैं, जिनके प्रकाश में हर भाषा पर स्वतन्त्र रूप से, अथवा सब भाषाओं पर समवेत रूप से, विचार करना सम्भव हो सकता है। देखना यही है कि येस्पर्सन ने जो तथाकथित सर्वसामान्य आधार खोजे, वे **सर्व-सामान्य** हैं भी या नहीं ?

पर, इस विवेचन से पूर्व यह और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि येस्पर्सन के लगभग समकाल ही एक अन्य विद्वान् **ब्रूनो** ने भी, येस्पर्सन की ही भाँति, **अर्थ और विचार तत्त्व को 'व्याकरण' का अविच्छिन्न अंग माना है**। इन दोनों ने ही व्याकरण **को आकृति-विज्ञान और वाक्य-रचना के अतिरिक्त इण्टेण्ट या प्रयोक्तृ भावना से भी सम्बद्ध माना हैं**। अर्थ की सम्पूर्ण सत्ता **प्रयोक्तृ-भावना** पर ही आधारित होती है। अत: स्पष्ट है कि 'अर्थ-भावना' पर विचार किए बिना, या उसे ध्यान में रखकर बढ़े बिना, हम व्याकरण का प्रयोजन ही कुछ से कुछ सिद्ध कर बैठेंगे।

१.१८.३ तुलना

इन दोनों में पारस्परिक अन्तर यह है कि येस्पर्सन इस 'भावना' को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना ब्रूनो देते हैं। ब्रूनो आरम्भिक और मूल वस्तु इसी **इण्टेण्ट या भावना** को मान बैठते हैं। उन्होंने इसे **धारणा** नाम दिया है। **येस्पर्सन** भी प्रयोक्ता की भावना को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। पर, वक्ता और ग्रहीता के बीच, माध्यम रूप में, **शब्दों की आकृति** को भी वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते।[1] **ब्रूनो** तो यहाँ तक मानते हैं कि हमें किसी नवागन्तुक छात्र को पहले, शब्दज्ञान कराने की अपेक्षा, उसे 'शब्द के पीछे छिपी भावना' का ज्ञान कराना चाहिए। उनकी दृष्टि में भाषा की गति दोनों ही दिशाओं में (वक्ता∠श्रोता, एवं

---

१. वही, पृष्ठ ५५।

श्रोता∠वक्ता) 'इण्टेण्ट' से आरम्भ होनी चाहिए।[1] उनकी दृष्टि से पुराने वैयाकरणों की 'पद-भेद' सम्बन्धी धारणा बिल्कुल व्यर्थ है।

येस्पर्सन इस परवर्त्ती भावना के भी विरुद्ध हैं। वे लिखते हैं, "न हो मैं परम्परा से मान्य पद-भेद-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रति ब्रूनो द्वारा प्रदर्शित आत्यन्तिक निरादर से सहमत हूँ; भले ही उन सिद्धान्तों में अनेकत्र त्रुटियां उपस्थित हों"।[2]

१.१८.४ सार्वत्रिक लक्षण

सार्वत्रिक लक्षण सम्बन्धी येस्पर्सन की धारणा पर भी यहां कुछ विचार अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने जिन सार्वत्रिक लक्षणों को संसार भर की भाषाओं के विश्लेषण का आधार स्वीकार करना चाहा है, वे इस प्रकार हैं[3]:—

(क) **शब्द-भेद या पद-भेद** : जिसमें सत्त्व, विशेषण, क्रिया, सर्वनाम, क्रियाविशेषण आदि का समावेश होता है।

(ख) **वचन** : जिसमें एकवचन, द्विवचन आदि, का समावेश होता है।

(ग) **विभक्ति** : कर्त्ता, कर्म, सम्प्रदान, सम्बन्ध आदि का समावेश इसी में होता है।

(घ) **काल** : जिसमें वर्तमान, भूत (पूर्ण, अपूर्ण) और भविष्य आदि ग्रहण होते हैं।

(ङ) **भाव** : जिसमें निर्देशक, अनिर्दिष्ट, विधि, आज्ञा आदि का अन्तर्भाव होता है।

(च) **वाच्य** : जिसमें कर्तृ, कर्म, भाव और मध्यवाच्यों का समावेश हो जाता है।

(छ) **पुरुष** : जिसमें प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष का समावेश होता है।

(ज) **लिंग** : पुँल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग, आदि।

१.१९ विवेचन :

इन सभी **मानों या लक्षणों** को हम शुद्धत: व्याकरण की सीमा के

---

१. ब्रूनो अपनी पुस्तक 'विचार और भाषा' (ला पैन्सी ए ला लाँग) में।

२. दि फिला०, पृष्ठ ५७।

३. वही, पृष्ठ ५३।

अन्तर्गत, बल्कि उसी के लक्षण के रूप में, पाते हैं। परन्तु, जब हम दृश्य-जगत् से इनका सम्बन्ध करने बढ़ते हैं, तब हमें किसी और ही रूप में विचार करना होता है। दृश्य-जगत् या व्यवहार जगत् में ऐसे बहुत से प्रयोग या घटनाएं मिल जाती हैं, जिनकी व्याख्या हम वैज्ञानिक रूप में नहीं कर सकते। भाषा के प्रयोगों की भी स्थिति यही है। वहां काल, वचन, विभक्ति, आदि की अनेक मान्यताएं लड़खड़ाती दीखती हैं। फिर भी, भावना तो वक्ता से श्रोता तक पहुँच ही जाती है; ठीक उसी रूप में जिसमें श्रोता चाहता है। दृश्य-जगत् में **पुरुष** (नर) और **स्त्री** (मादा) के दो वर्ग ही उपलब्ध होते हैं। **येस्पर्सन** की दृष्टि में तीसरा चेतन और अचेतन वर्ग है — **लिंगविहीन वस्तुओं का**। विश्व के 'नर' और 'नारी' तत्त्वों के आधार पर वे व्याकरण में[1] 'पुँल्लिंग' और 'स्त्रीलिंग' का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु, उन्हें 'नपुंसकलिंग' के आधार के रूप में कोई नपुंसक या 'नरनारी का मिश्र रूप' द्रव्य दृश्य-जगत् में उपलब्ध न हुआ। अतः उनकी दृष्टि से व्याकरण का 'उदासीन (न्यूट्रल या न्यूटर)' नाम वस्तुतः विश्व की 'लिंग-विहीन' वस्तुओं पर लागू होता है। वे इसे स्वयं में **भ्रामक संज्ञा** मानते हैं। कम से कम, वे इसका दृश्य-जगत् से सम्बन्ध नहीं मानते। यही दोष वे अन्य वर्गों में भी किसी न किसी तरह पाते हैं। यद्यपि अन्तिम निष्कर्ष उनका यही है कि इन सब चीजों का कोई न कोई दृश्य-आधार और व्यावहारिक-सम्बन्ध खोजा ही जा सकता है।

इस प्रकार वे यह मानते हैं कि कुछ लक्षणों को ऐसे आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिनकी व्याख्या व्यवहार-जगत् के व्यापारों में की जा सकती है, और जिनके आधार पर विश्व की विभिन्न भाषाओं का विचार और वर्गीकरण किया जा सकता है। किन्तु, साथ ही वे स्पष्ट शब्दों में यह भी घोषित करते हैं 'अन्ततः हमें किसी 'विश्वात्मक व्याकरण' जैसी वस्तु को पाने की आशा नहीं करनी चाहिए, जिसकी प्राचीन वैयाकरणों ने कल्पना की थी। हम तो वर्तमान भाषा-अध्ययन की सीमाओं के अन्तर्गत रहकर ही इसकी निकट-तम सीमा को पा सकते हैं।'[1]

अर्थात्, जिस भी सार्वत्रिक आधार को हम खोजेंगे, **वह शुद्ध रूप में सार्व-त्रिक या विश्वात्मक व्याकरण नहीं कहा जा सकेगा**। उसे हम भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के परिणाम रूप में प्राप्त **'व्याकरण की पृष्ठभूमि'** या **'भाषा की पृष्ठ-भूमि'** जैसा कोई नाम ही दे सकेंगे। उसके आधार पर हम हर भाषा का अध्ययन तो कर सकेंगे, किन्तु वह अध्ययन इतना भिन्न होगा कि उसे एक कोटि या एक स्तर पर रखना उचित प्रतीत नहीं होगा।

---

१. येस्पर्सन, दि फिला०, पृष्ठ ५७।

१.२० लेखक का मत :

इस सम्बन्ध में हमारा मन्तव्य यह है कि जहां तक व्याकरण की आधार-भूत बातों का, उसकी दार्शनिक आधारभूमि का, सम्बन्ध है, सभी भाषाओं के विचार का एक सामान्य आधार खोजा जा सकता है। किन्तु, जहां तक आधारभूत बातों के आधार पर प्रत्येक भाषा के लिए व्याकरण के सिद्धान्त तय करने, या उनकी व्याख्या करने, का प्रश्न है, उसका आधार प्रत्येक भाषा के अध्ययन को ही बनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, **यह तो निश्चित किया जा सकता है कि प्रत्येक भाषा के रचनात्मक ढांचे पर विचार करते हुए किन-किन बातों का ध्यान रखा जाय; किन्तु यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक भाषा में लिंग, वचन, विभक्ति, आदि के विनिश्चय का आधार क्या है ? इसका अर्थ हुआ कि व्याकरण का सामान्य दार्शनिक आधार खोजा जा सकता है, किन्तु हर भाषा के प्रसंग में उस पर विचार अलग-अलग ही करना पड़ेगा !**

यही बात उचित भी है। कारण यह है कि हर देश, जाति, और भाषाई वर्ग की चिन्तन पद्धति अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्परा के कारण भिन्न-भिन्न होती है। भाषा का निर्माण सांस्कृतिक पद्धति पर आधारित होने के कारण हर भाषा में भाग लेने वाला चिन्तन अलग-अलग तर्क का आश्रय लेकर बढ़ता है। उन तर्कों की व्याख्या करना और विश्लेषण द्वारा उनका औचित्य ठहराना ही व्याकरण का कार्य है। हमने इसे ही **'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका** या 'व्याकरण-दर्शन' कहा है। हमने इस प्रबन्ध में ऐसी पृष्ठभूमि की एक विशेष रूप-रेखा भारत के प्राचीन **महावैयाकरण भर्तृहरि** के अनुसार रखी है। उसके आधार पर किए गए विश्लेषण को ही हमने 'व्याकरण-दर्शन' कहा है।

१.२१ अब तक के प्रेरक ग्रन्थ :

यूं तो **व्याकरण**, **दर्शन**, और **भाषा-विज्ञान** सम्बन्धी ऐसे ग्रन्थों की एक विशाल राशि है, जिसके आधार पर ऐसा कोई भी प्रबन्ध लिखा जाना चाहिए। पर जब हम नपी-तुली भाषा में इसी विशिष्ट विषय पर रची गई पूर्व-कृतियों की गणना करने बढ़ते हैं, तो हमें अत्यधिक निराशा मिलती है।

भारत के प्राचीन भाषा-दार्शनिकों या व्याकरण-दार्शनिकों में पतंजलि से लेकर परवर्त्ती काशिकाकार तक, बल्कि कौमुदीकार तक भी, एक बड़ी विद्वत्-श्रेणी का नाम गिनाया जा सकता है। परन्तु उनमें से अधिकांश के व्याकरण संस्कृत की पृष्ठभूमि पर ही रचे गए हैं। **पतंजलि** और **भर्तृहरि** ही अन्ततः

ऐसे ठहरते हैं, जिन्होंने भाषा की सार्वत्रिक प्रकृति पर भी अधिकांशत: विचार किया है। भर्तृहरि का '**वाक्यपदीय**' इस विषय में अमर ग्रन्थ है।

वर्तमान प्रयत्नों में हम ''**व्याकरण-दर्शन**' विषय को ही आश्रित करके लिखने वाले लेखक कम पाते हैं। 'भाषा-दर्शन' विषय पर बहुतों ने लिखा है। 'व्याकरण-दर्शन' विषय पर आधुनिक ग्रन्थों में येस्पर्सन का 'दि फ़िलासफ़ी ऑफ़् ग्रामर' ही अकेला है। डा० प्रभात चन्द्र-चक्रवर्ती का 'दि फ़िलासफ़ी ऑफ़् संस्कृत ग्रामर' केवल संस्कृत के आधार पर ही बढ़ा है। उसमें सार्वत्रिक और उन्मुक्त विवेचन नहीं हुआ है।

हिन्दी में डा० कपिलदेव द्विवेदी कृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' ही एकमात्र ऐसी रचना है, जिसे इस विषय पर आंशिक विचार करने वाली रचना कहा जा सकता है।

१.२१.१ सर्वाधिक महत्त्व

इन सब में नई प्रेरणा और नई मान्यता से भरी येस्पर्सन की कृति ही ऐसी है, जिससे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु, उसमें भी अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां यह अनुभव होने लगता है कि क्या ही अच्छा होता यदि येस्पर्सन ने भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' का, और विशेषकर उसके तीसरे काण्ड का, भी परि-शीलन किया होता। तब हम देखते कि उनकी इस महत्त्वपूर्ण रचना का स्वरूप ही कुछ और होता।

अगले पृष्ठों में, इस प्रबन्ध में, हम यही दिखाने का प्रयास करेंगे कि वे आधार कौन से हैं जिन पर हम विश्वभाषाओं को निर्बाध रूप में कस सकते हैं? तथा यह कि उन आधारों का स्वरूप क्या है?

भारतीय पक्ष

२.१ व्याकरण क्या है ?

(क) व्याकरण की चर्चा आरम्भ करते हुए पंतजलि ने लिखा था : **अथ शब्दानुशासनम्**। इसकी ही 'पस्पशाह्निक' में पुन: व्याख्या करते हुए उन्होंने इसे **शब्दान्वाख्यान** भी कहा है।

(ख) दूसरा शब्द, इसी प्रसंग में, वे '**शब्दोपदेश:**' भी देते हैं।

(ग) एक स्थल पर स्वत: 'व्याकरण' की परिभाषा कहते हुए वे कहते हैं : '**व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन अस्मिन् वा इति**'।

(घ) '**सूत्र ही व्याकरण है**'[1]—इस पक्ष पर बहस करते हुए वे अन्तत: इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि '**स्मृति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण और वाक्याध्याहार मिलकर व्याकरण बनाते हैं। इनसे उसका व्याख्यान होता है**'।[2]

(ङ) 'शब्दकोष' से 'व्याकरण' का अन्तर बताते हुए अन्यत्र वे कहते हैं '**सप्तद्वीपा वसुमती**······' इत्यादि। उनकी दृष्टि में यदि केवल शब्दों का उपदेश ही व्याकरण का कार्य हो, तब शब्दोपदेश तो सहस्रों वर्षों में भी पूरा न हो सकेगा। पर, दूसरी ओर, केवल **नियम-निर्धारण** या सूत्रोपदेशमात्र को भी वे व्याकरण नहीं मानते।

दूसरे शब्दों में, पतंजलि के समय तक बहुत से वैयाकरण पाणिनि की व्याकरण-सम्बन्धी मूल धारणा से दूर जा पड़े थे, और वे यह सोचने लगे थे कि **कदाचित् नियम (सूत्र) से ही व्याकरण का कार्य पूरा हो जाता है**। '**सूत्रं व्याकरणम्**' की धारणा देखने में जितनी ही आकर्षक लगती है, उतनी ही यह भ्रमावह भी है। इस धारणा को ठीक से न समझ पाने का ही परिणाम था कि पाणिनि के बाद जितने भी व्याकरण बनने लगे, उनमें शब्द-रचना-प्रक्रिया और नवप्रचलित शब्दों के समावेश को ही मुख्य लक्ष्य बना लिया गया। शब्दों को किसी नियम के अन्तर्गत सिद्ध करनामात्र ही पाणिनि का लक्ष्य नहीं था।

---

१. सूत्रं व्याकरणम्, म० १.१.१।

२. 'स्मृत्युदाहरण'-आदि, म० १. १. १।

उणादि सूत्रों के निर्माण के पीछे उनकी मूल भावना यह है कि हमें किसी शब्द को देखते ही, उसकी रचना-सिद्धि का प्रयास छोड़कर, उसकी मूल-भावना (धातुगत भावना) पर जाने का प्रयास करना चाहिए। 'गौः' के अर्थ 'गौ', 'रश्मि', 'ज्या', आदि तो हो ही सकते हैं, पर उन सब में साम्य क्या है ? हो सकता है 'गौ' किसी अन्य भाषा से उधार लिया गया शब्द हो। किन्तु, पाणिनि उन सब तथाकथित अर्थों या विविध प्रादेशिक भावनाओं के पीछे छिपी एक मूल भावना (धातु-भावना) को खोज निकालते हैं। यह मूलभावना (धातु) है 'गम्' या 'जाना'। इसके बाद वे प्रत्यय को महत्त्वहीन समझकर 'गम्' से 'गो' की व्युत्पत्ति सिद्ध कर देते हैं।[1] हम कह सकते हैं कि '**उणादि सूत्र**' उन सूत्रों से भिन्न प्रकृति के हैं, जिन्हें किसी निश्चित अर्थभावना वाले प्रत्यय-चिन्हों का विधान करने के लिए बनाया गया है। किन्तु, इतना निश्चित है कि यदि अन्यत्र प्रत्यय चिन्हों की अर्थ-भावना को पहचानने का अधिक प्रयास किया गया है, तो इन उणादि सूत्रों में अज्ञात-स्रोत वाले शब्दों की मूल भावना को आत्मसात् करने का और उन्हें अपनी परम्परागत मूलभावनाओं (धातुओं) से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। '**निपातन**' की एक कोटि अलग ही बच जाती है। उनके विषय में पाणिनि इतना तो पहिचान लेते हैं कि मूलतः वे शब्द संस्कृत के अपने ही हैं, या उस भाषा के प्रयोक्ताओं और प्रदेशों की अपनी उपज हैं, किन्तु उन्हें परम्परागत नियमों में बँधा न पाकर वे उन्हें 'देशज' आदि के रूप में प्रकृति-निष्पन्न या स्वतः-सिद्ध मान लेते हैं।

पर, यह बात परवर्त्ती वैयाकरण नहीं समझ पाए। पतंजलि के प्रयत्न के बाद भी यह बात हृदयंगम नहीं की गई। परिणाम यह कि जिस भी शब्द पर उन परवर्त्ती वैयाकरणों की निगाह गई, उसे ही प्रकृति-प्रत्यय के विभाग में लाने के लिए, और संस्कृत की परम्परा को सिद्ध करने के लिए, उन्होंने नये-नये नियम बनाने आरम्भ कर दिए। 'सूत्र' की मूल भावना थी—**'व्यापक फार्मूला' या 'व्यापकतम आधार का सम्बन्ध-सूत्र'** प्रस्तुत करना। किन्तु, बाद में, यह भावना न रही। तब सूत्रों को, और इसलिए 'व्याकरण' को भी, ऐसा साधन समझा जाने लगा, जिससे हम शब्दों के असाधुनिर्माण (?) को रोक सकें और, इस प्रकार **भाषा** को 'अशिष्ट' या 'अपभ्रंश' होने से बचा सकें।

पतंजलि के 'महाभाष्य' के पहले 'आह्निक' में ही हम उन्हें इन सब समस्याओं से पूरी तरह परिचित पाते हैं। यही कारण है कि वे आरम्भ से अन्त तक,

---

१. 'गमेर्डो', उणादि।

इस आह्निक में, 'व्याकरण' के सही रूप और सही उद्देश्य को समझने-समझाने में लगे रहे हैं।

२.२ शब्दानुशासन

'अथ शब्दानुशासनम्'[1] वस्तुत: 'अथ **व्याकरणम्**' का ही पर्यायवाची है। तब, **क्या 'शब्दानुशासन' ही व्याकरण है ?**

'शब्दानुशासन' की एक व्याख्या भर्तृहरि ने महाभाष्य की अपनी 'त्रिपदी टीका' में की है: **'य एव लौकिकः शब्दोऽसावेवाश्रीयते। तस्यैवेदमनुशासनं शास्त्रम्**[2]।' अर्थात् 'लोकप्रयुक्त शब्दों का अनुशासन करना ही इस व्याकरण शास्त्र का लक्ष्य है।' इस प्रसंग में पतंजलि **'अनुशासन'** की व्याख्या ''**अन्वाख्यान'** के द्वारा करते हैं। शब्दों की परिगणना करना या उनके निर्माण के तथाकथित नियम-विधान बताना ही व्याकरण का लक्ष्य नहीं है, बल्कि शब्द-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञातव्य का व्याख्यान करना भी व्याकरण का कार्य है। 'अनुशासन' शब्द **'शसु उपदेशे'** और **'शासु अनुशिष्टौ'** धातुओं से बनता है। **प्रथम धातु के अनुसार** व्याकरण '**भाषा का उपदेश या व्याख्यान**' है, जब कि दूसरे अर्थ के अनुसार व्याकरण '**भाषा का नियन्त्रण**' है। यहाँ नियन्त्रण 'अनुशासन' के अर्थ में ही है, 'नियामक' के अर्थ में नहीं। व्याकरण 'भाषा के नियन्त्रण' का दूसरा नाम इसी अर्थ में है कि उसके द्वारा हम उन विविध प्रक्रियाओं, और उनकी नियामिका शक्तियों, को पहचानने में समर्थ होते हैं, जिनके द्वारा भाषा की अर्थभावना, पद-रचना और वाक्य-रचना में परस्पर सम्बन्ध बना रहता है। भाषा की आन्तरिक रचना और प्रयुक्त शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्धारण को ही '**भाषा का नियन्त्रण**' कहा जा सकता है। व्याकरण का कार्य इसे ही समझाना है। भर्तृहरि उक्त वाक्य में 'लौकिक शब्द' कहकर 'लोकभाषा' को व्याकरण के आधार रूप में रख देते हैं, जिससे व्याकरण का विकास और विस्तार भी भाषा के नित्य विकास की भांति सतत और गतिशील सिद्ध हो जाता है।

२.३ शब्दोपदेश :

इस प्रसंग में पतंजलि ने दूसरा शब्द **शब्दोपदेश** प्रयोग किया है : 'शब्दोपदेशः कर्त्तव्योऽपशब्दोपदेशो वा'।[3] 'शब्द' और 'अपशब्द' की इस चर्चा को छोड़

---

१. म० १. १. १।

२. म० त्रि० १. १. १।

३. म० १. १. १।

भी दें, तब भी 'शब्दोपदेश' स्वतः महत्त्वपूर्ण है। 'केषां पुनः शब्दानां ?' अर्थात् 'किन शब्दों का ?', पूछते हुए पतंजलि स्वयं ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भले ही साधु शब्द थोड़े हों, तब भी उनका उपदेश यदि प्रतिपद के साथ किया जाय, तो अनन्त काल तक शब्दोपदेश ही सम्भव नहीं होगा। बृहस्पति जैसा गुरु जब इन्द्र जैसे शिष्य को सहस्राधिक वर्ष में भी पूरा शब्दोपदेश न दे सका, तब अल्पकालिक मानव-जीवन में शब्दोपदेश की पूर्णता की सम्भावना को स्वीकार करना निरी कल्पना ही कहा जाएगा।[1]

यहां भी 'उपदेश' की व्याख्या करते हुए महावैयाकरण भर्तृहरि उसे 'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः' कहते हैं।[2] अर्थात्, परम्परा से अविच्छिन्न उपदेश को 'आगम' कहते हैं। परन्तु इसी के साथ ही वे आगम को 'श्रुतिलक्षण' और 'स्मृतिलक्षण' भी कह देते हैं।[3] अर्थात्, उस 'उपदेश' का आश्रय 'श्रुति' और 'स्मृति' दोनों पर होता है। दूसरी जगह वे व्याकरण को 'स्मृतिशास्त्र' भी कहते हैं,[4] और व्याकरण के सूत्र (नियम) को 'स्मृतिसूत्र' नाम देते हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि 'शब्दोपदेश' का अर्थ भर्तृहरि केवल पुस्तकगत या ज्ञानगत शब्दकोष या शब्द-संचय मात्र से ही नहीं लेते, बल्कि वे व्यवहार जगत् में प्रयुक्त कोषबाह्य शब्द-राशि को भी उसका विषय मानते हैं।

२.४ व्याक्रियन्ते :

'व्याकरण' शब्द का लक्षण करते हुए पतंजलि लिखते हैं—'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन अस्मिन् वा इति।' अर्थात् 'जिसके द्वारा या जिसमें शब्दों को व्याकृत किया जाता है'। 'व्याकृति' का अर्थ 'व्याख्या' किया जा सकता है। किन्तु इस से अधिक अच्छा यह होगा कि इस शब्द की व्याख्या हम भर्तृहरि के ही मुख से सुन लें। वे लिखते हैं,—**'तत्रायं व्याकरणशब्दः किं ब्रूते? 'व्याक्रियते इत्यनेन द्वारेण शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाचिख्यासन्नुपन्यासं करोति'**।[6] अर्थात्, 'व्याकरण के माध्यम से हम शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त की उपलब्धि करना चाहते हैं'। इस प्रकार स्पष्ट है कि भर्तृहरि के अनुसार **पतंजलि 'व्याकरण' को शब्द का 'प्रवृत्ति-**

---

१. वही, 'सप्तद्वीपा वसुमती…'।
२. म० त्रि० १. १. १।
३. वही।
४. 'उच्यते स्मृतिशास्त्रमिदम्' म० त्रि० १. १. १ तथा वा० १.१४३।
५, 'स यदा स्मृतिसूत्रमाह', म० त्रि० १. १. १।
६. म० त्रि० १. १. १।

निमित्त' मानते हैं। दूसरी ओर, वे हमें एक नया और प्रतिस्पर्धी शब्द देते हैं **'अपाकरण'**। किसी ने पूछा, 'आपके कितने पुत्र हैं, एक, दो या अनेक ?' उत्तर मिला, 'एक भी नहीं ?' प्रश्न को इस प्रकार अनवकाश कर देना, अथवा दूसरे शब्दों में किसी शब्द की 'निवृत्ति' कर देना, **'अपाकरण'** है।[1] इस प्रकार **'व्याकरण'** यदि 'शब्द का प्रवृत्ति निमित्त' है, तो **'अपाकरण'** उस प्रक्रिया को कह सकते हैं जो 'शब्द की निवृत्तिनिमित्त' है।

२.४.१ भर्तृहरि

'प्रवृत्तिनिमित्त' को अधिक समझाते हुए भर्तृहरि कहते हैं : **'शब्दो हि कश्चित्तुल्यरूपः प्रवर्तमानो भिन्नार्थो भिन्ननिमित्तः परस्परमनपेक्षमाणः प्रवर्तते'**।[2] अर्थात्, तुल्य या एक सा दिखाई देने वाला शब्द बहुधा भिन्न अर्थ में, भिन्न निमित्त से, भिन्न स्थान पर और सर्वथा स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त किया जा रहा होता है। उसके इस प्रयोग-निमित्त या प्रवृत्तिनिमित्त को पहचान निकालना ही 'व्याकरण' का कार्य है।

२.४.२ निष्कर्ष

इसका अर्थ यह हुआ कि व्याकरण का कार्य शब्दों की आकृति और उनकी रचना को सिद्ध करना नहीं है, बल्कि उनके प्रयोग के निमित्त को खोज निकालना और औचित्य को सिद्ध करना भी है। यह औचित्य अन्य शब्दों द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। पतंजलि कहते हैं : 'अथवा शब्दैरपि शब्दाः व्याक्रियन्ते।'[3] अर्थात् शब्द भी शब्द की प्रवृत्ति की व्याख्या कर सकते हैं। भर्तृहरि इसी की व्याख्या में कहते हैं : 'शब्दो ह्युच्चार्यमाणस्य स्वरूपं प्रति चोदयति, विपरीतस्याकृतत्वमभिव्यनक्ति।' अर्थात्, 'शब्द किसी अन्य उच्चार्यमाण शब्द की वास्तविकता या उसके स्वरूप के प्रति हमें प्रेरित करते हैं, जब कि विपरीत शब्दों की असामर्थ्य अथवा अयोग्यता को भी वे ही स्पष्ट कर देते हैं'। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के तृतीय काण्ड के 'सम्बन्ध-समुद्देश' में **उपचार-सत्ता** और **प्रतिचार-सत्ता** के रूप में दो सत्ताएं स्वीकार की हैं।[4] उनका सम्बन्ध शब्दों में अर्थ के नियमन से है। **उपचार-सत्ता** किसी अर्थ को सम्मुख लाने या उस अर्थ का प्रवर्त्तन करने की निमित्त बनती है, जबकि **प्रतिचार सत्ता** के द्वारा प्रतिषेध्य अर्थ का प्रतिषेध होता है। लगता है, इन्हीं सत्ताओं के आधार पर, **प्रवृत्तिनिमित्त** और **निवृत्ति-**

---

१. 'कति भवतः पुत्राः' इत्यादि। म० त्रि० १. १. १।

२. म० त्रि० १. १. १।

३. म० १. १. १।

४. वा० ३.३. ३९-४१ विस्तृत विवरण के लिए देखें,' भाषा० वाक्य०, पृष्ठ १९५।

निमित्त का भेद करते हुए, भर्तृहरि ने '**व्याकरण**' और '**अपाकरण**' को परस्पर उपकारक 'दो पार्श्व' माना है। इन्हें ही वे '**प्रतिपादक**' और '**निवर्त्तक**' नाम भी देते हैं।[1]

'**न हि शब्दाः प्रोक्ताः**',[2] अर्थात् शब्द कहीं पहले से पढ़े गये (कोष-बद्ध) नहीं हैं, कहने वाले **पतंजलि** निश्चय ही व्याकरण को किन्हीं निश्चित शब्दों का निर्माण करने वाला न मानकर, उनके प्रवृत्तिनिमित्तों एवं काल, वचन, कारक, उपग्रह, लिंग, आदि तत्सम्बद्ध भावों की सही व्याख्या करना तथा तत्सूचक प्रत्यय-चिह्नों का विश्लेषण करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य मानते हैं।

२.५ सूत्र और व्याख्यान :

'सूत्रम्'[3] कहकर पतंजलि ने उस धारणा की ओर निर्देश किया है, जिसके अनुसार उस समय तक बहुत से विद्वान् केवल नियम-निर्देश को ही 'व्याकरण' समझने लगे थे। यदि 'व्याकरण' या 'भाषाविज्ञान' का कार्य केवल नियम-निर्धारण और उनका परिगणन मात्र ही स्वीकार कर लिया जाए, तब बहुत से ऐसे नियम बन जाएंगे, जो एकदेशी होंगे और इसीलिए अव्यापक होने से 'नियम' या 'फार्मूला' कहलाने के अधिकारी न होंगे। उदाहरणार्थ : यदि **रामः**, **कन्या**, **स्त्री**, **साधुः**, **मधु**, **वधू**, **वर्षाभूः**, **विद्वान्**, **तत्**, **ज्ञानम्**, आदि शब्दों को देखकर हम कर्त्ताकारक और प्रथमा विभक्ति के अलग-अलग नियम एवं उनकी अलग-अलग पहचान (प्रत्यय) निश्चित करने लगें, तब यह स्थिति जन-भावना की दृष्टि से नितान्त अव्यवहार्य होगी। हो सकता है हमें एक जगह '**विसर्ग**' मिले, एक जगह '**अम्**', किसी अन्य स्थान पर शब्द का '**मूल रूप**', तो कहीं बाह्य-चिन्ह (प्रत्यय) रहित उसका आन्तरिक परिवर्तनयुक्त रूप ! पर, प्रयोक्ता की दृष्टि से इन सब के प्रयोगकाल में **कर्त्ता**, **एकवचन**, आदि की स्थिति एक-सी ही रहती है। अतः सच्चा वैयाकरण इन सब में दीखने पर, या न दीखने पर भी, मूलतः एक ही **प्रत्यय या पहिचान** की स्थिति स्वीकार कर सकता है[4]। उसका समाधान चाहे वह कैसे ही करता रहे ?

आज जिसे हम 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' कहते हैं, उसमें समानान्तर

---

१. म० त्रि० १. १. १।

२. म० १. १. १।

३. 'सूत्रं व्याकरणम्' म० १. १. १।

४. इसी आधार पर पाणिनि के 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों की आरम्भिक रूपगत एकता की व्याख्या की जा सकती है।

रूप में अन्यान्य भाषाओं का अध्ययन होता है। उसी विज्ञान को किसी एक भाषा के अन्दरूनी ढांचे पर लागू करके यदि उस भाषा का अध्ययन किया जाए, तब वही अध्ययन प्राचीन भारतीय भाषाविदों की दृष्टि में 'व्याकरण' बन जाता है। पतंजलि मानते हैं कि यदि केवल 'सूत्र' ही कह दिए जाएं, तो उतने मात्र से ही शब्द प्रतिपन्न नहीं हो सकते। उसके लिए वे 'व्याख्यान' की आवश्यकता अनिवार्य मानते हैं :

'शब्दाऽप्रतिपत्तिः।... किं तर्हि? व्याख्यानतः।... ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति।'[1]

अर्थात्, केवल सूत्रों या नियम-निर्माण से ही शब्दों की प्रतिपत्ति या उपलब्धि नहीं हो सकती। उसके लिए 'व्याख्यान' की आवश्यकता होती है। **'व्याख्यान'** का अर्थ है उसी सूत्र को समझाकर कहना। जब किसी नियम को समझा कर कहते हैं, तभी उसकी सार्थकता होती है। भर्तृहरि इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं: '**न हि वृद्धिरादैजित्येतस्माच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे।... उदाहरणाद् वयं समजातीयान् शब्दान् प्रतिपद्यामहे।... सूत्रस्याभिव्यक्त्युपायो व्याख्यानं, न केवलं चर्चापदानि**[2]।' अर्थात्, "'वृद्धिरादैच्' आदि सूत्रों से ही हम शब्दों को नहीं जान लेते।--उदाहरण के द्वारा हम समजातीय शब्दों को भी पहिचान लेते हैं। व्याख्यान ही सूत्र की अभिव्यक्ति का उपाय है, केवल चर्चित या प्रयुक्त पद मात्र नहीं।'

तब यह 'व्याख्यान' क्या है? पतंजलि स्वयं 'व्याख्यान' की परिभाषा करते हैं: '**स्मृत्युदाहरणप्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारश्चेति।**[3] अर्थात् व्याख्यान का अर्थ है स्मृति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण और वाक्याध्याहार (प्रसंग) आदि का समकालिक विवेचन। जब पतंजलि कहते हैं कि 'उत्सूत्र' या सूत्र से बाह्य बात समझी नहीं जाती, तब भर्तृहरि उसकी व्याख्या में कहते हैं :

' 'किमर्थं' पुनरुत्सूत्रं न गृह्यते? उच्यते। स्मृतिशास्त्रमिदम्। तत्र यदा कश्चिदेवं ब्रूयात् 'अयं शब्द' इति, सोऽवश्यं पृच्छ्येत कथमस्माभिः प्रत्येतव्यमिति। यदि स्मृतिसूत्रमाह सन्धीयतेऽन्यथा प्रलापस्तस्य गृह्यते'[4]।

यहां भर्तृहरि ने व्याकरण को केवल **स्मृतिशास्त्र** ही कह दिया है। किन्तु, आगे चलकर वे उदाहरणादि को भी अनिवार्य घोषित करते हैं :

---

१. म० १. १. १।
२. म० त्रि० १. १. १।
३. म० १. १. १।
४. म० त्रि० १. १. १।

'तस्मादिदमेव प्रतिपत्तव्य, सूत्रादेवोदाहरणादिविज्ञातार्थात् शब्दप्रवृत्तिरिति ।'[1] अर्थात्, किसी सूत्र के अनुसार उदाहरणादि देकर ही किसी शब्द की प्रतिपत्ति या सार्थकता सिद्ध होती है ।

'स्मृति' को हम **ट्रेडिशन या परम्परा का अविच्छिन्न क्रम** भी कह सकते हैं : **'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः'** ।[2] **उदाहरण, प्रत्युदाहरण,** आदि उस नियम के सम्पोषण के काम आते हैं । सजातीय और विजातीय शब्दों को ढूँढ कर ही हम किसी नियम की नित्यता और सत्यता स्थापित कर सकते हैं ।

पर यह सब भी व्यर्थ है, यदि वाक्य में स्थानीय प्रयोग की विशेष स्थिति —**वाक्याध्याहार**—का हम ध्यान न रखें । अर्थात्, शब्द को अथवा उसकी निर्माण-प्रक्रिया को समझने में भी प्रमुख महत्त्व **'प्रयोग'** और **'प्रसंग'** का है ।

स्मृति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण और **प्रसंग** को आज के तर्कशास्त्र का भी मुख्य अंग स्वीकार किया गया है । **लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्** का भी यही अर्थ ठहरता है । इसके अतिरिक्त तुलनात्मक भाषाविज्ञान का तो आधार ही इन चार अंगों पर है । नियम के पक्ष-विपक्ष पर विचार किए बिना, एवं परम्परा और प्रयोग पर ध्यान दिए बिना, **भाषा-विज्ञान** नहीं बढ़ सकता । भारतीय व्याकरण की मूल आधारभित्ति भी इन्हीं चार तत्त्वों पर ही है । इस दृष्टि से **'व्याकरण' को किसी विशिष्ट भाषा पर लागू होने वाला तुलनात्मक भाषाविज्ञान, या तत्सम्बद्ध अध्ययन, ही कहा जा सकता है ।**

२·६ शब्दकोष से अन्तर :

येस्पर्सन ने ब्रूनो के सिद्धान्तों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, 'वह कई स्थान पर '**व्याकरण**' और '**शब्दकोष**' में अन्तर नहीं कर पाते' ।[3] जहाँ तक पतंजलि का सम्बन्ध है, वह इस विषय में निर्भ्रान्त रहे हैं । उन्होंने 'शब्दोपदेश' की चर्चा करते हुए कहा है कि 'प्रतिपद पाठ' ही व्याकरण नहीं है । यदि प्रतिपद पाठ ही व्याकरण होता, तो वह अनन्त हो जाता । उन्होंने बृहस्पति द्वारा इन्द्र को उपदेश देने और 'सप्तद्वीपा वसुमती' आदि की चर्चा द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जब सम्पूर्ण शब्दराशि का एकत्र पाठ करना या उसका संग्रह करना ही दुर्लभ है, तब 'कालान्तर में वह किस प्रयोग में रूढ़ था या होगा' इस बात का निश्चय तो और भी दूभर हो उठता है ।

व्याकरण की भावना इसके विपरीत है । वह केवल ज्ञात शब्दराशि को

---

१. वही । २. वही ।

३. दि फिला०, येस्प०, पृष्ठ ३४-५ ।

ही ध्यान में नहीं रखता। निश्चय ही कोई जीवन्त या प्रचलित विशिष्ट भाषा ही किसी 'व्याकरण' का आधार बनती है। किन्तु उस भाषा की शब्दराशि या **'शब्दकोष'** को किन्हीं विशिष्ट शब्दों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। अनेकों शब्द **'अप्रयुक्त'** या **'मृत'** हो सकते हैं, जबकि भविष्य में कोटिशः नए शब्दों के निर्माण की सम्भावना भी हो सकती है। व्याकरण को उस **'भूत'** का भी ध्यान रखना है, और इस **'भविष्य'** का भी। उसके नियम इतने व्यापक होने चाहिएं कि अतीत की शब्दराशि भी उसकी पकड़ से न छूटे, और भविष्य के लिए शब्द-रचना का मार्ग भी उसके द्वारा प्रशस्त हो। 'ऊष, तेर, चक्रुः', आदि की स्थिति इसी दृष्टि से व्याकरण-सम्मत मानी जा सकती है।[1]

इस प्रकार पतंजलि **शब्द-रचना और वाक्य-रचना में अन्तर्हित सिद्धान्तों को एवं भावना-तत्त्व से उसके सम्बन्ध को बताना** व्याकरण का मुख्य लक्ष्य बताते हैं। उनकी दृष्टि में यदि **'शब्दोपदेश'** या **'साधु शब्दों का परिगणन'** करना ही उचित हो, तब 'असाधु' शब्दों का परिगणन भी आवश्यक या अनिवार्य होगा। सत्य यह है कि एक-एक व्याकरणसम्मत शब्द के 'अपभ्रंश रूप' सैकड़ों की संख्या में प्रचलित हो सकते हैं।[2] उन सब शब्द-रूपों का संग्रह ही पर्याप्त श्रमकर होगा। उनका 'उपदेश' या 'व्याख्यान' तो और भी कठिन होगा। **अतः व्याकरण का मुख्य प्रयोजन यही रहना चाहिए कि वह नये-नये शब्दों के, अथवा अब तक के ज्ञात शब्दों के, पीछे छिपे सिद्धान्तों को, और उनके प्रयोग-वैविध्य के पीछे छिपी प्रयोग भावना को, सामने ला दे। उधर 'शब्दकोष' का कार्य शब्द-संग्रह मात्र ही ठहरता है। अधिक से अधिक उसे 'शब्द-पर्याय-संग्रह' कह सकते हैं।**

जर्मन विद्वान् ग्रूस्हार्ट ने लिखा है **'मूलतः शब्दकोष व्याकरण से भिन्न नहीं होता।'**[3] इस पर टिप्पणी करते हुए स्वीट् लिखते हैं, **"मैं ग्रूस्हार्ट के इस वक्तव्य का आधार नहीं समझ पाया।"**[4] इसी स्थान पर उन्होंने आगे लिखा कि, **"व्याकरण भाषा के सामान्य तथ्यों पर विचार करता है, जब कि शब्दकोष उसके विशेष तथ्यों पर विचार करता है"।**[5] उदाहरणार्थ, अंग्रेजी शब्द 'कैट' (cat) स्वतः केवल विशिष्ट प्राणी का बोधक है, जिसके कुछ विशेष लक्षण होते हैं। किन्तु, इसके बहुवचन में जुड़ने वाला स् (s) अनेक शब्दों में जुड़ता है। अधिकांशतः

---

१. म० १. १. १।

२. 'एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः' आदि, म० १. १. १।

३. ब्रे० १२७ पृष्ठ। ४. 'कले० पे०' पृष्ठ ३१।

५. वही।

यह बहुवचन के लिए ही जुड़ता है। किन्तु, इसकी उपस्थिति हमें अपादान और सम्बन्ध कारक में, तथा क्रिया-रूपों के मध्यमपुरुष एकवचन में भी, उपलब्ध होती है। स्पष्ट है कि व्याकरण का क्षेत्र यहां शब्द रूपों में स्थित उन सामान्य तत्त्वों को खोज निकालना है, जिनका सम्बन्ध व्यापकतर शब्दराशि से है, केवल किसी शब्द-विशेष से नहीं।

२.६.१ एक भ्रम

इस उदाहरण से एक भ्रम भी हो सकता है कि **शब्दकोष का सम्बन्ध शब्द की अर्थ-भावना से होता है, जब कि 'व्याकरण' में केवल उसके रूपतत्त्व या आकृति-तत्त्व पर ही विचार होता है।** यह धारणा बहुत से विद्वानों में अब तक भी चली आ रही है। किन्तु, **यह नितान्त भ्रामक धारणा है।** यदि व्याकरण का सम्बन्ध शब्द की अर्थ-भावना को सुरक्षित रखने से और उसके क्षेत्र को परस्पर उलझने से रोकने से न हो, तो इसी 'स्' की उपस्थिति से संज्ञा के बहु-वचन, क्रिया के मध्यम-पुरुष-एकवचन, संज्ञा-सम्बन्ध-कारक, आदि, स्थितियों का अन्तर व्याकरण में क्यों स्पष्ट हो सके ? व्याकरण में ही इन अन्तरों का स्पष्ट हो पाना, एवं पद-भेदों की विभिन्न स्थितियों का सान्तर वर्गीकरण, आदि स्पष्ट बताता है कि व्याकरण पर भाषा की अर्थ-भावना की रक्षा का कितना भार है। 'समाज-समज' अथवा 'आर्य-अर्य' युग्मों के दोनों शब्द एक मूल से आगत होते हुए भी परस्पर भिन्नार्थवाहक क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर कोई 'शब्द-कोष' नहीं, पाणिनि का 'व्याकरण' ही प्रदान करता है।[1] इससे भी आगे बढ़कर यदि विचारा जाए, तो **व्याकरण में 'पद-भेद' की सम्पूर्ण कल्पना का आधार ही यह प्रयोग-भावना और अर्थ-भावना ठहरती है। संज्ञा** और **क्रिया** का अन्तर और **संज्ञा, नामधातु** और **क्रिया** की परस्पर-सापेक्ष स्थिति, आदि का भाषा के अर्थ-सम्बन्धी विश्लेषण के आधार पर ही विवेचन सम्भव हो पाता है।[2] दूसरे शब्दों में, पदों का यह वर्गीकरण भाषा में प्रायोगिक अर्थ-भावना को अधिक स्पष्ट करने का कारण बनता है। शब्दकोष की दृष्टि से 'गत' का अर्थ निश्चित रूप में एक भी हो सकता है और अनेक भी हो सकते हैं। पर यह बताना व्याकरण का ही कार्य है कि 'गतम्'[3] (जाया गया) तथा 'गत:'[4] (गया) का कहां, क्या और

---

१. पा० ३. १. १०३ एवं ३. ३. ६९।

२. 'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते—नि० १. १. १।

३. तेन गतम्। ('भावे क्त:') भाववाचक।

४. स गतः (कर्तृवाचक)।

क्यों अन्तर होता है ? दूसरे शब्दों में : 'शब्दकोष' केवल 'रूप साम्य' को देखकर ही किसी शब्द के विविध रूपों को, या विविध अर्थ भावना वाले समान शब्द रूपों को, 'एक ही' मान लेता है। परिणामतः, वहां किसी भी शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। किन्तु, व्याकरण केवल रूप-साम्य मात्र से ही उनकी मूल-गत एकता को स्वीकार नहीं कर लेता। वह इस शब्द के तथाकथित अर्थों के अनुसार उसके अलग-अलग शब्द रूप मानकर उनकी अलग-अलग व्याख्या करने का यत्न करता है। 'श्वेतः' का अर्थ वहां केवल 'सफेद' ही नहीं रह जाता, 'श्वा इतः' (कुत्ता गया) भी हो जाता है। व्याकरण विभिन्न प्रसंगों और विभिन्न स्थितियों की सम्भावना को स्वीकार करके बढ़ता है, जब कि 'शब्दकोष' एकता का आधार रूप मात्र को ही स्वीकार करके चलता है।

२.६.२ एक और अन्तर

सब से बड़ी बात यह है कि 'शब्दकोष' में वर्त्तमान या समकालिक अर्थों पर अधिक बल दिया जाता है। वे अर्थ जो कभी रूढ़ रहे होते हैं, परन्तु अब जिनका प्रयोग क्षीण और अस्तित्वहीन हो गया है, प्रायः शब्दकोष में गृहीत नहीं किए जाते। किन्तु, दूसरी ओर, व्याकरण का क्षेत्र भूत, वर्त्तमान और भविष्य की सभी सम्भावनाओं का ध्यान रखकर बढ़ताहै। प्रकृति और प्रत्यय के विभाग की कल्पना इसी 'अर्थ भावना' (**प्रकृति**), और उसकी विविध स्थितियों में लाक्षणिक पहचान (**प्रत्यय**) को पृथक्-पृथक् देखने और समझने-समझाने के लिए ही की जाती है। 'भूत' और 'भविष्य' के संभाव्य अर्थों के अतिरिक्त 'भूत' और 'भविष्य' के संभाव्य शब्द-रूपों पर भी विचार करने का यत्न प्रायः व्याकरण में ही किया जाता है। जहां तक 'भूत' और 'वर्त्तमान' का सम्बन्ध है, व्याकरण के क्षेत्र के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता है। किन्तु, 'भविष्य' के विषय में सन्देह अवश्य उठता है : 'जो शब्द रूप कभी प्रचलित नहीं हुए अथवा जिनका प्रयोग वर्षों या सदियों बाद होगा, उन्हें व्याकरण पहले से कल्पित कैसे कर सकता है ?'

इसका उत्तर सरल है। व्याकरण शब्द-निर्माण की उस सामान्य प्रक्रिया और विशिष्ट पद्धति का निर्देश भर कर देता है, जिसके आधार पर अब तक की शब्द-राशि बनती आई है। उन विशिष्ट सूत्रों या सरणियों को पहचान कर वह किन्हीं सामान्य नियमों या सूत्रों (फार्मूलों) को पहिचान लेता है। इन नियमों के अनुसार ही भाषा 'भविष्य' में भी तब तक अनवरत बढ़ती रहती है, जब तक किसी बाह्य प्रभाव या सम्पर्क के कारण कोई सान्तर प्रभाव ही न पड़ जाय।

वैदिक-संस्कृत से चलकर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि की परम्परा से होते हुए भाववाचक प्रत्यय 'त्व' और 'ता' हिन्दी को उपलब्ध हुए हैं,[1] किन्तु 'आई' प्रत्यय का उसी अर्थ में समावेश इस सरणि से बाहर का है।[2] या तो इसे हम संस्कृत के 'ण्यत्', 'ष्यञ्', आदि भाववाचक प्रत्ययों, और उनके कारण शब्द के आदि अवयव में होने वाली स्वरवृद्धि, का परिवर्त्तित रूप स्वीकार कर सकते हैं, या फिर किसी बाह्य प्रभाव से आगत मान सकते हैं। 'ताई' के रूप में जिस भाववाचक प्रत्यय का प्रयोग ग्रामीण बोलियों में, या कभी-कभी जन-भाषा में भी, मिल जाता है, वह 'ता' और 'आई' के मिले-जुले प्रत्यय-संयोग की ही देन है। सम्भवतः यहां 'ता' प्रत्यय है, और 'आई' सादृश्य प्रभाव से आया है।[3] 'अत' आदि भाववाचक रूपों की स्थिति भी इसी प्रकार व्याख्यात हो सकती है।[4] 'आई' का ही रूप 'ई' भी है, जो स्पष्टतः संस्कृत के 'ण्यत्' और 'ष्यञ्' के शेषांश 'य' का रूपान्तर मात्र है।[5]

२.६.३ निष्कर्ष

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्याकरण भविष्य की सब परिवर्त्तन-प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। किन्तु अपने समय तक चली आने वाली सब प्रक्रियाओं का विश्लेषण करके भविष्य के मार्ग की आधारशिला वह अवश्य रख देता है। बाह्य-प्रभाव और तज्जन्य 'सादृश्य' आदि की संभावना को भी व्याकरण स्वीकार कर लेता है। यही कारण है कि पाणिनि तथा अन्य संस्कृत वैयाकरणों ने 'निपातन' (अमूल) से सिद्ध माने जाने वाले शब्दों की एक बड़ी संख्या सहज मान्य स्वीकृत की है।

'शब्दकोश' शब्द की इन सब सम्भावनाओं पर विचार नहीं करता। उसे तो केवल सर्वसामान्य अथवा अधिकतम प्रचलित रूपों से ही प्रयोजन रहता है। संक्षेप में, **शब्दकोष किसी भाषा के प्रयोक्ताओं के युग-संचित ज्ञान का संगृहीत रूप है, जब कि 'व्याकरण' भाषा-सम्बन्धी समस्त संभावनाओं का विवेचक है।**

२.६.४. पतंजलि

इन्हीं आधारों पर पतंजलि ने व्याकरण के प्रयोजन गिनाते हुए कहा

---

१. ममत्व, महत्त्व, एवं समता, महत्ता, आदि।

२. भलमनसाई, बेरुखाई, चिकनाई आदि।

३. मानुसताई, प्रभुताई।

४. भलमनसाहत—संभवतः 'त्व' से।

५. भलमनसी।

था : **'लघ्वर्थं खल्वध्येयं व्याकरणम्'**।[1] इसी की व्याख्या में भर्तृहरि ने लिखा था : **'तेषां च ज्ञाने व्याकरणादन्यो लघुरुपायो नास्ति।**···तस्माद् व्याकरणम् **लघुरुपायः** शब्दज्ञानम् प्रति। **अन्य उपाय एव न सम्भवति। तस्मादध्येयम् व्याकरणम्। अथवा, अचिरकाला सम्प्रतिपत्तिर्लाघवम्। तस्य व्याकरण-मुपायः।'**[2] अर्थात्, "शब्दों के ज्ञान में व्याकरण से छोटा उपाय (या साधन) अन्य नहीं है। इसीलिए शब्दज्ञान के प्रति उसे ही लघु उपाय कहा गया। सच तो यह है कि शब्द ज्ञान का अन्य कोई उपाय ही सम्भव नहीं है ।···या फिर कह सकते हैं कि इस के माध्यम से ही शब्दों का **शीघ्रतम ज्ञान** हो सकता है।"

इसे यूं भी कह सकते हैं कि 'शब्दकोष' में एक ही धातु या संज्ञा के प्रायः सभी विकार या विकरण देने आवश्यक होते हैं : यथा 'मृ' धातु के **मरण, मृत्यु, मारक, मर्त्य, मर्त्तव्य, मर्त्तः**, आदि। व्याकरण में इन सबको, अलग-अलग न लेकर, प्रसंगानुसार विशिष्ट वर्ग के अन्य शब्दों के साथ ही साथ लिया जाता है। वहाँ, केवल 'मरण' नहीं, उस जैसे अन्यान्य धातु-सम्भव शब्दों की गणना भी कर दी जाती है। यही बात हर उक्त शब्द के विषय में लागू होती है। दूसरे शब्दों में,' **'शब्दकोष हमें धातु या शब्द के मूल अर्थ से परिचित कराता है, जबकि व्याकरण विभिन्न प्रयोगों में उसकी विविध अर्थ-भावनाओं से परिचित कराता है।**

२.७ एक अन्य पक्ष

पतंजलि ने 'व्याकरण' का लक्ष्य 'शब्दानुशासन' बताते हुए **अपभ्रंश और साधु शब्दों** की चर्चा की है। उनकी दृष्टि में एक-एक साधु शब्द के अनेकानेक अपभ्रंश होते हैं।[3] 'शब्दकोष' में तो इन अपभ्रंशों को भी पृथक् स्थान मिलेगा, जबकि व्याकरण इन्हें साधु शब्दों की भांति वैयक्तिक महत्त्व नहीं देता। वह इनमें भी परस्पर नियम और अनुशासन की बात लाना चाहता है, ताकि इनका प्रयोग भी नियमित हो सके। 'निपातन' या 'उणादि' सूत्रों द्वारा शब्दों को सिद्ध स्वीकार करने का अर्थ लोक से आगत इन शब्दों की सत्ता और महत्ता स्वीकार करना है।

भर्तृहरि तो यहां तक कह देते हैं, "परम्परागत प्रयोग से जब कोई अपभ्रंश किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है, तब साधु शब्द भी उस अर्थ का

---

१. म० १. १. १।
२. म० त्रि० १. १. १।
३. म० १. १. १।

वाचक नहीं रह जाता'[1]। ये अपभ्रंश शब्द भी लोक से ही आते हैं। और, भर्तृहरि ने व्याकरण को भी 'लोकागम' के रूप में ही स्वीकार किया है[2]।

'अपभ्रंश शब्दों के ज्ञान में अधर्म है'— इस धारणा का खण्डन पतंजलि और भर्तृहरि दोनों ही जोरदार शब्दों में करते हैं। वे इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि दैनिक प्रयोग में साधु शब्दों की अपेक्षा अपभ्रंश शब्दों या अपशब्दों की संख्या बहुत अधिक रहती है। तब क्या दुनिया में अधर्म ही अधिक और व्यापक माना जाए ? 'हेऽरय:' के स्थान पर 'हेलय:' का प्रयोग अपशब्द या असाधु गिना जा सकता है। वह पराजय का भी कारण हो सकता है। पर 'गौ' शब्द के विकार **गावी, गोणी, गोपोतलिका,** आदि किसी भी प्रकार उसी तरह के या उसी कोटि के अधर्मकारक अपशब्द नहीं गिने जा सकते। उनके अपने अव्याहत और विशिष्ट अर्थ हैं।[3]

२.८ सारांश

इस प्रकार पतंजलि द्वारा व्याकरण को दिया गया 'शब्दानुशासन' नाम, इस दृष्टि से, उनकी भावनाओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में पाणिनि ने व्याकरण का लक्ष्य 'शब्दों का उपदेश' या 'शब्दों का नियमन' नहीं माना, बल्कि उन अन्तर्हित नियमों, नियन्त्रणों और प्रक्रियाओं को खोज निकालना माना, जिनसे भाषा की शब्दराशि की निर्माण-प्रक्रिया, वाक्य-रचना एवं अर्थ-प्रवृत्ति का अन्त:सम्बन्धन या आन्तरिक नियमन संभव होता है। 'प्रवृत्ति' की इस पहचान पर ही भर्तृहरि भी बल देते हैं:

तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते।।वा० १. १३२।।

शब्द-ब्रह्म की उपलब्धि या उसके रसास्वाद का एकमात्र मार्ग या द्वार शब्द-प्रवृत्ति को पहचान लेना या उसके तत्त्व को समझ लेना ही है।[4] भर्तृहरि, इसीलिए, व्याकरण को शब्द के 'प्रवृत्ति-निमित्त' का व्याख्याता मानते हैं।

२.९ व्याकरण : भर्तृहरि

पर 'व्याकरण' की परिभाषा, उसके क्षेत्र और उद्देश्य के सम्बन्ध में भर्तृहरि पतंजलि की भी अपेक्षा अधिक मुखर, केन्द्राभिमुख और सतर्क हैं। यहां हम 'व्याकरण' की परिभाषा के सम्बन्ध में उनके कुछ शब्दों पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में उनके दिए निम्न शब्द अवधेय हैं :

---

१. वा० १. १५४।
२. भाषा० वाक्य०, पृ० ३३-३५।
३. म० १. १. १. एवं वा० १. १५४।
४. वा १. २२।

(१) स्मृतिशास्त्र और सनिबन्धना स्मृति।
(२) आगम और लोक।
(३) अकर्तृका श्रुति।
(४) आञ्जस मार्ग।
(५) लक्षण शास्त्र।
(६) व्याकरण-अपाकरण।

इन शब्दों को कुछ अधिक विस्तार में सप्रसंग देख लेना ठीक होगा।

२.१० स्मृतिशास्त्र

महाभाष्य की त्रिपदी टीका में भर्तृहरि लिखते हैं :

"स्मृतिशास्त्रमिदम्। तत्र यदा कश्चिदेवं ब्रूयात् अयं शब्द इति, सोऽवश्यं पृच्छ्येत कथमस्माभिः प्रत्येतव्यमिति। यदि स्मृतिसूत्रमाह सन्धीयतेऽन्यथा प्रलापस्तस्य गृह्यते"।[1]

अर्थात् व्याकरण तो स्मृति पर आधारित शास्त्र है। यदि कोई कहता है कि 'यह शब्द है,' तब उससे पूछना चाहिए, 'तुम्हें स्मृति या परम्परागत नियम (सूत्र) भी स्मरण है ?' यदि वह किसी ऐसे परम्परागत नियम का हवाला देता है, तब उसका विश्वास कर लिया जाता है, अन्यथा उसकी बात को प्रलाप ही समझा जाता है। वा० १. १५१ में वे 'स्मृतिशास्त्रेण' कहकर इस प्रयोग को पुष्ट करते हैं। वहां भी शब्दों के साधुत्व की चर्चा है।

इस प्रकार 'स्मृतिशास्त्र' का अर्थ हुआ **'परम्परागत नियमों का संग्राहक और विवेचक शास्त्र'**।

भर्तृहरि 'स्मृति' की इस बात पर अधिक बल देते हुए अपने 'वाक्यपदीय' में बार-बार व्याकरण-सम्बन्धी अपनी धारणा को स्पष्ट करते हैं :

'तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्॥ वा० १. ४३॥

अर्थात्, "व्याकरण का लक्ष्य है शब्दों का अनुशासन। और, शिष्टजन शब्दानुशासन के व्यापार में प्रवृत्त होने के लिए जिस व्याकरण का आधार लेते हैं, वह स्वतः अकृत्रिम या अरचित शास्त्र है और दृढ़मूल या सनिबन्धन स्मृति है।" 'अरचित शास्त्र' का अभिप्राय यह है कि उसमें विहित विधान, मानव-रचित या किसी शास्त्र-प्रणेता द्वारा रचित न होकर, भाषा में प्रयोक्ताओं की सहज वृत्ति

---

१. म० त्रि० १.१.१।

के अनुसन्धान से आए होते हैं। किन्तु, प्रयोक्ताओं की इस आदि-वृत्ति की पहचान, बिना परम्परा के ज्ञान के, सम्भव नहीं है। परम्परागत रूप में किसी प्रक्रिया को पुष्ट पाकर ही हम उसे नियमित मान बैठते हैं। इन अन्त:नियामक नियमों को ही 'सूत्र' के रूप में कह दिया जाता है। भर्तृहरि उसे ही **स्मृतिसूत्र** कह देते हैं। यदि 'सूत्रों' या **परम्परागत नियमों** से अनाबद्ध या अनियत कोई बात सामने आती है, तब वह स्वत: उस भाषा के अपने केन्द्र से उत्थित नहीं मानी जाती।

अत: व्याकरण का आधार है स्मृति या परम्परा और व्याकरण स्वयं है 'स्मृतिशास्त्र'।

'पतंजलि ने **स्मृत्युदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारश्चेति**'[1] कहकर वृत्ति के साथ ही 'व्याकरण' के अनिवार्य अंग **स्मृति**, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, और **वाक्याध्याहार** को माना है। भर्तृहरि भी इसी मत के हैं : **'तस्मादिदमेव प्रतिपत्तव्यं सूत्रादेवोदाहरणादिनिर्ज्ञातार्थात् शब्दप्रवृत्तिरिति'**[2]। जिसे आज हम 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' कहते हैं, उसका मूल सूत्र भी इन्हीं चार तत्त्वों पर आधारित है। किसी भी नियम या सूत्र के सम्पुष्ट आधार के लिए **परम्परा, उदाहरण, प्रत्युदाहरण और प्रसंग** (या नियोगस्थल) आदि का परिज्ञान अनिवार्य रहता है।[3]

इस प्रकार भर्तृहरि का **स्मृतिशास्त्र** किसी मनचले विद्वान् की मस्तिष्क-क्रीडा या वैचारिक-उड़ान नहीं है। बल्कि उसका एक दृढ़ आधार है। वह सामाजिक परिवेश में जन्म लेता है। 'उदाहरण' आदि की स्थिति सामाजिक व्यवहार और सामाजिक भाषा के परिज्ञान से ही सम्भव है। इस बात को ही भर्तृहरि ने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि 'व्याकरण के सम्पूर्ण सम्बन्ध-सूत्र' स्मृति के आधार पर, और उसकी रक्षा के लिए ही, अनुगत होते हैं :

ते लिंगैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिता:।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम् ॥ वा० १. २६ ॥

वा० १. १४२, १४५, १४६ में भी भर्तृहरि ने '**स्मृति**' के इसी रूप पर बल दिया है। इसे शिष्टों से निबध्यमान तथा 'लिंगों' से विहित स्वीकार किया है। उनकी मूल शर्त यहाँ भी **भावतत्त्व की पहिचान** ही रही है: **'भावतत्त्वं तु विज्ञाय'**। भावतत्त्व को बिना जाने व्याकरणसम्बन्धी विचार निराधार और व्यर्थ हो जाता है।

---

१. म० १. १. १।

२. म० त्रि० १. १. १।

३. 'एवं स्मृति: समार्थिता भवति। एवमानर्थक्यं न भवति स्मृते:। म० त्रि० १. १. १ से तुलनीय।

२.११ आगम और लोक

'स्मृति' के अतिरिक्त भर्तृहरि '**आगम**', 'शास्त्र' और 'श्रुति' शब्दों का प्रयोग भी, इस प्रसंग में, बार-बार करते हैं। शेष दो पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहां '**आगम**' को देख लेना अधिक अभीष्ट होगा।

भर्तृहरि ने एक स्थल पर कहा है :

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ॥ वा० १.३०॥

अर्थात् "धर्म की सत्ता शुद्ध तर्क पर नहीं टिक सकती, उसके लिए '**आगम**' का आधार आवश्यक अपिच अनिवार्य है। यहाँ तक कि ऋषियों का ज्ञान भी **आगम** पर ही आधारित होता है।"

यहां प्रयुक्त '**आगम**' शब्द की स्पष्ट व्याख्या करते हुए भर्तृहरि अगले ही श्लोक में कहते हैं :

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥ वा० १.३१ ॥

अर्थात्, "धर्म के जो मार्ग लोक-प्रसिद्ध रूप से व्यवस्थित हैं, उन्हें केवल तर्क के आधार पर ही कोई खण्डित नहीं कर सकता।"

स्पष्ट है कि जिसे ऊपर '**आगम**' कहा गया है, उसे ही यहां '**लोक-प्रसिद्ध धर्म-मार्ग**' कहा गया है। '**तर्क**' की बाधा इसी तत्त्व पर असर नहीं कर सकती। अर्थात्, **भर्तृहरि के अनुसार** 'लोक-प्रसिद्ध **धर्ममार्ग' ही तर्क से अव्याहत 'आगम' है।**

इसलिए जब भर्तृहरि '**व्याकरणागमः**' जैसा शब्द प्रयुक्त करते हैं, तब उसका अर्थ होता है '**लोक-प्रसिद्ध व्यवस्था या मार्ग का विवेचक व्याकरण**'। इसे ही त्रिपदी टीका में भर्तृहरि ने यूं कहा है : "**य एव लौकिकः शब्दोऽसावेवाश्रीयते। तस्यैवेदमनुशासनं शास्त्रम्** ।"[१] अर्थात्, 'इस शास्त्र में लोक-प्रयुक्त शब्द का ही आश्रय लिया जाता है और उसी का अन्वाख्यान किया जाता है। धर्म-नियम या 'धर्ममार्ग' शब्द भी उक्त कथन में अभिप्रायहीन नहीं है। पतंजलि ने **लोकतोऽर्थ-प्रयुक्ते शब्दे शास्त्रेण धर्मनियमः**'[२] के रूप में जिस सत्य को कहा है, भर्तृहरि उसे ही 'आगम' का आधार बता रहे हैं। स्पष्ट है कि '**आगम**' शब्द, 'शास्त्र' का पर्यायवाची होकर भी, 'शिष्टों द्वारा निबद्ध शास्त्र' से किंचित् भिन्न है। यह है अकृतक शास्त्र : **तस्मादकृतकं शास्त्रम्**[३]।

---

१. म० त्रि० १.१.१।
२. म० १.१.१।
३. वा० १.१४३।

'परम्परा' से इसका अविच्छिन् सम्बन्ध बताते हुए भर्तृहरि महाभाष्य की त्रिपदी टीका में कहते हैं : **'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः । श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः'**[1] अर्थात्, 'परम्परागत रूप में दो भेद हो सकते हैं—**श्रुति-लक्षण और स्मृतिलक्षण**[2]।'

'अविच्छिन्न परम्परा' और 'अकृतकता' को आगम के मुख्य लक्षण मानते हुए भर्तृहरि कहते हैं :

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्त्तते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाधते ।। वा० १.४१ ।।

अर्थात्, "यह आगम' चैतन्य की तरह सार्वत्रिक और अविच्छिन्न है तथा इसे तर्क और वादों के बल से खण्डित नहीं किया जा सकता ।"

वा० १.३६ में भर्तृहरि 'स्मृति' का आधार 'आगम' को बताते हैं : **'यथाऽऽ-गमम्'** । हम कह आए हैं कि व्याकरण का एक रूप है **नियामक या स्मृतिरूप,** जिसके द्वारा हम किन्हीं अन्तर्हित नियमों को पहिचानते हैं । किन्तु, **'आगम' के** रूप में 'व्याकरण' व्यापक लोकाधार को लेकर हमारे सामने आता है । इसी लिए हम उसे '**लोकागम**' भी कहने का साहस अन्यत्र कर चुके हैं ।[3] इसे अधिक स्पष्टता से समझने के लिए भर्तृहरि के निम्न शब्दों पर ध्यान देना होगा :

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात् प्रतिपद्यते ।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे ।। वा० १.१४१।।

अर्थात्, 'आगम के द्वारा ही अदृष्टफल अर्थों की उपलब्धि होती है, और विपरीत अर्थों का विनिश्चय भी इसी आगम के द्वारा किया जा सकता है ।'

भर्तृहरि तो व्याकरण की मौलिक कल्पना—प्रकृति-प्रत्यय-विभाग—को भी, स्थिर न मानकर, लोक-प्रयोग पर आधारित और 'ऊह' का विषय स्वीकार करते हैं : **'शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च'** ।[4] अर्थात्, प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना भी लोक प्रयोग पर ही आधारित है।

व्याकरण और भाषा के लिए लोक को चरम प्रमाण मानने वाले भर्तृ-हरि कहते हैं : **'यस्माल्लोकादयं शिक्षते स लोकः सापराधः साधूनसाधूँश्च शिक्ष-यति । यश्चात्मप्रत्यायनेऽर्थः प्रेरयिता, स यथैव गौरित्येतं प्रेरयत्येवं गाव्यादीनपि ।**

---

१. म० त्रि० १. १. १ ।

२. भाषा० वाक्य०, अनु० ३५, पृष्ठ ३५ ।

३. यही प्रबन्ध, पृष्ठ ३६, तथा भाषा० वाक्य०, पृष्ठ ३३-५ ।

४. म० त्रि० १. १. १ ।

अतः शास्त्रप्रवृत्तिः । एवमर्थाः कथमसाधवो निवर्त्तेरन्निति[1] ।' अर्थात्, "शिक्षा के स्रोत लोक की प्रकृति सापराध है। उससे साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग ज्ञात होता है। आत्म-प्रत्यायन में जो अर्थ प्रेरक होता है, वह 'गौ' और 'गावी' का प्रत्यायन समान रूप से कराता है। शास्त्र की प्रवृत्ति भी इसी (अर्थ-प्रयोग) के आधार पर होती है। जब अर्थ-प्रेरणा ही सब कुछ है, तब किन्हीं 'असाधु' शब्दों को कैसे हटाया जा सकता है ?"

'वाक्यपदीय' में भी भर्तृहरि इसी परिणाम पर पहुँचे हैं : 'संस्कारहीन शब्द ही 'अपभ्रंश' कहलाता है, किन्तु वह किसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो जाता है।'[2] अस्व, गोणी, आदि शब्दों को अन्य विषय या प्रसंग में 'साधु' कहा जा सकता है।[3] बात यह है कि वाक्प्रयोग मात्र 'साधु' है। उसकी साधुता का निमित्त भले ही भिन्न हो[4]। वे आगे कहते हैं : 'जब लोक-परम्परा में कोई अपभ्रंश शब्द किसी निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाता है, तब उस विशिष्ट अर्थ में प्रसिद्ध साधु शब्द का भी प्रयोग नहीं किया जाता'।[5] इसीलिए उन्होंने कहा : 'यश्चासौ लौकिकः शब्दोऽसावेवाश्रीयते। तस्यैवेदमनुशासनं शास्त्रम्'।[6] और, 'शब्दाः लोक निबन्धनाः'।[7]

२.१२ श्रुतिः अकर्तृका

महाभाष्य टीका में 'आगम' की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने उसे **'श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः'** कहा है। यह 'श्रुति' क्या है ? हमने अन्यत्र उसे 'लोक-आगम' का पर्याय कहा है। इसे हमने **'आत्म-प्रत्यायन'** नाम भी दिया है। वहीं पर हमने कहा है : **'अपनी प्रतिभा और अनुभूति के आधार पर हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह है श्रुति।'**[8] भर्तृहरि इसे इस प्रकार कहते हैं :

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।[9]

अर्थात्, 'श्रुति अनादि, अव्यवच्छिन्न और अकर्तृक है।' इसी श्लोक में 'स्मृति' को 'शिष्ट-निबद्ध' कह कर वे उसकी सीमा को बनाते हैं। 'स्मृति' के सनिबन्धन

---

१. वही।
२. वा० १. १४८।
३. वा० १. १४९।
४. वा० १. १४९।
५. वा० १. १५४।
६. म० त्रि० १. १.१।
७. वा० २. २९७।
८. भाषा० वाक्य०, अनुच्छेद ३५, पृष्ठ ३५।
९. वा० १. १४५।

होने की तुलना 'अकृतकत्व' से करते हुए वे अन्यत्र कहते हैं : **तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्**।[1] यहां 'शास्त्र' को 'अकृतक' कहते हुए, भर्तृहरि स्पष्टतः उसे 'श्रुति' के अपर पर्याय के रूप में ही प्रयोग कर रहे हैं।

अनादि, **अव्यवच्छिन्न** और **अकर्तृक** आदि विशेषणों को हम भर्तृहरि द्वारा 'आगम' के प्रसंग में भी प्रयुक्त होता पाते हैं :

नित्यत्वे कृतकत्वे च तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते॥ वाः० १.२८॥
नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्तुमर्हति।
तस्मिन्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः॥ वा० १.२९॥

अर्थात्, "आगम का आधार जिस श्रुति पर है, वह एक प्रकार की नित्य व्यवस्था है। वह अनादि और अकृतक है। उसे कोई भी अनर्थक नहीं बना सकता। शिष्ट लोग उसी के पर्यालोचन के आधार पर 'स्मृति' अर्थात् 'नियम' का विधान करते हैं।"

२.१२.१ श्रुति और स्मृति

'श्रुति' और 'स्मृति' का भेद करते हुए वा० १.१४५ में भर्तृहरि ने '**श्रुति**' को अकर्तृक अव्यवच्छिन्न और अनादि बताया है, जब कि **स्मृति** को उन्होंने शिष्टों द्वारा निबद्ध बताया है। वे इनमें, आगे चलकर, अन्य भेद भी बताते हैं :

अविभागाद् विवृत्तानामभिख्यास्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिंगेभ्यो विहिता स्मृतिः॥ वा० १.१४६॥

अर्थात्, '**श्रुति**' अविभाज्य है, जब कि '**स्मृति**' का विधान ही लिंगों पर आधारित होता है। इसीलिए हमने 'स्मृति' को '**परम्परा का विश्लेषण**' कहा है।[2] 'श्रुति' परम्परा का उपदेश या **समग्र ज्ञान** है।

भर्तृहरि केवल एक स्थान पर ही 'श्रुति' और 'स्मृति' को रूढ़ अर्थों में प्रयोग करते दीखते हैं, यद्यपि वहां भी उनका अभिप्राय 'परम्परा के अनुशीलन' और 'विश्लेषण' से ही है।[3]

'श्रुति' को हम, भर्तृहरि की दृष्टि में, 'शब्दोपदेश' (शब्दोच्चारण) का अपर पर्याय भी कह सकते हैं। एक स्थल पर वे कहते हैं:

---

१. वा० १. ४३।
२. भाषा० वाक्य०, पृष्ठ ३५, अनु० ३५।
३. वा० १. १३४।

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। वा० १.४६ ।।

अर्थात्, 'जिस प्रकार काष्ठस्थ अग्नि अनेकत्र ज्वाला या प्रकाश कारण हो सकती है, उसी प्रकार 'बुद्धिस्थ शब्द' के एक होने पर भी उसके 'वाचक शब्द' (या श्रुतियां) अनेक हो सकते हैं' ।[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्याकरण के जो दो पार्श्व **लोक-परम्परागत शब्दराशि** एवं उसके **अन्तर्वर्त्ती नियमों के विश्लेषण** के रूप में समझे जाते हैं, उनमें से प्रथम को 'श्रुति' और दूसरे को 'स्मृति' कहते हैं। ये दोनों ही व्याकरण के अंग हैं। विश्लेषण का आधार **परम्परा-ज्ञान** पर ही स्थित है। यदि यह परम्परा-ज्ञान न हो, तब हम 'भावतत्त्व' को न जान सकेंगे। और यदि 'भावतत्त्व' को न जान पाएं, तब 'व्याकरण' का जन्म ही असम्भव होगा।

'श्रुति' को हम, आज की भाषा में, 'ज्ञात शब्दराशि' या 'ज्ञात ज्ञानराशि' कह सकते हैं। उसके आधार पर ही व्याकरण के नियमों का निर्धारण होता है। पर व्याकरण केवल नियमों का संग्रह मात्र ही नहीं है। उसे 'श्रुति-स्मृति' में कथित धर्म भी कह सकते हैं।[2] उसमें नियमविधान किसी परम्परा के अनुशीलन के रूप में ही होता है।

दूसरे शब्दों में, **'श्रुति' का सम्बन्ध भाषा के परम्परागत प्रवाह और उसके ज्ञान से है, जबकि 'स्मृति' का सम्बन्ध भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्रों अथवा रचना और विकास में अन्तर्हित नियमों की पहचान से है। दोनों मिलकर ही व्याकरण की पूर्णता बताते हैं।** यद्यपि व्याकरण के नियम या सूत्र (स्मृति-सूत्र) शिष्टों द्वारा निबद्ध होते हैं, पर उन नियमों का कार्य भाषा में अकर्त्तृक, अनादि और अनाहत होता है। इसीलिए व्याकरण के **सूत्र-संग्रह** को हम, भर्तृहरि के अनुसार, स्मृतिनिबद्ध अथवा **स्मृति-निबन्धन** कह सकते हैं, जब कि भाषा में उन नियमों के स्वाभाविक कार्य (श्रुति) के परिज्ञान को, अकृतक या अकर्त्तृक शास्त्र अथवा आगम के रूप में, उसकी अविच्छिन्न पृष्ठभूमि कह सकते हैं।

२.१२.२ परस्पर विरोध सम्भव

'श्रुति' और 'स्मृति' में परस्पर विरोध भी सम्भव हो सकता है। भर्तृहरि कहते हैं : **"सा तु स्मृतिः क्वचिच्छ्रुत्या विरुध्यते। यथा**

---

१. 'भाषा० वाक्य०' पृष्ठ ११५, अनु० ११६।
२. वा० १: १३४।

अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदे ब्रह्मचर्यं चरितव्यमिति । इयं श्रुतिविरोधिनी स्मृतिः। श्रुतौ ह्युक्तं पिता पुत्रं याजयेदिति। तत्रानुमानपक्षे स्मृतिः नित्यप्रमाणं भवति।" अर्थात्, 'कहीं इन दोनों में विरोध भी हो सकता है। ···ऐसी जगह अनुमान के क्षेत्र में स्मृति को ही अन्तिम प्रमाण मानना चाहिए।' आयुर्वेद एवं धर्म स्मृतियों के अन्य उदाहरण देकर भी भर्तृहरि इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। परम्परा और नियम का विरोध न होना उचित है। किन्तु, यदि कहीं विरोध दिखाई दे, तब अनुमानाश्रित बातों के प्रसंग में नियम की प्रधानता स्वीकार करनी ही चाहिए। क्योंकि नियम और स्मृति का आधार 'विश्लेषण' पर स्थित होता है।

२.१३ आंजस मार्ग

व्याकरण को भर्तृहरि ने एक स्थल पर 'आंजस मार्ग' कहा है। इसे सप्रसंग पढ़ने पर पाठ इस प्रकार होगा :

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामंगं व्याहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ वा० १.११ ॥
प्राप्तरूपविभागाया: यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमांजसः ॥ वा० १.१२ ॥

इनमें से प्रथम श्लोक में व्याकरण को 'ज्ञान' और 'वेद' का प्रथम और **प्रमुख अंग** कहा गया है। किन्तु, अगले में उसे वाणी का **परम रस** अथवा उसकी **परम ज्योति** को पाने का **आंजस मार्ग** कहा गया है। **आंजस** का शब्दार्थ सर्वत्र **लघुतम** या **ऋजुतम** किया गया है। पतंजलि जिसे 'लघु' के रूप में व्याकरण का प्रयोजन मानते हैं, और स्वयं भर्तृहरि ने जिसके लिए '**व्याकरणं लघुरूपायः शब्दज्ञानं प्रति, अन्य उपाय एव न संभवति**' कहा है, उसे ही यहां वे '**आंजस मार्ग**' के रूप में कह रहे हैं। उनकी दृष्टि में व्याकरण शब्दज्ञान और वाणी के अमृतपान का सब से छोटा और सीधा मार्ग है।

परन्तु यहां 'आंजस' जिस रूप में आया है, उस से वह 'ज्योति' का विपरीतार्थवाची प्रतीत होता है। सम्भव है शुद्ध शब्द '**आंजन**' रहा हो। कुछ व्याख्याकार 'आंजस' का अर्थ भी **अन्धकारमय** कर देते हैं। इसका आधार वे भर्तृहरि की इस उक्ति में खोजते हैं :

प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्त्तते॥ वा० १.१८॥
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माऽधिगम्यते ॥ वा० १.२२॥

यहां प्रथम श्लोक का '**शुद्ध ज्योतिः**' अगले श्लोक में '**परं ब्रह्म**' बन गया **है**। प्रथम श्लोक में उसका अविर्भाव और विवर्त्त '**तमसि**' (अन्धकार में) स्वीकार किया गया है, जब कि दूसरे में उस की अभिव्यक्ति का माध्यम 'व्याकरण' को स्वीकार किया गया है। '**आंजस मार्ग**', '**तम**' और 'व्याकरण' को सर्वत्र एक समान रूप में ही '**शुद्ध ज्योति**' या '**परब्रह्म**' के प्रकाशन का माध्यम स्वीकार किया गया है। सबसे छोटा पथ अन्धकारपूर्ण कैसे हो सकता है ? पर, दूसरी ओर, 'मूर्त्तिव्यापारदर्शन' को (वा० १.१९ में) भर्तृहरि '**वैकृत**' मानते हैं। व्याकरण भी 'मूर्त्ति व्यापार-दर्शन' में ही उलझता दीखता है। अतः वह भी '**वैकृत**' ही है। उसे पार करके ही प्रकाश-रूप ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

यह 'ब्रह्म' कौन है ? व्याकरण के द्वारा यह कैसे उपलभ्य है ? इन प्रश्नों का समाधान भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' के प्रथम श्लोक में ही कर देते हैं। वहां वे इसे '**शब्द-ब्रह्म**' कहते हैं। वा० १.१ से १.२२ तक इसी 'शब्द-ब्रह्म' की चर्चा हुई है।

दूसरे शब्दों में : **व्याकरण शब्दब्रह्म को पाने का सरलतम और सीधा मार्ग है। वह स्वतः अन्धकारमय प्रतीत होकर भी हमें उस महाज्योति का साक्षात् कराता है। उपलभ्य वह प्रकाश है, मार्ग तो साधन या उपाय मात्र है**। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं : **अन्य उपाय एव न संभवति**।

२.१३.१ उपाय

परन्तु 'मार्ग' और 'उपाय' का क्या महत्त्व है ? भर्तृहरि 'उपाय' की परिभाषा दो स्थान पर करते हैं। महाभाष्य की त्रिपदी टीका में वे कहते हैं : 'उपायो नाम कार्यनिर्वृत्तिं प्रति यः कारणानां विन्यासविशेषः।' अर्थात्, कार्यसिद्धि के लिए कारणों का विशेष विन्यास ही 'उपाय' कहलाता है। 'वाक्यपदीय' में वे कहते हैं : '**उपादायाऽपि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते**।' अर्थात्, कार्य-सिद्धि हो जाने तक ही जिनकी महत्ता रहती है, पर उसके बाद जिनका ग्रहण अभीष्ट नहीं होता, उन्हें 'उपाय' कहते हैं। इसका अर्थ हुआ कि भर्तृहरि की दृष्टि में **व्याकरण मार्ग या उपाय भर है**। वह लक्ष्य और सिद्धि प्राप्त कराने का **साधन** भी है। वह स्वयं लक्ष्य का स्थान नहीं ले सकता। लक्ष्य प्राप्ति होते ही वह महत्त्वहीन हो जाता है। इसीलिए उन्होंने कहा—'**एवं यदि शब्दा गौरित्येवमादयः पाणिनिप्रभृतिभिः सौरक्रीडावत् व्यवहारार्थेषूत्पादिताः स्युस्तत्राशिक्षितः पुरुषः कुशलान् प्रयोज्यत्वेन वैयाकरणानुपेयात्। न चोपैति**।'[1] अर्थात्

१. म० त्रि० १. १. १।

यदि शब्दों का निर्माण पाणिनि आदि वैयाकरणों ने किया हो, तो व्याकरण में अशिक्षित पुरुष को शब्द-प्रयोग के समय वैयाकरण के पास जाकर शब्द की याचना करनी पड़ेगी। पर ऐसा होता नहीं। व्याकरण भाषा-निर्माण या शब्द-निर्माण की प्रक्रिया को समझने-समझाने का उपाय या मार्ग अवश्य है, किन्तु 'भाषा-निर्माण की प्रक्रिया किन्हीं वैयाकरणों द्वारा सम्पन्न होती है' यह कहना अपनी अज्ञता सूचित करना है।

इसीलिए भर्तृहरि ने 'व्याकरण' शब्द की सही व्याख्या करते हुए कहा था: **आक्रियते इत्यनेन द्वारेण शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाचिख्यासन्नुपन्यासं करोति'**।[1] अर्थात्, यहां शब्दों के आकरण का अर्थ है शब्दप्रयोग के निमित्त को ठीक पहचानकर उसकी व्याख्या करना। कहां कौन-सा शब्द क्यों प्रयुक्त हुआ है ? और उसका अर्थ-विशेष उसमें किन नियमों से स्थित है ?—इन सब प्रश्नों का उत्तर देना व्याकरण का ही कार्य है।

२.१४ लक्षण-शास्त्र

व्याकरण की सही परिभाषा की खोज में 'महाभाष्य' में कई विप्रतिपत्तियां उठाई गई हैं। '**सूत्र ही व्याकरण है**' (सूत्रं व्याकरणम्[2]) — की मान्यता में यह स्पष्ट करने के बाद, कि 'व्याख्यान' के बिना 'सूत्र' या 'नियम' की महत्ता नहीं रह जाती, पतंजलि 'व्याख्यान' का स्वरूप बताते हैं:' **स्मृति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, और वाक्याध्याहार (प्रसंग) का समुदित या सम्बद्ध-कथित रूप ही 'व्याख्यान' कहलाता है'**।[3] तब वे एक नई मान्यता पर विचार करते हैं: '**एवं तर्हि लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्**।'[4] भर्तृहरि यहां 'बिल्व' का उदाहरण देकर कहते हैं: '**एतत् प्रतिपत्तव्यम्। यथा अन्यो बिल्वशब्दो वनस्पतिमाह, अन्य एव फलम्। नाप्यप्शब्दवत् एकशब्दनिमित्तत्वात्। नाप्यक्षवत् क्रियासामान्यात्। नाप्येकशेषाश्रयणम्। एवं हि कल्पयमाने सर्वः शब्दोऽप्येवं भाष्यमनुघटते। यल्लक्ष्यमाणमन्यश्चेल्लक्ष्यमाह अन्यो लक्षणमन्यः समुदायम्। किमुच्यते समुदायेषु च शब्दः प्रवृत्ता इति। तस्माद् यथैव संघमण्डलसेनावनमित्येते शब्दाः समुदायाभिधायिनो नावयवाभिधायिनः, एवं व्याकरणशब्दोऽपि समुदायाभिधायीति'**।[5] अर्थात्, जिस तरह बिल्व शब्द वनस्पति और फल की सूचना वस्तुतः दो शब्दरूपों द्वारा देता है, उसी प्रकार 'व्याकरण' शब्द भी 'सूत्र' और 'उदाहरण' के विषय

---

१. म० त्रि० १. १. १।
२. 'सूत्रं व्याकरणम्' म० १. १. १।
३. 'स्मृत्युदाहरण०', म० १. १. १।
४. म० १. १. १।
५. म० त्रि० १. १. १।

में पृथक्-पृथक् दो शब्दों के रूप में प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। पर बहुत से शब्द, **'अवयव'** का बोध न कराकर, समुदाय का बोध कराते हैं। संघ, मण्डल, वन, आदि शब्द एक-एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त न होकर समुदाय के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार **'व्याकरण'** शब्द भी लक्ष्य और लक्षण के सामुदायिक रूप पर लागू माना जाना चाहिए, न कि केवल 'सूत्र' या केवल 'व्याख्या' रूप पर। आगे चलकर वे यह अन्तर भी स्पष्ट करते हैं कि **'व्याकरण'** शब्द केवल **समुदाय का वाचक** ही नहीं है, बल्कि वह अकेले 'सूत्र' या अकेली 'व्याख्या' पर भी लागू हो सकता है। परन्तु, इस पर भी, भर्तृहरि की अपनी धारणा इसी प्रकरण के निम्न वक्तव्य से सिद्ध होती है :

'सूत्रादेव ह्यभिव्यक्ताऽर्थाच्छब्दप्रवृत्तिरिति। यदेतदुदाहरणादीनामुपादानमेतन्नार्थतन्त्राणां भाष्यस्थानां ब्रूयात्, शब्दान्तरंग प्रतिपद्यते इति। किं तर्हि? अनभिव्यक्तं सूत्रं अभिव्यंजयेदिति'।[1]

अर्थात्, अभिव्यक्त अर्थवाले सूत्र से ही शब्दप्रवृत्ति का ज्ञान सम्भव हो पाता है। 'उदाहरण' आदि का ग्रहण किसी शब्दान्तर या शब्दान्तरंग को पाने के लिए नहीं होता। बल्कि उनका मुख्य प्रयोजन है, नियम या 'सूत्र' की अस्पष्टता दूर करके, उसके कार्य को स्पष्ट करना। अतः जब भर्तृहरि व्याकरण को 'लक्षण-शास्त्र' कहते हैं, तब भी उनका अभिप्राय 'लक्ष्य और लक्षण' के समन्वित रूप से ही होता है। 'वाक्यपदीय' में उन्होंने लिखा है, **'जिस प्रकार शरीर और बुद्धिसम्बन्धी मलों की शुद्धि चिकित्सा एवं अध्यात्म शास्त्र से होती है, वाक् सम्बन्धी मलों की विशुद्धि उसी प्रकार 'लक्षण शास्त्र' से होती है'**।[2]

२.१४.१ संस्कार

इस शुद्धि को ही **'संस्कार'** कहते हैं। 'व्याकरण' शब्दों की 'शुद्धता' का निर्णय ही नहीं करता, बल्कि सामान्य परम्परा का निर्देश करके, लक्षण के रूप में, हमें वह कसौटी भी प्रदान करता है, जिसके आधार पर हमें शब्दों की शुद्धता-अशुद्धता का ज्ञान सम्भव होता है। इस कसौटी पर 'शुद्ध' न ठहरने पर ही किसी शब्द को हम 'अपभ्रंश' या 'अपशब्द' कह देते हैं।[3]

परन्तु, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ये लक्षण केवल **रूपमात्र** से ही निश्चित किए जाते हैं, या इनका कुछ सम्बन्ध **भावतत्त्व** से भी होता है?

---

१. म० त्रि० १. १. १।

२. वा० १. १४७।

३. वा० १. १४८।

'अश्व' में संज्ञा भी है और क्रिया भी। 'अप्' का अर्थ समुद्र भी है और बिन्दु भी। 'गतः' और 'गतम्' में लिंगभेद है, स्थिति भेद भी, और वाच्य भेद भी। यह सब 'भावतत्त्व' को बिना जाने निर्णीत नहीं हो सकता। इसीलिए भर्तृहरि स्पष्ट कहते हैं कि **व्याकरण रूपी स्मृति का विधान, भावतत्त्व को जानकर ही, चिन्हों की पहचान द्वारा सम्भव होता है :**

'भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिंगेभ्यो विहिता स्मृतिः ।। वा० १.१४६ ।।

यहां 'लिंग' शब्द 'लक्षण' का ही अर्थवाची है।

२.१४.२ निष्कर्ष

इस प्रकार भर्तृहरि जिसे एक स्थान पर **'लक्षणशास्त्र'** कहते हैं, उसे ही अन्यत्र वे 'भाव पर आधारित' **लक्षणों के परिज्ञान से उद्भूत शास्त्र** मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'नियमों' का महत्त्व तब तक नहीं है, जब तक वे, शब्द की आकृति के साथ-साथ, भावतत्त्व के आधार पर निश्चित न किए गए हों[1]।

यहां हम यह ध्यान दिलाना चाहेंगे कि यह लक्षण 'व्याकरण' को **'एकदेशी'** से हटाकर **'सर्वदेशी'** बना देता है। रूपात्मक समतामात्र होने पर ही हम किसी शब्द को **'संज्ञा'** मान सकते हैं। किन्तु दूसरी जगह उसकी भावना, 'संकेत' की न होकर, 'क्रिया' की हो सकती है। तब 'भावतत्त्व' के आधार पर उसे हम **'क्रिया'** ही कहेंगे। इसी आधार पर हम चीनी भाषा आदि में, रूप विकृति न होने पर भी, **संज्ञा-क्रिया** अथवा **सत्त्व-असत्त्व** आदि में भेद कर सकेंगे। यही है वास्तव में शब्द का **'प्रवृत्ति-निमित्त'**।

२.१५ व्याकरण-अपाकरण

'व्याकरण' का अर्थ भर्तृहरि क्या लेते हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें उनके निम्न वक्तव्य से सर्वाधिक सहायता मिल सकती है : **'निर्णयस्य व्याकरणापाकरणाभ्यां प्रकरणप्रवृत्तिदर्शनात्। तद्यथा कति भवतः पुत्राः, इत्युक्ते संज्ञापूर्वं संख्यामुपादाय प्रश्ने सृताः। तस्य निर्णयो व्याकरणेन अपाकरणेन वा। कश्चिदाह, एको द्वौ बहव इति। एकोऽपि मे नास्ति। अयमपाकरोत्येव प्रश्नम्। नैवायं प्रष्टव्य इति'**।[2] अर्थात्, 'व्याकरण और **अपाकरण** से ही प्रकरण और प्रवृत्ति का ज्ञान हो पाता है। 'आपके कितने पुत्र हैं'?, कहने पर

१. वा० १. १४४।

२. म० त्रि० १. १. १।

हम पहले ही संख्या की सत्ता मानकर चलते हैं। अर्थात्, 'हम पूछते हैं, 'एक है, दो हैं, या तीन ?' पर इसका निर्णय या तो 'व्याकरण' से हो सकता है, या 'अपाकरण' से। कोई उत्तर देने वाला कहता है, 'मेरे तो एक भी नहीं'। इस उत्तर से उस प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता। मानो, यह प्रश्न पूछना ही नहीं चाहिए था।'

इस प्रसंग में भर्तृहरि ने 'अपाकरोत्येव प्रश्नम्' कहकर 'अपाकरण' की सही परिभाषा कर दी है। 'अपाकरण' को शब्द के निवृत्ति-निमित्त[१] का और 'व्याकरण' को प्रवृत्ति-निमित्त[२] का आख्याता कहते हैं। यहाँ हम एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर, इस सम्बन्ध में, ध्यान दिलाना चाहेंगे। वह तथ्य यह है कि 'वाक्यपदीय' के तृतीय काण्ड के 'सम्बन्ध समुद्देश' में भर्तृहरि शब्द की दो शक्तियों या सत्ताओं का उल्लेख करते हैं। इनमें से पहली का नाम 'उपचार-सत्ता' है, जिसका काम प्रासगिक या प्राकरणिक अर्थ को सामने लाना है।[३] दूसरी सत्ता का नाम है 'प्रतिचारसत्ता', जिसका कार्य अनभीप्सित या प्रतिषिद्ध अर्थ को रोके रखना या सामने न आने देना है।[४] 'व्याकरण' के विपरीत 'अपाकरण' की कल्पना करते हुए, भर्तृहरि अपनी इसी सापेक्ष-दृष्टि का परिचय दे रहे हैं। 'व्याकरण' भाषा के अध्ययन और शब्द-रूप के परिज्ञान की एक विधि या प्रक्रिया है। 'अपाकरण' उसी की पूरक या निषेधात्मक दूसरी विधि है। पहला शब्द के प्रवर्त्तन, प्रयोग की स्थिति और आवश्यकता का बखान करता है, जब कि दूसरा उसकी अप्रयोगार्ह स्थिति या आवश्यकता का निर्देशन करता है।

२.१५.१ ऊह : अपोह

'अपाकरण' शब्द निश्चय ही भर्तृहरि की अपूर्व देन है। बौद्ध दार्शनिकों ने अपोह[५] के रूप में एक नकारात्मक या निषेधात्मक विचार सरणि अपनाई थी। **'ऊह'** में हम 'स्वीकृति' को आधार मान कर चलते हैं[६], जबकि **'अपोह'** में 'निषेध' को प्रधानता प्राप्त है। भर्तृहरि 'अपोहवाद' के तो विरोधी रहे, किन्तु 'निषेध-दृष्टि' की सत्ता उन्होंने अवश्य स्वीकार की। 'स्वीकृति' और 'निषेध' मिलकर ही किसी तथ्य की पूर्णता जता सकते हैं; हर वस्तु के दो पक्ष जो होते हैं। कोई भी अकेला पक्ष, स्वयं में, अधूरा ही रहेगा।

भर्तृहरि की यही प्रवृत्ति हम अन्यत्र भी स्पष्ट होती पाते हैं। वाक्य को

---

१. म० त्रि०, १. १. १।
२. वही।
३. वा० ३. ३. ३९-४१।
४. वा० ३. ३.४२।
५. भाषा० और वाक्य०, अध्याय ११ और १२।
६. म० त्रि० १. १. १।

अखण्ड और 'एकोऽर्थः' मानकर भी वे उसमें 'पद-भेद' की कल्पना को सावकाश स्वीकार कर लेते हैं; यद्यपि विशुद्ध काल्पनिक रूप में ही : **'अपोद्धारस्तथा वाक्ये'**, इत्यादि ।[1] प्रकृति और प्रत्यय, उनकी दृष्टि में, वास्तविक नहीं हैं। फिर भी उनकी कल्पना की ही जाती है ।[2] क्योंकि पदों के कल्पित अर्थों के बिना लोक का व्यवहार ही चलता नहीं दीखता ।[3] इसी प्रकार वाक्य के अखण्ड होने पर भी, समझने-समझाने के लिए, हम उसे पदों और पदार्थों में बाट लेते हैं। पर ऐसा हम करते हैं, खींच-तान द्वारा : **अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्** ।[4] अतः स्पष्ट है कि 'अपोद्धार', भर्तृहरि की दृष्टि में, एक निषेध-पक्ष मात्र ही है, विधायक पक्ष नहीं ।

'अपाकरण' भी इसी तरह 'व्याकरण' का पूरक या निषेध पक्ष ही है। **'व्याकरण' है सम-परम्परा की शब्दराशि के विश्लेषण के आधार पर निश्चित होने वाले नियमों का संग्रह, या सावकाश विधि का उदाहरण, प्रत्युदाहरण, स्मृति, प्रसंग आदि द्वारा पुष्ट विचार ! 'अपाकरण' हुआ उस विधि का नाम, जिसके द्वारा विरुद्ध-धर्मा बात का प्रतिकार हो जाता है, अथवा अनवकाश विधि को विचार के अयोग्य ठहराया जाता है ।**[5]

२.१६ सारांश

इस प्रकार कह सकते हैं कि भर्तृहरि की दृष्टि में **व्याकरण, भाषा का नियामक या रचना-नियम मात्र न होकर, भाषा के व्यावहारिक प्रवृत्ति-निमित्त की व्याख्या करने वाला शास्त्र या लोक-परम्परा-समर्थित स्मृति है। उसका आधार है वह 'श्रुति' जो अकर्तृक, अनादि और अव्यवच्छिन्न है। भाषा-ज्ञान का वह लघुतम उपाय है। वह स्वयं साध्य नहीं है। उसमें नियम और व्याख्या, शब्दरूप और भावतत्त्व आदि उभयपक्षों का आधार लिया जाता है।**

२.१७ उद्देश्य और कार्य : पतंजलि—

व्याकरण के स्वरूप-ज्ञान के अनन्तर उनके उद्देश्य और कार्य पर भी विचार कर लेना अभीष्ट है। महर्षि पतंजलि ने मुख्य और गौणरूप में व्याकरण के अट्ठारह उद्देश्य गिनाए हैं। इनमें पहले पाँच प्रेरक उद्देश्य हैं; शेष व्याकरण-

१. तुल०, वा० ३. १. १, एवं २.१० ।
२. वा० ३. १. १; २.१० ।
३. वा० ३. ३. ८६ ।
४. वा० ३. १. १ ।
५. म० त्रि०, १. १. १

ज्ञान के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाले 'प्रयोजन' हैं। इन्हें हम निम्न रूप में गिना सकते हैं :[1]

(क) **रक्षा :** लोप, वर्णविकार, आगम, आदि को जानकर भाषा की शुद्धता की रक्षा की जा सकती है। ज्ञान और वेद की रक्षा भी तभी संभव है। भर्तृहरि इसे 'विद्यमान या प्रचलित अर्थ की हानि से रक्षा' का नाम देते हैं।

(ख) **ऊह :** प्रकृति और विकृति के परिज्ञान के बिना शब्द का विविध स्थलों पर विविधतामय प्रयोग असम्भव हो जाएगा। इसलिए शब्दरूप की प्रकृति-विकृति समझाने वाले व्याकरण का परिज्ञान आवश्यक है।

(ग) **आगम :** परम्परा से अविच्छिन्न उपदेश या शास्त्रों की रक्षा का साधन है, उनका सम्यक्परिज्ञान ! यह ज्ञान व्याकरण के बिना असम्भव है।

(घ) **लघु :** शब्द-ज्ञान का लघुतम उपाय व्याकरण ही है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

(ङ) **असंदेह :** भाषा में वृत्ति या समास-भेद से अर्थ-भेद उपस्थित हो जाता है। व्याकरण-ज्ञान से हम 'वृत्ति' की वास्तविकता तक पहुँचने का यत्न करते हैं।

इन पांच प्रेरक उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य 'प्रयोजन' ये हैं :

(अ) **अपभाषण से रक्षा :** अशुद्ध उच्चारण से हम अशिष्ट और समाजबाह्य गिने जाते हैं। इससे बचने का उपाय व्याकरण है।

(आ) **स्वर-वर्ण-दोष से रक्षा :** इनसे बचना भी आवश्यक है, क्योंकि इन दोषों से कई बार अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(इ) **सार्थक पाठ :** स्वरवर्णादि के ज्ञान के बिना तथा अर्थज्ञान के बिना किया जाने वाला पाठ वैसा ही है, जैसे आग में पड़े बिना सूखी लकड़ी। केवल कहने मात्र से ही पाठ का प्रयोजन पूर्ण नहीं हो जाता।

(ई) **फल-प्राप्ति :** शब्द ज्ञान में धर्म है। अपशब्दों या विकृतियों का ज्ञान भी अनिवार्य है। इस सब को जानकर ही व्यवहार जगत् और अध्यात्म जगत् में पूर्णता पाई जा सकती है।

---

१. म० १. १. १. एवं म० त्रि० १. १. १ में 'प्रयोजनानि' प्रकरण।

(उ) **सामाजिक शिष्टाचार :** सामाजिक शिष्टाचार की परम्पराएं, और सम्बोधन एवं प्लुति आदि के ढंग भी इसी माध्यम से सीखे जाते हैं।

(ऊ) **अवसरानुकूल प्रयोग :** विविध प्रकार के अवसरों या यज्ञादि में हम किसी विशेष वचन या मन्त्रादि को अवसरानुकूल विभक्ति-वचनादि के साथ प्रयुक्त कर सकते हैं।

(ऋ) **यज्ञादि नित्यकर्म :** पठन-पाठन अथवा यजन-याजन जिनका नित्यकर्म है, उन्हें व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य है। क्योंकि ऐसे कार्यों में पाठ की शुद्धता पर बल दिया जाता है।

(लृ) **भाषा का ज्ञान :** भाषा के पद-भेद एवं काल, वचन. विभक्ति आदि का ज्ञान भी आवश्यक है। 'वाक्-उत्पत्ति' के विविध चरणों का ज्ञान भी होना ही चाहिए।

(ए) **वाक् का स्वामित्व :** वाणी को सुन-बोलकर भी न समझना मूर्खता की निशानी है। पर, थोड़ा-सा यत्न करते ही इसके सारे रहस्य जाने जा सकते हैं।

(ऐ) **वाक्-शोधन :** व्याकरण का कार्य एक छाज के समान है, जिससे सत्तुओं के समान ही वाणी का शोधन सम्भव होता है।

(ओ) **नैत्यिक नियम स्वाध्याय :** ज्ञान-सम्बन्धी यज्ञकर्मादि किसी भी नियम के निर्वाह के लिए व्याकरण का नैत्यिक स्वाध्याय आवश्यक है।

(औ) **जन्म से ही आवश्यकता :** जन्म काल से ही विभिन्न संस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। जिसे व्याकरण का ज्ञान नहीं, वह उचित अर्थवाला नाम कैसे रख सकेगा ?

(अं) **सत्य भाषण और सुभाषण :** वरुण को 'सुदेव' और 'सत्यदेव' इसीलिए कहा गया कि वह वाणी और व्याकरण का पूर्ण ज्ञाता है। सत्य और साधु वाणी के प्रयोग के लिए भी व्याकरण-ज्ञान उत्तम उपाय है।

इस प्रकार इन अठारह उद्देश्यों में पतंजलि वाणी और भाषा के उचित ज्ञान और नियमन पर बार-बार बल देते हैं। ज्ञान सर्वाधिक पवित्र वस्तु है। उसकी रक्षा और वृद्धि के लिए भाषा और वाणी का परिचय—व्याकरण-ज्ञान—आवश्यक है।

२.१८ भर्तृहरि की दृष्टि में :

भर्तृहरि ने भाषाविद् की दृष्टि से इस पर अन्यत्र भी विचार किया है। वा० १.१ से वा० १.२२ तक भर्तृहरि ने 'शब्द ब्रह्म' की चर्चा की है। प्रथम श्लोक में 'यत्' से जिसकी चर्चा आरम्भ करते हैं, उसे ही २२ वें श्लोक में 'तत्' कहकर उपसंहार करते हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि उक्त प्रकार का शब्द-ब्रह्म व्याकरण के माध्यम से ही पाया जा सकता है : **'तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते'**। अगले इक्कीस श्लोकों में भी भर्तृहरि व्याकरण के ही सही स्वरूप की चर्चा करते हैं, जिसका आभास पहले दिया जा चुका है। तब वा० १.१३२ से १४८ तक वे व्याकरण का लक्ष्य 'शब्द संस्कार' को घोषित करते हुए उसकी कार्यविधि को स्पष्ट करते हैं। यहाँ हम शब्द-ब्रह्म और व्याकरण के क्षेत्र सम्बन्धी उनकी धारणाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे।

२.१९ एक शब्द

श्लोक १ से ८ तक शब्द ब्रह्म की व्याख्या करने अथवा उसका स्वरूप विवेचन करने के बाद नवम श्लोक में भर्तृहरि महाभाष्योक्त 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः' वाली बात को ही प्रकारान्तर से कहते हैं : **'सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।'** अर्थात्, विद्या का आगम 'एक पद' से ही हो जाता है। विद्या का यह 'एक पद' क्या है ? भर्तृहरि ने एक जगह स्पष्ट किया है :

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ वा० १.१४३॥

वाणी और विद्या का यह एक पद 'व्याकरण' ही है। इसे ही दूसरे रूप में वे कहते हैं :

'आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः॥ वा० १.११॥

अर्थात्, 'व्याकरण शब्द-ब्रह्म का सर्वाधिक निकटवर्त्ती सर्वोत्कृष्ट तप है'। एक अन्य श्लोक में वे इसे ही 'ज्ञानसंस्कार का हेतु' कहते हैं। इसे ही उन्होंने 'आदि पदस्थान' भी कहा है : 'इदमाद्यं पदस्थानम्'।[2]

इस 'पदस्थान' पर विशेष विचार की आवश्यकता है। भर्तृहरि 'वाक्'

---

१. 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'—गीता।
२. वा० १. १६।

और भाषा को '**एकोऽर्थः**' मानते हैं। वह पदरूप में विभक्त नहीं है। **वाक्यपदीय** के आरम्भिक आठ-दस श्लोकों में यहां बताया गया है कि **शब्द-ब्रह्म** या **वाक्-तत्त्व** स्वतः अविभाज्य एवं अखण्ड है। फिर भी लौकिक व्यवहार में हम उसमें **पद, वचन, विभक्ति, काल, भाव** आदि का भेद कर ही लेते हैं। आखिर किस आधार पर हम 'अखण्ड वाक्' को 'खण्डित' करने का साहस करते हैं? उत्तर स्पष्ट है : 'व्याकरण' ही एक मात्र ऐसी विचार-सरणि है, जिसमें आकर उस 'अखण्ड ब्रह्म' को पृथक्-पृथक् अंशों में तोड़कर पहचानने का यत्न किया जाता है। ये अंश ही व्याकरण की भाषा में 'पद' कहलाते हैं। फिर भी सत्य यह है कि व्याकरण हमें इन पदों का परिचय देकर भी इनसे आगे एक अखण्ड अर्थ की उपलब्धि तक ले जाता है। उसके द्वारा ही हमारे सामने इन पदों की ऐकान्तिक और एकांगी अपूर्णता स्पष्ट होती है। कारक, वचन, पुरुष आदि व्यष्टि-पदों की पराश्रितता एवं अपूर्णता के ही बोधक ठहरते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द मात्र की वास्तविक प्रवृत्ति का, या शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त का, परिज्ञान हमें इस 'व्याकरण' के माध्यम से ही होता है। शब्दों की प्रवृत्ति को पहचानने के बाद ही वाक् का परम रस ब्रह्मामृत चखा जा सकता है। **वा० १.१२ में 'यो वाचः परमो रसः', वा० १.२२ में 'परं ब्रह्माधिगम्यते', वा० १.१३२ में 'तद्ब्रह्मामृतमश्नुते', एवं वा० १.१४३ में 'त्रय्या वाचः परं पदम्' आदि कथन** व्याकरण की **इसी सामर्थ्य को इंगित कर रहे हैं।**

२.२० लघुतम उपाय

परम पद—हम 'वाक्' और '**भाषा**' के वास्तविक **स्वरूप** को उसके अंशांशी रूप में बिना जाने, उसकी सम्पूर्णता का—सम्पूर्ण आस्वाद्यता का—आनन्द कैसे ले सकते हैं? इस सम्पूर्णता या समग्रता के अन्तर्हित रहस्य को समझने के लिए व्याकरण जैसे सूक्ष्मतम और लघुतम उपाय का सहारा लेना पड़ता है।

फिर यह 'शब्दब्रह्म' भाषा और वाक्य के रूप में समस्त ज्ञान-विज्ञान का वाहन[1] और समस्त विश्व का सम्बन्ध-सूत्र[2] बना हुआ है। शरीर और प्राण की स्थिति का केन्द्र भी 'शब्दभावना' को कहा गया है[3]। इसलिए उसके उच्चारण

१. वा० १. १०. १३, १२३, १२५।

२. वा० १. ११८।

३. वा० १. १२२।

से लेकर प्रयोग तक की, समस्त समस्याओं का उत्तर पाना आवश्यक है । वाणी के आविर्भाव के जो चार चरण माने गए हैं, उनमें से अन्तिम तीन चरणों—**पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी**—का ही उच्चारण और प्रयोग से सीधा सम्बन्ध है। 'परा' नामक पहली अवस्था 'इच्छा' के उस अस्पष्ट रूप से सम्बन्ध रखती है, जहां शब्द अभी रूप-ग्रहण करने योग्य नहीं बन पाते । इसीलिए भर्तृहरि 'परा' को छोड़कर शेष तीन चरणों को ही 'व्याकरण का क्षेत्र' मानते हैं । उनके शब्दों में **वैखरी, मध्यमा** और **पश्यन्ती** के त्रिविध चरणों में विभक्त वाणी का परम-पद और उनके प्रयोग का परीक्षा स्थल यही 'व्याकरण' है : '**अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्**' । वाणी अथवा भाषा की पवित्रता की पहचान और उसकी परम्परा की रक्षा के कारण ही इसे समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ और उनमें व्याप्त तक कहा गया है[1] । सच तो यह है कि 'व्याकरण' के बिना कहीं वाणी ही किसी दिन निरर्थक न रह जाए, कहीं सम्पूर्ण ज्ञान ही अर्थहीन न रह जाए, और कहीं अर्थवत्ता ही धरती से न गिर जाए ! कारण कि विश्व की सम्पूर्ण अर्थवृत्ति शब्दों पर आश्रित है, और शब्दों की वास्तविकता का ज्ञान व्याकरण के बिना सम्भव नहीं ।[2]

२.२१ लक्ष्य

व्याकरण का लक्ष्य पद-भेद और पदार्थ का ज्ञान कराना नहीं है । बल्कि, उसका लक्ष्य है इस 'प्रकाश और अन्धकार की सीमा' से पर स्थित उस भावबोध को प्राप्त कराना, जो विकृति और मूर्त्ति-व्यापार का विषय नहीं है :

वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्त्तिव्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ।। वा० १.१६ ।।

इस स्थल पर भर्तृहरि द्वारा 'प्रकाशं यम्' का प्रयोग चिन्त्य है। २१वें श्लोक में '**यदेकं**' के पहले आए इस 'यम्' का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए । एक नपुंसकलिंग है और दूसरा पुंलिंग । 'यत्' का प्रयोग अगली पंक्ति में आए 'तत् परं ब्रह्म' से सम्बद्ध है । 'यम्' का प्रयोग 'वाचः परमो रसः' जैसी किसी चीज के लिए ही हुआ है, 'ब्रह्म' जैसे नपुंसकलिंग पद के लिए नहीं । व्याकरण का लक्ष्य, भर्तृहरि की दृष्टि में, पदभेद पर विचार करना या शब्द-रचना के मूल पर पहुँचना मात्र ही नहीं है। वस्तुतः, इस सबको साधन बना कर

---

१. वा, १.१५, १२५ ।

२. वा० १. १३ । तुलनीय—'अन्य उपाय एव न संभवति ।' म० त्रि० १. १.१ ।

व्याकरण शब्द के 'प्रवृत्तिनिमित्त' का ज्ञान कराता है[1], जिसके बाद हम वाणी के समग्र रस का आस्वादन करने में समर्थ होते हैं।[2]

२.२२ शब्द-संस्कार और व्याकरण

'व्याकरण' के सम्बन्ध में बार-बार वाक्-शोधन या भाषा-शुद्धि का प्रश्न उठाया जाता है। भर्तृहरि की दृष्टि में प्रत्येक विद्याभेद 'ज्ञान के संस्कार' के लिए ही होता है: **'विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः'**[3]। अन्यत्र ध्वनि-सम्बन्धी तीन वादों की चर्चा करते हुए भर्तृहरि शब्द-संस्कार को भी एक परिणाम गिनाते हैं।[4] अन्यत्र वे संसारभर का अस्तित्व और व्यवहार 'शब्द' पर आश्रित बताते हुए कहते हैं कि उसे बालक भी जान लेता है[5]। पर, यहां वे प्रारम्भ से संस्कार की स्थिति आवश्यक मानते हैं। संस्कार का महत्त्व उनकी दृष्टि में कितना है, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि वे शब्दसंस्कार को परमात्मा की सिद्धि के समान मानते हैं।[6] स्पष्ट है कि वे परमात्मा की सिद्धि की बात शब्द-संस्कार की कठिनता बताने के लिए नहीं कर रहे, बलिक उनका अभिप्राय शब्द-संस्कार के महत्त्व को प्रदर्शित करना है।

शब्द-संस्कार क्या है? इस बात का उत्तर वे कई स्थानों पर देते हैं। दो स्थानों पर उन्होंने 'वाङ्मलों' या वाणी के दोषों की चर्चा की है। उन्हें हटाने का उपाय उन्होंने 'लक्षण शास्त्र' या 'व्याकरण' को ही माना है।[7] अन्यत्र कई स्थानों पर उन्होंने शब्दों के साधुत्व का महत्त्व बताते हुए, उसकी उपलब्धि का एकमात्र साधन व्याकरण को माना है।[8] पर यहां वे व्याकरण को, विधायक शास्त्र न मानकर, स्मृति या परम्पराज्ञान का विषय मानते हैं। 'वाणी का परम रस व्याकरण द्वारा मिलता है',[9] अथवा 'त्रिपदी वाणी का परम पद व्याकरण है'[10]—भर्तृहरि की ये धारणाएं व्याकरण के उत्तरदायित्व को ही स्पष्ट करती हैं। अन्यत्र वे स्पष्ट करते हैं कि संस्कार हीन शब्द 'अपभ्रंश' कहलाता है।[11] वे यह स्पष्ट नहीं कहते कि 'अपभ्रंश' शब्दों पर व्याकरण के नियम लागू नहीं होते। पर

---

१. प्रवृत्तिनिमित्तमाचिख्यासन्नुपन्यासं करोति, म० त्रि० १. १. १।
२. वा० १. १२।
३. वा० १. १०।
४. वा० १. ७८–८०।
५. वा० १. १२१।
६. वा० १. १३२।
७. वा० १. १४, १४७।
८. वा० १. १४२।
९. वा० १. १२।
१०. वा० १. १४३।
११. वा० १. १४८।

'संस्कार' जब व्याकरण का प्रयोजन है, तब 'संस्कारहीन शब्द' का अर्थ हुआ : जिस पर व्याकरण के नियम न लागू हों। अपभ्रंश शब्दों का अपना नियम-विधान स्वतन्त्र हो सकता है। पर जिस भाषा की दृष्टि से वे **'साधुत्वहीन'** या **'संस्कारहीन'** हैं, उसके नियम-विधानों की पकड़ में वे आ ही नहीं सकते। पर इतने से ही उनका प्रयोग बन्द नहीं हो जाता। वे एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ रहते ही हैं।

दूसरे शब्दों में भर्तृहरि यह स्वीकार करते हैं कि व्याकरण का लक्ष्य है शब्द के उस रूप को स्पष्ट करना, जो स्मृति, परम्परा या नियम-विधान के अनुकूल है। वह प्रचलित रूप को स्पष्ट और नियमित रूप में समझाने और दिखाने का प्रयास करता है। वह हर शब्द में 'साधुत्व' खोजने का यत्न भी करता है। किन्तु जहां वह 'संस्कार' या 'परम्परा-निर्वाह' को नहीं खोज पाता, उसे अछूता छोड़ देता है। वैयाकरण ऐसे सभी प्रचलित शब्दों को भी किसी न किसी रूप में ग्रहण कर लेता है।[1] पर फिर भी जो ग्रहण से बाहर रह जाता है, उसे 'अपभ्रंश' कह दिया जाता है। क्योंकि भाषाविदों की दृष्टि में ऐसे शब्द संस्कारहीन होते हैं।

२.२३ 'संस्कार' क्या है ?

'शब्द-संस्कार' को हम 'संस्कार' की सामान्य भावना से अलग करके नहीं देख सकते। 'संकर' और 'संस्कार' में एक ही उपसर्ग और एक ही धातु है। पर दोनों में महान् अर्थभेद है। 'संकर' में संहति होते हुए भी अव्यवस्था है, जबकि 'संस्कार' में व्यवस्था लाने की भावना मुख्यतः काम कर रही है। सामान्य जीवन में भी 'संस्कार' आदर्श, परम्परा और अनुकरण से आते हैं। व्याकरण भी शब्दों का जो 'संस्कार' करता है, वह भी परम्परा आदर्श और अनुकरण के बल पर उनमें पाई जाने वाली समरूपता का निर्देशन मात्र ही है। मुख्य बात यही है कि 'संस्कार' भी व्यक्ति को समाज का अंग मानकर उसमें सामाजिक भावना भरने का प्रयास करता है। अन्ततः वह उसके व्यक्तिगत एवं याद्दच्छिक स्वातन्त्र्य को किसी सीमा तक कम कर देता है। व्याकरण भी ऐसा संस्कार करता है। उसमें सार्वत्रिक प्रयोग में पाई जाने वाली तुलनात्मक समरूपता को प्रधानता प्राप्त होती है। हर शब्द का याद्दच्छिक विकास सम्भव मानने की प्रवृत्ति वहां कम रहती है। जहां सामाजिक समरूपता से अन्तर पाया जाता है, उसे व्यष्टिनिष्ठ नियमों के अन्तर्गत स्वतन्त्र स्वीकार कर लिया जाता है।

---

१. वा० १. १४६।

अतः 'संस्कार' का मुख्य अर्थ हुआ : व्यवस्था लाने का प्रयास। यह व्यवस्था वैयाकरण द्वारा किन्हीं नव-निर्मित नियमों से नहीं आती। वैयाकरण का कार्य तो भाषा की समग्र प्रवृत्ति का विश्लेषण और अध्ययन करके उन सामूहिक और वैयक्तिक प्रक्रियाओं को पहचान कर इंगित कर देना भर है, जिनके अधीन शब्दों का नियन्त्रण प्रयोक्ता की बुद्धि में होता है, या जिनसे प्रेरित होकर उनका प्रथम प्रयोग सम्भव हुआ होता है।

२.२४ संस्कार और प्रत्यय

'संस्कार' का एक अर्थ इस रूप में भी लिया जाता है : शब्द की मूल भावना में प्रत्यय-संयोग से जो अन्तर आता है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, इस मत के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय के संयोग-विभाग को संस्कार-प्रक्रिया कहते हैं। परन्तु भर्तृहरि स्पष्ट ही संयोग-विभाग की ऐसी सभी प्रक्रियाओं को—प्रकृति-प्रत्यय के तथाकथित विभाग को—'अपोद्धार' या 'खींचतान' का नाम देते हैं। शब्द या अर्थ में बाहर से कोई भी संस्कार नहीं आता। शब्द का संस्कार है परम्परा, आदर्श और अनुकरण के सिद्धान्तों के अनुसार उसका औचित्य निर्धारण। इस ढांचे में बैठने वाले शब्द को ही **'संस्कृत'** या **संस्कारयुक्त** कहा जाता है। 'संस्कृत भाषा' का अर्थ है, अन्दरूनी नियम-विधानों और परम्परावर्त्ती संस्कारों से युक्त शब्द-राशि वाली भाषा। जन-प्रयोग में, नियम-विधान की परवाह किए बिना, बाह्य शब्दों का भी अनाहत प्रवेश होता रहता है। इसलिए उस बाह्य-शब्दराशि को **'संस्कार हीन'** या 'अपभ्रंश' कह दिया जाता है।[1]

'संस्कार' से 'संस्कृत होने' की यह प्रक्रिया किसी भी भाषा में चल सकती है, और चलती भी है। पढ़ा-लिखा और संस्कारी व्यक्ति भाषा को भी किन्हीं नियमों में बंधा मानकर ही पढ़ता और समझता है। उसका प्रयोग भी इसीलिए 'नियमित' होता है। ये 'नियमित' शब्द जन-प्रयोग में ही स्थिर होते हैं। अतः 'संस्कृत' भाषा भी 'जन भाषा' में से ही अपना रूप लेती है। अन्तर उसमें यह होता है कि उसमें नियमित प्रक्रिया खोजने की प्रवृत्ति होती है, और 'अनियमित' प्रतीत होने वाले शब्द रूपों और प्रयोगों को वह 'अपभ्रंश' या 'संस्कारहीन' कहकर छोड़ देती है। इस प्रकार 'प्रकृति' (जन-सामान्य) की भाषा 'प्राकृत' ही वह उत्स है, जिसमें से नियमानुकूल चुनाव-प्रक्रिया द्वारा 'संस्कृत' या 'संस्कारी' शब्दों का चुनाव होकर, एक नियम या व्यवस्था से बद्ध दीखने वाली भाषा का

---

१. वा० १. १४८।

जन्म होता है। इसे हम, भर्तृहरि के शब्दों में, उलटे क्रम में यूँ कह सकते हैं: 'यह दिव्य और नियमित भाषा अशक्त या अनियमित शब्दों से भरी पड़ी है।'[१] अर्थात्, भाषा का संस्कृत मूल रूप अन्यान्य नियम-बाह्य और परम्परा-बाह्य शब्दों के कारण विकृत सा दीखने लगता है। शिष्ट लोग इसलिए व्याकरण रूपी स्मृति का आश्रय लेकर संस्कार युक्त भाषा को प्रयोग करते हैं'[२]।

स्पष्ट है कि संस्कार से 'प्रत्ययों' का संबन्ध 'जन्य-जनक' का नहीं है। हां, अपने मूल अर्थ में यदि 'प्रत्यय' का अर्थ 'पहचान चिह्न' लिया जाए, तब कहा जा सकता है कि 'अर्थभावना और उद्देशजाबुद्धि को इन संकेतों से पहचाना जा सकता है'[३]। इन दोनों की पहचान क्योंकि 'प्रत्ययों' से होती है, इसलिए शब्द का 'संस्कृत' या 'शिष्ट' रूप भी इन 'प्रत्ययों' की उपलब्धि से ही निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार 'प्रत्यय' संस्कार के कारण नहीं होते, बल्कि वे 'संस्कार' के 'संकेत' या 'चिह्न' होते हैं[४]। जिस प्रकार खुर, विषाण आदि से गाय आदि की पहचान होती है, उसी प्रकार शब्दों की संस्कारमत्ता या साधुता की पहचान मूल 'प्रत्ययों' द्वारा होती है।[५] प्रत्यय सर्वत्र स्थित हो सकते हैं,[६] परन्तु उनकी विभिन्न स्थितियों को स्पष्ट समझने के लिए, प्रायः उन्हें 'परवर्त्ती' या 'अन्त्य' ही स्वीकार किया गया है।[७] **'आगम'** और **'प्रत्यय'** का भेद मूलतः सिद्ध नहीं किया जा सकता। दोनों को ही 'आगम' भी कहा जा सकता है और 'प्रत्यय' भी। पर सामान्यतः 'प्रत्यय' उस नियमित और व्यापक 'चिह्न' का नाम है, जो शब्द के अन्त में उसके रूप-निर्धारण में काम आता है। जबकि 'आगम' उस अधिक या प्रकृति-बाह्य ध्वनि को कहते हैं, जो सार्वत्रिक नहीं कही जा सकती, और जिसे प्रत्यय चिन्हों से स्पष्ट ही अलग पहचाना जा सकता है। संस्कृत के सुप्, तिङ्, तद्धित आदि अन्त में स्थित प्रत्यय हैं। किन्तु नुम्, नुट्, तुक्, धुट्, सुट्, अट्, आट् आदि का प्रयोग न तो सार्वत्रिक है, और न उनका स्थान निश्चित है। इसीलिए उन्हें 'आगम' कहा जाता है।

यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि यह 'प्रत्यय' अर्थ में होने वाले अन्तर का 'संकेत' या 'चिह्न' है। इसे किसी भी प्रकार शब्द का रूपान्तर करने वाला 'चिह्न' नहीं मान लेना चाहिए। 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' का विभाग शब्द के ऐसे ही 'मूल रूप'

---

१. वा० १. १५५।
२. वा० १. २९, ४३।
३. वा० ३. ३. ५३।
४. वा० ३. ३. ३६, ३७।
५. वा० १. १५०।
६. पा० ३. १. १।
७. पा० ३. १. २।

की स्वीकृति के लिए उसकी मूल अर्थ-भावना को पहचानकर व्यक्तिरूप में स्वीकार करने के लिए किया गया है। इसी भावना को लेकर पाणिनि इस निर्णय पर पहुँचे थे कि प्रत्यय के रूप में जो परिवर्तन हम शब्द में कर देते हैं, वह स्वतः एक विशिष्ट अर्थ को दृष्टि में रखकर होता है। 'प्रत्यय' से प्रतीत होने वाला यह अर्थ मूल प्रकृति के साथ संयुक्त होकर मूल अर्थ की संबन्ध-भावना का विस्तार करता है। यहां यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मूल अर्थ में भी 'संस्कार' नहीं हुआ, बल्कि उसमें काल, वचन, विभक्ति, या सम्बन्ध आदि जन्य अतिरिक्त भावना का समावेशमात्र हुआ है।

अतः व्याकरण का कार्य न तो शब्द-निर्माण है, न उनमें प्रकृति-प्रत्यय-विभाग को निश्चित करना। वह तो एक अध्ययन विधि है, जिसके द्वारा हम शब्दों की संस्कार-विधि का परिज्ञान पाकर परम्परा और प्रयोग से परिचित हो सकते हैं।

व्याकरण के अंतर्राष्ट्रीय विभाग

३.१ प्रबन्ध-सीमा

हम यह बात विषय-प्रवेश में ही स्पष्ट कर आए हैं कि इस प्रबन्ध का उद्देश्य संस्कृत या अन्य किसी भाषा के व्याकरण और उसकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमिमात्र का वर्णन करना नहीं है। हम उस अन्तर्राष्ट्रीय आधार को खोजने बढ़ रहे हैं, जिसे अपनाने के बाद व्याकरण विश्व की किसी भी भाषा पर विचार करने का दावा कर सकेगा और जिसे पाए बिना व्याकरण प्रादेशिक, भाषाई, या अन्य सीमाओं में ही बंधा रहेगा।

हम यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि अब तक पूर्व और पश्चिम में 'व्याकरण' के जितने भी प्रयास हुए हैं, उनमें से अधिकांश इन्हीं सीमाओं से घिरे हुए हैं। पाणिनि के व्याकरण को, या अन्य संस्कृत व्याकरणों को भी, हम इस प्रादेशिकता के संकोच से सर्वथा मुक्त नहीं पाते। कारण, वे स्वयं ही अपनी सीमा किसी एक भाषा को मान लेते हैं।

फिर सारे विश्व की भाषाएं एक समान भी नहीं हैं। भाषाओं का बाह्य रूप बहुत अंश तक अनेक जगह समान भी उपलब्ध हो सकता है, किन्तु अधिकांशतः वह परस्पर भिन्न ही सिद्ध होता है। एक भाषा के बाह्य लक्षण सब भाषाओं में मिलने आवश्यक नहीं हैं। इसलिए भाषा-विशेष पर आधारित व्याकरण जिन विभागों या शीर्षकों पर विचार करेगा, वे उस भाषा, या भाषा-परिवार, की सीमा से बाहर कदाचित् ही लागू होंगे।

३.२ विभाजन के प्रयास : भारत

संस्कृत के भाषाविदों ने बहुत पहले से ही **'चार पदों'** की कल्पना **नाम, आख्यात, उपसर्ग** और **निपात** के रूप में कर ली थी। **'कर्मप्रवचनीय'** को मिलाकर यह संख्या **पाँच** जा पहुँचती है। इस से पूर्व **नाम** और **आख्यात** के रूप में **दो विभाग** भी किए जाते रहे। ये विभाग, निस्सन्देह, **पदों** के ही माने जाते रहे हैं, 'व्याकरण' के नहीं। पर तो भी, यह सत्य है कि पद-विभाग के रूप

में इन दो, चार, या पाँच विभागों की कल्पना व्याकरण के लिए एक सीमा बन जाती है। भर्तृहरि इसे 'अपोद्धार' या 'प्रकल्पना' मात्र मानते हैं।[1]

अब यदि इन्हीं पाँचों भेदों के आधार पर हम **आर्य या भारोपीय परिवार** की सम्पूर्ण भाषाओं पर विचार करना चाहें, तब भी हमारे मार्ग में रुकावटें आएंगी। स्वयं संस्कृत में **उपसर्गों** का एक भेद '**गति**' को स्वीकार किया गया है। '**गति**', '**उपसर्ग**' और '**कर्मप्रवचनीय**' तीनों मिलकर 'निपात' नाम ग्रहण करते हैं। स्वरूप और प्रवृत्ति में तीनों एक से हैं। अन्तर है उनकी प्रयोगकालीन स्थिति और पदों से उनके सम्बन्ध के विषय में। **वैदिक** और **संस्कृत** में उपसर्ग की स्थिति भिन्न-भिन्न है। **वैदिक** में '**निपात**' के रूप में ही ये तीनों उपलब्ध होते हैं। संस्कृत में जिस पदराशि को '**अव्यय**' कहा गया है और अपरिवर्त्तित रूप का स्वीकार किया गया है, वैदिक में उसका अधिकतर अंश परिवर्त्तित रूपों से युक्त पाया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषाभेद से ही पदभेद की संख्या में अन्तर नहीं आता, बल्कि यह संख्या केवल विचारभेद पर निर्भर करती है। संज्ञाओं को भी धातु-मूल से निर्मित सिद्ध करने का प्रयास, वस्तुतः, इसी संख्या को कम करने के प्रयास का अंग था।[2]

३.३ पाणिनि

परन्तु पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में '**व्याकरण के अध्ययन**' और '**भाषा के अध्ययन**' के बीच भेद को मिटाने का प्रयास किया है। उसने **काल**, **वचन** **विभक्ति**, **पुरुष**, **लिंग**, **उपग्रह**, **स्वर-प्रक्रिया**, **वाच्य** और **समास** आदि सभी बातों को '**व्याकरण के अवयव**' के रूप में स्वीकार किया है। 'व्याकरण' अन्ततः भाषा का विश्लेषण है। और, भाषा बनती है इन सब के समावेश और प्रयोग के बाद। ऊपर गिनाया गया पदभेद वहीं तक सत्य है, जहाँ तक पदों की संख्या अथवा गणना का प्रश्न है। किन्तु, जब हम भाषा का सम्पूर्ण विश्लेषण करने बढ़ते हैं, तब हमें इन सब तत्त्वों पर भी विचार करना पड़ता है। आखिर, भाषा मनुष्य के वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम है। वैचारिक पूर्णता इन सब संकेतों के बिना आ नहीं सकती; पदराशि भले ही नामाख्यातादि रूप में हमारे सामने आती है। पर वे नामाख्यातादि भी तो वचन, विभक्ति, आदि उक्त तत्त्वों से अभिन्न होकर ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि **पाणिनि**, यास्कादि के

---

१. वा० ३. १. १.।

२. 'नामान्याख्यातजानि', नि० १.५.१।

परवर्त्ती विभाजन की अपेक्षा, उस **वैदिक पद-विभाजन** को ही पूर्णता तक पहुँचाने में लगे, जिसे 'चत्वारि वाक्'[1] आदि मन्त्रों में आलंकारिक ढंग से ही स्पष्ट किया गया है। पर, इस विचार-सरणि पर बढ़ने का प्रयास प्राय: रुक गया था।

३.४ पश्चिम के प्रयास : अरस्तू

अरस्तू का आगमन लगभग पाणिनि के २५० से ३०० वर्ष बाद हुआ। पश्चिम का प्रथम ज्ञात विभाग, 'पार्ट्स आफ़ स्पीच' के नाम से, उन्हीं की 'पोएतिकास' (काव्य-शास्त्र) उपलब्ध होता है। उनके द्वारा मान्य विभागों की चर्चा हम प्रथम अध्याय में 'अरस्तू-युग' नाम से कर आए हैं। उन्होंने निम्न विभाग स्वीकार किए : **वर्ण, अक्षर, समुच्चयात्मक निपात**, आर्टिकल, **नाम, आख्यात, विभक्ति** और **वाणी**। इस विभाजन में **अक्षर** और **वाणी** का समावेश स्वभावत: प्रस्तुत विषय की सीमा से बाहर जा पड़ता है। **लिंग, उपग्रह, काल** आदि को छोड़ कर केवल '**विभक्ति**' का परिगणन विचार की अपक्वता को सूचित करता है। ग्रीस-भारतीय आदान-प्रदान को स्वीकार करने के बाद भी यह कहा जा सकता है कि अरस्तू ने जहाँ अपनी भाषा के कुछ सत्यों को पृथक् से खोजा, वहाँ वह पाणिनि की सी सूक्ष्म दृष्टि का प्रयोग करके आगे नहीं बढ़ पाए। हम अन्यत्र देखेंगे कि पाणिनि द्वारा वर्णित सभी विभाग प्राचीन ग्रीक और लातीनी समेत भारोपीय-परिवार की सभी प्राचीन भाषाओं पर लागू होते हैं। भारतीय धारणा का 'निपात' इस वर्गीकरण के 'समुच्चयात्मक 'निपात' और 'आर्टिकल' से भी अधिक व्यापक सीमा का है।' 'वर्ण' का ग्रहण 'पद-भेद' या 'वाक्-विभाग' में करना किसी भी रूप में उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

३.५ परवर्त्ती व्याकरण : परम्परागत

लातीनी व्याकरण विकास की परवर्त्ती कड़ी में आता है। यूरोप में ग्रीक और लातीनी दोनों ही भाषाएं, अपने-अपने साम्राज्य-विस्तार के कारण, अत्यधिक विकसित हुईं। धीरे-धीरे इनका व्याकरण भी विकसित होकर क्रमश: स्थिर रूप ग्रहण करता गया। आज हम जिस व्याकरण को '**अंग्रेज़ी का व्याकरण**' समझते हैं, वह मूलत: इन्हीं व्याकरणों का अंग्रेजी संस्करण है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री **येस्पर्सन** का यह कहना ठीक ही है कि इस व्याकरण में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो अंग्रेज़ी भाषा पर नहीं लागू होतीं; फिर भी परम्परावश उनका वर्णन किया ही जाता है।

---

१. ऋ० १. १६४. ४५।

इस व्याकरण के अनुसार '**वाक्यरचना**' को मूल वस्तु मानकर उसके विभाजन का प्रयास किया जाता है। सर्वप्रथम वाक्य को '**उद्देश्य**' और '**विधेय**' के उसी पुराने विभाग में विभक्त किया जाता है, जिसे प्राचीन भारतीयों ने भी अपनाया था। बाद में 'पद-भेद' या 'वाक् के अवयव' (पार्ट्स ऑफ़ स्पीच) के नाम से सम्पूर्ण वाक्य-रचना का विश्लेषण किया जाता है। किसी शब्द की व्याकरणात्मक रचना को समझाने के लिए अब भी, परम्परागत दृष्टि से, उसका **विभक्ति**, **वचन**, **काल**, आदि में '**विश्लेषण**' (एनेलिसिस) किया जाता है। वस्तुत: यह विश्लेषण '**पद-विवेचन**' कहा जा सकता है, क्योंकि इससे किसी पद का वाक्य में स्थान निश्चित होता है।

'**पार्ट्स ऑफ़ स्पीच**' को आठ की संख्या में सीमित माना गया है। कुछ वैयाकरण इस संख्या में आवश्यक घटा-बढ़ी सुझाते हैं। अरस्तू के '**आठ अवयवों**' से आजकल के आठ अवयव बहुत भिन्न हैं। इनमें **नाम**, **आख्यात**, **विशेषण**, **क्रियाविशेषण**, **लिंग**, **वचन**, **विभक्ति** और **काल** का समावेश होता है। कुछ लोग **विशेषण** को निकाल कर **निपात** (आर्टिकल) और **कर्मप्रवचनीय** (प्रेपोज़िशन) को इस में अन्तर्गृहीत करते हैं। पुराने लातीनी और ग्रीक व्याकरणों के अनुसार क्रियाओं में **काल** (टेंस) के साथ **भाव-दशा** (मूड) का परिगणन भी अनिवार्य माना जाता था। उन भाषाओं में **भाव-दशा** का महत्त्व था भी अत्यधिक। पर, संस्कृत व्याकरण की भांति आधुनिक अंग्रेज़ी व्याकरणों में '**काल**' और '**भाव-दशा**' को केवल 'काल' शीर्षक में ही गृहीत किया जाने लगा है। संस्कृत में '**लकार**' के नाम से क्रिया की इन्हीं विभिन्न प्रयोग-स्थितियों को एकत्र वर्णित किया जाता था।

३.५ विभाजन : पंगु

व्याकरण का यह विभाजन कितना पंगु है, तथा भाषा भेद से इसमें कितना परिवर्त्तन आवश्यक हो जाता है, यह अंग्रेज़ी भाषा पर इसके विनियोग से ही पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। **काल और भाव** की दृष्टि से अंग्रेज़ी में यदि किसी रूप-भेद की उपलब्धि होती है, तो वह **वर्त्तमान**, **भूत** और **पूर्णभूत** (या पूर्ण क्रिया) से ही सम्बद्ध हो सकता है। कई क्रियाओं में रूपभेद केवल **दो कालों** में होता है। कई क्रियाएं सर्वत्र एकसा ही रूप रखती हैं। **भविष्यत्काल** तक के लिए कोई रूपभेद अंग्रेज़ी में नहीं है। **फ्रांसीसी**, **इतालवी**, आदि आधुनिक भाषाओं में इससे अधिक **रूप-भेद** आज भी पाया जाता है। ऐसी स्थिति में **अनेक भावदशाओं** और **तीन या नौ काल-भेदों का परिगणन**, अंग्रेज़ी भाषा की

दृष्टि से, सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। '**लिंग**' की स्थिति इससे भी भिन्न है। '**नपुंसकलिंग**' और '**स्त्रीलिंग**' की पहचान पश्चिमी यूरोप की अन्य प्रचलित भाषाओं में '**निपात**' या '**आर्टिकल**' के लिंग से और रूपभेद से हो जाती है। पर, अंग्रेज़ी के निपात में यह भेद नहीं है। वहां लिंग भेद के लिए केवल **सर्वनाम** का ही सहारा शेष रह जाता है। अतः स्पष्ट है कि **सर्वनाम** के प्रसंग में ही वहां **लिंगभेद** की चर्चा आवश्यक रह जाती है। अन्यथा, अंग्रेज़ी व्याकरण के लिए यह प्रसंग भी अनावश्यक ही ठहरता है। इतालवी, जर्मन, आदि में **सर्वनाम**, **नाम**, **निपात**, आदि के साथ सर्वत्र इस लिंग-भेद की आवश्यकता अब भी रहती है। इन भाषाओं की यह प्रवृत्ति संस्कृत आदि भारोपीय-परिवार की अन्य प्राचीन भाषाओं के अनुरूप ही है। पूर्वीय यूरोप की रूसी आदि भाषाओं में **आदि-निपात** के विना ही लिंग-भेद की यह स्पष्टता उपलब्ध होती है।

विभक्तियों की स्थिति भी इसी प्रकार सदिग्ध है। अंग्रेज़ी में बहुत कम स्थानों पर ही, केवल सर्वनामों में ही, कुछ विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। ये विभक्तियां तीन से अधिक नहीं हैं। 'सम्बोधन' को मिलाकर इनकी संख्या चार कही जा सकती है। पर कारकों की दृष्टि से यहां भी, परम्परा निर्वाह के लिए, अन्य पश्चिम यूरोपीय भाषाओं के कारकों की संख्या पूरी गिनाई जाती है।

नाम, **विशेषण** और **क्रियाविशेषण** का अन्तर परिभाषा में, अर्थ की दृष्टि से, भले ही स्पष्ट हो; पर क्रियात्मक उपयोगिता एवं रूपात्मक परिवर्त्तन की दृष्टि से उनकी स्थिति '**नाम**' से अभिन्न ही प्रतीत होती है। **अंग्रेजी में सर्वनाम** को छोड़कर विशेषण और क्रिया-विशेषण आदि सभी 'अव्यय' या 'अपरिवर्त्ती' बन चुके हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन आधारों को सर्वमान्य नहीं ठहराया जा सकता। अंग्रेज़ी तो लातीनी, जर्मन और ग्रीक वर्गों से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। जो भाषाएं इन वर्गों से दूरवर्त्ती और सर्वथा भिन्न हैं, उनमें इन भेदों की इस रूप में उपलब्धि तो और भी असम्भव है। डेन्मार्क के दार्शनिक **क्रोमान्** की युक्ति और उसके प्रतिवाद की चर्चा पीछे कर ही चुके हैं।[1] उसने क्रिया के **नौ काल-भाव-भेदों** की अनिवार्यता सभी भाषाओं के लिए स्वीकार की है। **एल्फान्सो स्मिथ** के इस दावे की चर्चा भी वहां हो चुकी है कि अनिर्दिष्ट भाव (सब्जंक्टिव मूड) की उपलब्धि विश्व की सभी भाषाओं में संभव है।[2]

---

१. यही प्रबन्ध, पृष्ठ १८।
२. यही प्रबन्ध, पृष्ठ १७।

इस विभाजन को, इस आधार पर ही, सार्वत्रिक और सार्वभौम कहना उचित नहीं जँचता।

३.६ पश्चिम : नूतन प्रयास

इन सब बातों से बचने का मार्ग पश्चिम के वैयाकरणों को 'भाषा-विज्ञान' के नए विषय के रूप में उपलब्ध हुआ। वस्तुत: 'भाषाविज्ञान' को भी **'व्याकरण का व्याख्यात्मक रूप'** ही समझा गया। 'भाषा-विज्ञान' के अनुसार विश्वभाषाओं पर विचार करते हुए हमें क्रमश: निम्न तीन बातों पर विचार करना होता है :

(१) **आकृति-अभिज्ञान**

(२) **पद-रचना**

और, (३) **वाक्य रचना**।

'आकृति-अभिज्ञान' को 'रूप-अभिज्ञान' भी कह सकते हैं। सामान्यत: वर्त्तमान यूरोपीय व्याकरणों में इसी विभाजन को आधार स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु, येस्पर्सन ने ठीक ही कहा है कि **'आकृति-अभिज्ञान'** शीर्षक से भिन्न समझकर **'पद-रचना'** को पृथक् से अध्ययन करना निरर्थक है। दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध और संनद्ध हैं। अन्तत: दोनों का क्षेत्र और सीमा एक ही है। **'वाक्य-रचना'** अवश्य अलग है। अधिक वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर व्याकरण के दो विचार-क्षेत्र हम यूं कह सकते हैं :

(१) **पद-विचार**,

(२) **वाक्य-विचार**।

भर्तृहरि के 'वाक्य-पदीय' के तीनों काण्डों के परिशीलन के बाद हम इस वर्गीकरण को और सुधार कर यूं प्रस्तुत कर सकते हैं :

(१) **वाक् विचार** (प्रथम काण्ड),

(२) **वाक्य-विचार** (द्वितीय काण्ड),

(३) **पद-विचार** (तृतीय काण्ड)।

सामान्यत: 'व्याकरण' में पहले दोनों 'विचारों' का आधार अवश्य लिया जाता है, किन्तु वर्णन मुख्यत: तीसरे का ही होता है। पश्चिमी व्याकरणों में यूँ **'वाक्य-रचना'** एवं **'पद-रचना'**—दोनों—पर ही विचार होता है। किन्तु, सत्य वहाँ भी यही है कि 'पद-रचना' या 'पद-अभिज्ञान' का ही व्याकरण-ग्रन्थों में मुख्यत: वर्णन होता है। वहां **पद-रचना** में **'पार्ट्स ऑफ़ स्पीच्'** के नाम से वे ही भाग गिनाए जाते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

३.७ येस्पर्सन की देन : धारणा

इस परम्परा की प्राचीन और अर्वाचीन भेद-भित्तियों को तोड़कर प्रसिद्ध भाषाशास्त्री **येस्पर्सन** ने अपने अमर ग्रन्थ **'दि फिलासफी ऑफ़ ग्रामर'** में एक नई सरणि और नए विभाजन का संकेत किया है। फ्रेंच विद्वान् ब्रूनो ने भी एक क्रान्तिकारी सुझाव इस विषय में दिया है। येस्पर्सन और ब्रूनो दोनों इस बात पर सहमत हैं कि **"व्याकरण का कार्य भाषा के 'आकृति-पक्ष' पर ही विचार करना नहीं है, बल्कि उससे वहन की जाने वाली 'भावना' पर विचार करना भी है।"** यह आश्चर्य की बात है कि भर्तृहरि ने, 'वाक्य' की परिभाषा और स्वरूप पर विचार करते हुए, अपने अमर ग्रन्थ **वाक्यपदीय'** के द्वितीय काण्ड में अर्थ और भावना के स्वरूप पर ही सर्वाधिक विचार किया है।

यह धारणा उस वर्त्तमान भाषावैज्ञानिक धारणा के सर्वथा विपरीत जा पड़ती है, जिसके अनुसार अर्थविज्ञान (सेमेण्टिक्स) को एक पृथक् विज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है। 'भाषाविज्ञान' हो या 'व्याकरण', भाषा से सम्बद्ध किसी भी अध्ययन से अर्थ या भावना का बहिष्कार नहीं किया जासकता। शब्द का आकार-ग्रहण किसी अर्थाभिव्यक्ति के प्रयोजन से ही सम्भव हो पाता है। भर्तृहरि के समान येस्पर्सन और ब्रूनो भी वाग्व्यापार को वक्ता और श्रोता के मध्य भावनाओं के आदान-प्रदान का माध्यम मानते हैं। **ब्रूनो** 'भावना' से 'आकृति' पर पहुँचना उचित समझते हैं, जब कि **येस्पर्सन व्याकरण का प्रथम चरण शब्द के 'आकार' को मानते हैं, जिससे भावना' तक पहुँचा जा सकता है।** कदाचित् पतंजलि द्वारा प्रयुक्त 'शब्दानुशासन' का भी यही अर्थ था।

परन्तु **येस्पर्सन** का महत्त्व इससे भी अधिक इस बात में है कि उन्होंने **जीवन की वास्तविकता से 'व्याकरण' का सम्बन्ध जोड़ा और व्याकरण में केवल उन्हीं विभागों को ग्रहण करना स्वीकार किया, जिनका वास्तविक उपयोग जीवन में भी होता है।** प्रत्येक भाषा जीवन की अभिव्यक्ति से ही जन्म लेती है। नाना वैविध्यों और विभिन्नताओं के रहते भी जीवन सर्वत्र एकसा ही है। सभ्यता और संस्कार के अन्तर से उसकी कोटियां भिन्न हो सकती हैं। इस पर भी, उसकी मूल वृत्तियां और उसके पर्यवेक्षण के परिणाम सर्वत्र लगभग एक से ही रहते हैं। अभिव्यक्ति की इच्छा, सभ्यता और संस्कार-भेद से भिन्न होकर भी, अन्ततः एक-सी ही सर्वत्र पाई जा सकती है। संस्कार और परिष्कार **अभ्यास, सम्पर्क, आवश्यकता और वातावरण,** आदि अनेक कारणों से कम या अधिक मात्रा में आते हैं। अतः जीवन के मूलरूपों और उसमें उपलब्ध स्पष्ट भेदों के

आधार पर संगत बैठने वाले **वाक् या पद-रचना** के विभागों को ही व्याकरण में मान्यता मिलनी चाहिए।

इसी आधार पर येस्पर्सन ने **सामान्य जीवन में उपलब्ध उन सत्यों की** स्थिति को, जिन्हें हम **अभिव्यक्त करना** चाहते हैं, **'नोशन'** या **'धारणा'** नाम दिया है। वक्ता काल, क्रिया, आदि की इस 'धारणा' से बढ़कर ही 'शब्दाकृति' तक पहुंचता है। शब्द में इस **'धारणा'** को वह आकार-परिवर्त्तन के द्वारा सूचित करता है। उस की अनेक धारणाओं और शब्दरूपों में संश्लिष्ट कार्य एक ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, **'भूतकाल'** को वह अनेक स्थितियों में अनेक **धारणाओं** के द्वारा व्यक्त करना चाहता है और उसके लिए 'आकृति' में भी अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न परिवर्त्तन स्वीकार कर लेता है। पर इस पर भी, उसका मुख्य कार्य **भूतकाल की अभिव्यक्ति** ही रहता है। स्पष्ट है कि धारणा की भिन्नता के अनुसार वह प्रयोग में भी भिन्नता ले आता है। **कहीं वह वर्त्तमान के प्रयोग से ही 'भूत' की सूचना देता है, कहीं भविष्य के प्रयोग से, तो कहीं भूतकाल के सूचक विभिन्न आकारों से।** दूसरी ओर यह भी सत्य है कि हम दैनिक जीवन में **भूतकाल युक्त क्रिया का प्रयोग कभी वर्त्तमान की सूचना के लिए करते हैं, तो कभी भविष्य और भूत की सूचना के लिए भी उसी का प्रयोग करते हैं।** शब्द का 'रूप' हमें एक 'संकेत' या 'कार्य' का इंगितमात्र देता है। वास्तविक उद्देश्य श्रोता को भी तभी उपलब्ध होता है, जब वह प्रयोग की **धारणा** (नोशन) को उपलब्ध कर लेता है।

३.८ वर्गीकरण

इस आधार पर वर्गीकरण के प्रयास में बढ़ते हुए येस्पर्सन ने निम्न विभागों में 'वाक् के व्याख्यान' (व्याकरण=शब्दानुशासन) को बांट कर विचार करना उचित समझा है :

(१) **शब्द-जाति या पद-भेद के आधार पर**—सत्त्व, विशेषण, आख्यात और सर्वनाम आदि।

(२) **संख्या के आधार पर**—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि।

(३) **विभक्ति के आधार पर**—कर्त्ता, कर्म, सम्प्रदान, अपादान आदि।

(४) **काल के आधार पर**—वर्तमान, भूत, भविष्य आदि।

(५) **भाव के आधार पर**—निर्देशक, अनिर्दिष्ट, विधि, आज्ञावचन आदि।

(६) **वाच्य के आधार पर** – कर्तृ, कर्म, मध्य (भावनावाची) आदि।
(७) **पुरुष के आधार पर** – प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष आदि।
(८) **लिंग के आधार पर**—पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग आदि।

३.९ आरम्भिक आपत्ति

'पार्ट्स ऑफ़ स्पीच' के नाम पर भाषा का विभाजन करने की प्रवृत्ति का त्याग पहले ही किया जा चुका था। **अरस्तू के वाक्-अवयवों** से मध्ययुगीन पश्चिमी व्याकरण के 'वाक् अवयव', संख्या में अभिन्न होकर भी, सर्वथा भिन्न थे। पर अरस्तू ने **विभक्ति और काल** का समावेश उन 'आठ अवयवों' में किया था। उसके अनुसरण पर **वचन, लिंग** आदि अन्य अवयवों की भी पृथक् से चर्चा होने लगी।

येस्पर्सन का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि वे 'वाक्-अवयवों' को 'पद' की सामान्य कोटि में ही गृहीत करके उसे **'शब्द-जाति'** (**वर्ड-क्लास**) नाम दे देते हैं। शेष सब तत्त्व 'पद' के रूप निर्माण में ही काम आते हैं। पर उन्हें पद के **रूप-विचार** से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। इसीलिए येस्पर्सन ने सीधे रूप में, **वाक्-अवयव** नाम की कोई स्वतन्त्र आठ कोटियाँ न मानकर, सम्पूर्ण शब्द-वर्ग को 'पद' या 'शब्द-जाति' के रूप में उसी प्रकार व्याकरण का एक 'अंग' या 'अवयव' माना है, जिस प्रकार अगले सात तत्त्वों को वे 'अंग' मानते हैं।

इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह प्रतीत होती है कि उन्होंने नाम (नाऊन) की जगह **सत्त्व या द्रव्य** (सब्स्टैण्टिव) नाम का प्रयोग करके अधिक वैज्ञानिक पहुँच का परिचय दिया है। **'क्रिया-विशेषण'** की पृथक्ता पर आपत्ति उठा कर भी उनके द्वारा **विशेषण** को अलग महत्त्व दिया जाना उलझन से भरा दीख सकता है। पर, हम देखेंगे कि यह भी वैज्ञानिक तथ्य है। इसी प्रकार **सर्वनाम** का **सत्त्व** से पृथक् एक वर्ग के रूप में ग्रहण आपत्तिजनक प्रतीत हो सकता है। पर, वैज्ञानिक दृष्टि से इसे भी उचित ठहराया जा सकता है। इस प्रकार येस्पर्सन का यह विभाग नये **आठ वाक् अवयवों** की मान्यता को स्वीकार करता है।

पर, यहीं यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक जीवन में पाए जाने वाले सत्यों के आधार पर जिस प्रकार ये आठ अवयव भाषा में भी ढूंढ लिये गए हैं, उसी प्रकार कुछ और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तत्त्व भी हैं, जिन पर इस प्रसंग में स्वतन्त्र रूप से अनिवार्यत: विचार करना उचित रहेगा।

३.१० नए तत्व

उदाहरणार्थ, **संख्या** पर विचार इसलिये आवश्यक है कि विश्व में हम व्यक्ति-सत्ताओं का प्रत्यक्षतः पृथक्-पृथक् अस्तित्व पाते हैं। वैज्ञानिक या दार्शनिक दृष्टि से वे भले ही एक सत्ता के विभिन्न अंश हों, पर सत्य यह है कि प्रत्यक्ष व्यवहार में हम उन्हें विविध और विभक्त पाते हैं। अतः 'संख्या' का ग्रहण आवश्यक हो जाता है। पर, क्या व्याकरण के 'दर्शन' पर विचार करते हुए स्थूल भौतिक संख्या की गणना से ही काम चल जाएगा ? **येस्पर्सन** जब व्याकरण के 'दर्शन' (फ़िलॉसफ़ी) की बात करते हैं, तब **संख्या** पर विचार मात्र से काम नहीं चलेगा। 'संख्या' का ग्रहण **संख्यावाचक शब्दों या संज्ञाओं** के लिए नहीं किया गया है। इसका उद्देश्य है **वचन** की स्थिति और संख्या को स्पष्ट करना। विश्व की अनेक भाषाओं में **सत्व** या अन्य किसी **पद** में बहुवचन की संयुक्त सत्ता होती ही नहीं। वहां हिन्दी के 'अनेक' जैसा कोई विशेषण लगाकर, शब्द को दोहरा कर (पालीनेशियन की भाँति), या अन्य किसी उपाय से 'संख्या' का बोध करा दिया जाता है। रामः, रामौ, रामाः या काऊ, काऊज़' (cow, cows), जैसा वचन-भेद होना उनमें सम्भव ही नहीं होता है। स्पष्ट है कि वहां 'वचन' या **संख्या** की विवेचना से ही काम नहीं चलेगा।

कहा जा सकता है कि उन भाषाओं में यदि प्रत्यक्ष वचन-भेद नहीं भी है, तब भी उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति तो किसी न किसी प्रकार की ही जाती है। इसलिए वहां भी **वचन-विवेचन** आवश्यक है। भर्तृहरि यहीं पर हमारी सहायता को आते हैं। **वचन प्रत्यक्ष न होकर भी अभिव्यक्त होता** अवश्य है। इस सत्य की विवेचना करते हुए वे द्रव्य के '**व्यक्तित्व**' या उसकी **व्यक्तिगत सत्ता** के आधारभूत कारण की विवेचना आवश्यक समझते हैं। आज का विज्ञान भी मानता है कि **द्रव्य की व्यक्तिगत सत्ता** (इण्डिविजुएलिटी) **दिक् या स्पेस पर ही आधारित रहती** है। ईसा की छठी शती में ही भर्तृहरि ने इस सत्य का उल्लेख परम आवश्यक समझा। उनका '**दिक्-समुदेश**' वैज्ञानिकता का ठोस उदाहरण है। वहां पता चलता है कि किस प्रकार विज्ञान और दर्शन दो अलग सत्यों का विश्लेषण नहीं करते, बल्कि एक ही सत्य की व्याख्या वे दो मार्गों से करते हैं। उस विवेचन के बाद ही यह स्पष्ट हो पाता है कि संख्या द्रव्य पर आश्रित है और द्रव्य की पृथक् सत्ता 'दिक्' के कारण है। संख्या-सूचक शब्द हों या न हों, वचनों के चिन्ह उपस्थित हों या न हों, जब तक **द्रव्य-विज्ञान** का यह अटूट सत्य स्थिर है कि "**दिक् के कारण ही द्रव्य की व्यक्तिगत सत्ता** है", संख्या और

तज्जन्य वचन की भावना विश्व-भाषामात्र में वर्त्तमान रहेगी ही। अतः **'व्याकरण'** में भले ही **'दिक्'** का पृथक् वर्णन आवश्यक न हो, पर 'संख्या' और **वचन** की सत्ता पर विचार करने से पहले 'व्याकरण के दर्शन' में 'दिक्' पर विचार **करना आवश्यक और अनिवार्य हो** जाता है। येस्पर्सन यहाँ चूक गए हैं। 'स्पेस' नाम से उनका वर्णन भिन्न दिशा में हैं।[1]

इसी प्रकार **'समास'** का प्रसंग भी महत्त्वपूर्ण है। **समास की** उपस्थिति **हर भाषा में प्रत्यक्ष हो या न हो पदों या पदार्थों को संहत और एकत्रित करके भाव-संक्षेप द्वारा बात कहने की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।** फिर, 'समास' न सही, अभिधा, लक्षणा आदि तथाकथित शब्द-शक्तियां ही सही, हर भाषा में एक न एक विधा ऐसी अवश्य उपस्थित रहती है, जिससे मनुष्य बहुत सी ऐसी बातें भी कहने में समर्थ हो जाता है, जिन्हें वह प्रत्यक्ष प्रयुक्त शब्दों द्वारा नहीं कह पाता। इस प्रवृत्ति के प्रयोक्ताओं का सभ्य-असभ्य होना, या संस्कारयुक्त-संस्कारहीन होना, इस बात में कोई अन्तर नहीं डालता। स्पष्ट है कि मुख्य बात समासों का वर्णन करना नहीं है, बल्कि इस **'संक्षेप'** या **'वक्र-भावना'** का वर्णन करना है, जो अपनी वक्रता या संक्षेप के कारण ही भाषा के बाह्य 'प्रयोग' और उसमें अन्तर्हित 'भावना' के आयाम और आकार में अन्तर का कारण बन जाती है। आलंकारिक प्रवृत्ति का जन्म भी इसी **'भावना'** से होता है। भर्तृहरि ने इसे **'वृत्ति'** नाम दिया है। वक्ता या प्रयोक्ता की 'वृत्ति' (प्रयोग भावना) को समझे बिना हम उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को पूरा ग्रहण नहीं कर सकते। यह वृत्ति **समास** में ही प्रयुक्त होती है : **समर्थः पदविधिः** ।[2] वृत्ति को ही **'सम्+अर्थभावना'** कहा जा सकता है। इस प्रकार **येस्पर्सन** ने व्याकरण के दर्शन पर विचार करते हुए 'समास' या 'वृत्ति' पर विचार करना उचित न मान कर **दूसरी त्रुटि** की है। 'समास' का विचार विश्व भर की भाषाओं पर लागू नहीं हो सकता। पर 'वृत्ति' पर विचार विश्व की किसी भी भाषा के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य हैं।

३.११ दार्शनिक पक्ष : महान् त्रुटि

'व्याकरण के दर्शन' पर विचार करने वाला कोई भी विचारक केवल संज्ञा के **जातिवाचक** (सामान्य) और **व्यक्तिवाचक** (विशेष) रूपों पर

---

१. दे० 'ब्रिटिश इन्साइक्लो०' में 'ग्रामर' शीर्षक से येस्पर्सन का 'स्पेस' विवेचन।

२. पा० २. १. १।

विचार करके उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। क्या **क्रिया** का सारा रूप ही **जातिवाचक** नहीं है? यदि क्रियामात्र जाति की अभिव्यक्ति करती है, तब उसका वर्णन क्यों न हो? इतना ही नहीं, श्रोता द्वारा अर्थग्रहण आपातत: जाति रूप में ही होता है। बाद में वह व्यक्ति रूप बनता है। 'जाति' को 'सामान्य' से अलग नहीं किया जा सकता। 'सामान्य' को ही 'जाति' कहते हैं। अंग्रेज़ी में प्रयुक्त '**कॉमन**' और '**जनरल**' दोनों ही शब्द इस 'सामान्य' या '**जाति**' के वाचक हैं। वे दोनों '**सामान्य के दो पक्षों**' को प्रगट करते हैं। **संज्ञा, क्रिया, विशेषण** आदि से बढ़कर 'शब्दमात्र' और 'अर्थमात्र' के विवेचन में प्रयुक्त होने वाले इस '**सामान्य**' या '**जातित्व**' का जब तक वर्णन पृथक् से न किया जाए, तब तक हम किसी भी भाषा की 'मूल प्रकृति' और उसकी शब्द-राशि की 'मूल अर्थभावना' को समझने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

सामान्य और **जाति** के विपरीत पक्ष **विशेष** और **व्यक्ति** हैं। द्रव्यमात्र की सत्ता इसी 'विशेष' तत्त्व पर आधारित है। अर्थभावना अन्ततः व्यक्ति-रूप में स्पष्ट होती ही है। अत: केवल **व्यक्तिवाचक संज्ञा** (प्रॉपर नाऊन) के वर्णनमात्र से ही इस '**विशेष**' का पूरा वर्णन नहीं हो जाता। बल्कि 'द्रव्यत्व' या 'व्यक्तित्व' की पृथक् विवेचना भी आवश्यक होती है, क्योंकि 'आकार' ही पृथक् व्यक्तित्व और तदाश्रित **व्यक्तिवाचक संज्ञा** के कारण होते हैं। और, उन आकारों का विवेचन इस 'विशेष' या 'द्रव्यत्व' की विवेचना द्वारा ही सम्भव है।

अत: इन दोनों तत्त्वों का विवेचन भी, 'व्याकरण के दर्शन' पर विचार करते समय, अनिवार्य हो जाता है। अन्यथा, वह विवेचन जन-प्रवृत्ति का विवेचन या दार्शनिक विवेचन मात्र कहलाएगा।

३.१२ सूझ और अन्तर्विरोध

येस्पर्सन ने आरम्भिक अध्यायों में बारबार '**नोशन**' या '**वक्ता की धारणा**' के पक्ष पर बल दिया है। यह '**धारणा**' बाह्य जगत् के पर्यवेक्षण पर आधारित होकर भी अन्ततः वक्ता की **अभिव्यक्ति की इच्छा** पर आश्रित होती है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कोई विशेष प्रयास नहीं किया है। **शब्द और धारणा** का परस्पर क्या सम्बन्ध है, और वह कैसे काम करता है?, इस बात पर प्रकाश डाला जाना ज़रूरी है। '**नेक्सस**' के रूप के येस्पर्सन ने इस सत्य को बहुत दूर तक वर्णित करना चाहा है। पर, उनका यह विवेचन **विशेषण, संयुक्त भाववाले शब्द**, और **पृथक् सत्ता वाले शब्दों** के विवेचन पर ही समाप्त हो गया है, जिन्हें वे क्रमशः **एड्जंकट, सब्जंकट**, और **नेक्सस** के रूप में वर्णन

करते हैं। वस्तुत: इन अध्यायों में वे शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का एक पक्ष ही विवेचन कर रहे हैं। उनका यह विवेचन अधिक पूर्ण हो जाता, यदि वे इससे पूर्व या इसी के विस्तार में **वाक्यार्थ** और **पदार्थ** के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना भी कर देते। उक्त तीनों तत्त्वों में से 'नेक्सस' की पृथक् व्याख्या पर उन्हें जो महान् श्रम करना पड़ा, वह मौलिक होते हुए भी अकार्य हो जाता, यदि वे **पद** और **वाक्य** की परस्पर-सापेक्ष स्थिति एवं **वाक्यार्थ** और **पदार्थ** के महत्त्व और व्यक्तित्व पर भी विचार कर लेते। सब्जंक्ट और नेक्सस में परस्पर अन्तर **समस्त पद और असमस्त पद** जैसा नहीं है। बल्कि, वहां क्रमश: पदों के **समर्थ प्रयोग और व्यक्ति प्रयोग** का अन्तर विद्यमान है। वस्तुत: 'पद' की सत्ता, आवश्यकता एवं वाक्यार्थ में उसके स्थान का यह प्रश्न पर पूरी तरह तब तक विवेचित नहीं हो सकता, जब तक 'सम्बन्ध' के समूचे प्रश्न पर ही पृथक् से विचार न किया जाए।

इस प्रकार जहां **नेक्सस** के रूप में येस्पर्सन ने पूर्वोक्त आठ अवयवों के अतिरिक्त एक **नवें** अवयव को खोज निकाला है, वहां 'सम्बन्ध' के समूचे प्रश्न पर विचार न करके वे एक बड़ी त्रुटि भी कर गए हैं। यही कारण है कि उन्हें कुछ सामान्य सत्यों को ही सिद्ध करने पर आवश्यकता से अधिक श्रम करना पड़ा है। यदि वे 'सम्बन्ध' का पूर्ण विवेचन करते, तब हम देखते कि उन्हें **तुलना** (कम्पेरिज़न) और **निषेध** (नेगेशन) पर पृथक् से इतना न लिखना पड़ता। यद्यपि अंग्रेज़ी के व्याकरण-साहित्य में वह भी उनकी एक अविस्मरणीय देन है। भर्तृहरि ने इन सब सत्यों को 'सम्बन्ध' शीर्षक के अधीन ही गृहीत किया है।[1]

३.१३ तुलनात्मक विवेचन

उक्त विवेचन में हमने देखा कि जहां तक व्याकरण के दृश्य और सामान्य विभागों का सम्बन्ध है, येस्पर्सन और भर्तृहरि दोनों ही कम से कम **आठ विभागों** पर सहमत हैं। ये आठ विभाग हैं :

(१) **शब्द-जाति या पद**, (२) **संख्या**, (३) **विभक्ति** (४) **काल**, (५) **भाव**, (६) **वाच्य**, (७) **पुरुष**, और (८) **लिंग**।

इस विषय में भी उन दोनों में अन्तर यह है कि **येस्पर्सन** 'शब्द-जाति' में **सत्त्व, क्रिया, क्रियाविशेषण और विशेषण** आदि सभी का ग्रहण करते हैं; जबकि

---

१. विस्तार के लिए देखें, भाषा० वाक्य० का अध्याय १२, और इस प्रबन्ध का अध्याय 'वृत्ति-विचार'!

भर्तृहरि **द्रव्य**, **गुण** और **क्रिया** के रूप में तीन ही पृथक् विभागों को विवेचित करते हैं। शेष सात विभागों में से **भाव** और **काल** का विवेचन भर्तृहरि ने एकत्र किया है। **वाच्य** को उन्होंने पृथक् से नहीं लिया है। इस प्रकार दो की गणना कम हो जाने पर भी भर्तृहरि **आठ** तत्त्वों का ही वर्णन करते हैं : **द्रव्य**, **गुण**, **क्रिया**, **संख्या**, **विभक्ति**, **काल**, **पुरुष** और **लिंग**।

दोनों में एक अन्य अन्तर यह है कि दार्शनिक दृष्टि लेकर बढ़ते हुए **येस्पर्सन** तीन अन्य तत्त्वों पर विचार करते हैं : **निषेध**, **नेक्सस** और **तुलना** (कम्पेरिज़न)। इस प्रकार उन द्वारा विवेचित व्याकरण के अवयवों की संख्या ग्यारह जा ठहरती है। दूसरी ओर भर्तृहरि इन तीनों 'तत्त्वों' को, कुछ अन्य घटकों के साथ, '**सम्बन्ध**' नाम से वर्णित करते हैं। व्याकरण के दार्शनिक विवेचन की पूर्णता के लिए **जाति**, **व्यक्ति** (द्रव्य), **दिक्**, **वृत्ति** और **उपग्रह** के नाम से पांच अन्य तत्त्वों का वर्णन भी उन्होंने पृथक् से किया है। इनमें से पहले चार की संक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। **उपग्रह** को हम '**संस्कृत** व्याकरण' में '**पद**' (आत्मनेपद और परस्मैपद) के नाम से अभिहित करते हैं। पुराने ग्रीक व्याकरण में इसे ही **वाच्य** नाम दिया गया था। किन्तु आज 'वाच्य' का अर्थ कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य (भाववाच्य सहित) से ही लिया जाता है। यह प्रयोग में आए क्रियारूपों पर निर्भर करता है। **आत्मनेपद** और **परस्मैपद** के रूप में संस्कृत, वैदिक, ग्रीक, पारसी आदि प्राचीन भारोपीय भाषाओं में क्रिया के दो प्रकार के प्रत्यय स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसी परिवार की इतालवी, फ्रांसीसी आदि वर्त्तमान भाषाओं के क्रिया रूपों का विवेचन करने पर भी सिद्ध होगा कि उनका अन्त सदा एक से प्रत्ययों में नहीं होता। प्रत्ययों के दो या अधिक वर्ग वहां भी हैं। **कर्म** और **भाववाच्यों** में निश्चय ही एक विशिष्ट वर्ग '**आत्मनेपद**' संस्कृत, ग्रीक आदि में प्रयुक्त होता था। पर, कर्त्तृवाच्य में 'परस्मैपद' के प्रयोग की कोई निश्चित सीमा नहीं थी। सम्भव है, विश्व की अनेक भाषाओं में यह भेद न भी विद्यमान हो। पर, यह भी निश्चित है कि प्रत्यययुक्त क्रियारूप से सम्पन्न भाषाओं में प्रत्ययों का सदा सर्वत्र एक ही वर्ग प्रयोग में नहीं आता। **विकास** के साथ-साथ **भेद** करने की वृत्ति भी बल पकड़ती जाती है।

इस प्रकार भर्तृहरि व्याकरण के कुल **चौदह** विभाग गिनाते हैं। इनमें से येस्पर्सन ने जिन विभागों की चर्चा तक नहीं की, या जिन्हें उन्होंने कहीं भी व्याकरण दर्शन की सीमा में ग्राह्य नहीं समझा, वे हैं **दिक्** और **वृत्ति** नाम के दो विभाग। शेष की चर्चा उन्होंने इधर-उधर प्रसंगतः कर दी है। इनमें से भी 'वृत्ति' में उनके द्वारा परिगणित **नेक्सस**, **सब्जंक्ट**, **निषेध**, और **तुलना** का अन्तर्ग्रहण हो जाता

है। '**सम्बन्ध**' में भी इनकी चर्चा आई है। पर वृत्ति का मुख्य विषय है **समास**, **अलंकार**, **नञ्**, आदि की योजना के पीछे छिपी हुई '**भावना**', जिसे येस्पर्सन ने खुलकर विवेचित नहीं किया। **दिक्** की **चर्चा** तो उनके विचार-क्षेत्र में आई ही नहीं दीखती। उनके द्वारा वर्णित **स्पेस** भर्तृहरि के **दिक्** तत्त्व से भिन्न है।

३.१४ परिचय : येस्पर्सन के विभाग

यहां हम इन दोनों द्वारा वर्णित इन वर्गों का संक्षिप्त पर्यालोचन आवश्यक समझते हैं। पहले हम येस्पर्सन द्वारा गणित ग्यारह विभागों का परिचय देंगे।

३.१४.१ शब्दजाति या पद-भेद

येस्पर्सन ने अन्य पाश्चात्य वैयाकरणों की भांति **आठ** पद-भेद न मानकर केवल **पाँच** ही माने हैं : **सत्त्व या द्रव्य**, **विशेषण**, **सर्वनाम**, **क्रिया** और **अव्यय**। इन सब का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

३.१४.१.१ सत्त्व

येस्पर्सन ने अन्य वैयाकरणों के अनुकरण पर **नाम** (नाऊन) का प्रयोग न करके, **सब्स्टैण्टिव** या **सत्त्व** का प्रयोग उस शब्दराशि के लिए किया है, जो किसी सत्ता या वस्तु की ओर संकेत करती है। इस नाम के प्रयोग के आग्रह के विषय में उनकी युक्ति यह है कि **नाम** शब्द सदा 'द्रव्य' या 'व्यक्ति' का ही संकेत नहीं करते। बहुधा उनका संकेत ऐसे गुणों या भावों की ओर भी होता है, जिनका निर्माण धातु से, उसी मूल भाव को स्पष्ट करने के लिए, होता है। इसे वे **सत्त्वभूता क्रिया** जैसा नाम देते हैं। सामान्य भाषा में इन्हें ही हम **भाववाचक शब्द** (एब्स्ट्रेक्ट नाऊन) कह देते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार की संज्ञाओं को 'सत्त्व' शब्द से गृहीत तो किया जा सकता है, पर 'संज्ञा' या 'नाम' शब्द से नहीं। क्योंकि, परवर्त्ती दोनों का सम्बन्ध द्रव्य या व्यक्ति से होता है।

येस्पर्सन ने **व्यक्तिवाचक** और **जातिवाचक** सत्त्व शब्दों की व्याख्या में जाति-व्यक्ति के प्रश्न पर बहुत दूर तक विचार किया है और अन्ततः वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इनमें विद्यमान अन्तर बहुत क्षीण है। **विशेषण** और **क्रियाविशेषण** की चर्चा उन्होंने पृथक् से की है। **सर्वनाम** को भी उन्होंने पृथक् माना है। उन्होंने **संख्यावाचक** शब्दों को 'संज्ञा' का भेद नहीं माना। संस्कृत

वैयाकरणों की भांति वे भी इसी धारणा को लेकर बढ़े कि संख्यासूचक शब्द **सर्वनाम** में ही गृहीत होने चाहिएं।

३.१.१४.२ विशेषण

अन्य कई वैयाकरणों की भांति **विशेषण** को 'नाम' शब्दों में गृहीत न करके येस्पर्सन ने पृथक् से गिना है। इसका कारण यह है कि उन्होंने 'नाम' के स्थान पर 'सत्त्व' को विभाग स्वीकार किया है। इस स्थिति में, उनका कहना है, **विशेषण** जिस सत्त्व के गुण का बोध कराता है, वह स्वयं उसमें कैसे अन्तर्गृहीत हो सकता है? विशेषण शब्द स्वयं सत्तावान् द्रव्य या भाव की ओर संकेत नहीं करते, बल्कि उनकी किसी विशेषता को बताते हैं।

भर्तृहरि यहां उनसे भिन्न सरणि अपनाते हैं। उनके अनुसार गुण और संख्या का आधार अन्ततः 'द्रव्य' ही होते हैं। उनकी पृथक् सत्ता होती ही नहीं। विचार या सम्भावना के बल पर ही उन्हें अलग अस्तित्व नहीं दिया जा सकता।

३.१४.१.३ सर्वनाम

सर्वनाम को भी वे **नाम** या **सत्त्व** से भिन्न श्रेणी का मानते हैं। संस्कृत के शब्दरूप सिद्ध करते हैं कि सर्वनाम को प्रयोगकाल में ही जन-सामान्य एक पृथक् श्रेणी स्वीकार करता था। यह बात कुछ अन्य आर्य और आर्येतर भाषाओं में भी पाई जा सकती है। **संख्यावाचक शब्दों** को **सर्वनाम** में गिनाने की बात ऊपर कही जा ही चुकी है।

३.१४.१.४ क्रिया या आख्यात

क्रिया स्थिति या घटना को सूचित करने वाली है। यह अद्भुत बात है कि येस्पर्सन ने संस्कृत वैयाकरणों की इस बात को स्वीकार कर लिया है कि **इन्फ़िनिट**(क्रियार्था क्रिया)को,सत्त्वों में न गिनकर, **आख्यात** में ही गिनना चाहिए। **पार्टिसिपल** की स्थिति भी इससे अभिन्न है। पाणिनि ने इसे **क्रियार्था क्रिया** (अर्थात्, वह क्रिया-रूप जो क्रिया के शुद्ध अर्थ को घोषित करता है) कहा था।[२] यह बात उचित भी है। **सत्त्व** या **सिद्ध** शब्दों से **क्रिया की पूर्णता** या समाप्ति (रूप का क्रमसंहार) की जो भावना स्पष्ट होती है, वह इस 'क्रियार्था क्रिया' से नहीं होती। इसका बाह्याकार भले ही **सत्त्व** से मिलता हो, पर भावना की

---

१. अध्याय चार और छह में 'विशेषण' पर विचार के प्रसंग में।

२. पा० ३. ४. १०।

दृष्टि से यह **आख्यात** या **क्रिया** ही है। कदाचित् इसीलिए पाणिनि ने **कर्त्तुम्**, **कर्त्तोः**, **कर्त्तवे**, आदि में 'कर्त्तु' को प्रतिपादिक न मानकर, 'कृ' धातु से **तुम्** **तोस्**, **तवे**, आदि अलग-अलग क्रियार्थक प्रत्ययों की सत्ता स्वीकार की थी।

३.१४.१.५ अव्यय

क्रियाविशेषण, **कर्मप्रवचनीय**, **उपसर्ग** और **निपात** को येस्पर्सन ने इसी एक वर्ग में आबद्ध किया है। **क्रियाविशेषण** किसी निश्चित शब्दराशि का नाम नहीं है। वह किसी भी 'सत्त्व' शब्द से बन सकता है। इतना ही नहीं, विशेषण या सर्वनाम का प्रयोग भी इस रूप में हो सकता है। कर्मप्रवचनीय, उपसर्ग और निपात को एक वर्ग में रखना कदाचित् सभी स्वीकार कर लें, किन्तु **क्रिया-विशेषण** को उसी वर्ग में रखने पर प्रायः अधिकांश को आपत्ति हो सकती है। पर, यह अद्भुत सत्य है कि यहां भी येस्पर्सन ने संस्कृत व्याकरण की भावना को अक्षरशः अपना लिया है। पाणिनि ने '**स्वरादिनिपातमव्ययम्**' (पा० १. २. ३७) कहकर **क्रियाविशेषण और निपात के बीच रहे-सहे भेद को भी मिटा दिया है।** वैसे **निपात** का परिगणन उन्होंने पृथक् से किया है। इसलिए **निपात** और **क्रियाविशेषण** के लिए प्रयुक्त सामान्य नाम '**अव्यय**' को हमने '**पार्टिकल**' का समानार्थक माना है।

३.१५ अन्य निपात

इण्टरजंक्ट या **विस्मयबोधक** निपातों की पृथक् गणना को येस्पर्सन ने अमान्य ठहराया है और उन्हें **समुच्चयबोधक** निपातों से पृथक् सिद्ध किया है। **उपसर्गों** और **कर्मप्रवचनीयों** को उन्होंने, आकारतः एक होने के कारण, एक ही वर्ग का स्वीकार किया है एवं उनका कार्य शब्दों के बीच सम्बन्ध-स्थापना स्वीकार किया है। यह भी स्मर्त्तव्य है कि **सामान्य** और **विशिष्ट** के रूप में **आदिनिपात** (आर्टिकल) की जो **दो कोटियां** स्वीकार की गई हैं, येस्पर्सन उन्हें भी **उपसर्ग** में ही अन्तर्गृहीत करते हैं। उदाहरण देकर उन्होंने सिद्ध किया है कि दि (The), ए (A), ऐन् (An), आदि का उचित समावेश **उपसर्ग** या **कर्मप्रवचनीय** के अन्तर्गत ही होना चाहिए।[1]

३.१६ तीन क्रम

वस्तुतः ये **पाँच भेद** स्वीकार करके भी अन्ततः येस्पर्सन पाणिनि के

---

१. उनकी दृष्टि में अन्य यूरोपीय भाषाओं में ये 'सर्वनाम' के वर्ग में ठहरते हैं। देखिए 'दि फिला०', पृष्ठ ८५।

समान उक्त सबकी **तीन** ही स्थितियां स्वीकार करना आवश्यक समझते हैं। उन्होंने यह अन्तिम मान्यता **सत्त्व, क्रिया और अव्यय** को दी है। **सत्त्व** नाम उन्हें अखरता रहा है और इसी कारण उन्हें **सर्वनाम** और **विशेषण** की अलग सत्ता माननी पड़ी है। क्या ही अच्छा होता कि वे **सब्स्टैण्टिव** या **सत्त्ववान्** के स्थान पर **एकम्प्लिश्ड** या **सिद्धरूप** जैसा कोई शब्द अपनाते। भर्तृहरि ने **नाम** शब्दों को क्रमरूप के संहार पर घटित होने वाला **सिद्धरूप** शब्द माना है।[1] क्रिया का भिन्न रूप बताते हुए उसे उन्होंने **साध्यावस्था** या **साध्यरूप** नाम दिया है।[2] **सत्ता** दोनों जगह है: **क्रिया**' में वह वर्त्तमान या क्रमवती है और '**नाम**' में उसकी क्रमशीलता समाप्त होकर एक सिद्धावस्था निष्पन्न हो चुकी है।

परन्तु, **येस्पर्सन** इस आवश्यकता को अनुभव अवश्य करते हैं। इसीलिए वे इस त्रुटि को दूर करने के लिए एक अन्य उपाय सुझाते हैं। उन्होने **तीन क्रमों** (थ्री रेंक्स) के रूप में एक मूल सत्य सामने रखा है। इन्हें वह क्रमश: मुख्य या **प्राथमिक** (प्राइमरी), **गौण** (सैकेण्डरी) और **अपकृष्ट** (टर्षरी) नाम देते हैं। ये तीनों 'क्रम' क्रमश: **सत्त्वावस्था, विशेषणावस्था** और **क्रियाविशेषणावस्था** को सूचित करते हैं। ये तीनों स्थितियां **सत्त्व, विशेषण** और **सर्वनाम**—तीनों—में उपलब्ध हो सकती हैं। येस्पर्सन इन तीनों स्थितियों को वाक्यगत या शब्दसन्निधिगत मानते हैं। **शब्दसन्निधि होने पर कोई भी शब्द सत्त्वावस्था, विशेषणावस्था, या क्रियाविशेषणावस्था को प्राप्त हो सकता है।**

क्रिया के विषय में स्थिति भिन्न है। क्रिया के **आख्यातरूप** (तिङन्त) प्राय: विशेषणावस्था को प्राप्त हो सकते हैं, अन्य दोनों अवस्थाओं को नहीं। विशेषणों की भाँति **कृदन्त रूप** (पार्टिसिपल) सत्त्वावस्था और विशेषणावस्था दोनों में प्रयोग हो सकते हैं। किन्तु, **अपूर्ण क्रिया** (इन्फिनिट्) का रूप तीनों क्रमों या अवस्थाओं में ही प्रयोग नहीं हो सकता।

स्वत: '**क्रियाविशेषण अव्यय**' भी तीनों क्रमों में प्रयुक्त होते हैं।

इसी पद्धति पर विचार करते हुए येस्पर्सन ने आगे चलकर कहा कि **शब्दगुल्म** (वर्ड-ग्रुप्स) और **वाक्यान्तर** (क्लॉजेज़) भी इन्हीं तीन क्रमों में प्रयुक्त होते देखे गये हैं।

यह स्थिति, किंचित् परिवर्त्तन के साथ, येस्पर्सन को पाणिनि द्वारा मान्य **नाम, आख्यात और अव्यय** की मान्यता के निकट ला देती है। पर फिर भी, **विशेषण** की स्थिति के प्रति येस्पर्सन का आग्रह कुछ अधिक ही दीखता है।

---

१. वा० ३. ८. ३०।

२. वा० ३. ८. १, ४८।

३.१७ लिंग

इसका कोई स्थिर आधार वे नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में, भर्तृहरि की भाँति, आर्यभाषाओं में मूलतः लिंगभावना **स्त्री**, **पुरुष** आदि के भेद से ही चली थी। पर, अन्यत्र कहीं यह **सजीव-निर्जीव** भेद से और कहीं **छोटी-बड़ी आकृति के भेद से प्रकट की जाती है।** कुछ भाषाओं में **तीन** और कुछ में **दो** लिंग स्वीकार किये गये हैं।

लिंग कुछ भाषाओं में **क्रिया पर प्रभाव** डालते हैं, कुछ में नहीं। हिन्दी एवं सेमेटिक भाषाओं में क्रिया लिंग से प्रभावित होती दीखती है।

३.१८ संख्या और वचन

एकवचन और **बहुवचन** का अस्तित्व सभी भाषाओं में पाया जाता है। पर, बहुत-सी भाषाओं में **द्विवचन** की सत्ता अलग से स्वीकृत है। **त्रिवचन** जैसी बात भी कुछ भाषाओं में पाई जाती है। द्विवचन का प्रयोग प्राचीन आर्य या भारोपीय भाषाओं में तो था ही, पर इसका अद्यतन प्रयोग भी इस परिवार की अनेक भाषाओं में विद्यमान है। इनके अतिरिक्त **ग्रीनलैण्ड** आदि प्रदेशों की स्थानीय भाषाओं में भी इसका प्रयोग मिलता है। पर, सामान्य प्रवृत्ति **एक** और **अनेक** के आधार पर **एकवचन** और **बहुवचन** को ही मान्यता देने की है। 'वचन' की एक अन्य कोटि भी कहीं-कहीं देखने में आती है, जिसका आधार **असंख्येय** गणना पर स्थित होता है।

संख्या का सम्बन्ध मुख्यतः **सत्त्वावस्था** (प्राथमिक क्रम) के शब्दों से होता है। पर, किसी-किसी भाषा में इसका सम्बन्ध **विशेषणावस्था** (गौण क्रम) से भी होता है।

३.१९ पुरुष

इसका वर्गीकरण क्रमशः **वक्ता श्रोता और अन्य सम्बन्ध** व्यक्ति पर आधारित होता है। इन्हें क्रमशः **प्रथम पुरुष** (उत्तम पुरुष — संस्कृत) **द्वितीय पुरुष** (मध्यम पुरुष —सं०) और **अन्य पुरुष** (प्रथम पुरुष—सं०) नामों से व्यक्त किया जाता है। स्पष्ट है कि '**हम**' जैसे शब्दों की स्थिति उलझन पैदा कर देती है। क्योंकि, 'हम' कहते ही 'मैं और तुम' तथा 'मैं और कुछ अन्य लोग' आदि की भावना उत्पन्न हो सकती है। निश्चय ही यदि वक्ता एक है, तब 'हम' या 'हम दो' में 'मैं' के अतिरिक्त 'मध्य या अन्य पुरुष' से सम्बद्ध कोई **अन्य व्यक्ति** भी समवेत माना जाएगा।

३.२० काल

अंग्रेज़ी और अन्य कई भाषाओं में भविष्यत् काल के लिए कोई अभिव्यक्ति माध्यम (लकार या टेंस) है ही नहीं। **लातीनी, इतालवी, ग्रीक, स्लावोनिक** आदि प्राचीन और नवीन भाषाओं में इस काल की अभिव्यक्ति स्पष्टतः पृथक् रूप से सम्भव है। अतः ग्यारह लकारों, नौ लकारों या कालों, अथवा सात कालों का विभाजन अन्ततः उचित नहीं ठहरता। 'वर्तमान काल' की स्थिति तो और भी डावाँडोल है। वह वर्तमान क्षण का सत्य भी हो सकता है, त्रिकाल-सत्य भी, और ऐतिहासिक सत्य भी ! पर 'वर्तमान क्षण' की परिभाषा कभी ठीक से नहीं की जा सकती। वर्तमान की समीपता अतीत और भविष्य के साथ हो सकती है। पर उन दोनों अवस्थाओं में प्रयोग 'वर्तमान' का ही होता है। 'भविष्य' या 'भूत' का स्वतन्त्र प्रयोग भी वहां हो सकता है।

वस्तुतः काल-विभाग को **तीन** तक ही सीमित करना उचित है। बाद में प्रत्येक काल के उपविभाग किए जा सकते हैं। 'लकारों' या 'टैन्स' को काल का सामान्य सूचक ही मानना चाहिए। समय आदि की निश्चित सूचना तो समय-सूचक शब्दों के द्वारा ही दी जा सकती है। विकास की अवस्था में यह संख्या घटती-बढ़ती रहती है।

३.२१ भाव

भावों का सम्बन्ध लकारों से स्थायी नहीं है। इन्हें प्रकट करने के लिए बहुधा सहायक शब्दों से भी काम चलाया जाता है। ग्रीक और लातीनी भाषा के **भूत** (एओरिस्ट) और **अपूर्णभूत** (इम्परफ़ेक्ट) की सत्ता वर्तमान यूरोपीय भाषाओं में कदाचित् ही कहीं खोजी जा सकती है। दूसरी ओर, **अपूर्णभूत** की अभिव्यंजना अंग्रेज़ी भाषा में **दो प्रकार** से होती है। उन दोनों ही प्रकारों को **भाव** या **मूड** के अन्तर्गत गिना जा सकता है।

कदाचित् आरम्भ में **कालों** की अपेक्षा **भावों** को ही प्रधानता प्राप्त रही होगी। तब लकारों की निश्चित अभिव्यक्ति पर इतना बल न दिया जाता होगा। पर धीरे-धीरे, समय और अभिव्यक्ति की पूर्ण बुद्धि जगने के साथ-साथ, **काल** और निश्चित **भावों** की अभिव्यक्ति प्रधान होती गई। प्राचीन आर्यभाषाओं में पूर्वकथित **अनिर्दिष्ट भाव** (सब्जंक्टिव मूड) की प्रधानता का कदाचित् यही कारण था। आज इसकी सत्ता उतनी व्यापक नहीं रही; यद्यपि इनके भावात्मक प्रयोग अब भी बहुधा खोजे जा सकते हैं। लकारों से स्वतन्त्र रहकर भी भावों की अभिव्यक्ति होती है। अंग्रेज़ी में तीन ही भावों की सत्ता येस्पर्सन ने स्वीकार की

है : **आज्ञार्थक, निर्देशक,** और **अनिर्दिष्ट** । वे **इच्छा** को अनेक रूपों में व्यक्त होते अवश्य पाते हैं, पर उन सब रूपों को अलग-अलग **भाव** नहीं मानते ।

३.२२ विभक्ति

विभक्ति को लेकर पश्चिम में जो व्यापक भ्रान्ति रही है, उसका कारण यह है कि उन्होंने **कारक** की सत्ता को 'विभक्ति' से पृथक् समझने का प्रयास नहीं किया । उनकी दृष्टि में **विभक्ति-चिन्हों** की पृथक्ता ही 'कारकों' की भी संख्या निश्चित कर सकती है । कुछ विचारकों ने कारकों के आधार पर '**विभक्तियों**' की संख्या निश्चित करने का प्रयास भी किया है ।

येस्पर्सन भी इस भ्रम से मुक्त नहीं हो पाए हैं । फिर भी एक बात में वे दृढ़ हैं कि **विभक्ति (केस) का निश्चय उसके प्रत्ययों से किया जाना चाहिए** । इसी आधार पर वे लातीनी, अंग्रेज़ी, आदि भाषाओं में अलग-अलग विभक्तियों की संख्या निश्चित करते हैं । **अंग्रेजी में** इसी आधार पर वे **दो ही मुख्य विभक्तियों** —**सम्बन्धबोधक** और **निर्देशिका** – की सत्ता स्वीकार करते हैं । **औब्लीक** या **अनभिहित** नाम से एक अन्य विभक्तिसत्ता की संभावना भी उन्होंने स्वीकार की है । **सम्बोधन** को वे पृथक् नहीं मानते । **मी** (Me), **हिम्** (Him) आदि के रहते भी वे अंग्रेज़ी में **कर्म** अथवा **सम्प्रदान** की सत्ता को क्यों स्वीकार नहीं करते, यह समझ में नहीं आता ।

३.२३ वाच्य

इसका येस्पर्सन ने स्वतन्त्र उल्लेख तो नहीं किया है, पर इसकी चर्चा दो-तीन प्रसंगों में खुलकर अवश्य की है । विभक्ति-विचार में 'कर्म' को लेकर इसकी पर्याप्त चर्चा हुई है । वस्तुत: **कर्तृवाच्य** और **कर्मवाच्य** की मूल कल्पना और उनका प्रयोग **कर्म** की स्थिति के बदलने पर ही आधारित रहता है । पर इसका विचार **भाव-दशा** के प्रसंग में भी होता है ।

प्राचीन ग्रीक में, और आधुनिक में भी, **मिडिल वॉयस्** (मध्य वाच्य) नाम से जो प्रयोग मिलता है, वस्तुत: उसे संस्कृत के '**भाव वाच्य**' का पूर्ण प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता । सामान्यत: **भाववाच्य** और **कर्मवाच्य** का अभिधान '**पैस्सिव वॉयस**' के द्वारा ही किया जाता है । **वास्तव में ग्रीक की 'वाच्य-भावना' को संस्कृत व्याकरण की उपग्रह-भावना का स्थानीय कहा जा सकता है** । पर, ये दोनों पूर्णत: एक दूसरे का प्रतिनिधित्व नहीं करते । अवधी, डेनिश, एस्किमो, आदि कुछ भाषाओं में '**करण कारक**' या '**बाइ**' आदि अव्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग

नहीं होता ; वहां धातुरूप में भी विशेष अन्तर नहीं आता । फिर भी, केवल कर्म और कर्त्ता के स्थानान्तरण और विभक्ति-परिवर्तन से ही 'वाच्य' स्पष्ट कर दिया जाता है ।

३.२४ नेक्सस्

इसका सर्वोत्तम अनुवाद **'साहचर्य'** (समवाय-भर्तृ०) हो सकता है । **येस्पर्सन यह नाम एक ऐसी स्थिति-विशेष को देते हैं, जो दो या अधिक शब्दों के साहचर्य' और 'समवाय' में उत्पन्न होती है ।** भर्तृहरि **'सम्बन्ध'** के प्रसंग में **'समवाय'** नामक स्थिति की चर्चा करते हैं, जिसमें किसी का किसी से **संयोग** हो जाता है ।[1] **समास** और **नेक्सस्** में भी अन्तर समझ लेना आवश्यक है । समास में 'एकपद' की भावना प्रबल रहती है, जबकि नेक्सस् में भाग लेने वाले पद परस्पर सन्निधि में रहकर भी स्वतन्त्र रहते हैं । समास 'एकपद' हो जाता है, पर नेक्सस् 'एकीभूत भावना' की प्रतीति देता है । भावना की यह एकता ही 'नेक्सस्' के विस्तार की सीमा बन जाती है ।

३.२५ तुलना (कम्पेरिज़न्)

इस सम्बन्ध में सबसे मौलिक देन येस्पर्सन की यह है कि वे **'तुलना'** (कम्पेरिज़न) को **'कोटि'** (डिग्री) की स्थिति में स्वीकार नहीं करते । **'तर'** और **'तम'** का भाव एक दूसरे से अधिक या हीन का नहीं है । वस्तुतः ये दो कोटियां न होकर, एक ही **'कोटि'** के सूचक दो शब्द हैं । इसीलिए इन्हें **'तारतम्य का सूचक'** न कहकर, येस्पर्सन **'तुलना सूचक'** प्रत्यय ही कहते हैं । इसकी व्याख्या में वे कहते हैं कि हम **'गुरुतर'** कह कर एक वस्तु की तुलना में किसी चीज को अधिक गुरु सिद्ध कर रहे हैं, जब कि **'गुरुतम'** कह कर हम उसे अन्य अनेक वस्तुओं की तुलना में गुरु सिद्ध कर रहे हैं । आवश्यक नहीं कि 'गुरुतम' वस्तु 'गुरुतर' से **अधिक गुरु** ही हो । इसलिए यह तुलना के अधीन आने वाली सीमा के संकोच या विस्तार की अभिव्यक्ति है । तुलना अन्ततः तुलना ही है ।

यह तुलना, सदा **अधिकता** में ही न होकर, **कमी या अपेक्षा** में भी हो सकती है ।

३.२६ निषेध

निषेध कई भावनाओं से प्रेरित होता है । यह केवल **'अभाव'** का सूचक

---

१. वा० ३. ३. ७ ।

नहीं है। **सर्वप्रधान** रूप में यह **'विरोधक निषेध'** के रूप में श्वेत, अश्वेत आदि के रूप में पाया जाता है। अश्वेत शब्द 'काले' का समानार्थक नहीं है। दूसरा भेद है **'सत्ता से निषेध'**, **'निषेधाज्ञा'**, या **'असंभाविता'** का। 'कभी नहीं (नैवर)' या **'कहीं नहीं** (नोव्हेयर)', **'मत कहो'**, या **'अशक्य'** आदि में यह स्थिति विविध रूप में विद्यमान है। 'निषेध' की सूचना नञ्, न, नो (No), ने (Ne) अ, अन्, आदि से भिन्न-भिन्न स्थानों और भाषाओं में मिलती है। इन शब्दों से **अभाव, असंभाविता**, आदि की सूचना अवश्य मिलती है; पर 'अभाव' का अर्थ 'विद्यमान वस्तु का अभाव' नहीं होता।

यह आवश्यक नहीं कि **'न'**, **'अ'** आदि का उल्लेख होने से ही यह सब सूचना मिल सकती है। इनके बिना भी यह सूचना उपलब्ध हो सकती है। इससे विपरीत स्थिति वहां मिलती है, जहां निषेध-वाचक शब्द दो बार प्रयुक्त होकर निषेध की संभावना को ही मिटा देता है।

३.२७ परिशेष

'दि फिलासफ़ी आफ ग्रामर' के बाद **'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'** में 'व्याकरण' की व्याख्या करते हुए येस्पर्सन ने अपने मत में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किया है। उसमे उन्होंने जहां **वाच्य, विभक्ति** और भाव पर पृथक् विचार नहीं किया है, वहां **दिक्** (स्पेस्), **अनिर्दिष्ट भाव** (या वक्ता की अन्तर्मुखी स्थिति), एवं **वक्ता की इच्छा से सम्बन्ध** की चर्चा पृथक् से की है। **लगता है, इस प्रकरण को लिखते समय तक वे भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' से या तो पूर्णतः परिचित हो चुके थे, या फिर इस विषय में उन्हें नवीनतम सूचना उपलब्ध हो चुकी थी।**

पर, यहां यह स्पष्ट कर देना भी अभीष्ट है कि **'दिक्'** (स्पेस) और **'सम्बन्ध'** (रिलेशन) को लेकर जो चर्चा येस्पर्सन करते हैं, वह भर्तृहरि द्वारा इन शीर्षकों के अधीन की गई चर्चा से नितान्त भिन्न है। (१) **'दिक्'** की चर्चा उन्होंने 'विभक्ति' के स्थान पर की है। **कहां से, कहां तक, किस ओर, कहां पर,** आदि में वे **'स्थान'** और **'दिशा'** की जिज्ञासा को प्रधान पाते हैं। अतः उनके मत में **स्पेस या दिक्** की स्थिति को पूरी तरह समझ कर **विभक्तियों, कर्म-प्रवचनीयों** एवं **उपसर्गों** की स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकेगी। (२) **वक्ता की अन्तर्मुखी स्थिति** या **आत्मपरक स्थिति** को वे उसकी अनिश्चित अभिव्यक्ति-स्थिति का कारण मानते हैं। 'मूड' या 'भाव' की उत्पत्ति इसी से होती है। इसी लिए **'अनिर्दिष्ट भाव'** या सब्जंक्टिव मूड **भावदशा की मूल अनिश्चित स्थिति**

के सर्वाधिक निकट है। (३) वक्ता की इच्छा से **सम्बन्ध** और भर्तृहरि के बताए 'सम्बन्ध' में भी अन्तर है।

३.२८ एक अन्य स्थिति

इन तीन तत्वों के अतिरिक्त येस्पर्सन ने अंग्रेजी एवं अन्य सदृश भाषाओं में क्रियाओं के रूप-परिवर्तन पर प्रभाव डालने वाली एक अन्य स्थिति की चर्चा की है। यह स्थिति **वाच्य-परिवर्तन से भिन्न** है। वाच्य परिवर्तन में प्रभाव **कर्त्ता कर्म** और **क्रिया** पर पड़ता है। परन्तु **यथावचन** (डायरेक्ट) और **उल्लेख** (इण्डायरेक्ट) के प्रयोगों में वाक्प्रयोग में जो अन्तर आता है, वह केवल **सर्वनाम** और **क्रियारूप** पर ही परिवर्तनात्मक प्रभाव डालता है। अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के व्याकरण-ग्रन्थों में इसकी चर्चा '**डायरेक्ट-इण्डायरेक्ट स्पीच**' नाम से पृथक् और अनिवार्य रूप में होती है।

इस विषय में विस्तृत चर्चा के बाद येस्पर्सन इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वक्ता के बदलने के साथ **क्रिया का काल बदलना अनिवार्य नहीं** है। वैसे दोनों स्थितियों में मूल अन्तर इतना है कि एक स्थान में वक्ता किसी दूसरे के कथन को उसी का बता कर **यथावचन** कह रहा होता है, जबकि अन्यत्र वह सारी बात का स्वयं ही '**उल्लेख**' कर रहा होता है। इसमें अन्तर '**अनुकरण**' और '**स्वोक्ति**' का है। '**अनुकरण**' में स्वभावत: क्रिबारूप और सर्वनाम आदि यथा प्रयुक्त रहते हैं, किन्तु 'स्वोक्ति' में उनका प्रयोग वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। हम कितने ही नियम बांध लें, **उल्लेख** या '**स्वोक्ति**' में वक्ता को हम निश्चित रूप से भूतकालिक या अन्य परिवर्तित प्रयोगों के लिए बाध्य नहीं कर सकते। सामान्य प्रयोग इन नियम-बाधाओं को कैसे तोड़ता है? इसका सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण स्वयं वैयाकरणों ने '**ऐतिहासिक वर्तमान-काल**' को स्वीकृति देकर किया है। वैदिक और संस्कृत में इस तरह के प्रयोग पदे-पदे उपलम्य हैं ही, अंग्रेजी, हिन्दी, आदि वर्तमान समृद्ध भाषाओं में भी '**भूत**' के अर्थ में '**वर्तमान**' का प्रयोग अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता ह।

३.२९ उक्ति-भेद

दूसरी बात उक्तियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में है। अब तक (१) **वक्तव्य**, (२) **प्रश्न** (३) **इच्छा** और (४) **विस्मय** के रूप में चार प्रकार की **उक्तियां** स्वीकार की जाती रही हैं। '**इच्छा**' और '**विस्मय**' में अन्तर को येस्पर्सन '**अस्पष्ट**' मानते हैं। उनकी दृष्टि में व्यवहार-जगत् में वक्ता की '**धारणा**' को

ध्यान में रखकर उक्तियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है : (क) **जिनके द्वारा वह श्रोता की इच्छा पर प्रभाव डालना चाहता है** या डालता है, और (ख) **जिनमें यह ऐसा कोई प्रभाव नहीं डालना चाहता।** इनमें से दूसरे वर्ग में **सामान्य उक्तियों और विस्मयबोधक** वाक्यों आदि का समावेश हो जाता है। **इष्टार्थक उक्तियां** भी अधिकांशतः इसमें ही गृहीत हो जाती हैं।

'प्रश्न' की कोटि पृथक् की जा सकती है। पर मूलतः यह भी **'प्रार्थना'** के अन्तर्गत गिनी जा सकती है। अन्तर तब अधिक स्पष्ट होता है, जब हम **आज्ञावचनों** के साथ, या उससे रहित, **प्रश्नों** पर विचार करते हैं।

पर, अन्ततः येस्पर्सन भी, भर्तृहरि की भांति, उक्ति की एक ही कोटि स्वीकार करते हैं : **'वाक्य'** । इसके द्वारा ही वे **अभिव्यक्ति** (एक्सप्रेशन), **अकथन** (सप्प्रेशन) **और प्रभाव** (इम्प्रेशन) का अन्तर स्पष्ट होता स्वीकार करते हैं। **वाक्य क्रियादि अवयवों से पूर्णतः युक्त भी हो सकते हैं, और रहित भी। उनका मुख्य प्रयोजन 'प्रभाव' द्वारा अर्थाभिव्यक्ति है, जिसके सम्पादन में, शब्दों की पृथक् सत्ता का महत्त्व न होकर, वाक्य का सामुदायिक महत्त्व अधिक होता है।**

३.२९.१ भर्तृहरि का मत

इस प्रकार येस्पर्सन मूलतः ग्यारह तत्त्व ही मानते हैं। परन्तु, भर्तृहरि ने इनमें संशोधन-परिवर्धन के साथ **चौदह तत्त्व** माने हैं। उनके द्वारा वर्णित सर्वथा नवीन तत्त्व **सम्बन्ध, दिक् और उपग्रह** ठहरते हैं; यद्यपि **जाति, द्रव्य,** और **वृत्ति** के सम्बन्ध में उनके वक्तव्य भी येस्पर्सन के वक्तव्यों से बहुत अधिक व्यापक भिन्न और प्रभावकारी हैं। इन छहों तत्त्वों पर विचार करने की अपेक्षा अधिक अच्छा होगा कि हम भर्तृहरि द्वारा वर्णित चौदहों तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय यहां प्राप्त कर लें, ताकि हम उनके दृष्टिकोण से कुछ सीमा तक परिचित हो सकें।

ये चौदह तत्त्व हैं **जाति, व्यक्ति, सम्बन्ध, द्रव्य** (पदार्थ), **गुण, दिक्, साधन** (कारक), **क्रिया, काल, संख्या, उपग्रह, लिंग, पुरुष और वृत्ति** । इन पर संक्षिप्त विचार अप्रासंगिक न होगा।

३.३० जाति

भर्तृहरि पदकाण्ड की चर्चा **'पद-विभाजन'** जैसी चीज़ से आरम्भ नहीं करते। आरम्भ में ही वे पद-विभाजन को कृत्रिम बता कर शब्दमात्र की वास्तविकता अथवा उसके वास्तविक स्वरूप की चर्चा करने लगते

हैं ।[1] जिस तत्त्व को हम '**कॉमन**' या '**कम्यूनिटी**' शब्दों के द्वारा कहते हैं, उसे ही भर्तृहरि 'जाति' के द्वारा अभिहित करते हैं । उनके जाति-वर्णन में '**जनरल**' और '**जनरैलिटी**' का भाव भी आ जाता है । जाति का सम्बन्ध केवल '**नाम**' मात्र से ही वे स्वीकार नहीं करते । उनकी दृष्टि में **क्रिया** तो है ही **जातिरूपा** ।[2] **गुण** और **संख्या** को भी वे जातिसूचक ही मानते हैं ।[3] अन्त में इस विषय में अपने सार्वभौम सिद्धान्त की चर्चा करते हुए वे कहते हैं : '**स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते**'[4] । परन्तु 'शब्द' के कहने से कहीं जाति का सम्बन्ध बाहरी शब्दरूपमात्र से ही न गिन लिया जाए, इसलिए वे अधिक स्पष्ट करके कहते हैं : '**ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना**' ।[5] **शब्दजाति** के समान ही वे '**अर्थजाति**' भी मानते हैं । पर उनकी यह मान्यता सामान्य प्रचलित मान्यता के विपरीत है । न वे शब्दजाति का अर्थ '**पद-भेद**' से ले लेते हैं, और न ही उनका आशय 'अर्थजाति' कहते हुए '**अर्थ-भेद**' से है । बल्कि, वे तो उन भेदों को कल्पना-मात्र स्वीकार करते हैं । उनका अभिप्राय शब्दों की अभिव्यक्ति एवं उनके ग्रहण से है । अभिव्यक्ति एवं ग्रहण की वेला में शब्द **और** अर्थ आपाततः अपने जाति-रूप को ही व्यक्त करते हैं ।

लगभग यही बात येस्पर्सन को भी अभिमत है, जब वे '**नाम**' तथा '**विशेषण**' आदि विविध भेदों को अमान्य ठहराते हैं । उनका यह मत भर्तृहरि के मत से संगत ही है कि व्यक्तिगत नाम या संज्ञाएं भी सामान्य या जातीय चिन्हों को लिए होती है ।[6] **व्यक्ति संज्ञा** का प्रथम ग्रहण जाति के रूप में ही होता है ।[7]

३·३१ द्रव्य

यहां **द्रव्य** का अभिप्राय, जाति की तुलना में, **व्यक्ति** या व्यक्तिगत अस्तित्व से है । **आकृति** या बाह्याकार जहां पदार्थ की **जातीयता का द्योतक** होता है, वहां उससे ही किसी भी वस्तु की व्यक्तिगत सत्ता का भी आभास होता है ।[8] भर्तृहरि यहां '**आकार**' और '**आत्मा**' अथवा '**तत्त्व**' की अभिन्नता और एकता घोषित करते हैं ।[9] देखने में उनका यह सिद्धान्त बौद्ध प्रभाव से आविष्ट दिखाई देता है । परन्तु, जब वे कहते हैं '**सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते**',[10] तब उनका

---

१. वा० ३. १. १ ।
२. वा० ३. १. ३३-५ ।
३. वा० ३. १. ५२, ५५, ७१-३, ७७, ८८ ।
४. वा० ३. १, ६ ।
५. वा० ३. १. ६ ।
६. दि फिला० ग्रा० पृष्ठ ६८-६६ ।
७. वही, पृष्ठ ७१ ।
८. वा० ३. १. १६ ।
९. वा० ३. २. १ ।
१०. वा० ३. २. २ ।

आशय अधिक स्पष्ट हो जाता है। वे यहां 'वस्तु' या 'वास्तविकता' को ही 'द्रव्य' कह रहे हैं। यह द्रव्यत्व आकृति पर आश्रित होता है। **आकृति** की चर्चा करते हुए पतंजलि और भर्तृहरि दोनों ने उसे **जातिसूचिका** भी माना है, और **व्यक्ति-सूचिका** भी।[१] आकृति, '**दिक्**' पर आधारित होने से, **संख्या** आदि की जननी भी होती है।[२] अतः वैयाकरण की दृष्टि में शुद्ध '**व्यक्तित्व**' नाम की कोई चीज़ नहीं होती। हर '**व्यक्तित्व**' के पीछे भी कोई न कोई '**भावना**' छिपी होती है।[३]

३.३२ सम्बन्ध

यह प्रसंग भर्तृहरि की **मौलिकता** का परिचय देता है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर **व्याडि**, **पतंजलि**, और **कात्यायन** सरीखे विद्वान् पहले ही विचार कर चुके थे। उनके विचारों को, एवं दार्शनिक समस्याओं पर अपने से पूर्वतर चिन्तन को, आधारित करके भर्तृहरि ने इस समुद्देश में हमें एक नई ही बात एकत्रित रूप में दी है। इस समुद्देश में मुख्यतः भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर सर्वांगीण रूप में विचार किया है।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित ही है कि भर्तृहरि **शब्दार्थ-सम्बन्ध** को व्याकरण का ही वर्ण्य स्वीकार करते हैं। येस्पर्सन भी इसी पद्धति पर बढ़े हैं। अन्यथा व्याकरण केवल शब्द-क्रीड़ा ही रह जाता। यह सम्बन्ध-विचार वे **सार्वभौम स्तर** पर करते हैं। उनके विचार को किसी भी भाषा पर घटा कर देखा जा सकता है।

इस विषय में उनकी मुख्य धारणा शब्दार्थ में सम्बन्ध की नित्यता के विषय में है, जो कि यास्क,[४] पाणिनि,[५] व्याडि[६], कात्यायन[७] और पतंजलि[८] की दृष्टि से, देखने में अभिन्न होकर भी, अधिक पूर्ण और तर्कसंगत लगती है। दूसरी ओर, वे वाक्-प्रयोग में 'पदार्थ' की सत्ता तक को मानने से इन्कार कर देते हैं। वस्तुतः वे 'अर्थनित्यता' की धारणा का ही समर्थन नहीं करते, बल्कि

---

१. वा० ३. १. १९।
२. व० ३. ६. ३-५, १७, २७-२८।
३. वा० ३. १. ६-१२।
४. नि०—'अर्थनित्यः परीक्षेत' (२. १. १)।
५. अष्टा० १. २. १४।
६. व्याडि-"सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति" (संग्रह)।
७. म० १. १. १, वा० १।
८. म० १. १. १.—'सिद्धे'।

'एक: शब्द:' की भांति 'एकोऽर्थ:' की भी घोषणा करते हैं।[1] वे उसे अपद, अक्रम, अखण्ड और अविभाज्य स्वीकार करते हैं।[2] इससे एक बार तो ऐसा लगता है, जैसे वे पद-मात्र की सत्ता मानने से इन्कार कर रहे हों। पर, तुरन्त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे 'पदार्थ' को सर्वथा व्यावहारिक सुविधा की वस्तु बताकर उसकी व्यक्तिगत उपयोगिता को अमान्य ठहरा रहे हैं[3]। पद के विषय में भी वे प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना को अपोद्धार और लोक व्यवहार का ही विषय मानते हैं। '**अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्य: प्रकृतिप्रत्ययादिवत्**[4]' एवं '**शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च**[5]' का अर्थ अन्तत: एक ही है। **ऊह** और **अपोद्धार** वास्तविकता के विषय नहीं ठहराए जा सकते।

यहां भर्तृहरि द्वारा **अर्थ** और **प्रत्यय** के सम्बन्ध में कही गई बातें भी अवधेय है।[6] '**जायते प्रत्ययोऽर्थेभ्यस्तथैवोद्देशजा मति:**[7]' की व्याख्या इसी प्रसंग में करनी चाहिए। 'अर्थ-चेतना' का मूलत: **बाह्यार्थ, ज्ञान** और **स्वरूप** के रूप में विभाजन भी उनकी मौलिक देन कही जा सकती है।[8]

३.३३ पदार्थ (द्रव्य)

यह समुद्देश सबसे छोटा है। इसमें संक्षेप में **द्रव्य** की चर्चा का प्रयोजन यही है कि अगले दो समुद्देशों में अप्रत्यक्षत: इसी विषय की जो चर्चा आई है, उनमें भर्तृहरि ने यह बताया है कि **गुण** और **दिक्** की, और संख्या की भी, स्थिति द्रव्य पर ही निर्भर करती है। वास्तव में इसे अलग समुद्देश न मानकर **गुण समुद्देश** का ही भाग मानना चाहिए।

३.३४ गुण

इस समुद्देश में यह स्थापित किया गया है कि **वस्तुत: गुण द्रव्य या पदार्थ से भिन्न होकर नहीं रह सकता।** इसीलिए गुणवाचक शब्दों की पृथक् स्थिति सम्भव सिद्ध नहीं होती। गुण का सम्बन्ध **विशेषण** से भी है। क्योंकि, विशेषण भी किसी द्रव्य पर ही आधारित होते हैं। **इसीलिए 'विशेषण शब्दों' को 'नाम शब्दों' से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं।**

---

१. वा० ३. ३. ८७।
२. वा० ३. ३. ७८, ८१।
३. वा० ३. ३. ८२।
४. वा० ३. १. १।
५. त्रिपदी १. १. १।
६. वा० ३. ३. ३७, आदि।
७. वा० ३. ३. ५३।
८. वा० ३. ३. १।

३.३५ दिक्

आज के विज्ञान-जगत् में पदार्थ का एक लक्षण '**स्थान घेरना**' माना जाता है। परन्तु भर्तृहरि **दिक्** को अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। सर्व प्रथम यह पदार्थ का मुख्य लक्षण स्वीकार किया गया है। फिर भर्तृहरि इसे आकाश-तत्त्व से अभिन्न मानकर व्यक्तिगत आकृति और पृथक्ता का भी कारण मानते हैं। परिणामत: संख्या का गणन अथवा **एकत्व-बहुत्व** आदि इसी पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार दर्शन के **आकाशतत्त्व** को भर्तृहरि व्याकरण की दार्शनिक पृष्ठभूमि का मुख्य आधार बना देते हैं।

३.३६ साधन

इस सप्तम समुद्देश में कारकों की चर्चा की गई है। **सम्बोधन** और **सम्बुद्धि** की स्थिति पर भी, परिशिष्ट के रूप में, विचार किया गया है। **करण** और **कर्त्ता** की सापेक्ष स्थिति, **कर्म और सम्प्रदान** का निश्चित विभाजन, **द्वितीया** विभक्ति का विषम प्रयोग, **षष्ठी और शेष** का परस्पर सम्बन्ध आदि विषय इसमें पूरी तरह अनुकृत हुए हैं। कारकों पर कार्य संस्कृत में अन्यत्र भी पर्याप्त हुआ है। पर, यहां जिस प्रकार का मौलिक चिन्तन भर्तृहरि ने किया है, और उनके किसी निश्चित सीमा-विभाग को मानने से इन्कार कर दिया है, वह वैज्ञानिक-दृष्ट्या अत्यधिक संगत प्रतीत होता है। इस समुद्देश को आठ उपखण्डों में विभाजित किया गया है।

३.३७ क्रिया

वस्तुत: इस समुद्देश का नाम एक दृष्टि से भ्रामक भी है। भर्तृहरि इसमें जिस ढंग से चले हैं, उससे यह स्पष्ट है कि वे सार्थक शब्द राशि में **क्रिया** और **नाम** दो ही चीजों को गिनते हैं। यहां वे प्रथमत: 'क्रिया' की परिभाषा करते हैं। पर, बाद में वे 'नाम' शब्दों से उसका अन्तर बताते हैं। येस्पर्सन ने **चीनी भाषा** के शब्दों में **क्रिया और नाम** शब्दों में जो रूपसाम्य भ्रमावह रूप में पाया है, वह केवल बाह्य रूपसाम्य ही कहा जाना चाहिए।[1] भावना की दृष्टि से विश्वभर की भाषाओं में 'नाम' और 'क्रिया' का एक ही अन्तर हो सकता है : **सिद्ध और साध्य**।[2] जब तक कोई प्रक्रिया **क्रमवान्** रूप में चल रही है, तब

---

१. 'दि फिला० ऑफ ग्रामर' पृ० ५९।

२. वा० ३. ८. ३०।

तक **क्रिया** ही कहलाती है। किन्तु, ज्यों ही **क्रम का नाश** हो जाता है, या क्रम-प्रक्रिया रुक जाती है, तभी **सिद्ध** या प्राप्त वस्तु '**नाम**' या 'द्रव्य' का रूप ग्रहण कर लेती है। क्रिया में द्रव्यत्व के निषेध की बात सीधे न कह कर भर्तृहरि उसे 'जाति' का अपर पर्याय भी कह देते हैं। 'जातिमन्ये क्रियामाहुः' की उक्ति केवल दूसरों का मत घोषित नहीं करती।[1] स्वयं भर्तृहरि ने अन्यत्र इस मत को बहुत जोर-शोर से व्यक्त किया है।

यहां यह शंका हो सकती है कि नाम की परिभाषा 'क्रमरूपस्य संहारे' या 'संहरन्त इव क्रमम्' के द्वारा पूरी तरह नहीं दी जा सकती।[2] क्योंकि, यह परिभाषा तो केवल उन्हीं शब्दों पर घटेगी, जिसका सम्बन्ध **क्रिया** से है, या जो **क्रिया से बने** हैं। परन्तु, यह शंका निर्मूल है। क्योंकि, 'क्रमसंहार' की शर्त्त केवल उन्हीं नाम शब्दों पर लागू नहीं होती, जिनका जन्म क्रिया से होता है। बल्कि यह शर्त्त उन सब नाम-शब्दों पर भी लागू होती है, जिनकी उत्पत्ति हमें प्रत्यक्षतः क्रिया से होती नहीं भी दिखाई देती। यदि इस आधार पर हम येस्पर्सन की इस उक्ति की विवेचना करें कि आरम्भ में प्रायः सभी शब्द किसी न किसी क्रियाभावना से ही जन्म लेते हैं, तो हमें नाम और क्रिया का अन्तर केवल भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत उक्त आधार पर ही करना होगा।[3]

३.३८ काल

भर्तृहरि अनेकत्र 'काल' को एक शक्ति मानते हैं। 'नाम' को वे 'मूर्त्ति-भेदाय कल्पते' के रूप में मानते हैं, जबकि 'काल' को वे 'क्रियाभेदाय कालस्तु' कहकर स्मरण करते हैं। इस उक्ति के प्रकाश में विचार करने पर भर्तृहरि की क्रिया की यह परिभाषा अधिक वैज्ञानिक बनकर सामने आती है : '**आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते**।'[4] काल के महत्त्व को वे पौर्वापर्य के विनिश्चय तक ही सीमित नहीं करते, बल्कि क्रिया की बन्धन और मुक्ति को भी वे काल द्वारा निर्णीत मानते हैं।[5] देखने में यह उक्ति महत्त्वपूर्ण जँच सकती है, किन्तु विस्तृत विचार करने पर पता चलेगा कि क्रिया की बन्धन और मुक्ति की परिभाषा ही

---

१. वा० ३. ८. २१।

२. भाषा० वाक्य०, पृ० १४१, वा० ३. ८. ३०, आदि।

३. वा० ३, ८. १, ४८।

४. वा० ३. ८. १।

५. वा० ३. ९. ४-५, ५०-५१।

काल-सीमा की सबसे बड़ी परिभाषा है। हम वर्त्तमान, अतीत और भविष्य की जो भी परिभाषाएं करें, वस्तुत: **क्रम** का आश्रय क्रिया की इसी **बन्धन** और **मुक्ति** पर ही आधारित रहता है।

काल की निरन्तरता को लेकर भी वैयाकरणों ने बहुत कुछ लिखा है। भर्तृहरि उसे निरन्तर और अविच्छेद्य मान कर ही रुक नहीं जाते, बल्कि वे व्यावहारिक रूप में वर्त्तमान, अतीत, और भविष्य की सीमाओं की परीक्षा में प्रवृत्त हो जाते हैं। अन्त में जिस परिणाम पर वे पहुंचते हैं, वह येस्पर्सन से भी अगली स्थिति का द्योतक है : लकार या काल का विभाजन किन्हीं निश्चित सीमाओं में नहीं किया जा सकता।[1] इस प्रकार के विभाजन को वे महज़ व्यावहारिक सुविधा-मात्र मानते हैं।[2]

३.३९ पुरुष

इसमें विशेष बातें दो हैं। एक तो यह कि **मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष** को **आत्म** और **पर** भेद से **सचेतन** और प्रथम पुरुष को **अचेतन** व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यह बात बहुत आपत्तिजनक लग सकती है। पर, सत्य यह है कि यह बात वक्तव्य में भाग लेने वाले व्यक्तित्वों की दृष्टि से कही गई है। "**तयोः श्रुतिविशेषण वाचकौ मध्यमोत्तमौ**[3]" : वक्तव्य की श्रुति के प्रसंग में दो ही व्यक्तित्व सचेतन होकर भाग लेते हैं। किन्तु, जिस **अनुपस्थित व्यक्ति** के लिए हम **प्रथम पुरुष** का प्रयोग करते हैं, वह यहाँ अनुपस्थित होने के कारण उस **श्रुति की दृष्टि से चेतनहीन** या **अचेतन** ही रहता है :

> **सदसद्वापि चैतन्यमेताभ्यामवगम्यते।**
> **चैतन्यभागे प्रथमः पुरुषो न तु वर्त्तते ॥ वा० ३.१०.२ ॥**

इसीलिए **प्रथम पुरुष** का प्रयोग चेतना के विभाजन पर आधारित नहीं होता।[4]

इस प्रसंग में दूसरा स्मर्त्तव्य सत्य भर्तृहरि यह घोषित करते हैं कि सम्बोधन के लिए 'युष्मद्' की प्रथमा विभक्ति का प्रयोग व्यावहारिक रूप में होता है।[5]

परन्तु यह सब कह कर भी वे गुण-प्रधानभाव को व्यवहारिकता की वस्तु

---

१. वा० ३. ९. ४६-४८।

२. 'पदभेद' और 'सम्बन्ध-तत्त्व' के विशेष विवरण के लिए 'भाषा० वाक्य०' अध्याय ९ और १२ देखें।

३. वा० ३. १०.१।

४. वा० ३. १०. ३।   ५. वा० ३. १०. ४।

बता देते हैं।[1]

३.४० संख्या

सत्तावान् सभी पदार्थ **संख्यावान्** हैं, इस सत्य की उद्घोषणा करने के बाद भर्तृहरि इस प्रसंग में कुछ अविस्मरणीय सत्य घोषित करते हैं। **संख्या** का हेतु बताते हुए वे कहते हैं : **भेदहेतुत्वमाश्रित्य संख्येति व्यपदिश्यते।**[2] द्वित्व आदि के परिगणन का रहस्य बताते हुए वे कहते हैं कि उन सबका मूल एकत्व या इकाई ही है। एकत्व के बिना बहुत्व की उपलब्धि सम्भव नहीं। एक और एक मिलकर ही दो होते हैं, दो की कोई अलग सत्ता नहीं :

> **द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः।**
> **विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति सम्भवः॥**[3]
> **एकत्वे बुद्धिसहिते निमित्तं द्वित्वजन्मनि।**
> **एकत्वाभ्यां समुत्पन्नमेवं वा तत्प्रतीयते॥**[4]

परन्तु यह सब कह कर भी भर्तृहरि एक बात स्पष्ट कह जाते हैं। वह यह कि **न तो शुद्ध** 'संख्या-शब्द' ही **अस्तित्व रखते हैं और न विशुद्धतः कोई शब्द 'संख्यावाचक'** होता है। कारण यह है कि संख्या का अस्तित्व ही द्रव्य पर आश्रित होता है। भर्तृहरि तो संख्या को भी 'संज्ञा' कह डालते हैं :

> **संख्या नाम न संख्यास्ति संज्ञैषेति यथोच्यते।**
> **रूपं न रूपमित्येवं संज्ञा सा हि सितादिषु॥**[5]

३.४१ उपग्रह

इस प्रकरण में भाषा का मूल उपग्रह भर्तृहरि **आत्मनेपद** को मानते हैं। दूसरे शब्दों में, भाषा की मूल प्रक्रिया क्योंकि **आत्मभिव्यक्ति** से आरम्भ होती है, अत: मनुष्य की वृत्ति स्वयं को अन्यापेक्षया प्रधानता देने की हो जाती है।

> **य आत्मनेपदाद् भेदः क्वचिदर्थस्य गम्यते।**
> **अन्यतश्चापि लादेशान्मन्यन्ते तमुपग्रहम्॥**[6]

यह उपग्रह कहीं **साधन** के रूप में, कहीं उसके **विशेषण** के रूप में, कहीं **क्रियाविशेषण** के रूप में, या कहीं **अन्य ही रूप में** प्रयुक्त होता देखा जाता है।[7]

---

१. वा० ३. १०. ७।
२. वा० ३. ११. २।
३. वा० ३. ११. १५।
४. वा० ३. ११. १६।
५. वा० ३. ११. २५।
६. वा० ३. १२. १।
७. वा० ३. १२. २।

इसका सीमाविभाग निश्चित नहीं किया जा सकता। कहीं इसके परिवर्त्तन का कारण णिच्-प्रयोग हो सकता है, तो कहीं बिना किसी कारण के भी परिवर्तन देखा जा सकता है। भर्तृहरि जब **उभयपदी क्रियाओं** को देखते हैं, तो उनका समाधान आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक ठहरता है। वे कहते हैं कि **फलविशेष के कारण क्रिया की भिन्नता सिद्ध हो जाती है**। अर्थात्, यदि कर्त्रभिप्राय क्रिया-फल है, तब क्रिया भिन्नरूपा होती है। और जब कर्त्रभिप्राय फल नहीं रहता, तब उसका रूप भिन्न हो जाता है : **वह क्रिया ही भिन्न हो जाती है।**

कर्त्रभिप्रायता सूत्रे क्रियाभेदोपलक्षणम् ।
तथाभूता क्रिया या हि तत्कर्त्ता फलभाग्यतः ।।[1]
यथोपलभ्यते कालस्तारकादर्शनादिभिः ।
तथा फलविशेषेण क्रियाभेदो निदिश्यते ।।[2]

एकार्थक होते हुए भी किसी धातु के **अनुबन्ध** और **उपग्रह** में क्यों अन्तर आ जाता है ? इसका उत्तर देते हुए भर्तृहरि उनमें **धर्म-भिन्नता** का होना स्वीकार करते हैं : **तुल्यार्थेष्वपि चावश्यं न सर्वेष्वेकधर्मता।**[3]

इस प्रकार आकार रूप में हम जहाँ भी 'आत्मनेपद' पाते हैं, वहां सभी जगह उसकी मूल भावना भी अवश्य गृहीत नहीं होती।

३.४२ लिंग

लिंग तीन ही होते हैं। हम प्रयोग में व्यवहार भले ही कितनों का करें ! भर्तृहरि यहाँ उनके स्वाभाविक विभाग की चर्चा करते हुए परम्परागत स्तन-केशादि को **स्त्रीलक्षण**, विशिष्ट स्तन एवं लोमादि को **पुरुषलक्षण**, एवं इन में से ऐकान्तिक लक्षणों के अभाव को **नपुंसकत्व-लक्षण** स्वीकार करते हैं। किन्तु, वे साथ ही इस बात पर भी बल देते हैं कि ये लक्षण ही अन्तिम निर्णायक नहीं है। वे यहां ऐसे सात आधार गिनवाते हैं, जिनके आधार पर लिंग का निर्णय होता है। 'एक ही शब्द विविध लिंगों में किस तरह रूपान्तरित होता है ?' इस बात को भी भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं। उनकी दृष्टि में वहां भी शब्द-भेद होता है :

यथा प्रसिद्धेऽप्येकत्वे नानात्वाभिनिवेशिनः ।
नानात्वं जनयन्तीव शब्दा लिङ्गेऽपि सः क्रमः ।[4]

---

१. वा० ३. १२. ९।
२. वा० ३. १२. १०।
३. वा० ३. १२. १२।
४. वा०, ३. १३. २६।

अन्त में वे लिंग की अपेक्षा **निमित्त** को प्रधानता देते हैं :

'निमित्त भावः साधुत्वे विवक्षा च व्यवस्थिता ।।

३.४३ वृत्ति

वृत्ति का सही अर्थ **इण्टेंशन** कहा जा सकता है। परन्तु व्याकरण की परिभाषा में 'वृत्ति' का अर्थ **व्याख्या** माना जाता है। सूत्र और वृत्ति शब्द **वक्तव्य के दो रूपों** को प्रगट करते हैं। **समास, व्यंग्य,** आदि की स्थिति इसी वृत्ति के द्वारा व्याख्यात हो सकती है। वह वृत्ति केवल **वक्ता** पर ही निर्भर नहीं करती। इसका सम्बन्ध **ग्रहीता** से भी होता है। **प्रत्यय-विधान, समसन,** या अन्य विधियों से वक्ता एवं श्रोता के बीच इस **वृत्ति का आदान-प्रदान** होता है।[1]

इस प्रसंग को भर्तृहरि ने इतने विस्तार से लिया है कि आकार में यह तृतीय काण्ड के शेष तेरह समुद्देशों से बढ़ गया है। इससे ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि वे व्याकरणात्मक प्रक्रिया का मूल कारण भी वक्ता की भावना और श्रोता द्वारा उनके ग्रहण को मानते हैं।

३.४४ निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चौदह तत्त्वों के रूप में हम व्याकरण का एक ऐसा आधार पा सकते हैं, जिस पर संसार की किसी भी भाषा का विवेचन किया जा सकता है। इन आधारों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसका सम्बन्ध केवल एक ही भाषावर्ग से हो। फिर बाह्य लक्षणों का होना या उनको ही आधार मानना जरूरी भी नहीं है। प्रयोजन तो उस अन्तर को पहचानने से है, जो किसी भी भाषा में प्रयोजन-भेद के कारण बाह्याकार-भेद या अन्य प्रयोग-भेद को जन्म देता है।

इस प्रबन्ध का विस्तार इन्हीं तत्त्वों पर विचार के रूप में होगा। यद्यपि, अध्यायों के नाम और क्रम में, तत्त्वों के तुलनात्मक संयोजन में, हेर-फेर अनिवार्य होगा ही। कुछ नए अध्याय भी, सुविधा की दृष्टि से जोड़े जाएंगे।

---

१. वा०, ३. १३. २४।

२. इसका कुछ विचार 'भाषा० और वाक्य०' में हुआ है।

पद, प्रत्यय और पदभेद

४.१ वक्तव्य की इकाई :

पिछले अध्याय में हमने यह उल्लेख किया है कि येस्पर्सन उक्ति की एक ही कोटि स्वीकार करते हैं : **वाक्य**।[1] भर्तृहरि ने भी यही बात स्पष्टता से कही है। उनकी दृष्टि में भी 'वाक्' की एक ओर अखण्डात्मक अभिव्यक्ति 'वाक्य' से ही सम्भव होती है। पर हम देखते हैं कि व्याकरण शास्त्र में विचार 'पद' या 'शब्द-रूपों' (वर्ड-फार्म्स) का ही अधिक होता है। अतः स्वभावतः शंका यह उठती है कि व्याकरण की दृष्टि से इकाई 'पद' है या 'वाक्य'? भाषातत्त्व की दृष्टि से यह इकाई 'वाक्य' ही ठहरती है।[2] व्याकरण के सम्बन्ध में दो विरोधी स्थितियां सामने आती हैं। एक ओर, **स्फोट-सिद्धान्त के समर्थक और विरोधी** इस बात पर बल देते हैं कि **व्याकरण वाक्य को अखण्ड इकाई मानता है।** उनकी दृष्टि में 'स्फोट' का आधार वाक्य की एकता पर ही निर्भर रहता है। दूसरी ओर, **पदवाद के समर्थकों** का कहना यह है कि व्याकरण की समग्र सत्ता 'पद-रचना' विषय को लेकर ही बढ़ी है। अतः **उनकी दृष्टि में व्याकरण का आधार पद है, वाक्य नहीं।**

४.२ पाणिनि का मत :

इन दोनों में से कौन सा मत उचित है, इसके निर्णय और विवेक के लिए हमारी दृष्टि सर्वप्रथम पाणिनि की ओर जाती है। पाणिनि के तीन सूत्र इस प्रकार हैं :

(क) समर्थः पदविधिः (पा० २.१.१)।

(ख) परः सन्निकर्षः संहिता (पा० १.४.१०९)।

(ग) वचोऽशब्दसंज्ञायाम् (पा० ७.३.६७)।

---

१. अध्याय ३, अनुच्छेद ३.२८.२. पृ० ८५।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखें, भाषा० और वाक्य० का चतुर्थ अध्याय, अनु० ८५-६, पृ० ८२-३.

४.२.१ समर्थः पदविधिः

इस सूत्र को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद चला है। खींचतान कर इसके दो अर्थ किए जाते हैं : (अ) पद की विधि एकार्थता पर निर्भर करती है, और (ब) पदसम्बन्धी विधि या पद-प्रयोग किसी ऐकार्थ्य या सामर्थ्य (संहतार्थ) की उपस्थिति में ही सम्भव हो पाती है। इनमें से **पहला अर्थ** 'पद' की एकार्थता की सूचना देता है, और उसका मुख्य लक्ष्य 'समास' को 'एकपद' सिद्ध करना है। **दूसरा अर्थ** 'वाक्य' की एकता को स्वीकार करके बढ़ता है। उस दृष्टि से **'पदविधि'** वाक्यार्थ की एकता को विभाजित करके **स्पष्टीकरण करने का प्रयास-मात्र ही** ठहरती है। **कात्यायन** और पतंजलि ने इन दोनों सम्भावनाओं पर अधिक विचार किया है।

४.२.२ परः संनिकर्षः संहिता

यह सूत्र भी पाणिनि की **भावना** को पूरी तरह स्पष्ट करता प्रतीत नहीं होता। वेदों में **संहिता** का अर्थ **एकवाक्यता** लिया जाता है। **वाक्य** की परिभाषा करने वाले उसमें **आसत्ति** का जो प्रतिबन्ध लगाते हैं, वह इसी सूत्र की प्रेरणा से। पर इस सूत्र के व्याख्याकार पाणिनि की भावना को यहां **पद-सम्बन्धी** कह देते हैं। **संहिता** का **परम संनिकर्ष** क्या है? इसे हम किसी पूर्वापर प्रकरण से भी नहीं समझ सकते। **विराम** की परिभाषा इसके बाद दी गई है[1] और वहीं अध्याय की समाप्ति हो जाती है। स्पष्ट है कि 'एकता' की परिभाषा अपूर्ण रहती, यदि पाणिनि उसकी एक सीमा न बांध देते। **संनिकर्ष** परम हो या क्षीण, उसकी एक सीमा होनी चाहिए। वक्तव्य में जहां भी **विराम** आ जाए, **वक्तव्य या पद की समाप्ति वहीं हो जाती है**। पर, **सुप्** और **तिङ्** के विभक्ति-प्रत्यय-विभाग के बाद आने वाले ये सूत्र, 'पद' की अपेक्षा, **वाक्य** के प्रसंग में ही अधिक ठीक बैठते हैं।

४.२.३ वचोऽशब्दसंज्ञायाम्

इस सूत्र में पाणिनि अधिक स्पष्ट हो पाए हैं। यदि 'शब्दसंज्ञा' या उच्चरित शब्दों की 'संज्ञा' का प्रश्न है, तब तो **वाक्य** शब्द प्रयुक्त होगा। अन्यथा, केवल 'परिभाषण का भाव' कहने के अर्थ में **वाच्य** शब्द ही प्रयुक्त होगा। 'वाक्य' और 'वाच्य' का मूल पाणिनि ने **वच्** को स्वीकार किया है, 'वाच्' या 'वाक्' को नहीं। 'वच्' का अर्थ है 'परिभाषण'[2]। 'परिभाषण के भाव' का नाम (संज्ञा)

---

१. विरामोऽवसानम्। पा० १. ४. ११०।

२. वच परिभाषणे।

ही है **वाक्य**। अतः 'शब्द-संज्ञा' का अर्थ किसी पद या शब्द की संज्ञा से न होकर, **कही गई शब्द-राशि की संज्ञा** से अथवा **वाच्य अर्थ की संज्ञा** से है।

४.२.४ पुनर्विचार

इस परिभाषा की दृष्टि से पुनर्विचार करने पर द्वितीय सूत्र का अर्थ भी अधिक स्पष्ट हो सकेगा। वहां प्रकृति और प्रत्यय के समवेत-संहत रूप को ही **संहिता** कहा गया है। **'संहिता वा पदाश्रया'**[1] का वहां एक ही अर्थ है : **पद संहिता में से ही रूप ग्रहण करते हैं, या पदों के रूप में ही संहिता स्वरूप को वहन और प्रकट करती है**। यहाँ मुख्य वस्तु संहिता है, पद नहीं।

और, अब फिर से उठती है **'समर्थः पदविधिः'** की बात। **पदविधि** का अर्थ पदों की रचना नहीं है। **उसका अर्थ है पद-विधान, पदों की योजना और उनका प्रयोग-प्रयोजन**। पदों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व देखने में भले ही सत्य प्रतीत हो, अर्थभावना की दृष्टि से वे समवेत होकर संहतार्थ या **सामर्थ्य** को ही प्रकट करते हैं। अर्थ की इस संहिता का निर्माण पद-रूपों से अवश्य होता है। **ऋक्प्रातिशाख्य और यास्क** द्वारा प्रयुक्त सूत्र **'पदप्रकृतिः संहिता'** इस अर्थ को और भी स्पष्ट करेगा। यहां 'प्रकृति' का अर्थ 'योनि' से अभिन्न है। पदों की सत्ता और जन्म 'संहिता' पर आधारित रहता है। यदि 'संहिता' न हो, तो पदों का अस्तित्व भी महत्त्वहीन हो जाता है।

४.३ कात्यायन और पतंजलि

'समर्थः पदविधिः'[2] का अर्थ सामान्यतः समास-प्रक्रिया से सम्बद्ध कर दिया जाता है। समास को **एकपद** मानते हुए, उसमें अर्थ की एकता को सिद्ध करने के लिए 'समर्थ' शब्द का प्रयोग उचित माना जा सकता है। किन्तु, पतंजलि **वाक्य और समास** का अन्तर स्पष्ट करते हैं। 'वाक्य' भी एकार्थक होता है और 'समास' भी। किन्तु, प्रत्येक वाक्य समास में नहीं पलटा जा सकता, और प्रत्येक समास वाक्य का समानार्थक नहीं होता। कारण है **अगमकत्व या दुर्बोधता**[3]। वाक्य-योजना का मुख्य लक्ष्य, संक्षेप न होकर, पूर्ण अर्थाभिव्यक्ति है। यदि अर्थ ही स्पष्ट न हुआ, तब उसे 'समर्थ' कैसे कहेंगे : **यत्र गमको हेतुर्भवति, भवति तत्र वृत्तिः। यद्यगमकत्वं हेतुर्नार्थः समर्थग्रहणेन**।[4]

---

१. वा० २. ५८।
२. पा० २. १. १।
३. म० २. १.१. पा० १,—'अगमकत्वात्' (वा०)।
४. वही।

कात्यायन 'समर्थ' की परिभाषा करते हुए कहते हैं, पृथक् प्रतीत होने वाले अर्थों का **एकार्थाभिधायी** या **एकार्थवाचक** बन जाना ही 'समर्थ' बनना कहलाता है : **पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्**[1] । इसकी व्याख्या में **पतंजलि** अधिक स्पष्टता से कहते हैं कि पृथक् अर्थ का अभिप्राय 'पद' से है। पद पृथक्-पृथक् अर्थ का वहन करते दीखते हैं। किन्तु, वाक्य में प्रयोग होने पर उनकी **पृथगर्थता** या **'पृथक्-सत्ता'** समाप्त हो जाती है। तब जगती है **समर्थभावना** या **एकार्थता : पृथगर्थानां पदानामेकार्थीभावः समर्थमित्युच्यते** । यहां पतंजलि **एकार्थीभाव** शब्द प्रयुक्त कर रहे हैं, **एकार्थ** नहीं। **समास** सारा एकार्थ ही होता है। अतः वहां एकार्थीभाव का प्रश्न नहीं। जहां पद अलग-अलग हों और उनका अर्थ अलग-अलग प्रतीत हो, वहीं उनसे किसी ऐसी स्थिति का सामने आना सम्भव है, जिसमें पदों का अपना अर्थ मिट जाए। अपनेपन का यह मिट जाना ही 'एकार्थीभाव' का मूल है। इसे ही **सामर्थ्य** या **समर्थता** (सम्+अर्थ+ता) कहा जाता है। अतः वाक्य उस स्थिति का नाम है, **जहां आकर पद अपनी पृथक् स्थिति खो देते हैं।**

वाक्य की स्पष्टार्थता पर विचार करते हुए **महाभाष्यकार** आगे स्पष्ट रूप में कहते हैं कि वाक्य में पृथक् पदों के प्रयोग का अभिप्राय कुछ विशेष बातों पर बल देने से होता है। ये विशेष बातें हैं : **विभक्ति प्रत्ययों की पृथक्ता, शब्दों का पृथक् महत्त्व, एक दूसरे से सम्बन्ध, उच्चारण-स्वर की रक्षा, वचनादि की स्पष्टता, पद-प्रयोग की असंदिग्धता, विशेषण का स्वतन्त्र प्रयोग और एकाधिक सम्बद्ध वस्तुओं का एक ही स्वामी से सम्बन्ध।**

कात्यायन ने इसकी परिभाषा दो वार्तिकों द्वारा की है : **'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणम्'** (म० २.१.१ पा० १, वा० ४) और, **'एकतिङ्'** (वही, वा० २०)। अर्थात्, 'अव्यय, कारक (विभक्ति) और विशेषण से युक्त आख्यात ही 'वाक्य' कहलाता है। या जिस शब्द समूह में एक आख्यात-रूप हो, उसे **वाक्य** कहते हैं।' किन्तु, ये दोनों परिभाषाएं पंगु ठहरती हैं। **पतंजलि** पहले तो **'सक्रियाविशेषणं च'** (अर्थात् क्रियाविशेषण-समेत) कहकर इसी दिशा का सुझाव देते हैं। पर, बाद में वे हँसी में कह जाते हैं, 'केवल क्रिया-विशेषण से युक्त 'आख्यात' को ही वाक्य क्यों न कहें ? क्योंकि अव्यय, विभक्ति, आदि सभी

---

१. म० १. १. १. पा० १ वा० १।

२. सुबलोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः।
संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनविशेषणं च योगः ॥ म० २. १. १. वा० १, भाष्य का०।

तो आख्यात के ही विशेषण हैं।'[1] वे स्वयं शब्दों की संख्या आदि पर बल देते प्रतीत नहीं होते। वे स्पष्ट कहते हैं, 'शब्दों' से अर्थोत्पत्ति' नहीं होती, बल्कि शब्दों का जन्म अर्थ से होता है : **'न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्। अर्थ-कृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्'** (म० २.१.१ पा० १, वा० १, कारिका (२) के भाष्य में)।

इससे आगे चलकर वे इस मत का भी खण्डन करते हैं कि वाक्य का एकार्थीभाव होने पर भी शब्द अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया से ही अर्थाभिव्यक्ति करते हैं, केवल वचन या वक्तव्य विशेष में ही उनका अर्थविशेष निश्चित नहीं होता : **'अथैतस्मिन्नेकार्थीभावकृते विशेषे किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानमाहो-स्विद्वाचनिकम्? स्वाभाविकमित्याह'** (वही प्रसंग) । प्रत्यय आदि से कोई विशिष्ट अर्थ शब्दों में प्रविष्ट नहीं होता। प्रकृति का अर्थ पूर्ववत् ही रहता है। धातु, प्रातिपदिक, आदि का अर्थ किसी विशेष मनुष्य द्वारा निश्चित नहीं किया जाता : **'को हि नाम समर्थो धातुप्रतिपादिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम् । न चैतन्मन्तव्यं प्रत्ययार्थे निर्दिष्टे, प्रकृत्यर्थो निर्दिष्ट इति'** (वही) । फिर, यदि निश्चित शब्दों के प्रयोग से ही निश्चित अर्थ की उपलब्धि होती हो, तब एक नई समस्या खड़ी हो जाएगी। भाषा में अनेक शब्द निरर्थक होते हैं, और अनेक अर्थ बिना शब्दों का माध्यम अपनाए, इंगितादि से ही, कह दिए जाते हैं : **'बहवो हि शब्दाः येषामर्था न विज्ञायन्ते। अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्थाः गम्यन्तेऽक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च'** (वही प्रसंग)। अर्थात्, मुख्य बात अपने अभिधेय या वाच्य अर्थ को श्रोता तक पहुंचाना है, उसके लिए निश्चित शब्द-राशि का प्रयोग करना नहीं। अतः 'वाक्य' की परिभाषा 'समर्थ' और 'एकार्थीभूत' के रूप में करके भी उनका बल शब्द-समूह पर नहीं है।

पतंजलि की विशिष्ट भावना और उनका बल 'अर्थ की समग्रता और एकता' पर है। उसे ही वे 'वाक्य' कहते हैं। **समर्थ** का अर्थ वे **संगतार्थ**, **संसृष्टार्थ**, **संप्रेक्षितार्थ** और **संबद्धार्थ** के रूप में करते हैं।[2] 'वाक्य' में वे पहले दो अर्थों को अनिवार्य मानते हैं, जबकि शेष दो को वे 'समास' की विशेषता

---

१. 'आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि क्रियाविशेषणानि'। वही. वा० १।

२. संगतार्थं समर्थं, संसृष्टार्थं समर्थं, संप्रेक्षितार्थं समर्थं, सम्बद्धार्थं समर्थमिति। (म० २. १. १. पा० १, वा० ४).।

मानते हैं। **संगत और संसृष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द या शब्द-समूह का नाम वाक्य** है। इससे स्पष्ट है कि कात्यायन की **एकार्थीभाव**[1] और **परस्परव्यपेक्षा**[2] की दोनों परिभाषाएं पतंजलि को पूर्ण ग्राह्य न होकर पाणिनि की मूल 'समर्थता' की भावना ही उन्हें अधिक ग्राह्य एवं उचित प्रतीत होती है।

४.४ 'पद' इकाई नहीं है

अतः समास हो या वाक्य, यह तो निश्चित है कि पाणिनि और पतंजलि इन दोनों में से किसी एक में भी शब्दों की पृथक् अर्थवाहकता को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में यह समर्थ या एकार्थ होकर ही रह सकते हैं। **'संहितैकपदे नित्या'**[3] आदि वचनों में **एकपद** का प्रयोग दो या अधिक पदों से 'एकपद' या 'समस्त पद' के निर्माण की सूचना के लिए नहीं है, बल्कि इसका अभिप्राय **एकार्थीभाव** या **संहतार्थ** की नई स्थिति की सूचना देने से ही है। जिस वक्तव्य का **आशय** 'एक' है, वह **वक्तव्य** भी 'एक' ही है। **समास और वाक्य** का यह सम्पूर्ण विवाद तब तक ही विद्यमान है, जब तक हम 'समास' की व्याकरणात्मक रचना पर विचार कर रहे हैं। सत्य यह है कि वाक्-प्रयोग में आने पर वह स्वतन्त्र रह ही नहीं जाता। तब पूरे वाक्य का एकार्थीभाव या उसकी समर्थता आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाते हैं। **अतः समास और वाक्य केवल रचनात्मक दृष्टि से या वाचनिक दृष्टि से ही दो पृथक् कोटियां हैं।** वास्तविक प्रयोग में 'वाक्य' ही वक्तव्य का वाहक ठहरता है। और, क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त पद-विधि भी 'समर्थ' है,[4] अतः उसमें आए समासों की सत्ता, शेष पदों की सत्ता से, स्वतन्त्र नहीं है। यदि उनमें प्रयुक्त पदों की 'पृथगर्थता' समाप्त होकर 'एकार्थीभाव' प्रबल हो जाता है, तब 'समास' की 'पृथगर्थता' ही वाक्य में कैसे टिकी रह सकती है?

४.५ भर्तृहरि की दृढ़ धारणा

इस युक्तिजाल को **भर्तृहरि** भली प्रकार समझ चुके थे। उनसे पूर्व 'स्फोट' का सिद्धान्त पर्याप्त व्यापक हो चुका था। पर, उन्होंने जो वैज्ञानिक और स्थायी रूप उसे दिया, वह उनकी मान्यता की दृढ़ता को सूचित करता है। **नाद**

---

१. वही, वा० १।
२. वही, वा० ४।
३. कारिका।
४. पा० २. १. १।

स्फोट और **ध्वनि** को वे समानान्तर शब्द मानकर चले थे। उच्चरित शब्द या उसका नाद छोटा हो या बड़ा, एक हो या अनेक, उसका ग्रहण प्रतीति के क्षण में ही हो पाता है। और यह प्रतीति होती है, **युगपत्** या एक ही क्षण में : **स्फोट के रूप में।**

४.५.१ नाद और स्फोट

नाद और **स्फोट** का सम्बन्ध **ग्राह्य** और **ग्रहण** का है। और, वह स्वाभाविक है। किन्तु इस पर भी, यह सम्बन्ध **व्यंजक** और **व्यंग्य** के सम्बन्ध की भाँति अधिक व्यापक है।[1] 'नाद' में काल-मात्रा और ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि का प्रश्न उठता है।[2] 'स्फोट' तो क्षण मात्र में होने वाली वह प्रतीति है, जो नादकाल समाप्त होते ही ग्रहीता की बुद्धि में उत्पन्न होती है : एक 'विस्फोट' की भाँति।[3] हाँ, इन दोनों (नाद और स्फोट) में सीधा सम्बन्ध होना भी आवश्यक है : 'श्रोता' और 'वक्ता' का सम्बन्ध।[4] श्रोता और वक्ता का सम्बन्ध यदि नहीं होगा, तब किसी एक स्थल पर होने वाले 'नाद' का किसी दूसरे स्थल पर होने वाले 'स्फोट' द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं होगा। **प्रत्यक्ष** सम्बन्ध होने पर भी सम्भव है **ग्रहण** न हो।[5] इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि वक्ता और श्रोता की बुद्धियों में **व्यवसाय** (येस्पर्सन की भाषा में 'फंक्शन') **की एकता** होना ज़रूरी है।[6] यदि दोनों का **व्यवसाय** अथवा **निश्चय** एक माध्यम पर—**शब्दों के चुनाव और उन्हें समझने पर**—नहीं है, तब उन शब्दों का 'नाद' और 'स्फोट' व्यर्थ और उद्देश्यहीन होगा। स्पष्ट है कि 'स्फोट' किसी प्रयुक्त ध्वनि या ध्वनि-समूह का ही होता है।

४.५.२ पद की स्वतन्त्रता

वक्ता और श्रोता के बीच 'नाद' और 'स्फोट' का सम्बन्ध तय हो जाने के बाद यह प्रश्न उठता है कि वक्ता पदों का स्वतन्त्र प्रयोग करता है, या उनका प्रयोग वह किसी एक विशिष्ट अर्थ-भावना को व्यक्त करने के लिए करता है। यदि उद्देश्य अर्थाभिव्यक्ति और अर्थभावना है, तब निश्चय ही 'पद' या 'पद-समूह' अथवा एक ध्वनिमात्रा के प्रयोग से अन्तर नहीं पड़ता। उद्देश्य तो है **वक्ता के बुद्ध्यर्थ की श्रोता के बुद्ध्यर्थ में परिणति**।[7] यदि यह उद्देश्य पूरा हो

---

१. वा० १.९७।
२. वा० १.७६, १०१, १०३।
३. वा० १.७५।
४. वा० १.५३।
५. वा० २.५६।
६. वा० १.५३।
७. वा० ३.३.३३।

गया, तब एक ध्वनि या एक वर्ण भी 'वाक्य' बन जाता है।[1] और, यदि यह उद्देश्य पूरा नहीं हो पाया, तब अनेक पदों, अथवा तथाकथित वाक्यों, का प्रयोग भी वाक्य संज्ञा के अन्तर्गत नहीं आ सकता।[2] **वाच्य अर्थ को वहन करने वाला शब्द-शरीर ही वाक्य है : वाक्य संज्ञा है और वाच्य संज्ञी।**

४.५.३ वाक्य : अविभाज्य

भर्तृहरि जब कहते हैं कि शब्द का विभाग संभव नहीं[3], तब वे 'वाक्य' की अविभाज्यता की अपनी पुनः-पुनः पुष्ट धारणा को ही दोहरा रहे होते हैं। प्रयुक्त शब्दों का हम बहुधा अर्थ-कथन नहीं चाहते हैं,[4] और अप्रयुक्त शब्दों का अर्थ बहुधा स्वतःसिद्ध स्वीकार कर लेते हैं।[5] इस सत्य के रहने पर भी यदि हम शब्द-प्रयोग की सीमासम्बन्धी किसी भी परिभाषा में वाक्य को बाँधना चाहें, तब वह सब प्रयास व्यर्थ और सत्य के विपरीत ही होगा। तब न तो 'आसत्ति' की शर्त रहती है, न 'आकांक्षा' की। तब अव्यय, विशेषण, कारक, अथवा क्रिया की भी शर्त आवश्यक नहीं रह जाती। **चरितक्रिय** कहते हुए भर्तृहरि 'एकतिङ्' की मान्यता का उपहास करते हैं।[6] **येस्पर्सन** ने भी 'विस्मयबोधक' आदि ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं, जिनमें 'क्रिया' के प्रयोग के बिना अर्थ-प्रतीति पूरी हो जाती है।[7] इसीलिए भर्तृहरि का कहना है कि 'वाक्यार्थ' या वक्तव्य का अर्थ पूर्णतः 'अभाग' और 'अक्रम' होता है।[8] उसे पदों में बांटकर देखना उसके 'अपोद्धार' (अप+उद्धार या अप+कर्षण) द्वारा ही सम्भव है।[9] एक और अखण्ड 'वाक्यार्थ' को पदार्थों में खण्डित करके देखने का प्रयास 'परिकल्पना' नहीं तो क्या है?[10] समझने-समझाने की व्यावहारिक सुविधा के लिए उसे भले ही सत्य मान लिया जाए, पर ऐसी स्वीकृति यथार्थ के विपरीत ही होगी।[11]

'वाक्य' का पदों में विभाग वैसा ही है, जैसा पदों का वर्णों में, और वर्णों का वर्णभागों में।[12] यदि हम विभाग की इसी प्रक्रिया पर बढ़ते चलें, तो वर्णभागों की संख्या, एक ही वर्ण में, परमाणुओं के समान अनन्त हो जाएगी।[13]

---

१. वा० २. ४०।
२. वा० २.६, ४५७।
३. 'शब्दस्य न विभागोऽस्ति', वा २. १३।
४. वा० १. ६१; २. १४।
५. वा० २.३२८।
६. वा० २. २७०, ३२६।
७. दि फिला० ग्रा० पृ० ३०७।
८. वा० ३. ३. ८१।
९. वा० २. १०; ३. १. १
१०. वा० ३. ३. ८८।
११. वा० ३. ३. ८०।
१२. वा० १. ७३।
१३. वा० २. २८।

फिर जब भागों की सत्ता स्वीकार कर ली, तब उनके मिलन की सम्भावना कैसे हो सकती है ? उनके न मिलने से न 'वर्ण' की सत्ता सिद्ध होगी, न पद की और न वाक्य की।[1] सत्य तो यह है कि 'वाक्य' से पदों को अलग करके देखना वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे पदों से वर्णों या वर्णों से वर्णभागों को।[2] 'वाक्य' से पृथक् होकर 'पद' का प्रयोग ही नहीं होता।[3] केवल उच्चारण करने मात्र से ही किसी शब्द या 'पद' का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। उसका किसी न किसी अर्थ में विशिष्ट प्रयोग होना आवश्यक है।[4] 'अर्थ' की यह सत्ता किसी 'समग्र' या 'अविभाज्य' अर्थ का अंग बनकर ही सामने आती है। इसका विभाग सम्भव नहीं। जिन शब्द रूपों में हम विभाग सम्भव समझते हैं, बहुरूपिए अर्थ के लिए वे एक विशेष प्रक्रिया में ही अपना भाग भर अदा करते हैं। उनका स्थान कोई अन्य शब्द भी ले सकता है : 'एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते।' इस प्रकार मुख्य बात है **वाक्य की अविभाज्यता**।

४.५.४ वाक्य का अर्थ

यहां वाक्य का अर्थ 'प्रयुक्त शब्द-समूह' नहीं है, बल्कि वक्ता की वक्तव्य-भावना है। जिस प्रकार **प्रकृति** और **प्रत्यय** का विभाग मानकर भी हम उन्हें पद का प्रयोगार्ह या वास्तविक रूप नहीं समझते, उसी प्रकार पदों में विभक्त करने पर भी वाक्य का वास्तविक रूप उन पर आधारित नहीं होता। 'पद' वाक्य के तथाकथित अंश होकर भी, जिस **अखण्ड भावना** के प्रवाह में आए होते हैं, उस भावना के **घटक** भी उन्हें नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः पद वाक्य का **शरीर** तो बनाते हैं, पर शरीर के अंगों की भांति उनका कोई स्थान, संख्या, या क्रम निश्चित नहीं है। शरीर की तुलना **वाक्य** से इसी रूप में की जा सकती है, कि वहां **अंग-विचार** या **अंग-भाव** समाप्त होकर समग्रता की एक भावना जगती है।

४.५.५ 'समर्थ' का अर्थ

इस प्रकार **समर्थ** का अभिप्राय भर्तृहरि **'एकोऽर्थः'** से समझाते हैं। पद-प्रयोग, उनकी दृष्टि में, होता ही इसलिए है कि वह किसी एक समग्र भावना को

---

१. वा० २९।
२. वा० १. ७३।
३. वा० १. ७३; २. ३४५।
४. वा० १. ५६, ६२।
५. वा० ३. ३. ८७।

वहन कर सके। इसके अतिरिक्त पदों का प्रयोग, उनके अस्तित्व का प्रयोजन, अथवा उनका अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। 'व्याकरण' भी इस धारणा के विरुद्ध नहीं जा सकता, नहीं जा पाता !

४.६ फिर पद-कल्पना क्यों ?

पर दूसरी ओर, **पाणिनि**, **कात्यायन** और **पतंजलि** की पद्धति पर, **भर्तृहरि** 'पद-भेद' भी गिनवाते हैं। प्रश्न उठता है, ऐसा क्यों? भर्तृहरि का उत्तर, पतंजलि के समान, पदों की **आकृतिमूलकता** की स्वीकृति पर आधारित है।[1] वाक्य का तथाकथित शब्दरूप आकार कुछ ऐसे स्पष्ट विभागों में बँटा दीखता है, जिन्हें सुविधा के लिए अलग-अलग वर्गों में रखा जा सकता है। भर्तृहरि कहते हैं कि इन आकृतियों को पृथक्-पृथक् और समवेत रूप में तब तक 'वाक्य' नहीं कहा जा सकता, जब तक उनका प्रयोग किसी एक सर्वत: निराकांक्ष और समग्र भावना के लिए नहीं किया जाता।[2] और, जब **अर्थ की समग्रता** उपस्थित होती है, तब **पद-समूह** को वाक्य कहें, या मीमांसा की भांति **अर्थैकत्व** को, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। **अर्थैकत्व** अथवा **अर्थ-समग्रता** होने पर **शरीर** (पद-समूह), **आत्मा** (अर्थ), **तत्त्व** (वाक्य), आदि सब एक हो जाते हैं, अथवा एक दूसरे के पर्याय समझे जा सकते हैं।[3] यदि अर्थैकत्व वर्तमान नहीं है, तब 'वाक्य' की ही सत्ता सम्भव नहीं है। पदों की सत्ता को मानना या न मानना तो वहां व्यर्थ हो ही जाता है। शरीर या आकृति का महत्त्व भी तब तक ही है, जब तक आत्मा के रूप में जीव की एकता और सजीवता वर्तमान है।[4] जीव की एकता और सजीवता के मिटते ही 'शरीर' का महत्त्व अथवा शरीरत्व जाता रहता है।[5] इस प्रकार **वाक्यत्व** और **पदत्व** की सहस्थिति को सम्भव है। किन्तु 'वाक्यत्व' के मिटते ही 'पदत्व' के शरीर या आकृति का महत्त्व व्याकरण की खोजबीन के लिए भले ही बच जाए, वास्तविक दृष्टि से वह महत्त्वहीन और निरर्थक हो जाता है। अत: 'व्याकरण' या 'पद-विचार' में **पदों की रचना** अथवा **प्रकृति-प्रत्यय-विभाग** पर जो विचार करना पड़ता है, वह प्रयोगावस्था से वियुक्त करके 'पदों' की चीरफाड़मात्र होता है; प्रयोग की विभिन्न दशाएं पहचानने मात्र के लिए।[6] वाक्यप्रयोग में इस प्रकार के प्रत्येक 'पद' की आकृति का व्यक्तिगत महत्त्व नहीं

---

१. वा० ३. २. २, ६।
२. वा० २.६, ३५१।
३. वा० ३. २. १।
४. वा० ३. २. ६।
५. वा० ३. २.२।
६. 'अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते'। वा० २.१०।

रह जाता। यही भावना पतंजलि ने भी प्रकट की है : "**ननु च भो, आकृतौ शास्त्राणि प्रवर्तन्ते। तद्यथा। प्रातिपदिकादिति वर्त्तमानेऽन्यस्माच्चान्यस्माच्च प्रातिपदिकादुत्पत्तिर्भवति। सत्यमेवमेतत्। आकृतिस्तु प्रत्येकं परिसमाप्यते। यावत्येतत्परिसमाप्यते, प्रातिपदिकादिति तावत उत्पत्त्या भवितव्यम्। प्रत्येकं चैतत्परिसमाप्यते, न समुदाये**" (म० २.१.१ पा० १)। अर्थात्, आकृति का आधार ही शास्त्रों में लिया जाता है। इसलिए, 'प्रातिपदिक' से होने वाला कार्य किसी भी प्रातिपदिक में हो सकता है। सच भी है, आकृति की सीमा होती है व्यक्ति। जितने अंश से आकृति की पूर्णता हो जाती है, उतने को ही प्रातिपदिक मानकर कार्य करने चाहिएं। पर, 'आकृति' का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् व्यक्ति से है, 'समुदाय' से नहीं। यहां 'आकृति' का अर्थ 'जाति' से नहीं है। भर्तृहरि ने भी इन्हीं अर्थों में आकृति की सीमा और अनित्यता की बात अनेकत्र कही है।

पर, इतने पर भी, उन्होंने आकृति के रूप में शब्दरूपों की सत्ता को शरीरधारक रूप में माना ही है। शरीर चाहे नित्य हो या अनित्य, उसका सम्बन्ध स्मृति से तो है ही; भले ही वह स्मृति व्यक्तिमात्र की हो : **आकारवन्तः संवेद्याः व्यक्तिस्मृतिनिबन्धनाः।**[1] इसी आधार पर पदों का अस्तित्व भी व्यावहारिक स्मृति के लिए स्वीकार कर लिया जाता है। इससे व्यवहार की सुविधा होती है : **व्यवहारश्च लोकस्य पदार्थैः परिकल्पितैः।**[2]

अन्यथा पतंजलि और भर्तृहरि तो वाक्य में न शब्दों के पौर्वापर्य (क्रम) को, और न पृथक् अर्थों की सत्ता (भाग) को, स्वीकार करते हैं। पतंजलि कहते हैं :

> **बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्त्ता धीरस्तत्वन्नीति।**
> **शब्देनार्थान्वाच्यान्दृष्ट्वा, बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥**
>
> (पा० १.४.४ वा० १०, कारिका)

और भर्तृहरि कहते हैं :

> **अत्यद्भुता त्वियं वृत्तिर्यदभागं यदक्रमम्।**
> **भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते॥** वा० ३.३.८१॥
> **नित्येषु तु कुतः पूर्वं परं वा परमार्थतः।**
> **एकस्यैव तु सा शक्तिर्यदेवमवभासते॥** वा० २.२२॥

दोनों का साम्य देखने योग्य है।

---

१. वा० २.१३३।

२. वा० ३.३.८८।

४.६.१ 'पद' क्या है

पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त को **पद** कहा है।[१] गार्डिनर के शब्दों में शब्द की 'बाह्य-आकृति' (आउटर वर्डफार्म) को 'पद' कह सकते हैं।[२] येस्पर्सन की दृष्टि में पद किसी भी प्रयोगार्ह शब्द को कह सकते हैं, चाहे उसमें विभक्ति हो या न हो। अंग्रेजी शब्द 'पार्ट्स आफ़् स्पीच' 'पद' के भाव का वाहक है। भर्तृहरि की दृष्टि में, पद वह अंश है, जो किसी पूर्ण वक्तव्य में से पृथक् करके, प्रयोगार्ह शब्द के रूप में, विचारार्थ लिया जाता है और जिसमें प्रकृति-प्रत्ययादि का विचार सम्भव होता है।[३] पतंजलि, पाणिनि के चिन्तन पर बढ़ते हुए, 'पद' को केवल विशिष्ट रूप का शब्द ही नहीं मानते, बल्कि विशिष्ट स्थिति में 'पद' के किसी अंश को भी 'पद' कहना ही उपयुक्त मानते हैं।[४]

'पद' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी मिलता है, परन्तु कदाचित् भिन्न अर्थ में। 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'[५] एवं 'चत्वारि शृंगा'[६] में दो सत्यों को कहा गया है। पहले मन्त्र में 'चारपद' का स्पष्ट अर्थ **परा, पश्यन्ती मध्यमा,** और **वैखरी** के रूप में वाणी के चार चरणों से ही है। क्योंकि, उन्हीं में से तीन **गुहा में स्थित** और एक **श्रव्य रूप में व्यक्त** होते हैं। परन्तु, दूसरे मन्त्र में सात हाथ, तीन पैर, आदि की कल्पना के साथ 'चार शृंग' वे चार पद ही हैं, जिनकी व्याख्या यास्क, पतंजलि और नागेश ने **'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'** के रूप में की है। इसे ही दुहराते हुए भर्तृहरि इतना और जोड़ देते हैं: **'कर्मप्रवचनीयास्तु निपातेष्वन्तर्भूता इति चत्वार्युच्यन्ते'**[७]।

४.७.१ एक अन्तर्विरोध

इस प्रकार का एक अन्तर्विरोध यह उठ खड़ा होता है कि हम पाणिनि के अनुसार **सुबन्त-तिङन्त** को, एवं कुछ अवस्थाओं में प्रातिपदिक मात्र को पद मानें, या यास्कादि के अनुसार **नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात** को पद मानें? **कर्मप्रवचनीय** समेत इसकी संख्या **पांच** तक पहुंचती है। वास्तव में पाणिनि ने ही **प्रातिपदिक, धातु, अव्यय, निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचीय,** आदि विविध पदभेद गिनाए हैं। किन्तु, पद की परिभाषा में वे सीधे से इन सब का अन्तर्भाव स्वीकार नहीं करते।

---

१. पा० १. ४. १४।
२. गार्डिनर, स्पीच एण्ड लैंग्वेज, पृ० १३१, अनु० ४१।
३. वा० २.१३; ३. १. १।
४. पा० १. ४. १४-१७, का भाष्य।
५. ऋ० १. १६४. ४५।
६. ऋ० ४. ५८. ३।
७. म० त्रि० १. १. १।

उनके मत की छानबीन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे **प्रातिपदिक धातु और अव्यय (निपात)** के रूप में पद की तीन ही भिन्न कोटियां स्वीकार करते हैं। **प्रातिपदिक** किसी दशा में 'नाम' या 'संज्ञा' का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। 'प्रातिपदिक' की परिभाषा करते हुए पाणिनि स्पष्ट करते हैं : **धातु और प्रत्यय को छोड़कर शेष अर्थवत्** शब्दराशि प्रातिपदिक **कहलाती है।**[1]

इस दृष्टि से **नाम** (संज्ञा), **निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय और अव्यय,** आदि का समावेश **प्रातिपदिक** में होना चाहिए। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'[2] अधिकार सूत्र है। इसके द्वारा पाणिनि यह स्वीकार करते हैं कि सुबादि विधि प्रातिपदिकों से ही सम्भव है। इसलिए **'कृत्तद्धितसमासाश्च'**[3] के द्वारा वे उन सम्भावनाओं को भी प्रातिपदिक में अन्तर्गृहीत करते हैं, जो उक्त परिभाषा में नहीं आतीं। इनमें धातु से बने शब्द-रूप (**कृदन्त**), प्रातिपदिकों से बने विकारी रूप (**तद्धित**), और दो या अधिक प्रातिपदिकों के योग से बने योग (**समास**) का वे अन्तर्ग्रहण करते हैं।

४.७.२ एक सत्य

जब हम **निपातकर्मप्रवचनीयादि** को भी पाणिनीय दृष्टि से **प्रातिपदिक** कहते हैं, तब स्वभावतः बहुत से वैयाकरणों का शंकित हो उठना सम्भव है। सत्य यह है कि **'स्वरादि निपातमव्ययम्'**[4] के द्वारा पाणिनि अनेकों निपातों को भी 'अव्यय' नाम के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इसमें 'निपात' नाम उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय आदि सभी के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऊँचे-नीचे अर्थों में 'निपतित' होते रहने से ही इनका नाम निपात है—यह कह कर यास्क ने किसी न किसी रूप में निपातों को अर्थवत्ता को स्वीकार किया ही है[5]। ये अर्थ स्थिर हैं या नहीं, यह पृथक् बात है। पर, इतना निश्चित है कि चाहे ये निपात संकेत द्वारा अर्थ का वहन करें या वर्ण के रूप में किसी स्थिर अर्थ का, इनकी सत्ता निरर्थक नहीं है। चीनी, बर्मी, आदि अयोगात्मक या प्रत्ययविहीन भाषाओं के विषय में भी यह ज्ञातव्य है कि वहां भी निपातों को स्थिर अर्थ से हीन माना गया है।[6] उनमें संकेतन की सामर्थ्य वहां भी मानी गई है।

---

१. पा० १. २. ४५।
२. पा० ४. १. १।
३. अयोगात्मक भाषाएं।
४. पा० १. २. ३७।
५. नि० १. १. १. ४।
६. भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, अयोगात्मक भाषाएं।

४.७.३ निपात : पाणिनि द्वारा अर्थ-स्वीकृति

इस प्रकार निपातों में अर्थन या संकेतन की सामर्थ्य स्वीकार करने के बाद उनका समावेश पाणिनीय परिभाषा के अनुसार **प्रातिपदिक** में ही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक अन्य संकेत भी हसे पाणिनीय अष्टाध्यायी से इस सम्बन्ध में मिलता है। 'अव्ययादाप्सुप:'[1] के द्वारा पाणिनि अव्ययों में लिंग और विभक्ति का विधान मिटता हुआ पाते हैं। स्पष्ट है कि सुपों का लोप या अदर्शन भी तभी स्वीकार किया जा सकता है, जबकि अन्यथा उनकी उपलब्धि की संभावना रही हो। आरम्भिक प्रयोगों से यह बात सत्य भी थी। आधुनिक जर्मन भाषा में दो या अधिक प्रेपोज़िशन मिलकर एक संयुक्त रूप बना लेते हैं।[2] अधिकांश निपात और आदिनिपात वहां सविभक्ति पाए जाते हैं।[3] इस सविभक्तिकता के **दो ही कारण** हो सकते हैं। **या** तो ये निपात पहले **सर्वनाम** अथवा **नाम** के रूप में प्रचलित थे, **या** फिर निपात रहते हुए भी इनके रूप **नामों** की ही भांति चलते थे।[4] संस्कृत के अधिकांश अव्यय तो सविभक्तिक शब्दों के स्थिर रूप ही है।[5]

कुछ भी हो, इस सबसे इतना तो सिद्ध होती ही है कि जिन्हें हम अव्यय—अपरिवर्तनीय या स्थिर रूप वाला—समझ बैठे हैं, वे निपात भी कभी प्रातिपदिकों की भांति सक्रिय और परिवर्त्ती रूप की सम्भावना को लेकर चले थे।[6] वे स्थिर अर्थ वाले भले ही न रहे हों, पर उनके परिवर्तमान अर्थ की भी एक परिवर्तन-सीमा है। हर अर्थ में हर निपात प्रयुक्त नहीं होता। 'द्योतक' निपात भी स्थिति-भेद की सूचना देता ही हैं। वे भी प्रयोजन (अर्थ) से युक्त हैं, इसीलिए अर्थवान् हैं।

अतः निपात, उपसर्ग, अव्यय आदि जब तक सार्थक रूप में प्रयोगार्ह समझे जाते रहे, उन्हें भी 'प्रातिपदिकों' में ही गृहीत किया गया। जब उन्हें

---

१. पा० २. ४. ८२।

२. 'बाइ' और 'इम्' से मिलकर 'बिम्' आदि।

३. डेर्, डेम्, डेन्, आदि रूप। ग्रीक में भी यही बात मिलती है।

४. येस्पर्सन ने आदि निपातों को सर्वनाम का रूप माना है।

५. कृन्मेजन्तः (पा० १.१.३९) के द्वारा 'कर्तुम्', और 'कर्तवे' को अव्यय माना गया है। पर वेद-प्रयोग में उसके अन्य सविभक्तिक प्रयोग भी मिलते हैं। पाणिनि उन्हें अलग-अलग अव्यय ही मानते हैं।

६. यह मानकर ही हम पाणिनि के 'अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) का सही अर्थ पहचान सकेंगे।

७. वा० २.१९३-६।

अनर्थक या निरर्थक माना जाने लगा, तब उनकी सत्ता प्रातिपदिकों से पृथक् गिनी जाने लगी। यह भी सत्य है कि तब भी 'सुबन्त' की सी उनकी स्थिति से निषेध नहीं किया गया। यही कारण है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में 'चार'— अथवा कर्मप्रवचनीय को पृथक् मानकर 'पाँच'— पदों की सत्ता स्वीकार की गई।[1]

४.७.४ एक अन्य सम्भावना

एक सम्भावना यह भी कही जा सकती है कि वैदिक 'पद' की कल्पना, सुबन्त-तिङन्त से भिन्न, वाणी के अवयव या चरण के रूप में ही की गई थी। पर जब पाणिनि के 'सुप्तिङन्तं पदम्'[2] के सदियों बाद के व्याख्याकार पतंजलि, यास्क, भर्तृहरि और नागेश, आदि भी 'चार' या 'पांच' पदों की गणना के प्रसंग में वेदोक्त 'पदों' की ही चर्चा करते हैं, तब 'पद' की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करना उचित नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि पाणिनि जब 'अधातु और अप्रत्यय अर्थवान् इकाई' को 'प्रातिपदिक' कहते हैं, तब उससे उनका संकेत 'नाम' और 'अव्यय' के उभयात्मक ग्रहण से होता है।[3] और, अव्यय में अनेक निपातादि का समावेश होता ही है। **अन्यथा, अनेक निपातों को पहले अव्यय नाम देने और बाद में उनसे विभक्ति-लोप कहने का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता।**

४.८ प्रत्यय का स्थान

यहाँ प्रत्यय की स्थिति-सम्भावना पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। **प्रत्यय** को, धातु और प्रातिपदिक के अतिरिक्त, एक अर्थवान् इकाई के रूप में पाणिनि ने स्वीकार किया है। पर, हम उसे प्रयोगार्ह पद के रूप में कहीं भी स्वतन्त्र प्रयुक्त नहीं पाते। पाणिनि ने तो प्रत्यय के स्थान और स्थिति का भी निर्णय कर दिया है।[4] इसका प्रयोग मूल अर्थवान् इकाई के बाद ही हुआ करता है। जिसका स्थान ही **पर** है, उसे स्वतन्त्र कहा भी नहीं जा सकता। स्वतन्त्रता के अभाव में उसे 'इकाई' कहना तो नितान्त अनुचित होगा। **प्रेपोज़िशनों** की स्थिति की उनसे तुलना करना भी उचित नहीं। **प्रत्यय** और **अव्यय** में अन्तर है। **प्रेपोज़िशन** वस्तुतः **अव्यय** या **निपात** की कोटि में आते हैं। उनके साथ भी प्रत्ययों के स्पष्ट या अस्पष्ट चिन्ह अवश्य जुड़े हो सकते हैं।

---

१. बा० ३. १. १।
२. पा० १. ४. १४।
३. पा० १. २. ४५।
४. पा० १. २. ४५ में निहित संकेत।
५. पा० ३.१.१, २।

४.९. पद-संख्या

अतः पाणिनि की दृष्टि से हम पद-संख्या **तीन** भी कह सकते हैं : **सुबन्त**, तिङन्त, **अव्यय** (निपात सहित)। 'तिङन्त' को **धातु रूप** (वर्ब-फार्म) या **क्रिया** (एक्शन) भी कहा जाता है। **अव्यय** को हम, 'पार्टिकल' के रूप में, **रूप-परिवर्तन-हीन** (इण्डेक्लिनेबल) कह सकते हैं। इन सबसे अतिरिक्त अर्थवान् शब्दराशि 'सुबन्त' में गृहीत हो जाती है। यहाँ **अव्यय** का प्रयोग उसकी अर्थभावना के व्यापक क्षेत्र की दृष्टि से हुआ है। **सुबन्त** को 'नाम' या 'संज्ञा' का पर्यायवाची मात्र ही नहीं कहा जा सकता। **सर्वनाम, विशेषण, आदि का अन्तर्भाव भी इसी सुबन्त में हो जाता है।**

४.९.१ पृथक् या एक कोटि

प्रश्न उठता है कि **नाम, सर्वनाम,** और **विशेषण** आदि को पृथक्-पृथक् कोटियों में रखा जाए या इन्हें एक ही माना जाए ? इस प्रश्न पर प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। नाम, सर्वनाम और विशेषण के अतिरिक्त **क्रियाविशेषण** को भी एक पृथक् पद-भेद मानने वालों की कमी नहीं है। पहली तीन कोटियों को येस्पर्सन ने दो रूप में माना है। तीन पद-भेदों के रूप में—**सब्स्टैण्टिव, प्रोनाउन** और **एड्जैक्टिव** नाम से; और तीन स्थितियों या क्रमों (थ्री रैंक्स) के रूप में भी—**प्राइमरी, एड्जंक्ट,** और **सब्जंक्ट** के नाम से। तत्त्व मूलतः दोनों जगह एक ही है। 'संज्ञा', 'सर्वनाम' और 'विशेषण' को **तीन स्थितियों** के रूप में लेना ही उचित है। ये तीनों स्थितियां एक ही शब्द या पद-प्रयोग की हो सकती हैं।[1] पर इस स्थिति-भिन्नता के कारण ही येस्पर्सन इन्हें पृथक्-पृथक् कोटियों में विभक्त स्वीकार करते हैं।[2] दूसरी ओर, पाणिनि इन्हें 'सुबन्त' कहकर, व्याकरण या शब्द-रचना की दृष्टि से एक ही ठहराते हैं।[3] **येस्पर्सन** का निष्कर्ष शब्दों के **गुणात्मक विश्लेषण पर आधारित है, जबकि पाणिनि उसके रचनात्मक विश्लेषण** को ही आधार बनाते हैं। यदि हम पाणिनि के 'सुबन्त' को 'पद' स्वीकार करते हैं, तब हम संस्कृत भाषा के बाह्य आकार को ही ध्यान में रखेंगे। पर हम देखते हैं कि पाणिनि प्रायः ऐसे सिद्धान्त संस्कृत या वैदिक आदि भाषा-विशेष को ध्यान में रखकर ही नहीं स्थिर करते, प्रत्युत

---

१. येस्पर्सन, दि फिला० ग्रा०, पृ० १०२।

२. वही, अध्याय ४ और ५।

३. पा० १.४.१४।

उनकी दृष्टि वाक्-मात्र के बृहत् विश्लेषण पर आधारित होती है। इस दृष्टि से हमें उनके 'सुबन्त' नाम को देखते ही किसी भ्रम में न पड़ना चाहिए।

४.६.२ बृहत्तर सत्य

वस्तुत: पाणिनि नाम, सर्वनाम और विशेषण को **नाम** की बृहत्तर कोटि के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। कहा जा चुका है कि **प्रातिपदिक** और **नाम** एक ही वस्तु को इंगित नहीं करते। **धातु** और **प्रातिपदिक** संज्ञाएं शब्दों की दो मूल कोटियों या **दो प्रकृतियों** की ओर इंगित करती हैं। **प्रातिपदिक** उन मूल शब्द रूपों को कहते हैं, जो **धातु** के तिङन्त रूप निर्मित शब्दों से भिन्न शब्दराशि की मूल प्रकृति माने जाते हैं। ये धातु-भिन्न या धातुरूपभिन्न शब्द रूप क्या हैं ?, इसे समझने के लिए हमें शब्दों की मूल प्रकृति की विवेचना की ओर जाना होगा।

यास्क ने **आख्यात** और **नाम** में सम्पूर्ण अर्थवान् शब्दराशि को समवेत करते हुए प्रथम को **भावप्रधान** और द्वितीय को **सत्त्वप्रधान** कहा है[1]। यास्क द्वारा प्रयुक्त **भाव** और **सत्त्व** ही वे वास्तविक तत्त्व हैं, जिनके आधार पर किसी भी शब्द को **नाम** या **आख्यात** के वर्ग में रखा जा सकता है। इन दोनों को ही हमने अन्यत्र अंग्रेजी के **बीइंग** (Being) और **बिकमिंग** (Becoming) शब्दों का पर्याय-वाची कहा है। **भाव** उस नित्य गतिशील सत्ता का नाम है, जिसे यास्क **जायते, अस्ति, विपरिणमते,** आदि छह विकारों में परिणत होने पर भी नित्य गतिशील मानते हैं।[2] यहाँ **यास्क** स्वयं ही स्पष्ट करते हैं कि इनमें से कोई भी भावदशा किसी एक निश्चित क्षणदशा या स्थिति पर लागू नहीं होती। सभी में एक दूसरे का कुछ न कुछ नैरन्तर्य विद्यमान रहता है।[3] ये स्थितियाँ गतिशील, और इसीलिए अस्थिर और परिवर्तनशील भी, हैं। **भर्तृहरि** भी इन छह भावविकारों की चर्चा खुलकर करते हैं।[4] वे इन्हें भाव-भेद का मूल कारण मानते हैं।[5] अत: **भाव** द्वारा किसी निश्चित और स्थिर स्थिति विशेष का बोध न होकर, **सत्तामात्र** की सामान्य परिवर्त्तमान स्थिति का बोध होता है। अर्थात्, **क्षणों या घटनाक्रम की एक शृंखला विशेष ही भाव कहलाती है**—पदार्थविशेष के रूप में कोई वस्तु या द्रव्य नहीं।

---

१. नि१ १. १. १।
२. 'षड्भावविकारा:'—नि० १.१.१.३। ५. वा० १.३।
३. वही, 'नायं पूर्वभावमाचष्टे नापरभावमि०' इत्यादि।
४. वा० १. ३; ३. १.६, आदि।

४.६.३ सत्त्व की भिन्नता

सत्त्व इससे भिन्न वस्तु है। उसे ही **सत्ता** कहते हैं। इन दोनों का अर्थ **उपस्थित** या **विद्यमान** वस्तु से है। यहाँ 'वस्तु' का अभिप्राय सशरीर द्रव्यमात्र ही नहीं है। '**नाम**' शब्द किसी द्रव्य का ही बोध देता है। **यास्क** उसके स्थान पर '**सत्त्व**' का प्रयोग करके अधिक वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय देते हैं। 'नाम' के द्वारा 'विशेषण' का ग्रहण नहीं हो सकता। पर **सत्त्व कहते ही नाम, सर्वनाम, और विशेषण का समान रूप से ग्रहण हो जाता है**। तीनों का ही सम्बन्ध **सत्तावान् वस्तु से होता है। या, उनका उस पर आधार होता है। सत्ता** के बिना 'सत्त्व' या 'द्रव्य' असम्भव है।

४.६.४ द्रव्य ही आधार

'मधुर' कोई सत्तावान् द्रव्य ही हो सकता है। और, **मधुरता** तो स्वतः एक 'सत्त्व' ही है। इन दोनों में से प्रथम को हम **विशेषण** और द्वितीय को **गुणवाचक 'नाम'** कह देते हैं। भर्तृहरि की दृष्टि से इन दोनों के 'नामत्व' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। सत्तावान् को ही **सत्त्व** कहते हैं, और **गुण** का आधार द्रव्य या सत्त्व पर ही आधारित होता है।[1] यास्क के समान उन्हें भी शाकटायन का यह मत मान्य नहीं था : **सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**।[2] फिर भी, अर्थ की दृष्टि से, उन्होंने एक सम्भावना स्वीकार की कि 'नाम और आख्यात में अर्थ भावना का अन्तर बहुत ही सूक्ष्म, किन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।' भाव और सत्त्व को ही वे अधिक सार्थक रूप में 'साध्य' और 'सिद्ध' नाम देते हैं।[3] साध्यता की उभयात्मक समानता को ही यास्क 'तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः'[4] के रूप में कहते हैं। पर वहां 'यत्र' का संकेत किन्हीं विशिष्ट स्थलों की ओर है, सार्वत्रिक नहीं।

भर्तृहरि द्वारा खींची गई विभाजक रेखा इससे अधिक व्यापक है। वे इन दोनों के अन्तर को 'क्रम' की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर आधारित मानते हैं। एक ओर, वे **आख्यात** के लक्षण में **क्रमजन्यता** को प्रमुखता देते हैं,[5] तो दूसरी ओर वे **नाम** शब्दों की प्रवर्त्तन-सम्भावना ही तब स्वीकार करते हैं, जब उनमें से **क्रम** की यह भावना **समाप्त** हो जाती है।[6] उधर '**षड्भावविकाराः**' की व्याख्या

---

१. वा० ३. ५. १, २।
२. नि० १. ४. १।
३. वा० ३. ८. १।
४. नि० १. १. ४।
५. वा० ३. ८. १।
६. वा० ३. १. ३५।

में यास्क इसी बात को 'परिवर्त्तमान' स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। 'नाम' को भर्तृहरि **'नामशब्दाः प्रवर्त्तन्ते संहरन्त इव क्रमम्'** के द्वारा समझाते हैं।[1] उनकी दृष्टि में, 'भाव' की स्थिति समाप्त होकर, 'सत्त्व' की स्थिति वहीं से आरम्भ होती है, जहाँ क्रमभावना का संहार हो जाता है। इस क्रमभावना की समाप्ति ही **भाववत्ता** या **क्रमस्थिति** की समाप्ति की द्योतक होती है। जिन शब्दों में यह क्रमभावना उपलब्ध नहीं होती, पर फिर भी वे अर्थ को वहन करते हैं, उन्हें हम 'नाम' कहते हैं। 'सत्त्व' भी इसका ही दूसरा नाम है।[2] इस परिभाषा की व्यापकता में **नाम**, **सर्वनाम**, **विशेषण**, **क्रियाविशेषण**, आदि की अलग-अलग सत्ता विलीन हो जाती है। हाँ, उपसर्ग, निपात आदि का ग्रहण इसमें नहीं हो सकता, क्योंकि उनका अर्थ स्थिर न होकर प्रयोगविशेष या स्थलविशेष पर ही निर्भर करता है।

४.६.५ स्मर्त्तव्य सत्य

यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि उक्त विवेचन के अनुसार **नाम** शब्द **संज्ञा** का अपर पर्यायमात्र नहीं है। और न ही **सत्त्व**, केवल सत्तावान् होने मात्र से, **द्रव्य** का बोधक है। परन्तु **येस्पर्सन सब्स्टैण्टिव्** का अर्थ केवल **द्रव्य** तक ही सीमित कर देते हैं।[3] केवल इसी आधार पर उन्हें 'सर्वनाम' (प्रोनाउन) और 'विशेषण' (एडजैक्टिव्) को उससे पृथक् मानना पड़ा है।[4] **यास्क और भर्तृहरि** के सामने यह समस्या है ही नहीं। **पाणिनि और पतंजलि** के दृष्टिकोण को सही रूप में समझने के लिए इन दोनों—पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती—आचार्यों के दृष्टिकोण के प्रकाश में देखना अधिक उपयुक्त रहेगा।

४.१० साध्य : क्रिया—

यहाँ भर्तृहरि के **'साध्य'** नाम पर कुछ अधिक विचार कर लेना सावसर होगा। वह केवल **'क्रमजन्यत्वात्' आदि कहकर ही क्रिया की** व्याख्या नहीं करते, प्रत्युत 'साध्यता' को वे उसके लिए **प्रमुख शर्त्त मानते हैं**। अन्यत्र हम उनकी दृष्टि से **क्रिया** और **आख्यात** का अन्तर दिखाएंगे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि **साध्यता** और **तिङन्तरूपता** की दृष्टि से ये दोनों एक ही हैं। **यदि 'सिद्ध' को 'नाम' का ही अपर पर्याय माना जाए, तो 'साध्य' को इन दोनों का अपर पर्याय कहा जा सकता है।** इस दृष्टि से दोनों को **आख्यात** कहें या **क्रिया**, बात

---

१. वा० ३. ८. ३०।
२. वही, ३. १. ३५।
३. दि फिला० ग्रा०, पृ० ७४।
४. वही, पृष्ठ ७४, ८२, ६१।

एक ही है :

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् तत् क्रियेत्यभिधीयते ।। वा० ३. ८. १ ।।

अर्थात्, 'चाहे वक्तव्यभावना सिद्ध या घटित हो अथवा असिद्ध या अपूर्ण घटित, यदि उसमें 'साध्यत्व' की भावना अन्तर्हित है, तब तदर्थ प्रयुक्त शब्द 'क्रिया' ही कहलाएगा। कारण यह कि 'साध्यत्व' के साथ ही 'क्रमजन्यता' की बात सहज हो जाती है। किसी भी साध्य की साधना 'क्रमपूर्वक' ही सम्भव हो सकती है। और यही 'क्रमवत्ता' क्रियासामान्य का प्रमुखतम लक्षण है।'

४.१०.१. क्रमवत्ता—

इस बात को भर्तृहरि एक अन्य प्रकार से भी स्पष्ट करते हैं। उन्होंने **क्रिया** को **सत्ता** और **जाति** कहा है।[1] **जाति** का प्रयोग वहाँ **'समूहः क्रमजन्मनाम्[2]'** की व्याख्या के रूप में ही किया गया है। किसी भी क्रिया को एक विशिष्ट गति या कार्य तक सीमित नहीं कर सकते। उसमें विविध क्रियाओं को आंशिक प्रतिनिधित्व भी प्राप्त होता है और उनके समूहरूप के बिना उसकी अपनी सत्ता भी सन्देहास्पद हो जाती है। यदि हम चाहें तो उसके प्रत्येक क्रियांश को एक स्वतन्त्र क्रिया के रूप में भी कह सकते हैं। पर तब उसके भी अनेक अंश खोजे जा सकेंगे। अन्ततः **क्रिया उस समूहात्मक स्थिति को ही कहा जा सकेगा, जो समूहात्मक होकर भी अपने प्रधान लक्षण के द्वारा ही अभिहित होती है। यही उसकी एकता का आधार है।**[3] 'वह खाता है' या 'गौ चरती है' में 'खाना' और 'चरना', किसी विशिष्ट गति या क्षण के नाम न होकर, बहुत से क्रियांशों के समवेत रूप को सूचित करते हैं। 'खाना' में बैठना, हाथ धोना, ग्रास तोड़ना, मिश्रण, चबाना, पानी पीना, हाथ और बर्तन धोना, आदि अनेक क्रियाएं समवेत हैं।[4] 'चरना' की भी स्थिति ऐसी ही है। इसपर भी हम इन दोनों क्रियाओं को 'पूर्ण' और 'एक' ही मानते हैं। उनकी एकता में ही इन सब 'अंशों' का अन्तर्ग्रहण हो जाता है। स्पष्ट है कि ये विविध अंश ही उस गति के विविध 'चरण' हैं। वह क्रिया ही इन सब अंशों की दृष्टि से 'साध्य' ठहरती है। **साध्यता** का निर्णय ही किसी भी समूह में से किसी एक अंश को प्रधानता देकर उसे **क्रिया** ठहराता है।[5]

---

१. वा० ३. १. ३३ से ३५।
२. वा० ३. ८. ४।
३. वही, ३. ८. १५।
४. वही, २. ३१३।
५. वही, ३. ८. १, ३८।

४.१०.२ साध्यता: क्रियैक्य—

सामान्यत: क्रिया **साध्य** ही कही जानी चाहिए। पर, जब एक ही वाक्य में एकाधिक **क्रियारूपों** या **तिङन्तों** का प्रयोग हुआ हो, तब उस वाक्य में 'क्रिया' किसे कहा जाए ? अन्ततः, वहाँ सबको ही 'क्रिया' तो नहीं कहा जा सकता। न ऐसा कहना उचित ही है। भर्तृहरि इस प्रश्न का निर्णय बहुत ही संक्षेप परन्तु पूर्णता के साथ देते हैं। उनकी दृष्टि में "**जिसका फल बाद में पकता है या उस वाक्य का समग्रतः फल बन जाता है, वही 'क्रिया' कहलाने की सच्ची अधिकारिणी होती है; अन्य सबको आख्यात ही कहना अधिक उपयुक्त है।** नाम और आकार में वे पद भी क्रिया से अभिन्न ही होते हैं, भले ही उद्देश्य में पूर्णता (या साध्यता) उन्हें उतनी प्राप्त नहीं होती[1]"। इस बात को समझते ही हमें विविध वाक्यांशों या वाक्यान्तरों में प्रयुक्त अप्रधान क्रियाओं के वास्तविक महत्व का भी पता चल जाएगा। वाक्य की सीमा और उसकी एकता भी इस क्रिया की—या इसके द्वारा प्रतिपादित फल की—एकता पर निर्भर करती है। **अतः हर तिङन्त रूप**, व्याकरणात्मक दृष्टि से 'क्रिया' कहा जाने पर भी, भाषाविज्ञान की दृष्टि से **क्रिया नहीं कहा जा सकता।**

४.११ क्रम और काल—

क्रम की बात आते ही **काल** की चर्चा भी स्वतः ही आ जाती है। काल और क्रम की यह चर्चा 'नाम' के साथ स्वतः नहीं आती। कारण स्पष्ट है : उनमें **'होना'** या **भाव** का अंश उपस्थित नहीं रहता। **कृदन्त** या **पार्टिसिपल, जीरण्ड** आदि रूपों में भी अन्ततः भाव की सत्ता नहीं ठहरती। कारण : उनमें भी काल और क्रम की भावना नहीं रहती। वस्तुतः वे शब्द भी किसी **गुण** या **सत्त्व** का ही **इंगित** कर रहे होते हैं। इसीलिए उनमें **संकेतभावना** प्रधान रहती है। मूलतः क्रियारूपों में से बनती प्रतीत होने वाली संज्ञाएँ भी वस्तुतः, **धात्वर्था** या **क्रियार्था** न रहकर, **संकेतक** शब्दरूपों में पलट जाती हैं।

भर्तृहरि के अनुसार : 'काल की भावना के कारण एक ही क्रिया अनेक बाह्यरूप धारण करती दिखाई देती है[2]'। अनेक बार नाम की भाँति उसकी अक्षुण्णता भी सुरक्षित नहीं रहती। कल्पित 'धातु' स्वतः बहुधा प्रयुक्त क्रियापद के व्यक्त और प्रतीयमान धातुमूल से भिन्न प्रतीत होता हैं। **'बभूव'** और **'अभूत्'** का 'धातुमूल' ज्ञात धातु **√भू** के अतिरिक्त **√अस्** भी माना जाता है। 'अघसत्'

---

१. वही ३. ८. १५।

२. वा० ३. ९. ८, ३७।

प्रयोग का एक मूल √'अद्' को भी स्वीकार किया गया है। अंग्रेजी क्रियारूप 'इज़्' और 'आर' स्पष्टतः दो मूलों से आए हैं। पर दोनों का धातु **बी** (भू) के रूप में स्वीकार किया गया है।

४.११.१ समस्या सीमित

यह समस्या सार्वत्रिक नहीं है। विश्व की अनेक भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें प्रयुक्त प्रत्येक शब्द स्वतः 'मूल शब्द' माना गया है। उनमें विविध शब्दरूपों की उपस्थिति का **प्रश्न** ही नहीं उठता। समस्त रूपों की उपस्थिति वहाँ भी सिद्ध की जा सकती है। पर, इससे पूर्वोक्त सत्य में कोई अन्तर नहीं आता। चीनी, बर्मी आदि एकाक्षर या 'एकाच्' भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं। इन भाषाओं में बहुधा 'नाम' और 'आख्यात' का आकृतिमूलक अन्तर भी स्पष्ट नहीं हो पाता। परन्तु भर्तृहरि की परिभाषा के अनुसार वहाँ भी दोनों को पृथक्-पृथक् पहचाना ही जा सकता है। इस पहचान में **साध्यता** या **फलभावना** की बात ही प्रधान रहती है। **दूसरी बात** यह कि उन भाषाओं में भी **काल** और **क्रम** की अभिव्यक्ति हो ही जाती है; भले ही वह एक ही मूल की उन विविध रूपात्मक अभिव्यक्तियों के माध्यम से न होती हो। कहीं स्थानपरिवर्तन, कहीं धातु-भिन्नता, कहीं निपात-प्रयोग, कहीं समस्त प्रयोग, आदि के द्वारा **काल** और **क्रम** की अभिव्यक्ति वहाँ हो ही जाती है। इस प्रकार यह भेद रूपात्मक न होकर भावनात्मक अधिक ठहरता है।

४.११.२ तिङन्त : बाह्याकार—

इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि **सुबन्त** या **तिङन्त** का भेद केवल बाह्याकाराश्रित ही है। इसीलिए ऐसा भेद सीमित भी है। इन शब्दों को **नाम और क्रिया** का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। भारोपीय तथा कुछ अन्य परिवारों की भाषाओं के लिए यह नियम सत्य कहा जा सकता है। पर अनेकत्र हम इस नियम को टूटता भी पाएँगे। भर्तृहरि का बताया लक्षण वहाँ भी निकष बनकर सामने आएगा। इस **लक्षण** में आवश्यक बातें हैं : **क्रमजन्यता**, **सामूहिकता**, **साध्यता** और **फलोत्पादकता**। स्पष्ट है कि इन लक्षणों का **नामपदों** से कोई सम्बन्ध नहीं है।

४.१२ सारांश

इस प्रकार **येस्पर्सन** की भांति **सत्त्व**, **विशेषण** और **सर्वनाम** को, अलग-अलग तीन पद न मानकर, **यास्क**, **पाणिनि**, **पतंजलि** और **भर्तृहरि**

अव्यय और धातु के अतिरिक्त एक ही पद—**नाम**—के रूप में स्वीकार करते हैं। **धातु** को वे इससे **भिन्न** ही मानते हैं। यहाँ अव्यय, निपात, उपसर्ग, आदि चर्चा के विषय नहीं हैं। उनकी चर्चा यथाप्रसंग होगी। **क्रिया** के प्रसंग में यह अवधेय है कि **जर्मन वैयाकरण** 'क्रिया' को **'कालशब्द'** (त्साइट्वर्ट) कहते हैं। यह कदाचित् भर्तृहरि की भावना के निकटतम है।[1] पर काल और भाव में अन्तर करने वाले विद्वान् धातु और क्रिया को केवल 'कालशब्द' कहने पर आपत्ति उठाएंगे। उन्हें **मीमांसक शबर** का **'कर्मशब्द'** अधिक उचित लगेगा[2]।

४.१३ दार्शनिक परम्परा

वैयाकरणों की इस परम्परा से दार्शनिकों की परम्परा कुछ भिन्न है। **मीमांसा** में शब्दविवेचना प्रधान रूप से हुई है। **शबरस्वामी** ने अपने भाष्य में शब्द के तीन वर्गों—**द्रव्यशब्द**, **गुणशब्द**, और **कर्मशब्द**—की चर्चा की है। **कर्मशब्द** को वे **क्रियापद** का ही पर्याय मानते हैं। **द्रव्यशब्द** को **नाम** का पर्यायवाची कहा जा सकता है। इन दोनों से पृथक् **गुणशब्द** की सत्ता को स्वीकार करते हुए शबरस्वामी **विशेषण** की पृथक् मान्यता का प्रबल आधार प्रस्तुत करते हैं।[3] एक जगह अन्यत्र उन्होंने भी दो शब्द भेद माने हैं: **द्रव्यशब्द और कर्मशब्द**।[4]

एक अन्य दार्शनिक विचार के अनुसार शब्दभेद द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया पर आधारित है। संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों को भी यही मत मान्य रहा है। 'विरोध' अलंकार की चर्चा में यह सत्य उभरकर सामने आता है।[5] इसमें से 'जाति' के अतिरिक्त अन्य सब की चर्चा ऊपर हो चुकी है। **जातिशब्द** का प्रयोग भर्तृहरि ने भी किया है।[6] पर यह प्रयोग शब्दों के सामान्य जातिरूप की सूचना देने के लिए है, शब्दों के किसी एक विशिष्ट वर्ग का नामकरण करने के लिए नहीं। **अन्य शब्दों की भांति सर्वनाम शब्द भी इसलिए जातिवाचक या जातिशब्द कहे जा सकते हैं कि वे व्यक्ति की अपेक्षा जाति का संकेत ही सर्वत्र करते हैं। पर सामान्य 'द्रव्यशब्दों' में से 'जातिशब्दों'** की एक **पृथक् कोटि ढूंढने का प्रयत्न 'पद-भेद' की मूल कल्पना के ही विरुद्ध कहा जाएगा।** वैसे **जातिशब्द** भी **द्रव्यशब्द** ही होते हैं; क्योंकि वे मूलतः द्रव्य को ही संकेतित करते हैं। फिर

---

१. वा० ३. ६. ७७।
२. शा० मी०, २. १. १-४।
३. तुलनीय, येस्पर्सन से।
४. मीमांसा २. १. १।
५. सा० द० और काव्यप्र० के सम्बद्ध स्थल।
६. वा० ३. १. ६।

भी यदि 'गुणशब्द' की अवास्तविक सत्ता के स्वीकरण की भांति उनकी पृथक् सत्ता भी स्वीकार कर ली जाए, तब येस्पर्सन द्वारा **सत्त्व, सर्वनाम** और **विशेषण** की पृथक् मान्यता को भी उचित ठहराना पड़ेगा। क्योंकि, उस दशा में वे तीनों क्रमशः **द्रव्य, जाति** और **गुण** के प्रतिनिधि ही स्वीकार किए जाएंगे।

४.१३.१ गुण और संख्या

गुणशब्दों को पृथक् मान्यता न देने का एक आधार यह हो सकता है कि उस दशा में **संख्याशब्दों** का अस्तित्व भी पृथक् से स्वीकार करना पड़ेगा। भर्तृहरि अनेकत्र स्पष्ट करते हैं कि **संख्या** और **गुण** का अस्तित्व द्रव्य या सत्त्व के बिना सम्भव ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि अन्ततः **द्रव्याश्रित** होने से ये **दोनों** द्रव्यधर्ममात्र हैं। **स्वतः द्रव्य के अंग होने से उसी में गृहीत हो जाते हैं।**[1] यहां भर्तृहरि द्वारा की गई 'कृष्णतिल' की वृत्ति एवं व्याख्यान को स्मरण रखना होगा। उनके कथनानुसार 'कृष्ण' भी उसी वस्तु का वाचक है, जिसका 'तिल'। अतः दोनों ही या तो द्रव्यवाचक हैं, या दोनों ही गुणवाचक।[2] हेलाराज ने भी यही बात स्पष्ट की है[3]।

४.१३.२ स्थितिविशेष

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया ही जा चुका है 'आख्यात' और 'क्रिया', एक पदभेद के दो नाम होते हुए भी, स्थितिविशेष में भिन्न प्रयोजन से प्रयुक्त होते हैं। क्रिया के प्रत्येक रूप को 'आख्यात' कहा जा सकता है, जबकि 'क्रिया' केवल उस पदरूप को कहा जा सकता है जिसके साथ वाक्यगत फल-भावना का संयोग रहता है। वह पदरूप वाक्य के 'साध्य' को सूचित करने वाला होता है।

४.१३ शेष पद

'नाम' और 'क्रिया' के अतिरिक्त अन्य पदराशि पर विचार कर लेना भी यहां सावसर होगा। हम ऊपर कह आए हैं कि पाणिनि की दृष्टि से ऐसी पद-राशि को सामान्य संज्ञा **निपात** की दी जा सकती है। इन्हीं निपातों को रूपपरि-वर्त्तन की दृष्टि से **अव्यय** या 'अपरिवर्त्तनीय' भी कहा जा सकता है। पर सूक्ष्म भेद की दृष्टि से इन्हें **निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय, अव्यय,** आदि उप-वर्गों में बांटा जाता है। बहुधा गणना में इन सब पदों को पृथक्-पृथक् 'पदभेद'

---

१. वा० ३. १. १३; ३. ११. १२।
२. वा० ३. १४.६।
३. वही, व्याख्या।

के रूप में माना जाता है। पर, **अर्थात्मक दृष्टि से 'निपात' और आकृतिमूलक दृष्टि से 'अव्यय' नाम इस सम्पूर्ण पदराशि के लिए अधिक उपयुक्त ठहरता है।**

४.१३.१ अन्तर्वर्त्ती भेद

जहाँ तक अन्तर्वर्त्ती भेदों का सम्बन्ध है, इनकी संख्या के विषय में मतभेद विद्यमान है। महाभाष्य में **क्रियाविशेषक** या **क्रियाविशेषण** शब्दों की चर्चा आई है।[1] भर्तृहरि ने भी अव्यय के एक भेद को **क्रियाप्रधान** कहा है।[2] उन्होंने **कर्मप्रवचनीय** की भी स्थितिसम्भावना इसी रूप में स्वीकार की है।[3] ये सब शब्द अविभक्तिक या स्थिरविभक्तिक पदों (अव्ययों) के अन्तर्गत स्वीकार किए ही जाने चाहिए। अव्यय नाम आकृतिमूलक है। इसके सम्मुख **क्रियाविशेषण** नाम अधिक व्यापक और ग्राही नहीं कहा जा सकता। **पतंजलि** और **येस्पर्सन** ने सप्रयोग यह सिद्ध किया है कि क्रियाविशेषण को सामान्य से एकदम विभक्त करके नहीं देखा जा सकता। **विशेषण** या **गुण** की भावना उन दोनों में समान रूप में ही उपलब्ध होती है। उन दोनों का पारस्परिक विनिमय भी एक सामान्य बात है। **नामशब्द** किस प्रकार **अव्यय** में रूपान्तरित हो जाते है, यह बात कृदन्तों के अव्यय बनने में देखी जा सकती है।[4] **अव्ययीभाव समास** का स्वत: **अव्यय** में परिवर्त्तन भी परिवर्त्तनशीलता की इस भावना को स्वीकार करके ही संभव ठहरता है।[5] **अत: अव्यय जैसी व्यापक शब्दराशि को केवल क्रियाविशेषण कहकर उसकी स्थिति-संभावना को सीमित करना किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। 'गुणवचन'**[6] कहने वाले पाणिनि तो कहीं भी **क्रियावचन** या **क्रियाविशेषण** की पृथक् गणना नहीं करते। उनकी संज्ञा **अव्यय** है, जो आकृतिमूलक होने से उस सम्पूर्ण शब्दराशि के लिए रूढ़ हो जाती है, जो विविध प्रयोगों में काल, विभक्ति, आदि के कारण, **अपना रूप नहीं बदलती**। केवल इसी कारण निपात 'अव्यय' कहलाते हैं।[7]

४.१४ पृथक् गणना की समस्या

क्रियाविशेषण, को **नाम** और **विशेषण** से पृथक् पदभेद न मानने पर

---

१. म०, पा० ५. १. १२४।
२. म० त्रि० किंचिदव्ययं क्रियाप्रधानमि०।
३. वा० २. १९७—२००।
४. पा० १. १. ३९।
५. पा० १. १. ४१।
६. पा० ५. १. १२४।
७. पा० १. २. ३७।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि **निपात, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय**, आदि को भी अलग-अलग पदभेद के रूप में गिना जाए ? या क्रियाविशेषण के साथ उन्हें भी केवल 'अव्यय' नाम की एक ही कोटि में गृहीत कर लिया जाए? भारतीय वैयाकरणों और भाषाविदों ने प्राय: एकमत से ही **निपात** और **उपसर्ग** को दो भिन्न कोटियों के रूप में गिना है।[1] यद्यपि उसी आधार पर **कर्मप्रवचनीय, गति** आदि की भी पृथक् गणना करनी उचित ठहरती है।

वास्तविकता यह है कि अधिकांशत: ये सभी वर्ग आकार और रूप में एक समान या मिलते-जुलते हैं। **प्रयोजन** या अर्थ भी इनका बहुधा मिलता-जुलता होता है। **अर्थस्थिरता** किसी में भी नहीं है। अधिकांशत: ये **एकाच्** हैं। यद्यपि अनेकाच्-कोटि भी संख्या में कम नहीं है। **निपात** नाम से गिने जाने वाले शब्द-समूह में **उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय,** आदि का वर्गीकरण कई बार भ्रमावह भी हो जाता है और हम सुनिश्चित विभाजन को प्राप्त नहीं कर सकते। पर, वस्तुत: इन्हीं संज्ञाओं का उपयोग एक अन्य भी बृहत्तर शब्दराशि के लिए होता है, जो 'निपात' की सामान्य परिधि में नहीं आ सकती। अन्यथा इन संज्ञाओं की परिभाषाओं से बहुत कुछ अस्पष्ट रह जाता है।

४.१४.१ अन्तर

क्रिया के योग में प्रयुक्त होनेवाले निपातों को ही 'उपसर्ग' और 'गति' दोनों ही संज्ञाओं से पुकारा जाता है।[2] इन दोनों का अन्तर पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाता। कई उदाहरणों में संस्कृत के 'गति' और 'कर्मप्रवचनीय' एक ही कार्य का सम्पादन करते दिखाई देते हैं। यह स्थिति अंग्रेज़ी व्याकरण के प्रेप्रोज़िशनों से मिलती-जुलती होती है। जर्मन वैयाकरण इनका सम्बन्ध 'दिक्' (स्पेस) से मानते हैं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध वैयाकरण येस्पर्सन ने इस विषय को **एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** में अधिक स्पष्ट किया है।[3] वस्तुत: यह **दिक् दिशा** का बोधक अधिक है, **स्थान** का कम। इसका सम्बन्ध **क्रिया** से है। उधर भर्तृहरि का 'दिक्' **नाम की विभक्ति** से अधिक सम्बद्ध है। परन्तु, यह भेद भी ऊपरी ही कहा जा सकता है। वास्तव में **किधर से, किधर, कहां**, इत्यादि दिशावाचक शब्द संज्ञा से अधिक सम्बद्ध माने जा सकते हैं। वैसे वास्तविकता यह है कि विभक्ति के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले ये **निपात** या **अव्यय** 'साधन' के रूप में 'नाम' के

१. 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' के रूप में।
२. पा० १. ४. २. ५६. ६०।
३. दे० **'ग्रामर'** शीर्षक प्रकरण।

साथ सम्बद्ध दिखाई देकर भी, अन्ततः **क्रिया की साध्यता** के सम्बन्ध में उठी जिज्ञासा को ही शान्त करते हैं। उधर 'उपसर्ग' से इनकी स्वरूपात्मक अभिन्नता भी इनके क्रिया से सम्बन्ध को सूचित करती है।[1] अन्तर यही है कि इनका प्रयोग क्रियापद से स्वतन्त्र रहकर होता है।

उपसर्ग से **अव्यय** और **निपात** का मूल अन्तर यह है कि **उपसर्ग** को धातु के अर्थ का परिष्कार करने वाला माना गया है। **गति** और **कर्मप्रवचनीय** के समान **निपातादि** के लिए कोई ऐसी शर्त आवश्यक नहीं मानी गई। परन्तु, जिन **निपातों** का प्रयोग स्वतन्त्र होता है, वे किसी निश्चितार्थ को वहन न करके, प्रकरणानुसार परिवर्त्तित अर्थ को वहन करते हैं।

४.१५. कर्मप्रवचनीय

कर्मप्रवचनीय का नाम कई बार आ चुका है। वस्तुतः अर्थ की दृष्टि से 'निपात' की अपेक्षा ये अधिक स्थिरता प्रदर्शित करते हैं। एक बड़ा अन्तर यह है कि इनका प्रयोग **सप्रयोजन** होता है। **ग्रीक, जर्मन, संस्कृत,** आदि सभी भारोपीय भाषाओं में स्वरूपतः **उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय,** और **गति** में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। एक ही शब्दरूप तीनों स्थानों पर विविध रूप में प्रयुक्त होता रहता है। **कर्मप्रवचनीय** नाम साभिप्राय एक स्थितिविशेष के लिए रखा गया है। **भर्तृहरि** इसके उपयोग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

जनयित्वा क्रियां कांचित् सम्बन्धो विनिवर्त्तते।
श्रूयमाणे क्रियाशब्दे सम्बन्धो जायते क्वचित्॥
वा० २.१९७॥

स चोपजातः सम्बन्धो विनिवृत्ते क्रियापदे।
कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते॥ वा० २.१९९॥

अर्थात् इसका प्रयोग जिस क्रियापद के साथ हो रहा होता है, यह उससे भिन्न किसी क्रिया के अर्थ को वहन कर रहा होता है। **'विलखति'** में **वि** का प्रयोग उपसर्ग के रूप में नहीं हुआ। यह√'लिख्' के अर्थ में किसी संशोधन-प्रवर्धन को नहीं करता। प्रत्युत इसका अर्थ होता है : **विकृष्य लिखति**। इस प्रकार यहाँ यह√'कृष्' के अर्थ को अपने में अन्तर्हित करके√'लिख्' के साथ जुड़ा है। अतः इसे√'नित्य क्रियायोग' वाली उपसर्ग की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती[2]। अनि-

---

१. जर्मन भाषा के 'अम्', 'फेर', 'फ़ोर' आदि प्रेपोजिशन भी इसी सत्य को सूचित करते हैं। उनका प्रयोग दोनों रूप में होता है।

२. वा० २.२०० ।

वार्य नहीं कि इनका प्रयोग इसी प्रकार क्रिया से सम्बद्ध होकर ही हो। **'तमनु व्रजति'** जैसे प्रयोगों में स्वतन्त्र रहने पर भी **अनु** का अर्थ **'अनुसृत्य'** ही समझा जाता है।

४.१६ निष्कर्ष

इस प्रकार **निपात, उपसर्ग, गति** और **कर्मप्रवचनीय** में कुछ न कुछ भेद-रेखा अवश्य खींची जा सकती है। अव्ययों का एक वर्ग **क्रियाविशेषण** के रूप में अलग से भी पहचाना गया है। पर अन्ततः यह बात उचित ही जंचती है कि **इन सबको अर्थात्मक दृष्टि से 'निपात' और रूपविहीनता की दृष्टि से 'अव्यय' नाम के** वर्ग में एकत्र ही गिना जाए। येस्पर्सन ने इसी युक्तिसरणि का अवलम्बन लेकर इस समस्त समूह को—**प्रिफ़िक्स, प्रेपोजिशन, आर्टिकल** आदि को—एक ही वर्ग—**पार्टिकल**—में रख देना उचित समझा है।[1] **एडवर्ब** (क्रियाविशेषण) की पृथक् सत्ता को स्वीकार करना उन्होंने भी उचित नहीं समझा।[2]

४.१७ समान आधार

अन्ततः हम **पाणिनि** द्वारा परिगणित **तीन पदभेदों** और **येस्पर्सन** द्वारा परिगणित **पाँच पदभेदों** में मूलतः कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं पाते। **पाणिनि** के **नाम** में येस्पर्सन के सत्त्व, विशेषण और सर्वनाम का अन्तर्भाव हो जाता है। **यास्क, कात्यायन, पतंजलि** और **भर्तृहरि** इस इकाई को ही **सत्त्व** और **सिद्ध** शब्दों के द्वारा अभिहित करते हैं। **'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'** के रूप में **यास्क, कात्यायन** और **पतंजलि** ने चार पदभेद माने हैं। उसी आधार पर **भर्तृहरि** पाँचवें पदभेद **कर्मप्रवचनीय** को जोड़ना भी उचित समझते हैं। उस विभाजन का भी पाणिनि के विभाजन से कोई विशेष अन्तर सिद्ध नहीं होता। उन लोगों ने **उपसर्ग, निपात**, और **कर्मप्रवचनीय** को कार्यभेद की दृष्टि से अलग-अलग मान लिया है। **यास्क** के समय तक, वैदिक परम्परा में, **उपसर्ग** की स्थिति क्रियाओं से असंयुक्त होकर भी विद्यमान थी। इसीलिए उन्हें **कर्मप्रवचनीय** आदि को अलग से गिनने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। किन्तु **पाणिनि** पहचान गए थे कि यदि निपातों से उपसर्गों का भेद करना ही है, तब उनका पूरा वर्गीकरण **उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय**, और **निपात** के रूप में करना अधिक उचित रहेगा। गति और उपसर्ग के अन्तर को गौण मानकर ही **भर्तृहरि** 'गति' की पृथक् से

---

१. दि फिला० ग्रा० पृ० ६१।
२. वही, पृ० ८७-६१।

गणना उचित नहीं समझते। इसी कारण वे, परम्परागत रूप में चार पद मात्र ही न गिनवाकर, कर्मप्रवचनीय समेत पाँच पदों का भी उल्लेख करते हैं। इनमें से **निपात, उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय** को पूर्वोक्त आधार पर एक वर्ग में रखना उचित ही है।

४.१८ दो ही पद

ऊपर उस मत का भी उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार पदभेद की सीमा **दो** ही मानी गई है। **भर्तृहरि** इन सब सम्भावनाओं से भली-भांति परिचित हैं। आधुनिक दृष्टि वाले कुछ लोग इस मत की व्याख्या उद्देश्य-विधेय के विभाजन द्वारा करते हैं। पर सत्य यह है कि यह मत **नाम** और **आख्यात** को ही वास्तविक पद मानता है। इसका कारण है—**अर्थवत्** शब्दराशि **पर विचार**। अर्थ की दृष्टि **ये ही दो अर्थवान्** पद हैं। अन्य सब पदराशि का अर्थ प्रसंगतः निश्चित होने के कारण उसे इस रूप में सार्थक नहीं कहा जा सकता। इसी सत्य को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि **उन सबका प्रयोग नाम और आख्यात के आधारभूत प्रयोग पर ही आश्रित होता है**। दूसरे शब्दों में, **सुबन्त और तिङन्त होने के कारण नाम और आख्यात ही ऐसी पदराशि है, जिसे प्रयोगार्ह 'पद' कहा जा सकता है**।[२] अन्य पदराशि को, इस परिभाषा में न आ सकने के कारण, 'पद' नहीं कहा जा सकता। पर सम्पूर्ण भाषातत्त्व को ध्यान में रखते हुए यह मत भी उचित नहीं कहा जा सकता।

४.१९ उचित मत

उधर, विश्वभाषाओं के विचार के प्रसंग में **चार** या **पाँच पदों** की कल्पना भी व्यर्थ एवं अनुचित प्रतीत होती है। जिन भाषाओं में 'नाम' और 'आख्यात' का भेद भी आकारतः सम्भव न हो, वहाँ उनसे अतिरिक्त पदराशि को दो या तीन पदों में बांटना अनुचित ही कहा जाएगा। ऐसी सम्पूर्ण शब्दराशि को 'अव्यय' या 'निपात' के रूप में एक ही नाम से अभिहित किया जाना उचित प्रतीत होता है। अर्थ की दृष्टि से दो प्रामाणिक विभाग, **नाम** और **आख्यात** के रूप में, स्वीकार करने के बाद शेष सब शब्दराशि को किसी भी एक वर्ग में रखना ही उचित प्रतीत होता है। उसे **अविशिष्ट पदार्थ**, **अपदार्थ**, **निपात**, या **अव्यय** किसी भी रूप में कहा जा सकता है।

---

१. वा० ३. १. १।

२. सुप्तिङन्तं पदम्॥ पा० १.१.१४॥

अतः अर्थ पर आधारित पाणिनि की त्रिपद-कल्पना ही अधिक उचित बैठती है, जिसमें अर्थवत्ता और अर्थहीनता की दृष्टि से ही पदविभाग किया गया है।

४.२० पश्चिमीय दृष्टि : प्रथम चरण

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टि के क्रमिक विकास को देख लेना भी उचित होगा। **पार्ट्स ऑफ स्पीच्** या **पदभेद** की कल्पना का श्रीगणेश तो अरस्तू के समय से ही आरम्भ हो गया था। यह बात दूसरी है कि उसमें मान्य आठ पदभेदों को शुद्ध भाषातात्त्विक नहीं कहा जा सकता। आज की दृष्टि से उसमें जिन पदों को मान्यता मिली है, वे हैं : **समुच्चबोधक निपात, अव्यय** (आर्टिकल), **संज्ञा और आख्यात।**[1] **सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण** आदि की कल्पना बाद की है। यह **विभाजन** पाणिनि के विभाजन के समान प्रौढ़ न कहा जाकर **आरम्भिक** ही कहा जा सकता है। बाद के लातीनी और ग्रीक व्याकरणों में इस विभाग ने प्रमुखता ग्रहण की। तब परिवर्त्तन के साथ फिर से आठ पदों की कल्पना जागी।

४.२१ द्वितीय चरण

दूसरा चरण लातीनी और ग्रीक व्याकरणों के आठ पदों से आरम्भ होता है। ये आठ पद हैं : **संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण, क्रिया, आदि निपात, उपसर्ग** (प्रिफ़िक्स), और **गति एवं कर्मप्रवचनीय** (प्रेपोज़िशन)। यह विभाजन भारोपीय परिवार की सभी यूरोपीय भाषाओं पर समान रूप से लागू हो जाता है। किन्तु, इसे समस्त विश्वभाषाओं पर घटाने में उचित सफलता नहीं मिल सकती। भारोपीय परिवार की **भारतीय-आर्य भाषाओं** पर भी यह विभाग पूरी तरह लागू नहीं होता। **आदिनिपात** की सत्ता इन भाषाओं में है ही नहीं। यूरोपीय भाषाओं में भी इसकी स्थिति एक समान नहीं है। **अंग्रेज़ी** में ये निपात **अव्यय** या रूपविहीन हैं। किन्तु **जर्मन, इतालवी**, आदि प्राचीनतर भाषाओं में विभक्ति-वचन का प्रभाव इनके रूप पर भी पड़ता है। एकाधिक उपसर्गों का संयुक्त प्रयोग संस्कृत, फ़ारसी आदि में भी देखा गया है। परन्तु, इन उपसर्गों या कर्म-प्रवचनीयों के रूपान्तरित समाससहित प्रयोग की बात इन भाषाओं के लिए नई ही है। **जर्मन, इतालवी**, आदि के लिए यह बात आम है। वर्त्तमान **जर्मन** भाषा के '**बिम्**' और '**आम्**' की रचना क्रमशः 'बाइ + इम्' एवं 'आन + इम्' के योग से हुई है। स्पष्ट है कि **अंग्रेजी** के आदिनिपात से उसके 'अव्यय' होने का जो भ्रम

---

१. अरस्तू की पोएतिकस्' में 'पार्ट्स ऑफ् स्पीच्' का प्रकरण।

होता है, वह यूरोप की अन्य भाषाओं के लिए सार्वत्रिक सत्य नहीं कहा जा सकता।

इस बात पर बल देने का प्रयोजन यह है कि आख्यात और नाम आदि के अतिरिक्त जो तीन अन्य विभाग **प्रिफ़िक्स, प्रेपोज़िशन**, और **आदिनिपात** के रूप में स्वीकार किए गए हैं, या अन्यत्र जिस पदराशि में समुच्चयबोधक आदि निपातों का भी समावेश कर लिया जाता है, वह सब विभाजन इस दृष्टि से व्यर्थ ही है। क्योंकि, अन्ततः अर्थ की दृष्टि से ये सभी पद **अस्वतन्त्र, प्रयोग और प्रसंग पर आश्रित**, एवं **विविधतामय** या परिवर्त्तनशील हैं। **पराश्रितता** की दृष्टि से इन सबका महत्त्व **समान** ही है। इस प्रकार के भेद भाषाभेद की दृष्टि से कम या अधिक हो सकते हैं। परन्तु, वे मुख्य न होकर **गौण** ही कहे जा सकते हैं। इन्हें पृथक्-पृथक् मान्यता देकर हम उस प्रवृत्ति को बढ़ावा देंगे, जिसके अनुसार हम **संज्ञा, विशेषण**, आदि के अनेक उपभेदों को भी स्वतन्त्र मान्यता देने लगेंगे। वास्तव में ऐसे भेदों को **उपभेद** कहना ही अधिक उचित है, पृथक्-पृथक् पद-भेद नहीं।

यूरोप के बहुत से वैयाकरणों ने इसी विचार के आधार पर भारोपीय और विश्वभाषाओं के व्याकरण लिखने का प्रयास किया है। कई विद्वानों ने इन्हीं में से एकाध की घटाबढ़ी का सुझाव दिया है। पर इससे विभाजन की मूल भावना में कोई अन्तर नहीं आता।

४.२२ येस्पर्सन : अन्तर पर

पाश्चात्य व्याकरण में येस्पर्सन का प्रयास तीसरे या आधुनिक चरण के रूप में कहा जा सकता है। उन्होंने तर्कपूर्वक इस पदसंख्या और इसके नामकरण में परिवर्त्तन का सुझाव दिया है। पाणिनि और उनके मत का अन्तर स्पष्ट किया जा चुका है। वे 'तीन' के स्थान पर पदसंख्या को 'पाँच' स्थिर करते हैं। पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा वे **सर्वनाम** और **विशेषण** को अधिक स्वतन्त्र मान्यता देना चाहते हैं। दूसरी ओर, वे पाश्चात्य व्याकरण की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त होकर **क्रियाविशेषण** को छोड़ देना, और निपात, उपसर्ग, और प्रेपोज़िशन के स्थान पर एकमात्र **पार्टिकल** की सत्ता को मान्यता देना अधिक उचित समझते हैं। इस प्रकार मान्य पाश्चात्य पदराशि में से 'चार' को निकाल कर, और एक को समाविष्ट करके, वे पदसंख्या को 'पाँच' तक ले जाते हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने एक पदभेद के नाम में परिवर्त्तन का सुझाव भी दिया है। 'संज्ञा' या 'नाम' स्थान पर वे, यास्क की परम्परा में, 'सब्स्टैण्टिव'

या 'सत्त्व' नाम का प्रयोग अधिक उचित समझते हैं।[1] कारण यह कि वे इस पद-भेद की उपयोगिता 'संज्ञाकरण' और 'संकेतन' की दृष्टि से नहीं समझते, जितनी कि 'सत्ता' अथवा 'द्रव्यमयता' को इंगित करने में[2]। उनका यह नामकरण उनके इस दावे के अनुकूल ही है कि 'नामकरण' का आधार विश्वात्मक होना चाहिए[3]। इसी बात को ध्यान में रख कर हमने 'सब्स्टैंण्टिव' का अनुवाद 'सत्त्व' और 'द्रव्य' के रूप में किया है। दोनों ही का ग्रहण उनकी संज्ञा से हो जाता है। यही भावना भर्तृहरि और यास्क के अनुकूल पड़ती है।

४.२३ समन्वित मत

हम कह ही चुके हैं कि येस्पर्सन और पाणिनि मत में अन्तर यत्किंचित् ही है। उनका मतभेद है विशेषण, विशेष्य और सर्वनाम को एक या अधिक कोटियों के रूप में मानने के विषय में। हमारी दृष्टि से अधिक विचार करने पर पाणिनि का मत ही अधिक युक्तिपूर्ण और विश्वात्मक ठहरेगा।

४.२३.१ सर्वनाम

येस्पर्सन ने **सर्वनाम** को पृथक् मानने जो आधार बताए हैं, वे संस्कृत आदि भाषाओं पर भी घटते हैं। इनका प्रयोग केवल संज्ञास्थानीय ही नहीं होता। प्रत्युत प्रश्न और संकेत की दृष्टि से भी इनका प्रयोग होता है। पर समस्त विश्वभाषाओं की दृष्टि से इनकी स्वतन्त्र सत्ता सन्देहास्पद हो उठती है। फिर यह भी अवधेय है कि **सत्त्व** शब्द केवल **संज्ञा** का कथन ही नहीं करते। उनका क्षेत्र भी अत्यधिक व्यापक है। इस पर अधिक विचार प्रसंग आने पर ही होगा।

४.२३.२ विशेषण

विशेषण की स्थिति भी विचारणीय है। **विशेष्य** से निश्चय ही वह भिन्न है। परन्तु, समस्त भारोपीय भाषाओं में प्रत्ययचिह्नों और उनके संयोग की दृष्टि से **सत्त्व**, **सर्वनाम** और **विशेषण** में यत्किंचित् भी अन्तर नहीं है। कहीं जनभावना उन्हें मूलतः एक मानकर ही तो नहीं बढ़ती ? कुछ भाषाओं में इस स्थिति में अन्तर भी हो सकता है; परन्तु बाह्याकार मात्र तक ही। फिर, विशेषण **गुण** पर आधारित होता है, और गुण **द्रव्य** या **सत्त्व** पर। अतः

---

१. दि फिला० आ०, पृ० ९१।
२. वही, पृ० ७४।
३. वही, पृ० ५३।

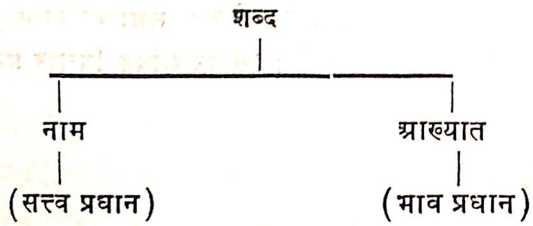
विशेषण सत्त्व से पृथक् होकर रह ही नहीं सकता। वह आकारतः और आन्तरिक रूप से उससे अभिन्न होकर ही रहता है। गुण की पृथक् चर्चा वैसे ही सम्भाव्य और उचित कही जा सकती है, जैसे संख्या की। पर इतने मात्र से ही विशेषण को पृथक् कोटि में ग्रहण करना उचित नहीं।

४.२३.३ तीन ही पद

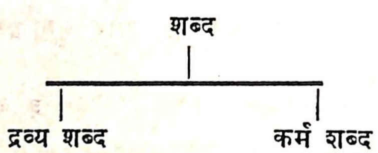
अन्ततः हमारा प्रस्ताव है कि पाणिनि के 'तीन पदों' को ही पदभेद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाए। उन्हीं की सार्वत्रिक उपलब्धि सम्भव है। वे तीन हैं : **सत्त्व**, **आख्यात** और **अव्यय**। अव्ययों में निपातों के सभी वर्गों का अन्तर्भाव स्वतः ही हो जाता है।

तालिकाएं : भारतीय मत

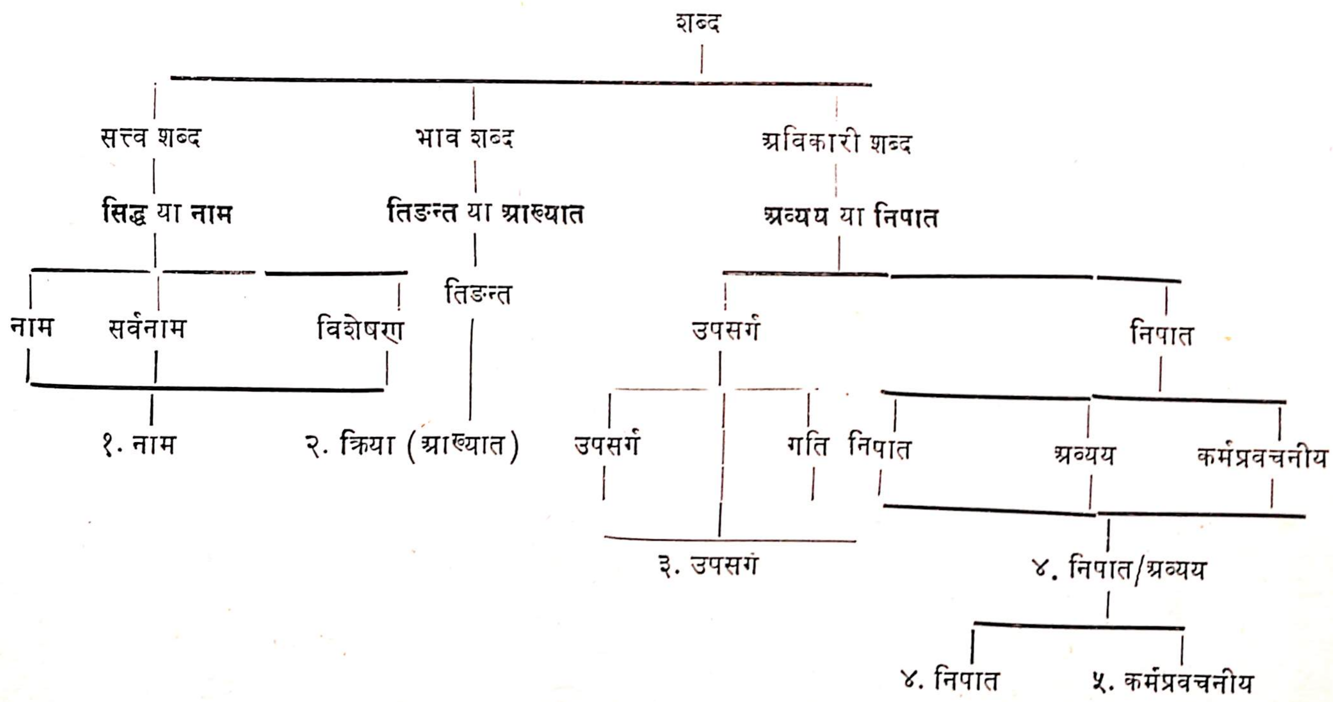
(i) दो पद : नैरुक्त



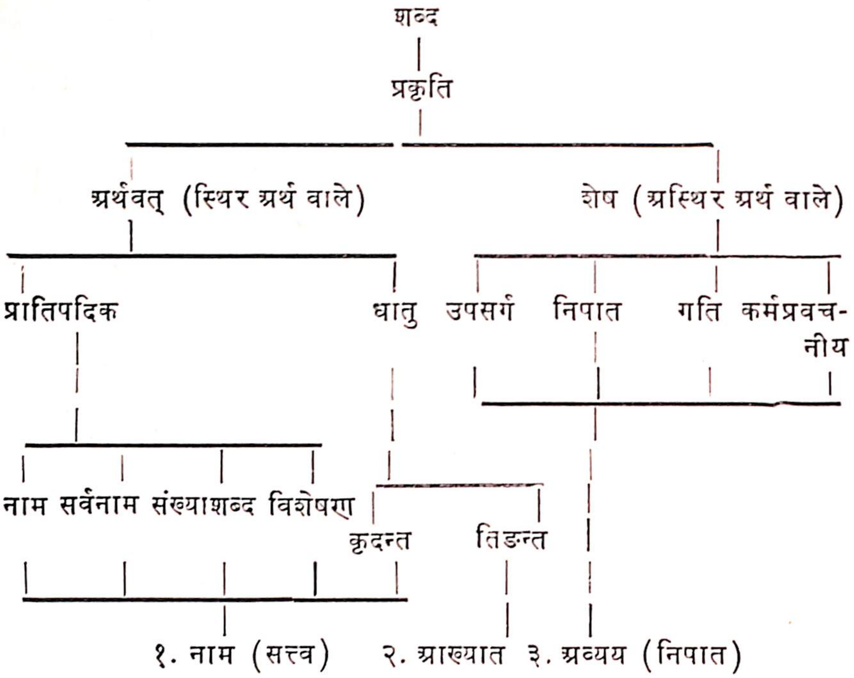
(ii) दो पद : मीमांसक



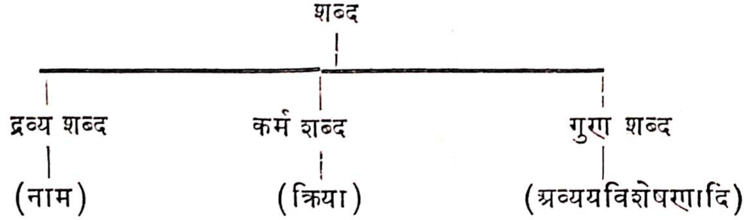
(iii) चार/पाँच पद : वैयाकरण



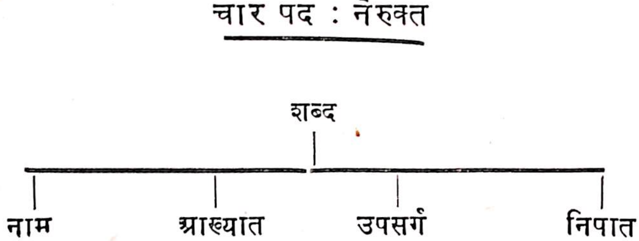
(iv) तीन पद : पाणिनि



(v) तीन पद : मीमांसक (शबर स्वामी)



(vi) चार पद : नैरुक्त



(vii) येस्पर्सन

पद

१. सत्त्व (सब्स्टैण्टिव) २. सर्वनाम ३. विशेषण ४. क्रिया ५. अव्यय (पार्टिकल)

(viii) समन्वित मत

पद

१. नाम-सत्त्व २. आख्यात ३. अव्यय

प्रकृति और प्रत्यय

५.१ प्रत्यय : स्थान

पद सम्बन्धी विचार पर आगे बढ़ने से पूर्व इस धारणा पर विचार कर लेना आवश्यक है कि भाषा में प्रयुक्त पदों के दो भाग होने अनिवार्य हैं। एक को हम **'धातु'** अथवा 'मूलशब्द' (प्रातिपदिक) के नाम से कहते हैं, दूसरे को **'प्रत्यय'** या 'अन्त' के नाम से। यह धारणा मूलतः भारोपीय भाषाओं के व्याकरणों में पाई जाती है। इसका कारण यह है कि भारोपीय भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का यह विभाग अत्यधिक स्पष्ट है। प्रत्येक भाषा के **शब्दरूप** और **प्रत्ययरूप** में अन्तर हो सकता है। परन्तु, पाणिनि के नियम 'प्रत्ययः'[1] और 'परश्च'[2] उन पर समान रूप से लागू होते हैं। इनमें निरपवाद रूप में यह मान लिया गया है कि प्रत्यय सम्बन्ध-तत्त्व का वाहक होता है, और वह शब्द के अन्त में जुड़ा रहता है।

५.२ अपवाद

मध्यस्वर : परन्तु इन्हीं भाषाओं में इनके अपवाद भी जुड़े रहते हैं। अंग्रेज़ी के सिङ् (Sing), सैङ् (Sang), सङ् (Sung), आदि रूपभेदों से परिचित विद्वान् इन्हें तुरन्त ही **'मध्यवर्त्ती स्वर-परिवर्तन'** का उदाहरण कह देंगे। ऐसे उदाहरण संस्कृत में भी अनेक मिल जाते हैं। यह प्रवृत्ति अरब की भाषाओं में सहज भले ही हो, परन्तु अन्य अनेक भाषाओं में इसकी उपलब्धि को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे एक का दूसरे पर प्रभाव भी नहीं माना जा सकता।

आदिप्रत्यय : संस्कृत, भारोपीय और अन्य अनेक परिवारों की भाषाओं में प्रत्ययों के एक अंश या वर्ग की स्थिति शब्द के **आदि में** भी पाई जाती है। संस्कृत के **'अ'** और **'आ'**, जर्मन का **'गे'**, ग्रीक के **'ए'** और **'हे'**, डच का **'गे'**, आदि प्रत्ययांश, इसी प्रकार के हैं। अफ्रीकी भाषाओं में तो सामान्य प्रवृत्ति ही

---

१. पा० ३. १. १.।

२. पा० ३. १. २.।

प्रत्ययों के आदि-प्रयोग की है।

मध्यप्रत्यय : तुर्की आदि भाषाओं में प्रत्ययों की स्थिति **मध्यवर्त्ती** होती है। वहां भी इस नियम के अपवाद पाए जाते हैं। पर, मध्यवर्त्ती प्रत्ययों पर किसी एक वर्ग की भाषाओं का ही अधिकार नहीं है। संस्कृत और अन्य भारोपीय भाषाओं में भी ऐसे प्रत्यय पाए ही जाते हैं। संस्कृत के **स्य, सिच्, चङ्, अङ्,** आदि ऐसे ही प्रत्यय हैं, जो **अ, य, उ,** आदि मध्य-आगमों से भिन्न है। **इतालवी, फ्रेंच,** आदि भाषाओं में ऐसे प्रत्ययों की बहुलता है। अंग्रेज़ी में अधिकांशत: दो, और अनेकत्र तीन, रूपों में ही क्रिया के भिन्न रूप मिलते है। ये भिन्न रूप दो कालों के ही प्रतिनिधि हैं : **बर्तमान और भूतकाल**। इनके अतिरिक्त अन्य कालों और भावों की सूचना सहायक धातुओं के द्वारा मिलती है। **इतालवी** में भविष्य-काल का सूचक मध्य-प्रत्यय 'र' है : 'आव्रो', 'स्कीव्रो', आदि में। ग्रीक, जर्मन, आदि में ऐसे अनेक प्रत्यय पाये जाते है।

५.३ निष्कर्ष

इस सबसे आपाततः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यय की स्थिति केवल अन्त में ही निश्चित नहीं की जा सकती। इसीलिए पाणिनीय नियम 'परश्च' भारोपीय परिवार की भाषाओं पर भी पूरी तरह लागू प्रतीत नहीं होता। प्रत्यक्षत: यह बात सही ही दिखाई देती है। परन्तु, यहाँ यह भी अवधेय है कि **प्रत्यय** का **'आगम'** से भेद स्पष्टत: पहचाना जा सकता हैं। **'आगम'** से भी शब्द रूप में अन्तर अवश्य आता है[1]—यद्यपि काल या विभक्ति आदि की सूचना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। **अ, उ, य,** आदि आगमों का संस्कृत में मध्य-विनियोग किसी अर्थात्मक भेद के कारण भिन्न-भिन्न रूप में नहीं किया गया है, यद्यपि क्रम की दृष्टि से पाणिनि उन्हें भी 'प्रत्यय' शीर्षक में ही वर्णित करते हैं। **'सार्वधातुक'** और **'आर्धधातुक'** का अन्तर भी वहां किसी अन्य आधार पर ही हुआ है। इस मध्य आगम को 'विकरण' कहा गया है। परन्तु अनेक धातुओं में यह **'विकरण'** मिलता ही नहीं।[1] पर, इससे भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। इसके विपरीत **'प्रत्यय'** की धारणा ही अर्थभावना में अन्तर से आरम्भ होती है। **'गणभेद'** आदि से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[2]

५.४ पाणिनीय मत का औचित्य

यह सब इसलिए कहना पड़ा कि प्रत्यय की स्थिति के सम्बन्ध में विविध धारणाओं के औचित्य को सही रूप में समझा जा सके। **पाणिनि** जब प्रत्ययों को

---

१. अदादिगण, जुहोत्यादिगण, आदि में।

२. तिङ्, आदि प्रत्यय सभी गणों और लकारों में समान होते हैं।

परवर्त्ती कहते हैं, तब वे मध्यवर्त्ती प्रत्ययों की सत्ता से भी अभिज्ञ होते है। वे स्वयं सैंकड़ों ऐसे प्रत्यय गिनवाते हैं—कदाचित् 'सुप्' और 'तिङ्' को छोड़ सभी—जो पद के प्रयुक्त रूप के मध्य में ही आते हैं। सच तो यह है कि पाणिनि इस प्रकरण में उन प्रत्ययों को गिनते ही नहीं, जिन्हें 'सुप्' और 'तिङ्' के रूप में **विभक्ति-प्रत्यय** कहा गया है। उनका परिगणन वे अन्य प्रसंग में करते हैं। दूसरी ओर, जिन्हें हम **'विकरण'** कह आए हैं, उन **शप्, श्यन्,** उ, आदि को पाणिनि 'प्रत्यय' मानते हैं।[1] उनकी दृष्टि में सार्वधातुक और आर्धधातुक का भेद भी—प्रत्ययाश्रित होने से—किसी अर्थसम्बद्ध धारणा के कारण ही है। 'तिङ्' को तो वे प्रत्यय ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वे आदेश मात्र हैं।[2] 'सुप्' के प्रसंग में आरम्भ में ही वे स्पष्ट कर देते हैं कि उनका विनियोग प्रातिपदिक या स्त्री-प्रत्ययान्त स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद ही होता है।[3] इसके विपरीत, वे जिन्हें **'प्रत्यय'** शीर्षक के अन्तर्गत गिनवाते हैं, उन सबका आगमन इस सुप् स्थिति के आने से पूर्व ही होता है। वे सब प्रत्यय प्रातिपदिक या क्रिया रूप की रचना का मूल आधार प्रस्तुत करते हैं।[4]

वास्तव में तो **'सुप्'** और **'तिङ्'** के संयोग से शब्द के **मूल अर्थ** में कोई अन्तर आता ही नहीं है। इन्हें **'साधन'**, **'कारक'** या 'पुरुष' के अन्तर्गत माना गया है; क्योंकि इनका मुख्य प्रयोजन क्रिया और कर्त्तादि में सम्बन्ध बताना है। अतः हम इन्हें अन्य प्रत्ययों से भिन्न रूप में पहचानने के लिए **'अन्त'** या **'अन्त्य'** जैसी संज्ञा दे सकते हैं। परन्तु, यह भी निश्चित है कि अर्थ में परिवर्त्तन लाने वाले **कृत्, तद्धित, सनादि, सार्वधातुक, आर्धधातुक,** आदि प्रत्यय 'सुप्' और 'तिङ्' के आगमन से पूर्व ही आ चुके होते हैं। इस प्रकार वे धातु या प्रातिपदिक के स्वरूप या सामर्थ्य पर विभक्ति-प्रत्ययों के आगमन के पूर्व ही प्रभाव डाल चुके होते हैं। पाणिनि इस बात को अधिक स्पष्ट करके कुछ सूत्रों के द्वारा यूँ समझाते हैं: प्रातिपदिक या धातु 'सुप्' और 'तिङ्' के आगमन से पूर्व तद्भिन्न किसी अन्य (कृत्, तद्धित, आदि) प्रत्यय से संयुक्त हो जाएं,[5] तब उनके इन परिवर्त्तित रूपों को फिर से 'प्रातिपदिक' अथवा 'धातु' संज्ञा देनी होगी[6]; क्योंकि विभक्ति-प्रत्ययों

---

१. पा० ३. १. ९७ से ८४ तक सभी सूत्र 'प्रत्यय' का ही विधान करते हैं।

२. लस्य। पा० ३. ४. ७७। तथा, तिप्तस्०। पा० ३. ४. ७८। में से प्रथम अधिकारसूत्र है, जिसके द्वारा 'आदेश' की परम्परा आरम्भ होती है।

३. 'ङ्याप्प्रातिपादिकात्' सूत्र के अधिकार में।

४. कृत्, तद्धित, सन्नादि, सार्वधातुक, आर्धधातुक, आदि प्रत्यय।

५. पा० ३. १. ३१।

६. पा० ३. १. ३२, एवं १. २. ४६ आदि।

का कार्य उन मूल स्थितियों के बाद ही सम्भव होता है।[1]

इस प्रकार जहां तक वैदिक, संस्कृत, ग्रीक, आदि भोरोपीय भाषाओं का सम्बन्ध है, पाणिनि की मूल धारणा ठीक ही जँचती है। उनकी दृष्टि में सर्वत्र 'भू' धातु इसी रूप में 'तिङ्' आदि प्रत्ययों से संयुक्त नहीं होती। उसे **भूस्, भूव्, भविष्य,** आदि रूपों में बदलना पड़ता है। यही बात प्रातिपदिकों की 'सुप्' से पूर्व की स्थिति के विषय में भी कही जा सकती है। **'समास'** की स्थिति इस बात का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इन सभी स्थानों पर 'धातु' या 'प्रातिपदिक' संज्ञा का पुनर्विधान आवश्यक हो जाता है।[2] दूसरी ओर, 'अ' और 'आ' के रूप में जिन **'आदि प्रत्ययों'** की बात हमने कही है, पाणिनि उन्हें 'आगम' मानते हैं, **प्रत्यय नहीं।** आदिप्रत्यय के रूप में वे 'बहुच्' आदि जिन प्रत्ययों की सत्ता स्वीकार करते हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्र शब्द हैं। उनके परवर्ती वैयाकरण तो प्रत्यय के इस अन्त्य रूप के विषय में इतने निश्चिन्त थे कि वे **कृदन्त, णिजन्त, सन्नन्त, तद्धितान्त,** आदि **अन्त-प्रधान संज्ञाओं** का प्रयोग उसी रूप और प्रवाह में करते हैं, जिस तरह **'सुबन्त'** और **तिङन्त'** का। पर फिर भी, यह निश्चित है कि पाणिनि की धारणा को समस्त विश्वभाषाओं के लिए भौतिक या रूपात्मक दृष्टि से अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि, भावनात्मक दृष्टि से यह बात बहुत अंश तक सत्य अवश्य कही जा सकती है।

५.५ विश्वभाषाएं

विश्व की भाषाओं को हम मूलतः दो वर्गों में बाट सकते हैं: (क) प्रत्यय से संयुक्त भाषाएं **(योगात्मक)**, और (ख) प्रत्ययविहीन **(अयोगात्मक)** भाषाएं। **'योगात्मक'** भाषाओं में भी **दो मुख्य भेद** पाए जाते हैं: (क) शब्द रूप पर **प्रभाव डालने वाले,** या मूल शब्द से मिलकर एक हो जाने वाले, प्रत्ययों से युक्त भाषाएं, और, (ख) शब्द के मूल रूप को **अप्रभावित रखने वाले** प्रत्ययों से युक्त भाषाएं। **प्रथम** को **'श्लिष्ट योगात्मक'** और द्वितीय को **''अश्लिष्ट योगात्मक'** नाम भी दिया जाता है। इनमें भी **'श्लिष्ट योगात्मक' के दो भेद** गिने जा सकते हैं: **(क)** जिनमें प्रत्ययों की पृथक् पहचान नहीं की जा सकती, और अन्तः स्वरपरिवर्त्तन या अत्यन्त समस्त रूप आदि के द्वारा ही जिनमें परिवर्त्तन की सूचना मिलती है, **और, (ख)** जिनमें प्रत्यय पृथक् से पहचाने जा सकते हैं।

---

१. पा० ४. १. १, आदि।

२. 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा० ३. १. ३२) और 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (पा० १. २. ४६)।

प्रथम वर्ग में उत्तरी और दक्षिणी अमरीका की तथा सामी वर्ग की भाषाएं अन्तर्गृहीत हो जाती हैं। **द्वितीय वर्ग** की भाषाओं में प्रत्ययों का स्थान **आदि, मध्य,** या **अन्त** में से कहीं भी हो सकता है। '**अश्लिष्ट योगात्मक**' वर्ग की भाषाओं में भी प्रत्यय **आदि, मध्य,** या **अन्त** में कहीं भी जुड़े रहते हैं। उनमें अन्तर यह होता है कि प्रत्यय, शब्दरूप पर प्रभाव न डालने वाले रह कर, असंयुक्त ही रहते हैं। ऐसे प्रत्यय न तो शब्दरूप पर प्रभाव डालते हैं, और न ही उससे मिलकर **एकशब्दत्व** का आभास देते हैं। **तुर्की, तमिल,** आदि भाषाएं इसी वर्ग में आती हैं। **अफ्रीकी** भाषाओं को भी अनेक लोग इसी वर्ग में रखते हैं। किन्तु, वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। वहां प्रत्यय रूप में घट-बढ़कर मूलशब्द से एकाकार हो जाते हैं। '**बन्तू**' में '**अबु**' और '**अन्तू**' का योग है। नया बना रूप दोनों मूलों से भिन्न है।

अयोगात्मक या प्रत्ययविहीन भाषाओं की स्थिति भिन्न है। हम चाहें तो अमरीकी वर्ग की भाषाओं को भी इसी वर्ग में रख सकते हैं; क्योंकि उनमें भी प्रत्ययसंयोग नहीं होता। परन्तु, रूपात्मक परिवर्त्तन एवं समासबहुल प्रवृत्ति के कारण उन्हें यहां न गिनकर '**प्रत्ययप्रधान**' भाषाओं में ही गिनना चाहिए। चीनी, बर्मी, अन्नामी, आदि भाषाएं अवश्य ऐसी हैं, जिनमें न तो प्रत्ययों का प्रयोग होता है, और न ही जिनमें समासादि की उपलब्धि होती है। इन भाषाओं में शब्दों के **स्थान, स्वर,** आदि के परिवर्त्तन अथवा निपातों के प्रयोग आदि द्वारा विभक्ति और अर्थ में अन्तर का पता चल जाता है।

पर इस समस्त विभाजन को स्थूल ही कहा जा सकता है। वस्तुतः ऊपर **प्रत्ययप्रधान** या **प्रत्ययसहित** भाषाओं के जितने भी वर्ग बताए गए हैं, उन सबके उदाहरण अकेली संस्कृत में ही खोजे जा सकते है। अन्य कई भाषाओं में भी इस प्रकार के विविधतापूर्ण उदाहरण खोजे जा सकते हैं। इसीलिए हम **अन्तःस्वर-परिवर्त्तन** की बात अरबी, संस्कृत, अंग्रेज़ी, जर्मन, आदि विविध परिवारों की भाषाओं में समान रूप से घटती पाते हैं। उधर **अरबी** में, संस्कृत की भांति, कुछ प्रत्यय **आदि** और **अन्त** में आते पाए जाते हैं। अतः इस विषय में कोई अन्तिम बात निश्चय से नहीं कहीं जा सकती।

५.६ प्रत्यय : कुछ सत्य

यह सब चर्चा उस उद्देश्य से की गई है कि **प्रत्यय** की स्थिति को भली प्रकार समझा जा सके। ऊपर कहे गए प्रत्यय सम्बन्धी समस्त सत्यों का सार निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

(१) प्रत्ययों का सशरीर प्रयोग हो या न हो, सम्बन्ध और विभक्ति के भेदों को बताने का उनका कार्य, एक या दूसरे रूप में, सम्पन्न हो ही जाता है। **'प्रत्यय'** का शाब्दिक और कार्मिक अर्थ **'पहचान'** या **'विश्वास'** है। और, उसका निष्पादन विश्व की आदिमतम भाषा में भी हो ही जाता है।

(२) आवश्यक नहीं कि उनकी शारीरिक सत्ता सर्वत्र खोजी ही जा सके।

(३) आवश्यक नहीं कि मूल शब्दों से उनका पृथक्करण सर्वदा सम्भव ही हो।

(४) उनका स्थान शब्द के पूर्व, मध्य, या अन्त में कहीं भी हो सकता है।

(५) मूल शब्दरूप पर वे प्रभाव डाल सकते है, और उसके अप्रभावित रहते अपनी अभिव्यक्ति भी दे सकते हैं।

(६) वे अर्थतत्त्व में संशोधन-परिवर्धन अवश्य करते हैं। पर यह परिवर्त्तन केवल **'सम्बन्ध'** के अन्तर तक ही सीमित रहता है। उनका अपना स्वतन्त्र निश्चित अर्थ नहीं होता; संकेत भले ही हो।

५.७ पदों की पृथक् पहचान

प्रत्ययों की इतनी लचकीली परिभाषा और स्थिति को जानने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जहां प्रत्ययों की ही सत्ता नहीं है, वहां **नाम, विशेषण, क्रिया, आदि** पदों की पृथक् पहचान कैसे सम्भव हो पाती होगी ? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि हम विश्व की जिन समृद्ध भाषाओं से परिचित हैं, उन सब में ही नाम, क्रिया, आदि के भिन्न-भिन्न **पहचान-संकेत या 'प्रत्यय'** विद्यमान हैं। इसीलिए प्रथम दृष्टि में हमें यह असम्भाव्य प्रतीत होता है कि किसी भाषा में बिना प्रत्ययों के **धातु** और **प्रातिपदिक** में अन्तर किया जा सके। पर, फिर भी, यह सत्य है कि विश्व की प्रत्येक भाषा में प्रायोगिक रूप में यह अन्तर उपलब्ध होता ही है। एक भाषा को दूसरी भाषा में अनूदित करते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है।

५.७.१ क्रिया का महत्त्व

एक सार्वत्रिक सत्य यह है कि विश्व की किसी भी भाषा में **'क्रिया'** या

एक्शन के बिना वाक्य या वक्तव्य पूर्ण नहीं माना जा सकता। '**क्रिया**' का अर्थ, 'क्रियापद' से न होकर, वाक्य में कथित '**साध्य**' से है। यह तो सत्य है कि किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति किसी न किसी पदभेद से ही होती है। पर, वाक्य में यह शर्त आवश्यक नहीं रहती। **वाक्य** जिस सामूहिक अर्थ को अभिव्यक्ति देता है, उसमें बहुत कुछ **अकथित** रहने पर भी समझ लिया जाता है।[1] ऐसी '**अपद**' अभिव्यक्ति क्रिया की भी हो सकती है। ऐसी अभिव्यक्ति को भर्तृहरि '**चरितक्रिय**' कहते हैं।[2] पर, इसका अर्थ यह भी नहीं कि कोई भाषा बिना क्रियापदों के भी काम चला सकती है। '**क्रियापद**' के द्वारा अभिव्यक्त होने वाली भावना ही मूलत: '**क्रिया**' कहलाती है। उनका परस्पर सम्बन्ध शरीर और आत्मा का है। यह बात अलग है कि किसी भाषा में इन क्रियापदों के साथ 'तिङ्' या तत्सदृश प्रत्यय जुड़े हैं, और किसी में नहीं! प्रत्ययसहितता और प्रत्ययविहीनता भाषा के निजी सामान्य धर्म हैं। उन्हें बिना पहचाने पद-रूपों के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुंच जाना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

जिन भाषाओं में प्रत्ययसंयोग होता ही नहीं, वहां '**क्रिया**' में **काल और भाव** की अभिव्यक्ति के लिए पृथक्-पृथक् रूप अनुपलब्ध ही रहेंगे। वैसी अभिव्यक्ति किसी अन्य माध्यम से की जाएगी। भाषा की मूल प्रकृति पर विचार करने से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि मूलत: शब्द-प्रयोग पद-रूप में ही होता है। धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, आदि की कल्पना और प्रकृति-प्रत्यय का विच्छेदन **वैयाकरणों** के कल्पना-चमत्कार से जन्म लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यदि जन-प्रयोग, तथाकथित धातु-जन्य अनेक रूपों को न घड़कर, पृथक्-पृथक् पदों के प्रयोग को ही उचित समझता है, अथवा एक ही पदरूप द्वारा अनेक वचन-विभक्ति की अभिव्यक्ति देना चाहता है, तब उस भाषा के लिए अनेक प्रत्ययों की मान्यता का प्रश्न अनिवार्य नहीं रह जाता।

चीनी जैसी अयोगात्मक भाषाएं इसी वर्ग में आती हैं। उनके 'क्रियापदों' में पृथक् प्रत्यय न खोज पाने पर उन्हें क्रियापदों से ही हीन मान बैठना न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। क्रियापद वहां भी हैं। 'एकाच्' होने पर भी वे सभी कालों और वचनों की अभिव्यक्ति देने में समर्थ रहते हैं। जहां तक विभिन्न स्थितियों में प्रत्ययजन्य रूपभिन्नता का प्रश्न है, उक्त बात 'नामशब्दों' पर भी समान रूप से लागू होती है। यही स्थिति उस परिवार की अन्य भाषाओं की भी है।

---

१. वाक्यार्थस्य तदेकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित्' । वा० २. ४०।

२. 'वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्' ।। वा० २. ३२६ ।।

५.८. मूल समस्या

अतः मूल समस्या यह नहीं है कि प्रत्ययों के अभाव में पदभेदों की **पृथक् पहचान** कैसे हो ? प्रत्युत यह है कि प्रत्ययों के अभाव में भी इन पदभेदों में या इनकी स्थिति में वाक् में प्रयोग और अप्रयोग के कारण **कोई अन्तर आता है या नहीं** ? प्रत्ययों के अभाव में तो पद सामान्यतः अपरिवर्त्तित रहते ही हैं, किन्तु प्रत्ययों की विद्यमानता में भी बहुधा पद अपरिवर्त्तित रह जाते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत के **नदी** (प्रथमा, एकवचन), **अस्मत्-द्** (पंचमी, बहु०), **यद्** (नपुं० प्रथम एकवचन), **किम्** (नपुं०, प्र०, एक०), आदि शब्दों को लिया जा सकता है । इनमें तथाकथित प्रातिपदिक रूपों की अपेक्षा यत्किंचित् भी अन्तर नहीं आया है। इससे विपरीत स्थिति में इसका विरोधी रूप भी पाया जाता है। अतः विविध स्थितियों में रूपान्तर होना अनिवार्य नहीं है। पर, रूपान्तर हुए बिना भी विविध स्थितियों में विभक्त्यादि की सूचना मिल तो जाती ही है। यही बात चीनी आदि भाषाओं पर भी लागू होती है। और, यदि यह बात सत्य है, तब यह निष्कर्ष स्वतः निकल आता है कि केवल तथाकथित मूलशब्द रूप रहने पर भी वाक्प्रयोग की अवस्था में उससे विभक्त्यादि का बोध, उनकी-अर्थभावना के रूप में, हो ही जाता है। इस प्रकार शब्द का मूल रूप भिन्न दोनों स्थितियों **प्रकृति** और **पद** की स्थितियों—में **सप्रत्यय** और **अप्रत्यय** अर्थों को वहन करता है।

५.९ प्रकृति

'**पद**' की तुलना में संस्कृत व्याकरण हमें दूसरा शब्द '**प्रकृति**' बताता है। शब्द की प्रयोगावस्था का नाम यदि 'पद' है, तब उसकी प्रयोगपूर्व अवस्था को 'प्रकृति' कहना उचित है। 'प्रकृति' प्रयोग से पूर्व पद रूप में रूपान्तरित भी हो सकती है, और यथापूर्व रूप में भी रह सकती है। दोनों अवस्थाओं में सामान्य अन्तर प्रत्यय के असंयोग या संयोग का होता है। स्पष्ट है कि जहाँ **'पदरूप'** प्रकृति से **अभिन्न** होता है, वहाँ शब्द की अर्थ भावना से प्रत्ययभावना '**संयुक्त**' होकर रहती है। बाह्य अभिव्यक्ति भौतिक रूप में उसे नहीं मिल पाती। जहाँ **प्रत्यय** का भौतिक प्रयोग हो, और रूप में वह स्पष्टतः पृथक् हो, वहाँ शब्द के बाहरी रूप में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। **प्रत्यय को संयोग-विभाग या अन्वय-व्यतिरेक की प्रक्रिया द्वारा कहीं भी पहचाना जा सकता है**। भौतिक रूप में अनुपलब्ध रहने पर भी, प्रयोगाश्रित विवेचन के आधार पर उसकी सत्ता स्वीकार कर ही ली जाती है। प्रयुक्त रूप में से '**प्रकृति**' और '**प्रत्यय**' को अलग

करके दिखाना, या वैसी पृथक्ता असंभव प्रतीत होना, वैयाकरण की अपनी दिमागी सामर्थ्य पर अधिक आश्रित है।

५.१० प्रकृति का विनिश्चय

इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए हमें **'प्रकृति-विनिश्चय'** की प्रक्रिया को समझ लेना होगा। **'क्रिया'** और 'नाम' के विभक्ति प्रत्यय तो प्रायः सार्वत्रिक रूप में एक से ही माने जाते हैं। प्रत्ययप्रधान भाषाओं में **'क्रिया रूपों'** और **'नामरूपों'** को बनाने वाले तथाकथित प्रत्ययों के वर्ग प्रायः निश्चित और पृथक्-पृथक् होते हैं। कहीं-कहीं उनके स्थान पर कुछ दूसरे प्रत्यय भी आते दीखते हैं। परन्तु, कुल मिलाकर इन प्रत्ययों को निकालकर शेष शब्दराशि में से मूल रूप को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार 'विद्वान्','विदुषः' और 'विद्वद्भ्यः' **जैसे** विविध रूप वाले शब्दों में से **'विद्वस्'** के रूप में एक समान आधारवाला **'प्रातिपदिक'** खोज लिया जाता है। **'प्रत्यय'** की तुलना में इसे **'प्रकृति'** या मूल रूप कह दिया जाता है। **'निरुक्ति'** की दृष्टि से इसे भी प्रकृति-प्रत्यय के रूप में पुनर्विभाजित किया जा सकता है। किन्तु, अर्थतत्त्व की दृष्टि से **'विद्वस्'** उसी प्रकार से एक स्वतन्त्र इकाई है, जिस प्रकार इससे अलग की जा सकने वाली **'विद्'** धातु। कई बार इस सम्बन्ध में खींचातानी भी की जाती प्रतीत होती है। **'इदम्'**, **'अयम्'**, और **'अनेन'** आदि में **'इदम्'** को, तथा **'एषः'**, **'एतेन'** और **'एनेन'** में से **'एतद्'** को, मूलशब्द के रूप में पहचान निकालना कुछ मात्रा में समझ आ सकता है। पर **त्वम्, ते, युवाम्, यूयम्, युष्मभ्यम्, युष्मत्**, वः, आदि में से **'युष्मद्'**, को प्रकृति के रूप में अलग निकाल लेना केवल दिमाग़ी कसरत ही कहा जाएगा; जबकि सत्य यह है कि **'युष्मद्'**, **'त्व'**, **'युव'**, **'यूय'**, और **'वस्'** के रूप में अनेक मूल या 'प्रकृति' शब्द इन शब्द-रूपों में से खोजे जा सकते हैं। अंग्रेज़ी और अन्य भारोपीय भाषाओं में भी यही बात देखी जा सकती है। अंग्रेज़ी के **इज़्, आर, बी**, आदि भिन्न शब्द रूपों में से 'बी' को ही धातु माना गया है। **'मैन'** और **'वूमैन'** में बहुधा भ्रम से **'मैन'** को मूलशब्द स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु, सत्यतः दोनों ही स्वतन्त्र शब्द हैं[1]।

वैयाकरण इन सत्यों को पर्याप्त खोज के बाद स्वीकार करता है। भारतीय वैयाकरण तो गणितज्ञ की भाँति जोड़-तोड़ की प्रक्रिया द्वारा उस मूल

---

१. अंग्रेजी का **'वूमैन'** फ्रेंच **'फैम्'** और लातीनी 'दामेन्' के संयुक्त प्रभाव की देन हो सकता है। उच्चारण-साम्य के कारण स्पैलिंग का साम्य भी Analagy के कारण चल पड़ा है।

शब्द—धातु और प्रातिपदिक—को खोज निकालना चाहता है, जिससे छोटा किन्तु अखण्ड रूप अन्य कोई न हो सके। इस प्रकार प्रत्यक्षतः प्रयोगरूप भिन्न-भिन्न होने पर भी मूल रूप कुछ अन्य ही स्वीकार कर लिया जाता है।

निश्चय ही कई बार ये रूप वास्तविक न होकर कल्पनाश्रित और सुविधा-मूलक अधिक होते हैं। पर ऐसे 'कल्पनाश्रित' रूप इसलिए मानने पड़ते हैं कि वैसा न करने पर किसी शब्द के कुछ विभक्ति-वचन-रूप मिलेंगे और किसी के कुछ और ही[1]। परन्तु यह भी निश्चित है कि प्रत्यय-संयोग वाली भाषाओं में ही यह स्थिति संभव होती है। जिन भाषाओं में प्रत्यय-संयोग होता ही नहीं, वहाँ प्रातिपदिक या धातु के रूप में परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता। चीनी, बर्मी, आदि भाषाएं इसी परवर्त्ती अयोगात्मक वर्ग की हैं। परन्तु, दूसरी ओर, प्रत्यय-विहीन रहकर भी अमरीकी भाषाएं ऐसी हैं, जहाँ प्रयोगावस्था में शब्दों—प्राति-पदिकों और धातुओं—का मूलरूप, समासादि के कारण, इतना रूपान्तरित हो जाता है कि उसे पुनः खोज पाना स्वतः गणितज्ञ की सी तोड़-जोड़ के बिना सम्भव ही नहीं हो पाता। 'नाधोलिनिन' में से 'नातेन', 'अमोखोल्', 'निन्', को खोज निकालना, भारोपीय परिवार की भाषाओं में से प्रातिपदिक खोज निकालने से, किसी भी प्रकार कम दुरूह सिद्ध नहीं होता। हाँ, ऐसी भाषाएं एक बात में अवश्य समान हैं: किसी शब्द के निजी बाह्य रूप में यत्किंचित् परिवर्त्तन न आने पर भी प्रसंगानुसार, वहाँ विभक्ति, काल, वचन, आदि का विनिश्चय हो ही जाता है।

५.११ शब्दकोष के शब्दरूप से भेद

शब्दकोषों में दिया गया शब्दरूप जन-प्रयोग में प्रचलित पदरूप से भिन्न होता है। यह बात धातुओं और प्रातिपदिकों पर समान रूप से लागू होती है। परन्तु, यह बात भी उन भाषाओं पर ही लागू होती है, जिनमें विभक्ति-वचनादि के सूचक प्रत्यय विद्यमान रहते हैं। इतालवी के **'शेन्दो, शेन्दूतो'** और **'वेङ्गा, वेनूतो'** आदि विविध रूप हमें शब्दकोषों में नहीं मिलते। इनके स्थान पर केवल मूल धातुएं ही, **शेन्देरे** और **वेनीरे** के रूप में, मिलती हैं। संस्कृत में भी **कृ, भू, वृ,** आदि शब्दकोषस्थ धातुओं से शब्दकोष में आलेखित **'अभविष्यत्, करोतु, अवारीत्'**, आदि रूप कितने भिन्न हैं? यदि शब्दकोष में इन सबका अलग-अलग परिगणन किया जाए, तब पतंजलि की 'सप्तद्वीपा वसुमती' वाली, तथा पंचतन्त्र की 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्' वाली, बात अक्षरशः सत्य

---

१. 'युष्मद्', 'अस्मद्', 'अदस्', 'इदम्', आदि शब्द ऐसे ही हैं।

सिद्ध हो जाएगी। व्याकरण को **पतंजलि और भर्तृहरि** ने शब्दज्ञान का **'लघुतम उपाय'** कहा है। उनका यह कथन इसी दृष्टि से सत्य है कि व्याकरण में भाषा की मूल प्रवृत्तियों को जानने का यत्न किया जाता है। **धातु, प्रातिपदिक** और **प्रत्यय**, आदि की कल्पना इस 'मूल' को पहचानने के लिए ही की गई है। प्रत्ययों का एक निश्चित वर्ग पहचान लेने के बाद, इन मूलरूपों का निश्चय कर लेने से, शब्दों के तथाकथित पुनर्निर्माण और उनकी प्रयोगप्रक्रिया को समझ लेने में बहुत सरलता हो जाती है।

५.१२ संज्ञारूप

शब्दकोषों में क्रियारूपों की इस स्थिति की तुलना में संज्ञारूपों की स्थिति किंचित् भिन्न है। वहाँ हम बहुधा वही रूप उल्लिखित पाते हैं, जिसे **'प्रातिपदिक'** या **'प्रकृति'** के नाम से कहा जाता है। पर, बहुधा वहाँ हम ऐसे रूप भी पाते हैं, जो **प्रातिपदिक** प्रतीत तो होते हैं, पर मूलत: होते हैं उस शब्द के **प्रथमान्त** रूप ही। इस प्रकार शब्दकोष में **विद्वस्, महत्**, आदि प्रातिपदिक रूप उपलब्ध न होकर **विद्वान्, महान्**, आदि रूप ही उपलब्ध होते हैं। **प्रथमान्त** रूप को बहुधा प्रातिपदिक का ही प्रतिनिधि समझ लिया जाता है। हो सकता है कि कुछ कोष केवल मूल **प्रातिपदिकों** का रूप ही दें। उदाहरणार्थ, ऐसे बहुत से प्रामाणिक संस्कृत-अंग्रेज़ी या संस्कृत-हिन्दी शब्दकोषों के नाम गिनाए जा सकते हैं, जिनमें संस्कृत के **विद्वस्, महत्**, आदि मूल प्रातिपदिक रूप ही दिए होंगे। किन्तु, अंग्रेज़ी-संस्कृत, या हिन्दी-संस्कृत, आदि शब्दकोषों में संस्कृत शब्दों के रूप **विद्वान्, महान्** आदि ही दिए होंगे।

यह बात इसलिए स्पष्ट करनी पड़ी कि कहीं शब्दकोष में दिए हर शब्द-रूप को ही **प्रातिपदिक** और **धातु** के रूप में स्वीकार न कर लिया जाए। पर, यदि यह बात सत्य भी हो, तब भी यह स्मर्त्तव्य है कि व्याकरण के समान शब्दकोष को भी **'लघुतम उपाय'** के रूप में ही निर्मित किया जाता है। उसमें समस्त लोकप्रयुक्त पदरूपों को गिनाने की आतुरता नहीं रहती। फिर भी, शब्द-कोष में प्राय: **'व्यावहारिक'** रूप को ही प्रधानता प्राप्त होती है, भले ही वह रूप व्याकरण के **'प्रकृति'** रूपों से कुछ भिन्न ही हों।

५.१३ व्यावहारिकता

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि शब्दकोष में दिए गए शब्दरूप ही प्रयोग में आने वाले पदरूप नहीं होते। प्रयोग में आते समय उनमें प्रत्ययादि संयोग से, अथवा सम्बन्ध-भावना की प्रत्यय-विहीन जागृति से भी,

वस्तुस्थितिरपक यत्किंचित् अन्तर आ ही जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि शब्द-कोष में दिए गए शब्दरूप में **प्रयोगजन्य सम्बन्धभावना** का अभाव रहता है। प्रत्ययों का अस्तित्व और प्रयोग इसी सम्बन्ध भावना की अभिव्यक्ति के हेतु से होता है। और, यह अभिव्यक्ति उनके बिना भी हो ही जाती है।

दूसरे शब्दों में, प्रकृति और प्रत्यय का भौतिक विभाग न तो व्यावहारिक है, और न ही अनिवार्य। इसकी आवश्यकता व्याकरण अथवा शब्दकोष के क्षेत्र में 'लघुतम' या 'संक्षिप्ततम' उपाय को अपनाने के लिए ही स्वीकार की गई हैं। भाषा के प्रयुक्त पदरूपों के इस प्रकार के विभाजन या विभंग को भर्तृहरि **'अपोद्धार'** नाम देते हैं: एक क्लिष्ट कल्पनामात्र: **'अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्'**।[1] वास्तव में प्रयोगव्यवहृत रूप तो वह पदरूप ही है, जिसमें तथाकथित **'प्रकृति'** और **'प्रत्यय'** का स्वभावतः संयोग रहता है। कम से कम, यह संयोग प्रत्येक प्रयोग में प्रकृति-प्रत्यय का ध्यान रखकर नहीं किया जाता। फिर, यह संयोग भावना रूप में भी उतने ही महत्त्व का रहता है, जितना भौतिक रूप में। पर, भर्तृहरि तो वाक्-प्रयोग के बृहत् व्यापार में उस व्यावहारिक 'पदरूप' को भी 'स्वतन्त्र' और सत्तावान् कहना उचित नहीं समझते। उनकी दृष्टि में 'पद' और 'पदार्थ' की कल्पना केवल शास्त्रीय महत्त्व की ही हो सकती है, व्यावहारिक दृष्टि से उसका महत्त्व-स्वीकरण **'असिद्ध'** ही है:

> **व्यवहारश्च लोकस्य पदार्थैः परिकल्पितैः ॥ वा० ३.३.८६ ॥**
> **अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ॥ वा० २.१० ॥**
> **पदे न वर्णा विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवा न च।**
> **वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वा० १.७४ ॥**

५.१४ प्रकृति : दो रूप

ऊपर अनेकत्र 'धातु' और प्रातिपदिक' के रूप में **'प्रकृति के दो रूपों'** की चर्चा आई है। भारोपीय परिवार की सभी भाषाओं पर यह बात समान रूप से लागू होती है। इस बात को अधिक विस्तार से समझना इस दृष्टि से आवश्यक है कि उसके बाद प्रातिपदिक की धातु से उत्पत्ति मानकर भी उसकी पृथक् सत्ता की आवश्यकता को भली प्रकार समझा जा सकता है।

५.१५ धातु

यह नाम उस इकाई को दिया गया है, जिसे एक ही समझी जाने वाली

---

१. वा० ३. १. १, और वा० २. १०।

क्रिया के विविध काल-भाव-द्योतक रूपों का **'मूल'** समझा जाता है। इसे अंग्रेज़ी संज्ञा **'रूट'** का समानार्थक नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वहां 'रूट' का अर्थ **'मूल शब्दमात्र'** होता है, **'धातुमात्र'** नहीं। गणित की दृष्टि से इस इकाई को **'महत्तम समापवर्त्तक'**, और वैज्ञानिक दृष्टि से **'लघुतम योजक** (स्मॉलेस्ट कांस्टीचुएण्ट)**'**, कहा जा सकता है। एक क्रिया के सब रूपों को एकत्र रखकर, उनमें जो सबका **'मूल'** प्रतीत होता है, उसे ही **'धातु'** मान लिया जाता है। प्रतिबन्ध यही है कि यह 'मूल' **लघुतम** होना चाहिए।

५.१६ प्रातिपदिक

इसकी चुनाव-प्रक्रिया भी इससे मिलती है। अन्तर यह है कि यहां 'मूल' का **'लघुतम'** होना **अनिवार्य नहीं है**। उदाहरणार्थ, पूर्वकथित **'विद्वस्'** आदि प्रातिपदिकों में, 'विद्' आदि धातुओं और 'वस्' आदि प्रत्ययों को पृथक् पहचाना जा सकने पर भी, उन्हें **एक और अविभाज्य इकाई** ही समझा जाता है। कारण यह कि अर्थात्मक एकता की दृष्टि से वहां तथाकथित 'धातुओं' का कोई महत्त्व नहीं होता। इस प्रकार अधिकांश प्रातिपदिकों में से धातुओं का पृथक्करण सम्भव होने पर भी प्रातिपदिकों को अविभाज्य इकाई माना जाता है। किन्तु, 'धातु' वह छोटी से छोटी इकाई है, जिसका पुनः विभाजन किसी भी रूप में संभव नहीं हो सकता। फिर, **यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक प्रातिपदिक को धातुमूलक सिद्ध किया ही जा सकता है।**

५.१७ विभेदक तत्त्व

वास्तव में दोनों का विभेदक तत्त्व, आकार नहीं, **अर्थभावना** है। अर्थ-भावना की एकता **प्रयोजन** की एकता पर निर्भर करती है। प्रातिपदिक द्वारा ऊढ़ अर्थभावना को 'धातु' और 'प्रत्यय' की भावनाओं में विभक्त करके नहीं देखा जा सकता[1]। उसका अर्थ 'अभिन्न इकाई' के रूप में ही व्यक्त होता है[2]। पर, **क्रिया-रूपों** की स्थिति भिन्न है। वहां प्रत्ययों को पृथक् पहचानते ही जो 'मूल' बच जाता है, वही **'धातु'** कहलाता है। उसके विनिश्चय में 'समानमूलकता' की शर्त आवश्यक होने से, कभी व्याकरणात्मक आवश्यकता और कभी वैज्ञानिक सूक्ष्मता की आवश्यकता के कारण, कुछ जोड़-तोड़ से भी काम लेना पड़ता है। **'रमति'** और **'रामः'** (या **'पचति'** और **'पाकः'**) में 'रम्' की धातु रूप में उपस्थिति

---

१. 'शब्दस्य न विभागोऽस्ति'। वा० २. १३।

२. वा० ३. ३. ८७।

समान होने पर भी प्रथम में 'रम्,' को 'धातु', और द्वितीय में 'राम' को 'प्रातिपदिक' स्वीकार किया जाता है। इसका कारण उनकी व्यावहारिक सार्थकता एवं उपयोगिता है[1]।

५.१८ धातु : अव्यावहारिक

यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से दोनों ही 'मूल' **अप्रयुक्त** रहते हैं, फिर भी 'धातुरूप' तो नितान्त **अव्यावहारिक** सिद्ध होता है। अंग्रेज़ी और इतालवी आदि भाषाओं में जो 'टु गो' (to go), 'कम्प्रारे' (comprare) आदि प्रयुक्त पद दिखाई देते हैं, वे मूल धातु नहीं हैं। वस्तुतः वे संस्कृत के कृदन्त या 'तुमुन्नन्त' रूपों के प्रतिनिधि 'इन्फिनिटिव' के रूप हैं। केवल रूपात्मक एकता के कारण ही उन्हें एक नहीं मान बैठना चाहिए। पाणिनि इसे ही 'क्रियार्था क्रिया' की संज्ञा देते हैं[2]। अंग्रेज़ी प्रयोग में **'टु'** (to) की उपलब्धि **'चतुर्थ्यर्थ'** या **'तुमुन्'** के अर्थ को सूचित करने वाली है। वस्तुतः, ऐसे प्रयोग, क्रिया न कहलाकर, **'कृदन्त'**, **'क्रियार्थक संज्ञा'** या **'जीरण्ड'** आदि नामों से अभिहित होते हैं। अंग्रेज़ी का **'गोइङ्'** (going) दो रूपों में प्रयुक्त होता है : **'शतृ'** प्रत्ययान्त के अर्थ में और **'तुमुन्'** प्रत्ययान्त के अर्थ में। संस्कृत का **'गच्छन्'** और अंग्रेज़ी का **'गोइङ्'** वर्तमानकालिक होकर भी **संज्ञाएं** ही हैं। उन्हें हम किसी भी नाम से कह लें। **'गन्तुम्'** और **'गोइङ्'** क्रियार्थक, और कदाचित् भविष्यार्थक, **संज्ञाएं** हैं। अंग्रेज़ी का यह 'इङ्' प्रत्यय संस्कृत के **'ल्युट्'** या **'अन'** प्रत्यय के समान भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार, संस्कृत का **'गमनम्'** भी अंग्रेज़ी के **'गोइङ्'** का समानार्थक हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि शुद्ध 'धातु' का प्रयोग, भाषातत्त्व की दृष्टि से, सम्भव नहीं है। रूपात्मक दृष्टि से ऐसा सम्भव दीखने पर भी अर्थात्मक दृष्टि से ऐसा असम्भव है। इस बात को समझ कर हम उन भाषाओं में भी 'धातु' और 'क्रिया' के भेद को पहचानने में समर्थ हो सकेंगे, जिनमें या तो प्रत्यय नहीं होते, या जिनमें प्रत्ययसंयोग मूल शब्दरूप को **प्रभावित** नहीं करता।

५.१९ प्रातिपदिक : परिभाषा और स्वरूप

यह सब समझने के बाद यह भी उचित ही होगा कि हम **प्रातिपदिक** की परिभाषा और उसके स्वरूप को भी जान लें। इस शब्द का मूल अर्थ है : **प्रतिपद में मिलने वाला**। वह शब्द या शब्दांश, जो एक ही मूल से बने प्रतीत होने

---

१. वा० ३. ८. ४८।
२. 'तुमुण्ण्वुलौ०'। पा० ३.३.१०।

वाले विविध शब्दरूपों में, संयोग-विभाग और अन्वय-व्यतिरेक द्वारा, उपलब्ध **महत्तम समान अंश** की सूचना देता है, **'प्रातिपदिक'** कहलाता है। धातु की भांति यह भी स्वतन्त्र रूप में व्यवहार्य नहीं है। **राम, वधू, नौ,** आदि शब्दों का रूप भी संस्कृत में प्रयोग के समय यत्किंचित् बदलता ही है। पर, **कर्तृ, अनडुह्,** आदि प्रातिपदिकों का प्रयोगार्ह पदरूप मूल से पर्याप्त बदल जाता है। फिर, यदि अंग्रेज़ी, हिन्दी, आदि में यह मान भी लिया जाए कि संज्ञाएं बहुधा वचन-विभक्ति से हीन और मूल प्रातिपदिक के अनुरूप होती हैं, तब भी वहां पर हम कभी विभक्ति और कभी वचन से सम्बद्ध रूप प्रयोग में व्यवहृत पाते हैं, जो **'मूल रूप'** से भिन्नता को सूचित करते हैं। **लोगों** (हि०), **मुझे** (हि०), **हिम्** (him), **चिल्ड्रन्** (children), आदि की तुलना **लोग, 'मैं,' 'ही'**(he)' 'चाइल्ड', (child) आदि से करने पर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। इन भाषाओं में वाक्प्रयुक्त रूप सदा 'प्रातिपदिक' से अभिन्न नहीं होते। उदाहरणार्थ, यदि हम हिन्दी में साधारणतः मान्य **कर्त्ता, महान्, विद्वान्,** आदि को प्रातिपदिक मान कर चलें, तब **कर्तृत्व, महत्त्व, विद्वत्ता,** आदि शब्दों का उनसे सम्बन्ध सिद्ध करना असम्भव हो जाएगा। उसके लिए **'कर्तृ, महत्,'** आदि अन्य मूल शब्दों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। यही बात **'माता'** और **'मातृत्व'** आदि शब्दों पर भी लागू होती है। भाषातत्त्व की दृष्टि से या तो इन्हे दो पृथक् शब्द माना जाए, या फिर इनका मूल एक ही स्वीकार किया जाए ?

भाषाविज्ञान और **व्याकरण** लघुतम पथ को अपनाने की आवश्यकता पर बल देते हैं। भाषावैज्ञानिक नियमों के अनुसार 'ऋ' तो **'वृद्धि'** या **'गुण'** के द्वारा 'आ' या 'अ' में परिवर्त्तित हो सकता है, किन्तु 'आ' का परिवर्तन 'ऋ' में होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं माना जा सकता। इसलिए भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी 'माता' को दोनों अवस्थाओं में मूल शब्द स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः केवल शब्दकोषों में प्रदत्त रूप के बल पर ही हर शब्द को प्रातिपदिक नहीं स्वीकार किया जा सकता।

५.२० पद : प्रयोजन

पर मूल प्रश्न तो सब भाषाओं के लिए एक समान है। प्रश्न **'प्रातिपदिक'** और **'पद'** की स्थिति और प्रयोजन में अन्तर का है। वाक्-प्रयोग में पदों की पृथक् सत्ता केवल क्रिया से उनके सम्बन्ध के आधार पर ही कल्पित की जाती है। अन्यथा, वाक् का प्रयोजन **'वक्तव्य'** होने से सम्पूर्ण वाक्य ही अभिन्न ठहरता

है।[1] 'कारक' इसी सम्बन्ध-भावना को कहा गया है। यह आश्चर्य की बात है कि पाणिनि **'कारक'** और **'विभक्ति'** के रूप में **'सम्बन्धतत्त्व'** और **'प्रत्यय'** की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। 'वाक्य' की पूर्णता **'क्रिया'** के द्वारा होती है[2], भले ही उसकी अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट पद के द्वारा हुई हो, या केवल भावनात्मक रूप में ही[3]। 'अनन्तर पकने वाले फल की सूचना देनेवाली'[4] इस 'क्रिया' के निष्पादन में कर्त्ता को योग देने के हेतु ही अन्यत्र अन्य स्वतन्त्र कर्त्ताओं को उस वाक्य में विविध कारकों में परिणत करके अभिहित किया जाता है[5]। विभक्ति और वचन द्वारा इस 'कारक' का अभिधान आवश्यक और अनिवार्य नहीं है। अत: किसी भाषा में विभक्ति-प्रत्ययों का अभाव होने से 'कारकों का अभाव' भी स्वत: ही सिद्ध नहीं हो जाता।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि रूप की अभिन्नता रहने पर भी 'प्रातिपदिक' और 'पद' की स्थिति में किसी भी शब्द में कुछ न कुछ अन्तर आ जाता है, या नहीं? 'थ्री रैंक्स' (तीन क्रम) के सम्बन्ध में येस्पर्सन की कल्पना को हम पीछे स्पष्ट कर आए हैं। उस कल्पना का आधार यह है कि **नाम, सर्वनाम,** और **विशेषण** भी 'वाक्य' में व्यवहृत होने पर **सदा एक सा संकेत वहन नहीं करते।** उनकी स्थिति का परस्पर **विनिमय** होता ही रहता है; भले ही हम उन्हें रूपात्मक या किसी अन्य आधार पर पृथक्-पृथक् संज्ञाएं प्रदान करके अलग वर्गों में विभक्त मानते रहें। पद-प्रयोग की अवस्था में उनके पारस्परिक महत्त्व और स्थिति मे यह अन्तर उनके सम्बन्धतत्त्व में अन्तर आने के कारण होता है[6]। इन तीनों में से जब भी कोई पदभेद अपनी मूल स्थिति छोड़कर दूसरी स्थिति को प्राप्त करता है, तब उसका मूलत: अभिहित 'अर्थ' भी महत्त्वहीन और गौण हो जाता है। प्रथमा विभक्ति या कर्त्ता कारक के रूप में सामान्यत: शब्द का जो अर्थ होता है,अन्य किसी भी कारक में प्रयुक्त होते ही उसमें 'कर्मत्व' आदि की भावना प्रधान होकर उसके द्वारा 'संकेत' या 'शब्दार्थ' की **प्रतीति की भावनां मुख्य नहीं रहती**[7]। सत्य तो यह है कि 'कर्त्ता' की स्थिति में भी 'संकेतन' की अपेक्षा 'कर्तृत्व' की भावना प्रधान रहती है।[7] यह बात हर भाषा के लिए समान है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें, भाषा० वाक्य०, चतुर्थ अध्याय, 'वाक् की इकाई'।

२. वा० २. ४८, ४५४।

३. वा० २. २७१, ३२८, ४५५।

४. वा० ३. ८. १५।

५. वा० ३. ७. २३।

६. येस्पर्सन, दि फिला० ग्रा०, अध्याय ७, पृ० ९६-१०८, संस्क० १९५५।

७. अनभिहिते कर्मणि। पा० २.३.१।

८. 'प्रातिपदिकार्थ'। पा० २.३.४६॥

५.२१ प्रकृति-कल्पना : सत्य

'प्रकृति' के रूप में प्रातिपदिक और धातु की मान्यता को संस्कृत व्याकरण की अमूल्य देन समझ कर ही न रुक जाना चाहिए। हर समृद्ध भाषा के वैयाकरणों ने इस प्रकार की कल्पना का आश्रय लिया है। **अरबी** भाषा को **त्र्यक्षर** धातुओं से युक्त कहकर भाषाविज्ञान ने इस कल्पना को सत्यता प्रदान की है। **क़ातिल, क़त्ल, मक़्तूल, यक़्तुलु,** आदि में से क़्-त्-ल् को त्र्यक्षर धातु के रूप में अलग करपाना इसी कल्पना के कारण सम्भव हो पाता है। परन्तु, विचारणीय प्रश्न यह है कि 'नाम' और 'धातु' के रूप में दो अलग पदों की मान्यता अनिवार्य और उचित कही जा सकती है या नहीं ? ऊपर के विवेचन में इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक रूप में दिया जा चुका है। इन्हें 'दो' न मानने पर अनेक नए भ्रमों की सृष्टि हो जाएगी।

हां, यदि उस अर्थ में इसे असत्य कहना हो, जिसमें इसे भर्तृहरि **'अपोद्धार'** का परिणाम कहते हैं, तो उनकी वह मान्यता भी सत्य माननी होगी, जिसके अनुसार सारी पदभेद-कल्पना ही अर्थहीन और असत्य है[1]। यह कहा जा चुका है कि **'कारक'** के प्रयोग या उनकी मान्यता का प्रश्न वाक् की प्रयोगावस्था में ही उठता है। भर्तृहरि इसे **'समवायावस्था का धर्म'** कहते हैं।[2] कहा जा चुका है कि कारक का निश्चय **सम्बन्ध और क्रिया** के आधार पर होता है। वाक्य की सम्पूर्ण आत्मा ही **'क्रिया'** पर निर्भर रहती है, क्योंकि उसी के आधार पर फल के परिपाक का निर्णय होता है। अतः प्रत्येक पद के प्रयुक्त रूप का निर्णय क्रिया के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर रहता है। जब भर्तृहरि कहते हैं कि, 'वाक्य से पदों को अलग करते ही उनसे किसी वक्तव्य या भावना का वहन नहीं होता[3], तब उनका आशय यही होता है। **'रामस्य', 'मेरा'**, या **'आइनेन्'** (Einen ज०), आदि का प्रसंग से व्यतिरिक्त अस्तित्व अर्थहीन है, क्योंकि वह अनेक प्रश्न या जिज्ञासाओं को जन्म देता है। वाक्य की शर्त है : **'निराकांक्षस्य सर्वतः'**[4]। यदि यह शर्त पूरी नहीं होती, तब वाक्य-स्थिति भी नहीं रहती[5]। उस दशा में **'पद'** रूप ही निरर्थक हो जाता है। तब भी, इसे व्याकरण और भाषा-विश्लेषण की एक अनिवार्यता समझ कर, पाणिनि के समान ही, भर्तृहरि ने भी पूर्णतः वर्णित किया है। और, विश्व के अन्य वैयाकरण भी इसी हेतु इसका वर्णन करते हैं।

---

१. वा० १.७४; २.२८।
२. वा० ३. ३. ५-११।
३. वा० ३. ३. १२।
४. वा० २. ६, १४।
५. वा० २. ४८।

यह सत्य है कि हर प्रयोक्ता **धातु और प्रत्यय**, अथवा **प्रातिपदिक और प्रत्यय**, का विचार करके और मन में उनका व्याकरणात्मक सन्धान करके प्रयोग में प्रवृत्त नहीं होता। पर, यह भी सत्य है कि इस प्रकार का विश्लेषण करके समझ लेने के बाद—चाहे यह कल्पना कितनी ही निस्सार हो—भाषा की सामान्य प्रवृत्ति को समझने और नए शब्दों के प्रचलन को समझने में सहायता मिलती है।[1] इससे भाषा का विकास स्वल्पतम प्रयास और तीव्रतम गति से हो सकता है। इसीलिए व्याकरण को 'शब्दज्ञान का लघुतम उपाय' कहा गया है।[2]

५.२२ प्रत्यय-संयोग से पूर्व

यहाँ एक अन्य सत्य पर विचार कर लेना भी अभीष्ट होगा। भर्तृहरि ने वाक्प्रयोग अथवा वाक्यावस्था में 'पद' की महत्त्वहीनता की जो बात कही है, वह उपेक्षणीय नहीं है। '**स्फोट**' या '**समर्थता**' सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक पाणिनि से पूर्व ही कदाचित् यह धारणा पुष्ट रूप ग्रहण कर गई थी। पाणिनि एक सूत्र के द्वारा हमें यह बताते हैं कि कारक-संयोग के समय प्रातिपदिक अपनी मूल स्थिति को छोड़कर '**अंग**' बन जाता है[3]। यह 'अंग', महज़ एक परिभाषा न होकर, एक वस्तु स्थिति का इंगित है।

यह सत्य है कि पाणिनि की सभी पारिभाषिक संज्ञाएं सार्थक नहीं हैं। पर, अन्य बहुत सी सार्थक संज्ञाओं की भाँति '**अंग**' संज्ञा भी सार्थक है। इसके द्वारा पाणिनि भाषा की प्रयोगात्मकता के सम्बन्ध में एक महान् सत्य को उद्घाटित कर रहे हैं। हम देख ही चुके हैं कि 'पद' के रूप में आजाने पर शब्द में '**शब्दार्थ**' या '**प्रातिपदिकार्थ**' महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं रह जाती। जहाँ '**प्रातिपदिक-कल्पना**' के मुख्य आधार रूप में शब्द के मूल संकेत या उसके संकेतन-सामर्थ्य को लिया गया है, वहाँ '**पद-कल्पना**' का मुख्य आधार उसके '**साध्य**' या '**क्रिया**' से सम्बन्ध को लिया गया है। दूसरे शब्दों में, 'पद' या प्रयोगार्ह रूप ग्रहण करते ही शब्द की तथाकथित मूल संकेतन-सामर्थ्य में कमी आ जाती है। प्रयोग में क्रिया से सम्बन्ध की यह भावना—या '**कारकभावना**'—विभक्ति-प्रत्ययों के माध्यम से भी प्रकट हो सकती है, और उनके प्रयोग के बिना भी। जहाँ प्रत्यय-संयोग से ही इस सम्बन्ध-भावना का परिज्ञान होता है, उन भाषाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय संयोग से पूर्व प्रातिपदिक अपनी स्वतन्त्र सत्ता का परित्याग

---

१. वा० ३. ३. ८८।

२. महा० १. १. १, एवं भर्तृहरि की त्रिपदी टीका का वही स्थल।

३. पा० १. ४. १३।

करके, सम्बन्धानुकूल बनने के लिए, '**अंग**' या बृहद् वक्तव्य-भावना का '**अंश**' बन जाता है। वस्तुतः **अंग** संज्ञा शब्द की इस हीन दशा को ही सूचित करती है। सत्य यह भी है कि 'प्रातिपदिक' व्याकरण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त वह अप्रयुक्त स्थिति है, जिसे व्यावहारिक स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं है। वाक्प्रयोग में वह तथाकथित प्रत्ययसंयुक्त रूप में ही उपलब्ध होता है। इस प्रत्ययसंयोग के लिए वह जिस पराश्रित स्थिति को प्राप्त होता है, उसे ही '**अंग**' कहा गया है। यदि '**पद**' को व्यावहारिक इकाई भी मान लिया जाए, तब भी प्रत्यय के बिना '**प्रकृति**' उस पद-निर्माण में '**अंग**' या '**अंशरूप**' में ही कही जाएगी। अर्थात्मक दृष्टि से भी इसे अब अपने अतिरिक्त '**अन्य कुछ**' का आश्रय लेना पड़ा है। इस '**कुछ और**' के जुड़ने के बाद ही व्यवहार में उस शब्द को '**प्रयोज्य**' या '**पद**' माना जाता है। अतः वस्तु स्थिति की दृष्टि से '**पद**' से पूर्व की यह '**अंग**' संज्ञा उचित ही प्रतीत होती है।

५.२३ प्रत्यय : विभाग

प्रातिपदिक की चर्चा में हम, पिछले अध्याय में, कह आए हैं कि पाणिनि प्रातिपदिक और धातु के समान **प्रत्यय** को भी '**अर्थवत्**' मानते हैं। परन्तु, वहाँ हमने यह भी स्पष्ट किया है कि पाणिनि ने ऐसा '**वाक् की इकाई**' सिद्ध करने के प्रसंग में **नहीं** कहा है। वहाँ वे मूलतः **अर्थतत्त्व** और उसकी स्वतन्त्रता पर विचार ही नहीं कर रहे। प्रत्यय को वे **सम्बन्धतत्त्व का ही वाहक** मानते हैं, और उसे '**परवर्त्ती**' स्थान देते हैं।[२] उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं होती। वह प्रातिपदिक और धातु के संयोग में ही रहता है। पर, इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि उसका अपना कोई अर्थ या संकेत नहीं होता। सत्य यह है कि उसके संयोग से धातु और प्रातिपदिक के अर्थ में कुछ न कुछ अन्तर आ ही जाता है। **तद्धित**, **कृदन्त**, आदि प्रत्यय तथाकथित मूल शब्द के अर्थ में कुछ '**परिवर्त्तन**' या '**परिवर्धन**' लाते ही हैं। हाँ, जहाँ अर्थ में, केवल परिवर्त्तन या परिवर्धन न होकर, बिल्कुल ही अर्थान्तर हो जाता है, वहाँ ऐसा प्रत्यय के कारण होता नहीं मानना चाहिए। वहाँ रूढ़ि या नवप्रयोग के कारण ऐसा होता मानना उचित है। स्पष्ट है कि—

(क) **प्रत्यय किसी अर्थभावना को ही द्योतित करता है, उसका जन्म ही इस हेतु से होता है;**

---

१. पा० १. २. ४५।

२. पा० ३. १. २।

३. वा० ३. ३. ५३-५४।

(ख) वह प्रातिपदिक की भावना में कुछ परिवर्त्तन-परिवर्धन भी कर देता है;

(ग) पर वह किसी अर्थ को स्थानान्तरित और स्थानापन्न नहीं कर सकता।

५.२३.१ भिन्न-भिन्न रूप

यह परिवर्त्तन-परिवर्त्तन भी भिन्न-भिन्न रूप में होता है। रूप और प्रभाव में एक और समान दीखने वाले प्रत्यय (यथा, संस्कृत के अ, य, आदि) बहुधा भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रभावों और अर्थान्तरों के साथ प्रयुक्त होते देखे गए हैं। अत: प्रत्ययों को आकृति या वर्ण की समानता के आधार पर उन्हें किसी एक निश्चित अर्थभावना से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। विभक्ति और तिङ्-प्रत्यय तो **संख्या, काल, दिक्, कारक**, आदि की सूचना देने वाले माने गए हैं। पर, उनके अतिरिक्त प्रत्ययों की एक विशाल राशि है, जिसे अधिक से अधिक एक **स्थूल वर्गीकरण** की ही सीमा में लाया जा सकता है। यह वर्गीकरण विविध अर्थ-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। पर, होगा यह स्थूल वर्गीकरण ही। अर्थात्मक दृष्टि से भी इसे विनिश्चायक नहीं कहा जा सकेगा। यह स्थिति हर प्रत्यय संयुक्त भाषा के साथ किसी न किसी रूप में सम्भव है। अंग्रेज़ी में मेण्ट (ment), इक् (ic), ली (ly), इव् (ive), इङ् (ing), शन् (tion), अन् (on, en), इश् (ish), इफ़् (if), एड् (ed) या ड् (d) एवं ट (t), आदि प्रत्ययों के अर्थ यत्किंचित् निश्चित से ही हैं। पर, बहुधा ये भिन्नार्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। या, कहीं प्रयुक्त होकर भी निश्चित समझे जाने वाले अर्थ को व्यक्त नहीं करते। **ग्रीक और लातीनी** के प्रत्यय तो स्पष्टत: **संस्कृत प्रत्ययों के समान** ही वर्गीकृत हैं। बहुत से प्रत्यय तो हैं भी एक से ही। **तुर्की, अफ्रीकी, सामी और हामी** परिवार की भाषाओं में भी इस प्रकार का वर्गीकरण सरलता से किया जा सकता है।

५.२४ चार विभाग

प्रत्ययों का यह विभाजन या वर्गीकरण संस्कृत व्याकरण के अनुसार मूलत: चार शीर्षकों में बाँटा जा सकता है:

(क) **विभक्ति प्रत्यय** अथवा सुप्-तिङ्।

(ख) **धातुप्रत्यय** या कृदन्त।

(ग) **तद्धित** या प्रातिपदिक-प्रत्यय।

(घ) **अन्य**।

प्रत्ययों का यह वर्गीकरण प्राय: सभी प्रत्यय-संयुक्त भाषाओं के विषय में सही बैठेगा। इसका सम्पूर्ण आधार 'प्रातिपदिक' और 'धातु' की इकाई-कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की इकाई-कल्पना प्रत्यय से युक्त या रहित सभी भाषाओं के लिए एकसी ही की जाती है। अन्तर इतना ही है कि प्रत्यय-विहीन भाषाओं में, प्रत्यय के अभाव में, किसी वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। इनमें से **प्रथम वर्ग** के प्रत्यय 'प्रातिपदिक' और 'धातु' दोनों के बाद जुड़ते हैं। **दूसरे वर्ग** का सम्बन्ध केवल धातुओं से, और **तृतीय** का केवल प्रातिपदिकों से है। अर्थवत्ता की दृष्टि से 'प्रथम' का सम्बन्ध केवल **कारक**, **संख्या** और **पुरुष** की सूचना देने से है। 'द्वितीय' वर्ग क्रिया के अर्थ को क्रमहीन करके '**नाम**' या '**विशेषण**' में बदलने में सहायता देता है। पर, यहाँ धातु का मूल अर्थ स्थिर रहता है। 'तृतीय' का कार्य 'समास' के स्थान पर अर्थ से सम्बद्ध '**पूर्व-भिन्न सूचना**' देना होता है। 'चतुर्थ' वर्ग उक्त सभी प्रत्यय-वर्गों से भिन्न प्रवृत्ति का और अधिकांश सोद्देश्य कल्पना पर आश्रित है।

५.२५ प्रथम वर्ग : विभक्ति प्रत्यय

इसका विभाजन पुन: '**सुबन्त**' और '**तिङन्त**' के भेद से दो वर्गों में किया जा सकता है। इस **वर्ग** के प्रत्यय कार्यसीमा की दृष्टि से संख्या में निश्चित होते हैं। भाषाभेद और उसके प्रयोगभेद की दृष्टि से इस संख्या में कमी या अधिकता हो सकती है। संस्कृत में '**द्विवचन**' की विद्यमानता के कारण दोनों प्रकार के प्रत्ययों की संख्या ड्योढ़ी हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई भाषाओं में इन प्रत्ययों का विभाजन '**विभक्ति-वचन** या **पुरुष-वचन** की संख्या पर पूरी तरह आश्रित नहीं होता। स्वयं संस्कृत में ही प्रातिपदिकों में '**अस्**' चार स्थानों पर, '**भ्याम्**' तीन जगह, '**औ**' और '**ओस्**' दो-दो स्थानों पर, और '**भ्यस्**' दो स्थानों पर प्रयुक्त होता है। इस प्रकार आठ प्रत्यय रूप कुल संख्या में से घटाए जा सकते हैं। पर, यह बात बहुत से स्थानों पर सही नहीं उतरती। उधर, नपुंसकलिंग में, प्राय: सभी भारोपीय भाषाओं में, प्रथमा और द्वितीया अथवा कर्त्ता और कर्म में, एक से ही प्रत्यय पाए जाते हैं। भाषाभेद से विभक्ति और वचन की संख्या में भी अन्तर आ जाता है। प्रत्ययों के स्वरूप में तो अन्तर आ ही जाता है। उदाहरणार्थ, यूरोप की भाषाओं में से कुछ में तीन और कुछ में चार या पाँच विभक्तियाँ तक पाई जाती हैं। भाषावैज्ञानिक सत्य यह भी हो सकता है कि इन सीमित विभक्तिरूपों से ही सभी सात विभक्तियों' का कार्य

वहन हो जाता है। अतः पाणिनि की परम्परा में यही कहना अधिक उचित होगा कि अनेक विभक्तियों का कार्य ऐसी जगह एक ही विभक्ति कर लेती है[1]। पालि, प्राकृत, आदि में तो ऐसा हो भी गया था।

५.२६ द्वितीय वर्ग : कृदन्त प्रत्यय

इन प्रत्ययों को सामान्यतः धातु-परक प्रत्यय मान लिया जाता है। पर, यह सत्य अवधेय है कि इन प्रत्ययों के परिणाम से जो शब्दरूप हमें प्राप्त होते हैं, उन्हें 'क्रियामूलक' होते हुए भी 'क्रिया' के वर्ग में नहीं रखा जा सकता। वे शब्दरूप मूलतः **'संज्ञा'** ही ठहरते हैं। संस्कृत के **'शतृ'** और अंग्रेज़ी के **'इङ्'** (ing) की समानता अवलोकनीय है। ये दोनों **'सतत वर्त्तमान'** को द्योतित करके भी अन्ततः संज्ञावर्ग में ही सिद्ध होते हैं। आकार की समानता होने पर भी इनसे भिन्नार्थ की प्रतीति होनी सम्भव है। और, आकार में भिन्न होने पर भी ये समान अर्थ के वाहक हो सकते हैं। भारोपीय परिवार की सभी भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्ययों की भरमार है। यहाँ कुछ के उदाहरण ही पर्याप्त होंगे :

(क) **अंग्रेज़ी** : मेण्ट् (ment), इक् (ic), ली (ly), इव् (ive), इङ् (ing), शन् (tion), इश् (ish), इफ् (if), ड (d), ट (t), आदि। ये **'कृदन्त'** हैं।

(ख) **इतालवी** : इयो (io), आर्सी (arsi), ओ (o), मेन्ते (mente), आबिले (abile), वोले (vole), ऊतो (uto), आदि प्रत्यय।

(ग) **जर्मन** : उङ् (ung), इश् (isch), एन् (en), इक् (ik), एण्ड् (end), आदि प्रत्यय।

(घ) **फ्रेंच** : इयों (ion), आसियों (acion), मों (ment), ईक् (ique), औं (en), आदि।

प्रत्ययों की यह गणना केवल उदाहरणार्थ ही दी गई है। इसके अतिरिक्त एक बड़ी राशि उनकी और भी है।

धातु के बाद लगकर संज्ञा बनाने वाले ये प्रत्यय सार्थक और साभिप्राय ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका प्रयोग प्रायः स्थिर अर्थों में ही होता है।

५.२७ तद्धित प्रत्यय

इस प्रत्यय वर्ग की यह विशेषता है कि इसमें आनेवाले प्रत्यय केवल **'संज्ञाओं'** के साथ ही जुड़ते हैं। इनके योग के बाद शब्द जैसे नया ही बन जाता

---

१. पा० ८. १. २०-२३।

है। पुराने प्रातिपदिकार्थ के साथ नई भावनाओं का योग कुछ ऐसे हो जाता है कि नए रूप द्वारा एक सर्वथा नए द्रव्य या अर्थ का कथन होता प्रतीत होता है। 'गर्ग का पुत्र या वंशज' अब **'गार्ग्य'** कहलाता है। **जातिवचन** में केवल **'गर्ग'** कहकर भी काम चल जाता है। स्त्रीलिंग में यह **'गार्गी'** बन जाता है। **'क्षत्र'** से **'क्षत्रिय'** और **'क्षात्र'** आदि रूप बन जाते हैं। ये नए शब्दरूप सम्बद्ध अर्थ को वहन करके भी नए द्रव्य, व्यक्ति या जाति की सूचना देते हैं। ऊपर कही भाषाओं में भी इन प्रत्ययों को अलग करके खोजा जा सकता है। अंग्रेजी के इश् (ish) लाइक (like), ई (ee), इज़्म (ism), अर् (er), इस्ट (ist), ऑयड् (oid), आदि इसी प्रकार के प्रत्यय हैं। यह प्रवृत्ति भी प्रत्यय-प्रधान सभी भाषाओं में समान रूप से पाई जाती है।

५.२८ अन्य प्रत्यय

इस वर्ग का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसे कई उपविभागों में बाँटा जा सकता है। संस्कृत व्याकरण में इस वर्ग का सबसे बड़ा उप-वर्ग **'उणादि'** के नाम के नाम से जाना जाता है। सामान्यत: **इनका उद्देश्य** भी यही माना गया है कि इनके संयोग से धातु से, कृदन्तों की भाँति ही, **क्रियागत संज्ञाओं का निर्माण** होता है। पर, इनका कार्य 'कृदन्त' से **'भिन्न'** है। हम ऊपर कह आए हैं कि पूर्वोक्त तीनों प्रत्यय वर्गों का महत्त्व अर्थ की दृष्टि से स्थायी है। किन्तु, यह चतुर्थ वर्ग ऐसा है कि जिसमें प्रत्यय की पहचान तो हो जाती है, किन्तु उसका कोई अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता। वास्तविकता यह है कि **जिन शब्दों में हम किसी मूलार्थ (या धात्वर्थ) को पहचानने में समर्थ होते हैं, परन्तु उसमें सामान्य कृदन्त प्रत्ययों की सी सार्थकता और समरूपता नहीं पाई जाती, उन्हें 'उणादि' कहा गया है।**

दूसरा उप-वर्ग विभक्ति-स्थानीय प्रत्ययों का है। संस्कृत में ऐसे प्रत्यय **त, त्र, ह, अ,** आदि हैं। **तीसरा** उपवर्ग लिंग-सूचक प्रत्ययों का है। **ई, आ,** आदि ऐसे प्रत्यय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रत्यय भी इसी वर्ग में आ सकते हैं।

प्रत्ययों के इन सब वर्गों-उपवर्गों पर कुछ अधिक विस्तार से विचार अपेक्षित है।

५.२९ विभक्ति प्रत्यय

विभक्ति नाम विभाजन के आधार पर पड़ा है। विभाजन यहाँ **वचन, कारक** और **पुरुष** आदि के भेद से होने वाले शब्द-रूपों का होता है। हमने

'विभक्ति' संज्ञा का प्रयोग **'नाम'** और **'क्रिया'** के विभाजन के लिए दोहरे रूप में किया है। अन्यथा, संस्कृत व्याकरण में इन्हें **'विभक्ति'** और **'पुरुष'** दो नामों से अभिहित किया गया है। पाणिनि ने धातु और प्रातिपदिकों के साथ जुड़नेवाले इन प्रत्ययों को क्रमश: **'तिङ्'** और **'सुप्'** के नाम से दो वर्गों में विभक्त किया है।

५.२९.१ कारकत्व

कहा जा चुका है कि **'कारक'** का आधार **'क्रिया'** पर अवश्य होता है, पर कारकत्व का निवास स्वयं क्रिया में नहीं होता। क्रिया के अविचलित केन्द्र के चारों ओर कारकचक्र निरन्तर गतिशील रहता है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि बिना कारकों के क्रिया प्रयुक्त नहीं हो सकती। सत्य यह है कि समस्त कारक-कल्पना 'क्रिया' के आधार और उसकी धुरा पर ही की जाती है। जिस प्रकार अरों के बिना भी धुरा अपनी गति के बल पर घूमती ही रहती है, उसी प्रकार 'क्रिया' भी बिना बाह्य कारकों के अपनी अन्तर्हित सम्बन्ध-भावना के बल पर ही प्रयुक्त होती है। इस प्रकार **'वर्षति'** और **'मेघो वर्षति'** का अर्थ एक ही ठहरता है। इस सम्बन्ध-भावना को हम **'क्रिया'** की वह **प्रतिक्रिया** कह सकते हैं, जो साध्य की पूर्णता के लिए **कर्त्ता, कर्म**, आदि से अपना सम्बन्ध बना लेती है।

५.२९.२ पुरुष

कर्त्ता से **क्रिया** के इस स्वाभाविक सम्बन्ध को, बिना किसी पृथक् **'कर्त्ता'** शब्द के प्रयोग के भी, जिस माध्यम से अभिव्यक्ति मिलती है, उसे **'पुरुष'** कहते हैं। इस माध्यम की अभिव्यक्ति सामान्य प्रत्ययों से ही होती है। अर्थात्, प्राय: क्रिया के प्रयुक्त रूप से ही **कर्त्ता के 'पुरुष'** का आभास हो जाता है। यह भी **'सम्बन्ध-तत्त्व'** की अभिव्यक्ति ही कही जाएगी। दूसरे शब्दों में, **'पुरुष' का वर्गीकरण कर्त्ता का ही वर्गीकरण कहा जा सकता है**। यदि वक्ता स्वयं कर्त्ता है, तब उसे **'उत्तम पुरुष'** कहते हैं। यदि वक्ता के स्थान पर श्रोता उस क्रिया का कर्त्ता है, तब उसे **'मध्यम पुरुष'** कहते हैं। पर यदि वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त कोई अन्य कर्त्ता है, तब उसे **'प्रथम पुरुष'** की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार वास्तव में **'पुरुष'** के विविध वर्ग **'कर्त्ता'** की ही विविध स्थितियाँ, या उसके ही **विविध वर्ग**, हैं। क्रिया के साथ इनका योग हर भाषा में इसी प्रकार नहीं होता। भारोपीय भाषाओं में उक्त स्थिति ही सत्य है। **अन्यत्र अन्तर** भी मिलता है। 'कर्त्ता' की **एकता-अनेकता** को प्रातिपदिक या नाम में **'वचन'** वहन करते हैं।

क्रिया में 'पुरुषों' के साथ भी वे ही **'वचन'** संयुक्त होकर 'कर्त्ता' के उस **संख्यात्मक अंश** को अभिव्यक्ति देते हैं। अन्य कारकों का सम्बन्ध क्रिया के साथ कर्त्ता के द्वारा, या उसके माध्यम से, ही होता है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि जिस अन्तिम सत्य को कहते हैं, वह यह है कि, "**सभी कारकों का मूल अस्तित्व 'कर्त्ता' के रूप में ही होता है**[1]। वाक्यावस्था में वे अपनी क्रियाओं की भावना को स्वयं में अन्तर्हित करके क्रियारूप अपने फल को तथाकथित मुख्य क्रिया के अर्पित कर देते हैं"।[2] इसे ही इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, "**वे अपने-अपने कर्तृत्व को प्रमुख क्रिया के कर्त्ता के प्रति अर्पित करके उसके द्वारा विधीयमान क्रिया के निष्पादन में ही अपना योगदान देते हैं**"।[3] यह सब बात हम बाद में विस्तार से बताएंगे[4]। यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट होगा कि 'कारकत्व' का सम्बन्ध 'क्रियारूप' से नहीं बैठता। परन्तु, यह भी सत्य है कि कर्त्ता की अन्तर्हित भावना के कारण 'क्रिया' में, 'साध्यत्व' के साथ-साथ, 'साधकत्व' की भावना कम से कम उन भाषाओं के क्रियारूपों में अवश्य ही उपस्थित है, जिनमें भारोपीय भाषाओं के समरूप सम्बन्धतत्त्व का योग होता है। इस प्रकार यदि 'कर्तृत्व' को कारक-मूल स्वीकार किया जाए, तो 'क्रिया' में ही कारकत्व का निवास भी मूलत: स्वीकार करना ही पड़ेगा। 'पुरुष' इसी का संकेत है[5]।

क्रियाओं के सम्बन्ध तत्त्व के प्रसंग में इतना और स्मर्त्तव्य है कि प्रातिपदिक की अपेक्षा इसके द्वारा 'कालतत्त्व' की अभिव्यक्ति विशेष होती है। इसीलिए कालवाची तिङ्-भिन्न—शतृ, शानच्, आदि—प्रत्ययों को भी पाणिनि ने 'क्रिया-प्रत्यय' ही स्वीकार किया है[6]। यद्यपि साथ ही साथ वे इन्हें किसी भिन्न आधार पर भी स्वीकार करते हैं[7]। कौण्ड भट्ट ने इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की भावना को 'वैयाकरण भूषणसार' में अधिक स्पष्ट किया है।

५.३० 'सुप्' या नाम-विभक्ति

'सुप्' या कारक के विभक्ति प्रत्ययों की स्थिति कुछ भिन्न है। **कारकों की संख्या** के अनुसार ही सामान्यत: **विभक्तियों की संख्या** माननी न्यायसंगत प्रतीत होती है। पर, यह बात कसौटी पर सत्य नहीं उतरती। विश्व की विभिन्न भाषाओं में कारकों और विभक्तियों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी गई है। कहीं

---

१. वा० ३. ७. १८
२. वा० ३. ७. २०।
३. वा० ३. ७. २२-२३।
४. इसी प्रबन्ध का अध्याय-१०।
५. इस सम्बन्ध में 'वैयाकरण भूषण सार' का 'धात्वर्थ निर्णय' अवलोकनीय है।
६. पा० ३. २. १२४।
७. पा० ३. २. १२७।

आठ, कहीं सात, कहीं **चार**, और कहीं कम संख्या में विभक्तियों की सत्ता स्वीकार की गई है। सम्भव है प्रारंभ में प्रत्येक कारक के लिए पृथक्-पृथक् विभक्ति की ही कल्पना की गई हो। किन्तु, एक बार विभक्ति-रूप स्थिर हो जाने के बाद जन-प्रयोग के वैविध्य को सीमित करना सरल नहीं रह जाता। सरलता की चाह भी अभिव्यक्ति की चाह के समान ही बलवती होती है। **सरलता की खोज में ही एक विभक्ति का अनेक कारकों में, अथवा एक कारक का अनेक विभक्तियों में, प्रयोग रूढ़ होने लगता है।** कालान्तर में कुछ विभक्तियाँ 'अधिक' या 'निरर्थक' भी लगने लगती हैं। समय के साथ-साथ उन्हें छोड़ भी दिया जाता है, या उनमें कुछ की वृद्धि भी की जाती है। **संस्कृत** में इन विभक्तियों की संख्या **सात** (या **आठ**) है। यूरोपीय भाषाओं में प्रायः **चार** ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। परन्तु, इतने से ही उनकी पारिवारिक भिन्नता सिद्ध नहीं हो जाती। स्वयं प्राकृत और अपभ्रंश में भी विभक्तियों की यह संख्या इसी रूप में (चार की संख्या में) घट चुकी थी। वचनों की संख्या की भाँति कारकों की संख्या भी वक्ताओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि और उनकी सामाजिक और शैक्षणिक प्रगति एवं आवश्यकता पर आधारित रहती है।

५.३०.१ षष्ठी और सम्बन्ध कारक

संस्कृत व्याकरण में **सम्बन्ध कारक**, और तत्सम्बद्ध **षष्ठी विभक्ति**, की सत्ता सदा ही विवादास्पद रही है। विभक्ति पर विवाद तो व्यर्थ है, क्योंकि वह तो रूपात्मक विश्लेषणमात्र है। हां, कारक के रूप में '**सम्बन्ध कारक**' की स्थिति अवश्य विचारणीय है। इसका कारण यह कहा जाता है कि जहाँ सामान्य कारक क्रिया से नाम या प्रातिपदिक के विविध सम्बन्धों को बताते हैं, वहाँ यह 'सम्बन्ध कारक', नाम का क्रिया से सम्बन्ध न बताकर, संज्ञा के संज्ञा से ही सम्बन्ध को बताता है। **इसी आधार पर यह कहा जाता है कि, 'षष्ठी' को 'विभक्ति' मानकर भी, 'सम्बन्ध' को कारक नाम देना किसी भी प्रकार उचित नहीं।**

इस सम्बन्ध में हमें यह सत्य तो स्मरण रखना ही चाहिए कि किसी विभक्ति का किसी एक निश्चित कारक से सम्बन्ध अविभाज्य नहीं है। यह सत्य है कि '**षष्ठी**' विभक्ति का प्रयोग '**सम्बन्ध**' कारक के द्योतन के लिए होता है। पर, यह भी सत्य है कि उसी विभक्ति का प्रयोग कितने ही **अन्य कारकों** को वहन करने के लिए भी होता है। इसी को पाणिनि '**शेष**' के नाम से समवेत रूप में

कह देते हैं।[1] यूँ तो उन्होंने हर कारक के इसी प्रकार के अनियमित प्रयोग गिनवाए हैं। पर, 'शेष' को उन्होंने करण, सम्प्रदान, आदि की भाँति एक स्वतन्त्र कारक न रखकर, एक वर्ग का प्रतिनिधि माना है। पर, यही बात 'कर्म' और 'द्वितीया' के विषय में भी समान रूप में घटित होती है[2]। अतः यदि यह भी मान लिया जाए कि **'सम्बन्ध'** को कारक नहीं माना जा सकता, तब भी षष्ठी विभक्ति के प्रसंग का अवकाश तो रहेगा ही। 'सम्बन्ध' को कारक रूप में मान्यता देने या न देने से उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। फिर **पाणिनि** की दृष्टि में मान्यता **'शेष'** को प्राप्त है, 'सम्बन्ध' को नहीं। उस 'शेष' के अन्तर्गत एक बृहत् कारक वर्ग आ जाता है। इस पर अधिक विचार यथाप्रसंग होगा।

५.३१ कारक का सम्बन्ध

यहाँ हमें **कारक के सम्बन्ध** पर भी विचार कर लेना चाहिए। कहा जा चुका है कि सम्बन्ध-भावना का निवास **संज्ञा और क्रिया** दोनों में होता है। इसकी अभिव्यक्ति कुछ भाषाओं में संज्ञा या क्रिया में से किसी एक में, और कुछ भाषाओं में दोनों में, प्रत्यय-संयोग से या उसके बिना भी होती है। यह भी कहा जा चुका है कि **संस्कृत** में यह अभिव्यक्ति **उभयात्मक** होती है; यद्यपि इस अभिव्यक्ति में उभयत्र कुछ अन्तर भी होता है। **'कारकं नियतक्रियम्'** और **'करणत्वादिभिर्ज्ञाताः क्रियाभेदानुपातिभिः'**[4] कहते हुए भर्तृहरि ने क्रिया के रूप-भेदों का कारण इसी सम्बन्ध भावना को माना है। क्रिया पर इस सम्पूर्ण सम्बन्ध-भावना का आधार है, यह बात तो वे दोहराते ही हैं[5]। **वे तो 'क्रिया के कारक' 'कर्त्ता' को ही, छह कारकों के रूप में, छह भागों या छह रूपों में बंटा मानते हैं।**[6] इस प्रकार यह निश्चित है कि क्रिया पर ही सम्बन्ध भावना आधारित होती है। पर, यह भी निश्चित है कि इसकी प्रयोगात्मक अभिव्यक्ति संज्ञा या नामशब्द के साथ ही होती है। वास्तव में छहों या सातों कारकों का अस्तित्व **वाक्प्रयोग की सुविधा के लिए** ही माना गया है, भावनात्मक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होगा कि ये **सभी कारक मूलतः कर्त्ता ही होते हैं**[7]। सभी हेतु-विशेष से अपना कर्तृत्व प्रमुख क्रिया के कर्त्ता के अधीन करके आकार की भिन्नता ग्रहण कर लेते हैं[8]। इसलिए जहाँ तक **सम्बन्ध-भावना** का सम्बन्ध है, मूलतः वह 'क्रिया' द्वारा

---

१. पा० २. ३. ५०।
२. पा० १. ४. ५१।
३. वा० ३. ७. २५।
४. वा० ३. ७. २१।
५. वा० ३. ७. २९।
६. वा० ३. ७. ३७।
७. वा० ३. ७. २१, ३७।
८. वा० ३. ७. ३५-९।

व्यक्त एकमात्र 'कर्तृत्व भावना' की भाँति संज्ञा-शब्दों में मात्र **सम्बन्ध-भावना** या 'कारक' के रूप में निवास करती माननी चाहिए। शेष छह या सात कारक उसी एक के भेद हैं[1]।

५.३१.१ शेष : सम्बन्ध

भर्तृहरि, येस्पर्सन और अन्य कई विचारक यह भी धारणा प्रस्तुत करते हैं कि 'सम्बन्ध' या 'शेष' कारक, दो संज्ञाओं के मध्य सम्बन्ध स्थापना न करके, सामान्य कारकों की भाँति संज्ञा और क्रिया के बीच ही सम्बन्ध स्थापित करता है। कम से कम वह क्रिया पर आधारित अवश्य होता है। उसे 'द्विष्ठ' कहते हुए भर्तृहरि का अभिप्राय यही प्रतीत होता है[2]। अन्यथा, क्रिया से सम्बन्ध न रहने पर उस कारक की स्थिति 'विशेषण' से भिन्न नहीं ठहरती। इस पर भी यथाप्रसंग अधिक विचार हम करेंगे ही[3]।

५.३२ विभक्ति और कारक-संख्या

अंग्रेजी, जर्मन, इतालवी, फ्रैंच, ग्रीक, आदि भाषाएं, एक ही परिवार की होने पर भी, विभक्ति-संख्या की दृष्टि से भिन्न-भिन्न आधार पर बढ़ती दिखाई देती हैं। सत्य यह है कि अंग्रेजी, हिन्दी के ही समान, प्रत्ययहीनता की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ चुकी है। वहाँ कुछ गिने-चुने स्थलों को छोड़कर अन्यत्र '**प्रेपोजिशन**' वर्ग ने ही विभक्ति का स्थान ले लिया है। उक्त अन्य भाषाओं में **विभक्तियाँ** भी हैं और **प्रेपोजिशन** भी। कहा जा चुका है कि प्राकृत और पालि भाषाओं की भाँति ये यूरोपीय भाषाएं भी **चार या पांच विभक्तियों से** ही सब कारकों को अभिव्यक्ति देती हैं। पर, इससे इतना ही सिद्ध होता है कि भारोपीय परिवार की भाषाओं में विभक्तियों की संख्या समान नहीं है। जहाँ तक **कारकों** का सम्बन्ध है, कारकों की स्थिति भावनात्मक विश्लेषण के बल पर निश्चित होने के कारण उनकी संख्या विश्वभर की भाषाओं के लिए **एकसमान** ही निश्चित की जा सकती है। यह बात दूसरी है कि उनकी अभिव्यक्ति कितनी विभक्तियों से सम्पन्न होती है?

भाषा के विकास, सांस्कृतिक परिवेश एवं अन्य माध्यमों की उपलब्धि आदि के कारण विभक्तियों की **संख्या घट-बढ़ सकती है**। विभक्तियों की भौतिक उपस्थिति या अनुपस्थिति भाषा की **सप्रत्यय या अप्रत्यय प्रकृति** पर निर्भर करती

---

१. वा० ३. ७. ४४।
२. वा० ३. ७. १५७-८।
३. इसी प्रबन्ध का अध्याय-१०।

है। विभक्तियों का स्थान **स्वतन्त्र प्रत्यय** अथवा **प्रेपोज़िशन** और **कर्मप्रवचनीय** आदि भी ले सकते हैं। उस स्थिति में विभक्ति का शब्द के साथ संयोग या वियोग महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। जिन भाषाओं में प्रत्यय है ही नहीं, वहां तो विभक्ति-विवेचन उतना महत्त्वपूर्ण भी नहीं रहता। अतः विचारणीय वस्तु, 'विभक्ति' या उसके चिन्ह आदि नहीं, **कारक** ठहरते हैं। उनकी संख्या वैयाकरण पृथक्-पृथक् आधार पर पृथक्-पृथक् मानते हैं। पर, उनका एक निश्चित विभाजन भी स्वीकार किया जा सकता है। विवेचन की सूक्ष्मता के आधार पर ही यह संख्या कम या अधिक निश्चित की जा सकती है। इसी सत्य को पहचान लेने के कारण **पाणिनि, पतंजलि,** और **भर्तृहरि** विभक्ति और उसके चिन्हों को, अतिरंजित महत्त्व न देकर, उपेक्षा की दृष्टि से देखते प्रतीत होते हैं। विस्तृत विचार प्रसंग में वे कारकों पर हीं विचार अधिक करते हैं। तभी वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक ही विभक्तिरूप अनेक कारकों, और एक ही कारक अनेक विभक्तिरूपों, में किस प्रकार प्रयुक्त होता है। येस्पर्सन भी, सुदीर्घ विचार के बाद, इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

कुछ इसी प्रकार के निष्कर्ष हम तिङन्तों के सम्बन्ध में पुरुष, लकार, वचन, आदि पर विचार के समय निकलते देखेंगे। उनका सविस्तर विवेचन 'क्रिया' के प्रसंग में किया जाएगा।

५.३३ धातु-प्रत्यय

हम पूर्व ही कह आए हैं कि इन प्रत्ययों को संस्कृत व्याकरण में **'कृत्'** नाम से कहा गया है। इसी आधार पर इन प्रत्ययों से निर्मित शब्दराशि को **'कृदन्त'** कहा गया है। भारोपीय परिवार की प्रमुख भाषाओं में इन प्रत्ययों की उपलब्धि और स्वरूप पर कुछ प्रकाश इसी अध्याय में पहले ही डाला जा चुका है। वहीं यह भी कह दिया गया है कि यद्यपि यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि विश्व की सभी भाषाओं में ऐसे प्रत्यय होते हैं, परन्तु इतना अवश्य निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि प्रायः सभी भाषाओं में 'धातुओं' से बनी या 'क्रियामूलक' संज्ञाओं की उपस्थिति अनिवार्यतः होती ही है। हो सकता है कि चीनी, बर्मी, आदि 'एकाच्' परिवारों की भाषाओं में मूल धातुरूप ही अर्थान्तर में संज्ञा का रूप ग्रहण कर लेते हों, या फिर बिना किसी विशेष परिवर्त्तन-परिवर्धन के, यत्किंचित् रूपात्मक विकृति से ही, वे नए कार्य को अपना लेते हों। संस्कृत में भी इस प्रकार के उदाहरणों की उपलब्धि की बात पहले कही जा चुकी है। इतना तो निश्चित ही है कि बहुत सी धातुएं और संज्ञाएं आकार-

प्रकार में बिल्कुल एक ही होती हैं। उनका अर्थात्मक अन्तर भी 'क्रिया' और 'संज्ञा' के अन्तर पर आश्रित रहता है। 'नामधातुओं' के प्रसंग में यह परिवर्त्तन इससे विपरीत दिशा में भी पाया जाता है। विश्व की अनेक भाषाओं में शब्द-रचना की प्रक्रिया इसी आपसी आदान-प्रदान पर आश्रित रहती है। व्यक्ति-वाचक नामों और सर्वनामों को छोड़कर शेष सभी शब्दों के विषय में अधिकांशतः यह बात कही जा सकती है। कारण यह कि ऐसी सम्पूर्ण शब्दराशि किसी न किसी विशिष्ट अर्थाभिव्यक्ति के उद्देश्य से प्रयुक्त की जाती है। 'धातु' उस मूल अर्थ-भावना का वाहक 'अंश' है, जो स्वतः अप्रयुक्त (और कदाचित् काल्पनिक) रहकर भी अनेक क्रियारूपों और शब्दरूपों को जन्म देता है। उससे बने क्रिया-रूपों और शब्दरूपों में वही अन्तर है, जो 'क्रिया' और 'नाम' के बीच बताया जा चुका है। 'क्रियारूप' की पहचान केवल प्रत्ययमात्र से ही नहीं हो जाती, बल्कि उसकी अर्थभावना में 'क्रमरूपता' का आश्रय और आभास रहना भी अत्यावश्यक है। इसके विपरीत क्रिया-प्रत्यय से संयुक्त होने पर भी यदि शब्द क्रमरूपता की भावना से हीन है, तब उसे संज्ञा के रूप में ग्रहण करना ही उचित होगा। वर्त्त-मानकाल सम्बन्धी शतृ, शानच्, इङ् (अं०), आदि प्रत्यय सातत्यवाची हैं। उन्हें प्रायः 'क्रियावाचक' मान लिया जाता है। पाणिनि के एक सूत्र से भी यही भ्रम होता है।[1] पर, अगले ही सूत्र में वे उन्हें सातत्यवाची कह देते हैं। 'सातत्य' काल का सूचक अवश्य है। पर, इतने से ही उसके द्वारा सूचित अर्थ में क्रमरूपता की बात सहज ही नहीं आ जाती। पीछे अंग्रेज़ी के 'इङ्' और संस्कृत के '**शतृ**' प्रत्यय की चर्चा में कहा ही जा चुका है कि उनका प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न रूपों में '**संज्ञार्थक**' ही होता है।[2] संस्कृत के ये दोनों प्रत्यय भी 'वर्तमान' और 'अतीत' दोनों के सातत्य के वाचक होते हैं। इनके प्रयोग के बाद भी '**है, आस्ते, या आसीत्**', आदि का प्रयोग इस सत्य को सिद्ध करता है कि ये रूप पूर्णतः 'क्रियारूप' नहीं हैं। और, जो पूर्ण 'क्रिया' नहीं है, उसे 'क्रिया' कहा भी नहीं जा सकता। लिंग-वचन-विभक्ति आदि का उनमें संयोग भी उन्हें **संज्ञारूप** ही सिद्ध करता है। यही बात 'संस्कृत' के **क्त, क्तवतु** में, तथा अंग्रेजी के '**एड्**' और '**ड**' या '**ट**' प्रत्ययों में देखने को मिल सकती है।[3] उनसे युक्त शब्द केवल '**भूतार्थक**' होने से ही क्रिया-वाची नहीं हो जाते। उनमें 'अनन्तर फलप्राप्ति'[4] की बात पूरी नहीं घटती।

---

१. पा० ३. २. १२४, १२७।

२. देखें, इसी प्रबन्ध का, ५. १८ अनुच्छेद।

३. यथा Exchanged में 'ed', Bored में 'd', एवं went में 't'।

४. वा० ३. ८. १५।

उनमें भी **लिंग, वचन, विभक्ति,** आदि का संयोग उन्हें संज्ञा या विशेषण आदि के रूप में स्थित ही अधिक सूचित करता है। सत्य तो यह है कि पाणिनि ने सभी कृत्-प्रत्ययों की सत्ता भाव और कर्म में ही स्वीकार की है।[1] तो क्या वे इन्हें मूलतः क्रियावाची और तिङ्स्थानीय प्रत्यय ही मानते थे ? यदि ऐसा था, तब उन्होंने इनसे लिंग वचनादि का संयोग क्यों माना और इन्हें 'प्रातिपदिक' संज्ञा इसी उद्देश्य से, क्यों दी ?[2]

इन्हें तिङ्स्थानीय तो पाणिनि ने अवश्य माना है, किन्तु **'तिङ् से भिन्न'** भी इन्हें स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[3] जहां तक 'गतम्, कृतम्', आदि का प्रश्न है, भाव या कर्म के ऐसे प्रयोग 'संज्ञा' ही कहे जाने चाहिए। 'अव्यय'[4] की स्थिति में आ जाने से ये 'क्रियारूप' कहला भी नहीं सकते। पर 'गतः, मृतः', आदि में भूतार्थक प्रत्यय होने पर भी विशेषण की स्थिति भी सम्भव है। इस विषय में भर्तृहरि हमें स्पष्ट निर्देश करते हुए प्रतीत होते हैं। उनको 'क्रिया' की शर्त क्रमरूपता की है।[5] परन्तु क्रिया और नाम का अन्तर वे स्पष्ट करते हैं :

> **प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते।**
> **क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति कथ्यते ॥ वा० ३.१.३५ ॥**
> **साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।**
> **सत्त्वभागस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ॥वा० ३. ८. ४७॥**

अर्थात्, क्रमरूपता और साध्यत्व की उपलब्धि क्रिया की आवश्यक शर्त है। किन्तु, क्रमरूप की समाप्ति और सिद्धावस्था उसी धात्वंश को 'नाम' के रूप में पलट देते हैं। इन शर्तों के कथन के बाद भी कहीं कोई सन्देह न रह जाए, इसीलिए भर्तृहरि और स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

> **लकृत्यक्तखलर्थानां तथाव्ययकृतामपि।**
> **रूढिनिष्ठाघञादीनां धातुः साध्यस्य वाचकः ॥ वा० ३.८.५२ ॥**

अर्थात्, इन सब कृत् प्रत्ययों के योग में जिन शब्दों का निर्माण होता है, उसमें 'साध्य' के अंश को 'धात्वंश' कथन करता है। इन शब्दों में ये दोनों ही अंश रहते हैं, यह बात वे अन्यत्र स्पष्ट करते हैं :

> **आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनवर्त्तिता।**
> **प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वपि क्रमः ॥ वा० ३-८-४६ ॥**

---

१. पा० ३. १. १०७, तथा ३. २. १; ३. ३. १८; ३. ४. ७०, आदि।
२. पा० १.२.४६।
३. पा० ३. १. ६१, ६३।
४. पा० १. १. ३६।
५. वा० ३. ८. १।

अर्थात्, एक ही शब्द में दोनों की उपस्थिति शास्त्रीय विवेचन के आधार पर ही सिद्ध की जा सकती है। अन्यथा क्रिया और नाम के रूप में उसी शब्द का प्रयोग प्रयोक्तृ-भावना के आधार पर उचित कहा ही जा सकता है। अतः शब्दरूप में ये प्रत्यय, संज्ञा-निर्माण करके भी, 'साध्यता' की स्थिति को समाप्त नहीं करते।

तुमुन्, तव्य, अनीय, आदि संस्कृत प्रत्ययों को और इङ् (ing), एबल् (able), आदि अंग्रेज़ी प्रत्ययों को **कृदन्त** मानने का कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है। **'क्रियार्थ'** होकर भी[1] इन प्रत्ययों का संयोग धातुओं को, 'क्रिया' में परिणत न करके, **'संज्ञा रूप'** में ही परिणत करता है। इनका प्रयोग भी अन्य क्रियारूपों के प्रयोग पर ही आश्रित होता है। अंग्रेज़ी में मूल धातु के 'टु' और 'इन्फिनिटिव्' के 'टु' का अन्तर स्पष्ट किया जा चुका है। जिस क्रियारूप पर ये कृदन्त रूप आश्रित होते हैं, वास्तविक क्रिया उन्हें ही कहना चाहिए। क्योंकि, क्रमरूपता और साध्यता की भावना उन्हीं रूपों में निवास करती है।

इनके अतिरिक्त **कृदन्त** प्रत्ययों का एक वर्ग ऐसा है, जिससे, 'धातु' क्रियार्थक न रह कर, संज्ञा के रूप में परिणत हो जाती है। जहां तक ऐसे प्रत्ययों का प्रश्न है, इनकी संख्या हर भाषा में पर्याप्त होती है। अनेक भाषाओं से ऐसे प्रत्ययों के उदाहरण हम पहले ही गिना चुके हैं। भारोपीय भाषाओं के कृदन्त प्रत्ययों से युक्त हज़ारों संज्ञा शब्दों में से हम धातुओं को स्पष्टतः पृथक् करके देख सकते हैं।

निश्चय ही यह सब विवेचन प्रत्यय-संयुक्त (योगात्मक) भाषाओं का ही है।

५.३४ तद्धित या संज्ञा-प्रत्यय :

उक्त कृदन्त प्रत्ययों के विपरीत **ये प्रत्यय संज्ञा से संयुक्त होकर किसी नए अर्थवाले शब्द को जन्म** देते हैं। कह सकते हैं कि इनका विशिष्ट प्रयोजन ही संज्ञा के अर्थ में विस्तार अथवा वैशिष्ट्य लाना है। संस्कृत के 'पुत्रार्थक' प्रत्ययों की तरह रूसी भाषा के 'ओविच्' आदि, तथा कन्नड़ के 'अप्पा', 'ऐय्या', आदि प्रत्यय तद्धित की कोटि में ही आते हैं।

कहा जा चुका है कि कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों का कार्य क्षेत्र अलग-अलग है। दोनों के ही संयोग के बाद मूल शब्द या धातु का अर्थ छूटता नहीं है। फिर भी, कृदन्त का कार्य, धात्वर्थ-सम्बद्ध संज्ञा-निर्माण के साथ-साथ, 'क्रिया' को

---

१. पा० ३. ८. १०।

सामान्य से अधिक विस्तार देना भी है। उधर, तद्धित का कार्य, मूल अर्थ या द्रव्य का सम्बन्ध-विस्तार करके, नए शब्द-रूप द्वारा एक बड़े अर्थवृत्त को घेरना है। **अंग्रेजी** के लण्डनर, न्यूयार्कर, आदि का, **जर्मन** के हैम्बेर्गेर, बेर्लिनेर, आदि का, **हिन्दी** के बटालवी, लायलपुरी, आदि का, एवं **संस्कृत** के कान्यकुब्ज:, माथुर:, आदि का एक ही अर्थ होता है: 'उस नगर-विशेष का निवासी'। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार मूल द्रव्य के सम्बन्ध का विस्तार करने वाले प्रत्यय 'तद्धित' ही कहलाते हैं; भाषा कोई भी हो[1]।

हम यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि इन प्रत्ययों का रूपात्मक प्रयोग संस्कृत जैसी प्रत्यय-प्रधान भाषा में भी अनिवार्य नहीं है। **गर्गाः, बिदाः** आदि शब्द बिना प्रत्ययों के ही पीढ़ी-दर पीढ़ी के लिए प्रयुक्त होते रहते हैं। **चर्चिल** (अं०), **अब्दाली** (फ़ा०), आदि नाम भी वंश के लिए ही रूढ़ हो गए हैं। इस प्रकार प्रत्ययों के प्रत्यक्ष प्रयोग के बिना, अथवा किसी रूप-परिवर्त्तन के बिना भी अर्थ का विस्तार हो ही जाता है। प्रत्ययविहीन भाषाओं में इसी सामर्थ्य के आधार पर रूपात्मक विकृति के बिना भी अर्थविस्तार होता देखा जा सकता है। पर, प्रत्ययों को अर्थ-परिवर्त्तन का आधार मानने वाले संस्कृत के वैयाकरणों की दृष्टि में अर्थ का यह विस्तार भी बिना प्रत्यय-प्रयोग के नहीं होता। इसके लिए वे प्रत्यय-लोप या प्रत्यय के विशून्यीकरण जैसी स्थिति की सम्भावना मान कर बढ़ते हैं। पाणिनि की इसी प्रवृत्ति की महान् गणितज्ञ-भाषाविद् जोशुआ व्हाट्माऊ ने 'ज़ीरो तकनीक' कह कर प्रशंसा की थी।[2]

५.३५ अन्य प्रत्यय : शेषाधिकार

इनका संक्षिप्त परिचय हम पहले दे आए हैं। फिर भी, यहां इन पर क्रमशः कुछ अधिक विचार उचित रहेगा।

५.३५.१ उणादि :—ज्यों ही किसी भाषा के सम्बन्ध में यह धारणा स्थिर हो जाती है कि उच्चरित शब्दों का अपना कुछ '**अर्थ**' है, उसी क्षण उन शब्दों के **धातु-मूल** कल्पित करके उनके साथ प्रचलित भिन्न-भिन्न रूपों का सम्बन्ध जोड़ने की भावना भी बल पकड़ जाती है। यह कहा ही जा चुका है कि धातुओं से संज्ञा, विशेषण, आदि के निर्माण की बात प्रायः सर्वमान्य है ही[3]। यह

---

१. यहां यह स्मर्त्तव्य है कि यहां गिनाए अर् (अंग्रेजी), एर् (ज०), ई (हि०), अ (सं०), आदि प्रत्यय आकारतः कृदन्त प्रत्ययों से अभिन्न हैं। किन्तु, अर्थ में वे भिन्न हैं।

२. जो० व्हा०, लैंग्वेज, अध्याय-११।

३. कृदन्त आदि के द्वारा।

भी कहा गया है कि संज्ञाओं से भी 'क्रिया-रूपों' की उत्पत्ति सम्भव होती है; जिन्हें हम **'नाम-धातु'** कहते हैं। स्पष्ट है कि उन्हीं संज्ञा-शब्दों से 'क्रियारूपों' के निर्माण की सम्भावना उठ सकती है, जिनकी अपनी उत्पत्ति उसी भाषा की धातुओं से हुई प्रतीत न होती हो, अथवा जिनमें से धातु और प्रत्यय को स्पष्ट खोजकर पृथक् न निकाला जा सके। ऐसे शब्दों के भी दो-तीन वर्ग हो सकते हैं। **एक वर्ग** के शब्दों का अर्थ हमें उनमें अन्तर्हित किसी मूल धात्वर्थ की प्रतीति दे देता है। भले ही हम उनमें परम्परा-प्राप्त प्रत्ययों को प्रयुक्त होता न पाएं; या उनके स्थान पर सर्वथा अज्ञात और विभिन्न प्रत्ययों को प्रयुक्त होता पाएं ! **दूसरा वर्ग** उन शब्दों का होता है, जिन्हें हम भाषा के बाहर से, या बाह्य प्रभाव और सम्पर्क से, आता हुआ पाते हैं। ऐसे शब्दों में किसी परम्परागत धातु और उससे सम्बद्ध अर्थ को खोज निकालना दुरूह ही नहीं असम्भव भी होता है। इन्हें प्रायः **'देशज'** अथवा **'बाह्य'** कह दिया जाता है। **तीसरे वर्ग** के शब्द वे होते हैं, जिनमें धातु भी स्पष्ट होते हैं और प्रत्यय भी। उनमें कमी यह होती है कि उनके प्रत्यय सामान्य परम्परा से भिन्न से प्रतीत होते हैं, या उनमें बिना किसी कारण के ही बड़ा अन्तर आ जाता है। ऐसे शब्दों को पाणिनि 'सिद्ध' या **'निपातन-सिद्ध'** मानते हैं[1]।

इनमें से प्रथम वर्ग के प्रत्ययों को पाणिनि **'उणादि'** नाम देते हैं। उणादि शब्द का अपना कोई विशेष अर्थ नहीं है। क्योंकि, इस प्रत्यय-वर्ग में 'उण्' प्रत्यय सबसे पहले पढ़ा गया है, इसलिए इस सारे वर्ग को इस नाम से कह दिया गया। इन प्रत्ययों की 'कृदन्त' और 'तद्धित' आदि सामान्य प्रत्ययों से यह भिन्नता है कि इनसे निर्मित शब्दों में अर्थ का 'धात्वर्थ' से अन्तर न तो इन प्रत्ययों के कारण माना जाता है, और न ही इनमें आकारगत उतनी समरूपता ही मानी गई है। इसी कारण पाणिनि इन्हें, सामान्य प्रत्यय-वर्ग में न गिनकर, फुटकर रूप में पृथक् से गिनते हैं। वास्तव में वे इन्हें सामान्य परम्परा से प्राप्त या प्रचलित शब्द नहीं मानते। उनकी दृष्टि में परम्परा का इनके निर्माण या संरक्षण और प्रचार में केवल इतना ही हाथ है कि इनमें मूलागत अर्थ-भावना किसी न किसी रूप में सुरक्षित है। इस मूलागत अर्थभावना को ही सामान्यतः 'धात्वर्थ' मान लिया गया है। यह धारणा भारतीय भाषाविदों में आरम्भ से ही रही है कि शब्द की प्रवृत्ति अर्थमूलक होने से तत्सम्बन्धी विचार का आधार उसकी अर्थ-नित्यता होना चाहिए;[2] फिर भले ही हम वास्तविक **मूल** (धातु आदि) वहां खोज पाएं या नहीं। आख़िर, शब्द यदि अर्थवान् है, तो उसका

---

१. निपातनात सिद्धम्। २. निं० २. १. २।

आरम्भ किसी न किसी अर्थ-भावना को लेकर ही हुआ होगा। इस मूलार्थवृत्ति की खोज में ही हर शब्द में से 'धातु' को खोज निकालने की प्रवृत्ति बढ़ी। केवल इस भावना से ही पाणिनि ने भी इन शब्दों के मूल खोज निकालने का कार्य अपने हाथ में लिया। वे इन्हें **'देशज'** अथवा **'बाह्य'** नाम देकर हाथ-पर-हाथ धरकर नहीं बैठ गए। उनकी इस अर्थ-नित्यता की भावना का ही परिणाम था कि उन्होंने मूल **'धातु'** खोज-निकालने को अपना बृहत्तर उद्देश्य माना, भले ही वह कितना ही काल्पनिक कार्य समझा जाए। **'धातु'** की खोज के बाद शेष शब्द रूप को पूर्ण करने के लिए जिस **और** जितने ध्वनि-तत्त्वों के लोप या आगम की आवश्यकता थी, उन्हें प्रत्यय के रूप में उन्होंने स्वीकार कर लिया। वे प्रत्यय स्वतः सार्थक या निश्चितार्थक नहीं हैं। **उदाहरणार्थ**, यास्क 'सत्य' शब्द में, √'अत सातत्यगमने' के अनुकरण पर√'सत' धातु की कल्पना न करके,√**'अस'** को मूल या धातु के रूप में स्वीकार करते हैं। वे जानते हैं कि **'सत्य'** की भावना **'निरन्तर गतिशील'** होने तक ही रुक नहीं जाती। उसका सम्बन्ध उन्हें **'अस्तित्व, सत्ता,** और **सत्त्व'** की नित्यता से अधिक निकट का प्रतीत हुआ। इसी के अनुकरण पर यास्क ने **'हिरण्य'** में√**'हृ'** और 'हित√**'रम्'** आदि को, तथा पाणिनि ने **'हिम'** में√**'हन वधे'** को, तथा **'अश्वः'** में√**'अशूङ् व्याप्तौ'** को मूल या धातु माना है[1]। इसी आधार पर पाणिनि **'चारुः'** और **'कारुः'** आदि में 'उण्' को **प्रत्यय** और 'चर', 'कृ', आदि को **धातु** स्वीकार करते हैं,[2] तथा 'गो' में 'गम' को धातु **और** 'डो' को प्रत्यय के रूप में ढूंढ निकालते हैं[3]।

यही बात हर भाषा के विषय में किसी न किसी प्रकार सत्य सिद्ध की जा सकती है। पर, कठिनाई यह है कि संस्कृत की भांति न तो हरेक भाषा इतनी समृद्ध है, न ही उसका व्याकरण इतना समृद्ध है। सच तो यह है कि अन्य किसी भारोपीय भाषा के व्याकरण ने भी प्रकृति-प्रत्यय-विभाग को इस सीमा तक, और इतने अनिवार्य रूप में, स्वीकार नहीं किया है। यही कारण है कि उन भाषाओं का व्याकरण पद-रचना के सम्बन्ध में हमें केवल कुछ परिचय देकर ही चुप हो जाता है।

५.३६ विभक्ति-स्थानीय :

विभक्ति-स्थानीय प्रत्ययों और विभक्ति-प्रत्ययों में अन्तर समझ लेना

---

१. पा०, उणा०, १. १४४, १४६। २. वही, १.१, ३।
३. वही, २.६८।

आवश्यक है। सामान्यतः भारोपीय परिवार की भाषाओं में कारकों की सूचना **तीन प्रकार** से दी जाती है: (१) विभक्तियों और उनके प्रत्ययों से, (२) विभक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त अन्य प्रत्ययों से, और (३) प्रेपोज़िशन या स्वतन्त्र निपातों से।

इनमें से **प्रथम कोटि** के विभक्ति-प्रत्ययों की चर्चा हम इसी प्रकरण में 'प्रथम वर्ग' के प्रत्ययों के अन्तर्गत कर आए हैं।[1] इनमें **तृतीय कोटि** के माध्यम को 'विभक्ति-प्रत्यय' के रूप में नहीं गिना जा सकता; क्योंकि वे स्वतन्त्र पद-भेद हैं, प्रत्यय के रूप में संयोगी ध्वन्यंश या ध्वनि-मात्र नहीं। अतः **'द्वितीय कोटि'** में गिने जाने वाले प्रत्ययों का शेष दोनों से पृथक् अपना विशेष और स्वतन्त्र महत्त्व है।

पाणिनि इन प्रत्ययों को **'तद्धित'** वर्ग में ही अन्तर्गृहीत करते हैं। सम्भवतः इस कारण, कि ये भी संज्ञाओं के बाद ही जुड़ते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनका प्रयोग प्रायः सर्वनामों के बाद ही होता हैं।[2] तद्धितों में मानकर भी पाणिनि इन्हें **विभक्ति-संज्ञक** ही मानते हैं।[3] पर इनका प्रयोग सार्वत्रिक न होने के कारण, एवं विभक्तिपरक होने पर भी विशिष्टार्थक होने के कारण, इन्हें 'सुबन्त' कोटि में अन्तर्गृहीत नहीं किया गया। दूसरी बात यह है कि ये सभी विभक्तियों के स्थान पर आते भी नहीं। इनका प्रयोग सीमित ही है।

५.३६.१ समस्त भारोपीय भाषाओं में

इनकी उपलब्धि समस्त भारोपीय भाषाओं में ही होती है। हम यहां ऐसे कुछ प्रमुख संस्कृत प्रत्यय देकर उनका तुलनात्मक संक्षिप्त परिचय देंगे:

(१) **पंचमी स्थानीय: संस्कृत** में इसका प्रत्यय मुख्यतः 'तस्' माना गया है।[4] **अतः, कुतः, इतः, परितः, अभितः,** आदि इसके उदाहरण हैं। **अंग्रेज़ी** में 'एन्स' के रूप में यही प्रत्यय थेंस, हेन्स, व्हेन्स, आदि रूपों की रचना का कारण बनता है। **इतालवी** में केवल 'व्हेन्स' के लिए 'दोन्दे' का प्रयोग मिलता है। 'न्दे' निश्चय ही यहां प्रत्यय है। 'दोवे' (कहां) का रूप इस शब्द के 'दो' अंश में शेष रहता है। अन्यत्र **इतालवी** और **फ्रेंच** में 'से' का वाचक प्रेपोज़िशन 'यहां, वहां, जहां,' आदि के साथ स्वतन्त्र या समस्त

---

१. यही प्रबन्ध, अनु० ५.२५।
२. पा० ५.३.२।
३. पा० ५.३.१।
४. पा० ५.३.७।

रूप में जुड़ता है। **जर्मन** में 'अर्' प्रत्यय 'डोर्टर्' (वहां से) आदि शब्दरूपों में जुड़ता है (यहां 'डोर्ट' अर्थका 'वहां' है)। अन्यत्र वहां भी स्वतन्त्र प्रेपोज़िशन ही संयुक्त होते है। **डच्** में 'ना' प्रत्यय इसी अर्थ में प्रयुक्त कहा जा सकता है। **ग्रीक** का **थेन्** प्रत्यय भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'पोथेन्' का अर्थ 'कुतः' (पो=कः) है। इस प्रकार अधिकांश भारोपीय भाषाओं में स्वतन्त्र कर्म-प्रवचनीयों या प्रेपोजिशनों के द्वारा, अथवा उन्हीं के अवशेष प्रत्यय-रूपों के द्वारा, इस अर्थ को अभिव्यक्ति मिलती है।

(२) **सप्तमी स्थानीय : संस्कृत** में इसके सूचक प्रत्यय त्र, हि, ह, अ, दा[1], आदि हैं, तथा इनसे बनने वाले रूप तत्र, र्तांह, इह, क्व, कदा, आदि हैं। इन सबका प्रयोग, 'सप्तमी' के सामान्य अर्थ में होने पर भी, प्रत्यय रूप में पृथक्-पृथक् भावना को वहन करता है। **अंग्रेजी** का अर् (व्हेयर्, हीयर, आदि में), **इतालवी** का इ, ए (क्वि, चि, दोवे, आदि में), तथा **जर्मन** में अनिश्चित रूपों में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वहां उनके विभक्त्यर्थक रूप पृथक् भी मिलते है।

(३) **तृतीयार्थक प्रत्यय : संस्कृत** में था, थम्, आदि;[2] अंग्रेज़ी, में अस (दस में), ऊ (हाऊ) आदि; इतालवी में सी, मे, आदि (कोसी, कोमे, आदि में), का प्रयोग प्रकार, कारण, आदि अर्थों में होता है। **संस्कृत** के 'किम्', **इतालवी** के 'क' (या 'को'), **अंग्रेज़ी** के समान रूप 'व्ह' (या 'ह'), जर्मन के वेर, वास, आदि के 'व' आदि, प्रातिपदिकों के अपने सविभक्तिक रूप बनते ही हैं। परन्तु, ऊपर कहे रूप उस से बाहर पड़ते हैं।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की विचारसरणि से बढ़कर हम अन्यत्र भी बहुत कुछ खोज सकते हैं। निश्चय ही जिन्हें हम स्वतन्त्र अव्यय या शब्द समझ बैठते हैं, उनमें से कितनों में ही स्पष्ट विभक्ति-संकेत भी खोजा जा सकता है। ऊपर केवल इस सरणि का उदाहरणमात्र प्रस्तुत किया गया है।

५.३७ लिंग-सूचक प्रत्यय :

इन प्रत्ययों का भी अपना महत्त्व है। इनका जन्म भी प्रयोक्ता की संक्षेप-

---

१. पा० ५. ३. ११ से १६ तक।
२. पा० ५. ३. २३, २४।

रुचि के ही कारण होता है। यह सत्य है कि बहुत से शब्द अपने मूल रूप में, अपनी अर्थ में भावना के कारण, पुंलिंग, स्त्रीलिंग, आदि में बिना प्रत्यक्ष प्रत्यय-प्रयोग के भी, प्रयुक्त होते हैं। पर फिर भी, सत्य यह है कि अधिकांश शब्द, संसार की अधिकांश भाषाओं में, एक या दूसरे प्रकार के प्रत्यय के प्रयोग के साथ ही विविध लिंगों में प्रयुक्त होते देखे जाते हैं। बालक ही 'बालिका' के रूप में प्रयुक्त होता है। 'गोप' का प्रयोग ही 'गोपा', 'गोपी', या 'गोपिका' के रूप में होता है। 'सर्व' आदि 'सर्वनाम' तो प्रयुक्त ही इसी प्रत्यय-भेद के साथ होते हैं।

५.३७.१ विचारणीय तथ्य

इन लिंग-चिन्हों का प्रयोग केवल संज्ञा के साथ ही हो, या विशेषण आदि के साथ भी हो, यह एक विचारणीय प्रश्न है। संस्कृत, जर्मन, इतालवी, फ्रेंच, आदि भारोपीय भाषाओं में समान रूप में इनका प्रयोग उभयत्र किया जाता है। अंग्रेज़ी और हिन्दी जैसी अधिक समृद्ध भाषाओं में उभयत्र प्रयोग की यह प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। वहां तो इनका प्रयोग संज्ञाओं के साथ ही रह गया है। विशेषण उभयत्र एक ही रूप में प्रयुक्त होते हैं। महान्, बुद्धिमान्, सुन्दर, आदि का हिन्दी में, और गुड, ब्यूटीफुल, ग्रेट, बिग, आदि का अंग्रेजी में, प्रयोग इसी रूप में उभय लिंगात्मक होता है। पर, उभयत्र अभी भी कुछ न कुछ सप्रत्यय शब्दों का प्रयोग प्रचलित है। हिन्दी में अच्छा-अच्छी, बड़ा-बड़ी, बच्चा-बच्ची, आदि का प्रयोग लिंग-प्रत्ययों के साथ संयुक्त होकर ही होता है। यह विरोधात्मक स्थिति उनमें इस कारण है कि ये भाषाएं अभी पूर्णतः वियोगात्मक नहीं बनी हैं।

५.३७.२ लिंग-संख्या

लिंगों की संख्या भाषा-भाषा के अभिव्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न मानी गई है। दो लिंग—पुल्लिग और स्त्रीलिंग के रूप में—तो प्रायः अधिकांश भाषाओं में माने ही गए हैं। इनकी अभिव्यक्ति अनेकत्र किसी प्रयत्य से न होकर पृथक् शब्दरूप से होती है। पर, इस पर भी यह सत्य है कि भावनात्मक रूप में लिंग की उपस्थिति सर्वत्र समान रूप में ही पाई जाती है। जहां तक प्रत्यय-प्रयोग का सम्बन्ध है, कहीं यदि इनका प्रत्यक्ष अभाव है, तो कहीं अन्यत्र इनका योग 'आदिनिपात' के तथाकथित रूपों तक के साथ भी होता पाया गया है। इतालवी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। लिंगसंख्या के विषय में यह स्मर्त्तव्य है कि उक्त भाषाओं में, तथा संस्कृत, लातीनी, ग्रीक आदि अन्य भारोपीय भाषाओं

में यह **तीन** ही मानी गई है। कुछ भाषाओं में स्त्रीवाचक शब्द अलग से जोड़कर स्त्रीलिंग शब्द बनाये जाते हैं। यह भी अवधेय है कि कुछ भाषाओं में लिंगभेद के कारण विभक्ति-प्रत्ययों के रूप में भी अन्तर आ जाता है। दूसरी भाषाओं में ऐसा नहीं होता।

लिंगभेद से सम्बद्ध अन्य समस्याओं पर पृथक् अध्याय में विचार किया जाएगा।

५.३८ शेषाधिकार

इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रत्यय भी 'तद्धित' वर्ग में ही आते हैं। उनमें से एक प्रमुख वर्ग को संस्कृत व्याकरण में '**मत्वर्थीय**' आदि के रूप में गिना गया है। ऐसे प्रत्यय न तो शब्द-रूप पर अधिक प्रभाव डालते हैं, न अर्थभावना में ही प्रत्यक्षतः कोई विशेष अन्तर लाते हैं। '**स्वार्थिक**' प्रत्यय भी इसी कोटि में आते हैं।

प्रत्ययों का एक और वर्ग ऐसा है, जिसके कभी अव्यय रूप में रहे होने की सम्भावना स्वीकार की जा सकती है। इनका प्रयोग तो विभक्ति-स्थानीय ही होता है, किन्तु इनके विविध रूपों को देखने के बाद यह सम्भावना बलवती हो जाती है कि स्वतः इनके भी सविभक्तिक रूप कभी प्रचलित रहे होंगे। सर्वनामों के साथ जुड़नेवाला 'स्म' प्रत्यय **संस्कृत** में ऐसा ही है। इन्हें हम 'प्रेपोज़िशन' या कर्मप्रवचनीय का परिवर्तित रूप भी कह सकते हैं। स्मात्, स्मै, स्मिन्, आदि रूपों से यही सम्भावना प्रतीत होती है।[1] यह बात नई और 'कल्पनामात्र' नहीं है। **जर्मन भाषा** में 'आन्, अम्, इम्, नाख्', आदि के विभक्तिपरक प्रयोग, और उस रूप में उनके द्वारा शब्द-रूप पर पड़ने वाले प्रभाव, की चर्चा हमने पूर्व भी की है। कम से कम धातुरूपों के साथ जुड़ने वाले 'स्म' को 'अस' धातु का अवशिष्ट रूप ही कहना उचित होगा, जोकि अपने इस रूप में 'अव्यय' का कार्य ग्रहण कर लेता है।[2]

५.३९ प्रत्यय अंग और समास :

प्रकृति और प्रत्यय के विभाजन और स्पष्टीकरण के बाद यह और भी आवश्यक हो जाता है कि पाणिनि की उस धारणा पर एक बार फिर से विचार

---

१. 'स्य' प्रत्यय भी ऐसा कहा जा सकता है। स्य, स्यै, स्याः, आदि रूपों में इसके विविध प्रयोग हैं।

२. 'करोति स्म' आदि में।

कर लें, जिसके अनुसार प्रत्यय-संयोग से पूर्व 'प्रकृति' कुछ निर्बल पड़ जाती है।[1] दूसरे शब्दों में, वह केवल प्रत्यय-संयोग के लिए ही तैयार नहीं होती, बल्कि वह अपनी काल्पनिक और मूल अवस्था को छोड़कर यत्किंचित् क्रियात्मक और रूपात्मक परिवर्त्तन को ग्रहण करने के लिए भी तैयार हो जाती है। 'शिशु' से 'शैशव' (सं०), 'क़त्ल' से 'क़ातिल' (अरबी), और 'लाइट' से 'लिट' (अंग्रेज़ी), आदि के निर्माण में हम जिसे अन्तः-स्वर-परिवर्त्तन कहते हैं, वह वस्तुतः प्रकृति का यही रूपात्मक 'परिवर्त्तन-ग्रहण' है। यह तब तक सम्भव स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक हम प्रकृति को ही परिवर्त्तनीय स्वीकार न करे। हां, यह निश्चित है कि यह परिवर्त्तन केवल वाक्प्रयोग (या वाक्य-प्रयोग) की दशा में ही सम्भव हो सकता है। उसी दशा में प्रत्यय-प्रयोग या सम्बन्ध-तत्त्व की भावना का समावेश अनिवार्य हो जाता है। **प्रकृति की इस भावनात्मक या रूपात्मक परिवर्त्तन की स्थिति को ही 'अंग' कहा गया है।**[2] पाणिनि की यह संज्ञा इसीलिए भाषा-वैज्ञानिक आधार पर सर्वांशतः सही कही जा सकती है।

जिन भाषाओं में प्रत्यय-प्रयोग नहीं होता, वहां भी यह 'अंग' संज्ञा देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। रूपान्तरण की दृष्टि से यह संज्ञा उतनी आवश्यक और उपयोगी नहीं है, जितनी प्रयोगावस्था में 'पद' की परतन्त्रता की सूचना की दृष्टि से। प्रयोगावस्था में **प्रकृति** (धातु, प्रातिपदिक, आदि) में 'सम्बन्ध' को द्योतित करने की सामर्थ्य आ जाती है। यह बात समास-प्रक्रिया में अधिक स्पष्ट हो जाती है। **आदिम अमरीकी और जापानी** जैसी भाषाओं में भी, सामान्य प्रत्ययों के अभाव में समास की यह प्रवृत्ति अत्यधिक पाई जाती है। **चीनी भाषा** के अनेकानेक शब्दों और नामों में समास की यह प्रवृत्ति आम तौर पर पाई जाती है। प्रत्यय-प्रयोग के बिना भी समास के द्वारा ही विविध प्रकार की सम्बन्ध-भावना व्यक्त कर दी जाती है। समासों के माध्यम से प्रत्येक विभक्ति द्वारा व्यक्त सम्बन्ध-भावना सूचित हो ही जाती है। यह स्मर्त्तव्य है कि 'समास' केवल संस्कृत के ही एकाधिकार नहीं है।

हम यह बार-बार स्पष्ट कर चुके हैं कि 'सम्बन्ध-भावना' तो वाक्-व्यवहार का मूलाधार है, चाहे हम इसे प्रत्ययादि बाह्यचिन्हों के द्वारा व्यक्त करें या न करें। स्थान, स्वर, निपात, या प्रत्यय के प्रयोग का उद्देश्य एक ही है: सम्बन्ध-भावना की सूचना। जिसे हम अलग-अलग स्थिति में शब्द की **अपूर्णता**

---

१. पा० १.४.१३।
२. वही।

कहते हैं, या भर्तृहरि के शब्दों में जिसे काल्पनिक विभाग कहते हैं, वाक्प्रयोग में इस सम्बन्ध-भावना के कारण ही वह स्थिति पूर्णता अथवा वास्तविकता में बदल जाती है।

५.४० चरम सत्य

प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन या उस पर यह विचार 'सम्बन्ध-भावना' को विस्तार से समझने की दिशा में एक प्रयासमात्र है। अन्यथा 'वाक्य' स्वतः **अविभाज्य, अपद और अक्रम है, और वह एक अभवक्ति और अखण्ड अर्थ की ही अभिव्यक्ति भी करता है।**

नाम या सत्त्वशब्द

६.१ स्वरूप और आकार :

यह बात अब तक स्पष्ट हो चुकी है कि हम **नाम** या **सत्त्व शब्द** से उस समस्त शब्दराशि का ग्रहण करते हैं, जिसे सामान्यतः 'प्रातिपदिक' के रूप में कहा गया है, और जो कि क्रिया और अव्यय को छोड़कर **अर्थवत् पदराशि** के रूप में किसी भी भाषा में शेष रह जाती है। यह बात केवल संस्कृत या भारोपीय **भाषाओं** के विषय में ही सत्य नहीं है, बल्कि हमने पाणिनि तथा अन्य भारतीय वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत इस सत्य को उसके व्यापकतम रूप में स्वीकार किया है, और उसे विश्वभाषाओं के विषय में भी सत्य माना है।

इस सत्य को हमने **भावना** और **आकार** दोनों दृष्टियों से मान्य समझा है। उदाहरणों के हेतु अवश्य ही हमने सीमित और प्रायः सप्रत्यय भाषाओं को ही लिया है। किन्तु, ये सभी उदाहरण इस दृष्टि से और इस प्रकार लिए गए हैं कि विश्व की सभी—सप्रत्यय और अप्रत्यय—भाषाओं का प्रतिनिधित्व उनसे पूरी तरह हो जाए। इन उदारणों से यह सत्य पुष्ट हो जाता है कि मूलतः **'क्रियाशब्द' और 'नामशब्द' एक दूसरे से भिन्न प्रकृति के होते हैं।** इसीलिए पाणिनि ने आकृति में नाम शब्द से मिलती-जुलती समस्त शब्दराशि को **'सुबन्त'** या **'प्रातिपदिक'** नाम से अभिहित किया। ये दोनों संज्ञाएं आकार और स्थिति के आधार पर रखी गई हैं। **'सर्वनाम'** या समानसूचक (समानप्रयोजनात्मक) संज्ञाएं स्वतः इस बात को सूचित करती हैं कि इनसे अभिहित शब्दराशि संज्ञा या **'नाम'** के वर्ग का ही एक भेद हो सकती है। पृथक् वर्ग में उसे नहीं गिना जा सकता। **'विशेषण'** के विषय में अवश्य विचारभेद हो सकता है।

स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्ययविहीन भाषाओं में भी **नाम** और **संज्ञा** का भेद-द्योतन उनके भावनात्मक अन्तर तथा स्थान-स्वर-समासादि के प्रयोग द्वारा स्पष्ट हो जाता है। यह अद्भुत साम्य है कि स्वर-परिवर्त्तन की दृष्टि से उन सभी भाषाओं में **'क्रिया'** का महत्त्व एक-सा है। उन सब में ही प्रायः

उदात्त स्वर के अभाव या उसके द्वारा **अर्थपरिवर्त्तन के अभाव** को 'क्रिया' का मुख्य लक्षण माना गया है। स्वर-परिवर्त्तन से जहां अर्थ-भावना में अन्तर आता है, ऐसा वर्ग भी सर्वत्र 'नाम' की उक्त परिभाषा में आने वाली शब्दराशि को ही स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से प्राचीन भारोपीय भाषाओं, और चीनी, अमरीकी, आदि भाषाओं, में विशेष अन्तर नहीं है।

परन्तु, आकार की इस प्रत्यय-साम्य-सम्बन्धी विशेषता के अतिरिक्त **भावना और स्वरूप** की दृष्टि से भी **'नाम'** या **सत्त्व शब्द** एक ही वर्ग के सिद्ध होते हैं। **'अव्यय'** वर्ग को इन दोनों में ही गृहीत न करने की बात पहले कही जा चुकी है। अतः उक्त सत्य को इस रूप में भी दोहराया जा सकता है कि **'अव्यय' को छोड़कर शेष शब्दराशि के दो ही वर्ग किए जा सकते हैं : क्रियापद और 'क्रियेतर' या नामपद।** रूसी विद्वान् दीमशित्ज़ ने अपने एक लेख में हिन्दी-प्रत्ययों को स्वतन्त्र शब्दराशि के रूप में स्वीकार किया है[1]।

पिछले अध्याय में हम इस विषय की विस्तृत चर्चा कर आए हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि **क्रिया-पदों में क्रमवत्ता की भावना प्रधान रहती है। 'नाम' या शेष शब्द-राशि के द्वारा इस क्रमभावना का वहन नहीं होता।** वैसे तो 'नाम' को भी **धातुमूलक** कहने वालों की कमी नहीं है। नाम शब्द धातुमूलक हों या न हों, इतना स्पष्ट है कि 'नाम' या **'प्रातिपदिक'** रूप धारण करने के बाद उनमें धातुमूलक क्रिया-पदों जैसी किसी कर्म-भावना अथवा क्रमभावना की सत्ता शेष नहीं रह जाती।

६.२ प्रातिपदिक और नामपद :

चतुर्थ अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि **'प्रातिपदिक' नाम** उस समस्त अर्थवान् शब्दराशि का है, जो अव्ययों और क्रियापदों को छोड़कर शेष बच रहती है। परन्तु, वहीं हम कह आए हैं कि अर्थवान् होते हुए भी 'प्रत्यय' इसमें गृहीत नहीं होते।

'अव्यय' कई प्रकार के हैं। **'क्रियाविशेषण'** के रूप में माने जाने वाले अव्ययों में से अनेक ऐसे हैं, जो विभक्त्यन्त हैं : **उच्चैः, कर्तुम्, कर्तोः, कर्तवे, स्वर्, नीचैः,** आदि। ये सार्थक हैं। परन्तु इनके इसी रूप में स्थिर हो जाने के कारण इन्हें **'अपरिवर्त्ती'** रूप वाला मान लिया गया है। कुछ अन्य ऐसे शब्द हैं, जिनके साथ कोई विभक्ति-प्रत्यय जुड़ा हुआ नहीं दीखता। **'निपात'** भी इसी वर्ग

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ५ दिस० १९६५, का अंक, तथा उनका प्रकाशित हिन्दी व्याकरण।

के अन्तर्गत आते हैं। अंग्रेजी के 'दि' (the) को देखकर हमें अधिकांश यूरोपीय भाषाओं के निपातों के विभक्ति, लिंग, या वचन, आदि से हीन होने का विश्वास हो जाता है। पर, सत्य यह है कि लैटिन, ट्यूटॉनिक, आदि विविध परिवारों की यूरोपीय भाषाओं में **आदि-निपातों** की स्थिति, प्राचीन और अर्वाचीन ग्रीक के आदिनिपातों से तुलना करने पर, केवल सप्रत्यय ही सिद्ध नहीं होती, बल्कि यह भी सिद्ध होता है कि ये सब किसी न किसी रूप में संस्कृत के 'तद्' सर्वनाम के ही समानार्थक या स्थानीय सर्वनाम रूप हैं। **कर्मप्रवचनीय, उपसर्ग, निपात और प्रेपोजिशन** में विभक्ति का प्रयोग नहीं होता। पर, यह बात भी सर्वांशतः सत्य नहीं कही जा सकती। **पाणिनि इन सब को 'अव्यय' नाम तो देते ही हैं,**[1] **साथ ही वे इन्हें मूलतः सप्रत्यय भी कल्पित करते हैं, बाद में भले ही वे उनके प्रत्ययों का 'लोप' या 'अभाव' स्वीकार कर लेते हैं**[2]। पर, **अव्यय** नाम देने के बाद वे इन्हें स्वरूप, आकार और भावना की दृष्टि से 'प्रातिपदिक' से पृथक् ही मानते हैं। इस वर्ग में पाणिनि द्वारा **निपात**, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय, आदि सहित, और नाम और क्रिया से भिन्न, **क्रियाविशेषण** आदि, सम्पूर्ण शब्दराशि को परिगणित किया गया है।

६.३ भेद : अभेद

इस प्रकार, प्रातिपदिक उस सार्थक शब्दराशि को कहते हैं, जो क्रिया और अव्यय के अतिरिक्त शेष बची रहती है। इस वर्ग के भी **नाम, सर्वनाम और विशेषण** आदि भेद किए जाते है। एक बात निश्चित है कि रूपात्मक दृष्टि से 'नाम' शब्दों के तीन या चार वर्गों में विभाजन की बात भारतीय वैयाकरणों को मान्य नहीं थी। इसमें सन्देह नहीं कि भावनात्मक दृष्टि से वे इस प्रकार की सम्भावनाओं पर पूरी तरह विचार कर चुके थे। दर्शनों द्वारा **जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य** के रूप में व्याकरण के आधारभूत 'चार मूल' तत्वों की मान्यता की बात कही जा चुकी है।[3] पर, अन्ततः संस्कृत व्याकरण संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण को स्वरूप, भावना और आकार के आधार पर 'सत्त्व' या 'नाम' के एक ही वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार करता है। इसी वर्ग को **मीमांसा** ने **'द्रव्यशब्द'** कहा है।[4] कहा ही जा चुका है कि **यास्क, पाणिनि, पतंजलि** और **भर्तृहरि** 'नाम' शब्द को

१. पा० १. २. ३७।
२. पा० २. २. ८२।
३. चतुर्थ अध्याय।
४. मी० २. १. १।

मान्यता देते हैं। इनमें से प्रथम तीन इसके प्रमुख उद्घोषक कहे जा सकते हैं। **सत्त्व** शब्द का इस अर्थ में प्रथम प्रयोग यास्क ने किया था।[1] परन्तु, इस शब्द को वास्तविक महत्त्व प्राप्त हुआ **दर्शनों** में तथा भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** में। इस पर भी यह सत्य है कि **भर्तृहरि**[2] और **शबरस्वामी**[3] इसे 'द्रव्यशब्द' कहने का पक्ष लेते दीखते हैं। इन शब्दों की प्रकृति के दृष्टिकोण से भर्तृहरि 'सत्त्व' की तुलना में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझते हैं।[4] वैसे भर्तृहरि के यहां **नामशब्द** का प्रयोग भी कम नहीं हुआ है।[5]

पाश्चात्य वैयाकरणों ने जिसे **नाउन,** (Noun) **नोमेन्** (Nomen), या **नोमे** (Nome) आदि के रूप में कहा है, और जिसे **येस्पर्सन** ने **सब्स्टेण्टिव** (Substantive) नाम से स्मरण किया है,[6] उसे **पाणिनि**[7] और **भर्तृहरि**[8] **संज्ञा** (सर्वनाम और विशेषण से भिन्न) कहकर स्मरण करते हैं। उनकी दृष्टि में 'संज्ञा' का विशेष कार्य अवश्य है, परन्तु उसे रचनात्मक व्याकरण का एक स्वतन्त्र पदभेद नही माना जा सकता। पदभेद की गणना का मुख्य आधार व्याकरण में उसकी रचना या आकृति को ही माना जा सकता है, यद्यपि स्वत: इसका आधार अर्थात्मक ही होता है। प्रकृति-प्रत्यय का सारा विभाजन ही अर्थात्मक आधार पर कल्पित किया जाता है। भारतीय वैयाकरणों का यह विभाजन अर्थात्मक दृष्टि से भी इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि उन्होंने सम्पूर्ण शब्दराशि का विभाजन ही 'अर्थवत्ता' की दृष्टि से किया है। और, इस विभाजन में वे **क्रिया** (=धातु) की तुलना में केवल एक ही अर्थवत् शब्दराशि मानते हैं: **'प्रातिपदिक'** :[9] हम कह आए हैं कि यह नाम भी अन्ततः 'नाम' या द्रव्यशब्दों के लिए ही सीमित रह जाता है; यद्यपि इसका प्रभाव क्षेत्र आरम्भ में बहुत व्यापक दीखता है। सर्वनाम और विशेषण की चर्चा वे इसी वर्ग के अन्तर्गत करते हैं। मीमांसकों ने 'गुण' और 'विशेषक' शब्द की चर्चा इसी प्रसंग में की है। पाणिनि ने अनेकत्र 'विशेषण' की तुलना में 'विशेष्य' शब्द का प्रयोग किया है।[10]

सर्वनाम को इस कोटि से कैसे पृथक् किया जा सकता है, यह भी समझ

---

१. नि० १. १. १३।
२. वा०, पदकाण्ड का द्वितीय समुद्देश (=द्रव्यसमुद्देशः)।
३. मी०, शाबर भाष्य, पृ० ३८७।
४. वा० ३. ८. १७।
५. वा० ३. ८. २६ आदि।
६. येस्प०, दि फिला० ग्रा०, पृ० ७२।
७. पा० १. १. ३४; २. १. ५०, आदि।
८. वा० १. ६६; तथा ३. ११. २५।
९. पा० १. २. ४५।
१०. पा० २. १.५७।

में नहीं आता। उन्हें नामशब्दों का एक 'विभाग' तो माना जा सकता है, परन्तु उन्हें किसी सर्वथा पृथक् कोटि में रखना उचित नहीं कहा जा सकता। जनप्रयोग को ही देखकर सम्भवतः संस्कृत वैयाकरणों ने यह परिणाम निकाला था कि लिंग, वचन, विभक्ति, आदि की समानता होने पर भिन्न-भिन्न शब्दों को पृथक्-पृथक् वर्गों में रखना उचित प्रतीत नहीं होता। फिर, येस्पर्सन जैसे विद्वान् की यह धारणा अत्यधिक क्रान्तिकारी और महत्त्वपूर्ण है कि ये सब पदविभाग भी अन्ततः सापेक्ष महत्त्व ही रखते हैं। 'थ्री रैंक्स' की उनकी धारणा इसी आधार पर स्थित है।[1]

अंग्रेज़ी और हिन्दी जैसी भाषाओं में रूपात्मक दृष्टि से 'संज्ञा' और 'विशेषण' में अन्तर सिद्ध किया जा सकता है। पर, हम अन्यत्र उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करेंगे कि वहां भावनात्मक दृष्टि से भी मूल प्रवृत्ति पूर्वोक्त प्रकार की ही ठहरती है। इसीलिए हमने भी 'अव्ययों' की पृथक्ता स्वीकार करने के बाद, 'नाम' या 'प्रातिपदिक' को एक ही वस्तु की, विविध प्रयोजनों की दृष्टि से निश्चित की गई, दो संज्ञाएं माना है।

इस प्रकार इस अध्याय में हम जिन उपवर्गों की चर्चा करेंगे, उन्हें हम **नामशब्द, सत्त्वशब्द,** या **'द्रव्यशब्द'** के उपवर्गमात्र ही कहेंगे। भारतीय व्याकरण-पद्धति और अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन को ध्यान में रखते हुए हम इन उपवर्गों को क्रमशः **संज्ञा, सर्वनाम,** और **विशेषण** कहेंगे। **येस्पर्सन** इन तीनों को अलग-अलग विभाग मानकर इनकी पृथक् से चर्चा करते हैं। हमारी दृष्टि में स्वरूप, भावना और आकार की दृष्टि से इन तीनों को एक ही व्यापक वर्ग के अंग या अंश माना जाना चाहिए।

६.४ संज्ञा : भेद

पश्चिम के मध्ययुगीन वैयाकरणों और उनके आधुनिक अनुयायियों ने प्रायः ही संज्ञा या 'नाउन' के पांच या कम भेद स्वीकार किए हैं : **व्यक्ति, जाति, गुण, भाव,** और **संख्या** के वाचक। आधुनिक भारतीय भाषाओं के वैयाकरणों ने भी आंख मूंदकर इस वर्गीकरण का अनुगमन किया है। भारत के प्राचीन दार्शनिकों, वैयाकरणों और आलंकारिकों ने द्रव्य, गुण, जाति, और कर्म के रूप में **सत्ता के चार वर्ग** स्वीकार किए थे। उपरिलिखित पाश्चात्य वर्गीकरण का औचित्य सिद्ध करने वाले कह सकते हैं कि पाश्चात्य **व्यक्तिवाचक** और भारतीय **द्रव्यवाचक** संज्ञाभेदों को **एक ही** कहा जा सकता है। **जातिवाचक** भेद दोनों वर्गी-

---

१. येस्प०, दि फिला० ग्रा०, पृ० ६६।

करणों में समान माना गया है। **गुणवाचक** और **कर्मवाचक** (भाववाचक) भी दोनों में समान ही कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि भारतीय दार्शनिकों के 'चतुर्वर्ग' को पाश्चात्य 'संज्ञाभेदों' के समतुल्य मान्यता दे दी जाए, तब केवल पाँचवाँ वर्ग **संख्यावाचक** शब्दों का ही ऐसा बच जाता है, जिसे भारतीय दृष्टि में **समान वर्ग** की मान्यता नहीं मिली।

इस सम्बन्ध में भी पाणिनि के '**बहुगणवतुडति संख्या**[१]' और '**ष्णान्ता: षट्**[२]', जैसे सूत्रों का हवाला देकर यह कहा जा सकता है कि पाणिनि स्पष्टत: 'संख्या' शब्दों को पृथक्-वर्ग में ही मानने के पक्ष में थे। भर्तृहरि ने भी **संख्यासमुद्देश** को पृथक् से ही स्थान दिया है।[3]

६.५ भेद : वास्तविकता

पर, यह मान्यता भ्रामक है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार भर्तृहरि ने **संख्यासमुद्देश** के रूप में संख्या को पृथक् महत्त्व दिया है, उसी प्रकार उन्होंने **गुण**, **जाति**, **द्रव्य** को भी पृथक् समुद्देशों में स्थान दिया है। परन्तु इस गिनाने-मात्र को ही संज्ञा के पृथक् वर्गों का आधार मान बैठना भ्रामक होगा। क्योंकि, न तो भर्तृहरि ने कर्मवाचक या भाववाचक शब्दों के लिए **कर्मसमुद्देश** या **भाव-समुद्देश** के रूप में पृथक् से कुछ लिखा है, और न ही वे **गुण**, **संख्या** और **द्रव्य** का **जाति** से व्यतिरिक्त कुछ पृथक् आधार मानते हैं।[४] **गुण** और **संख्या** को तो वे अनेकश: **द्रव्याश्रित** ही कहते हैं।[५] और फिर, जहां तक पृथक् समुद्देश में चर्चा की बात है, भर्तृहरि **दिक्** को भी पृथक् से ही वर्णित करते हैं।[६] इतना ही नहीं, पाणिनि भी **दिक्** और **संख्या** की कहीं साथ, तो कहीं पृथक् से, चर्चा करते हैं।[७] यदि उनके द्वारा चर्चित संज्ञात्मक समुद्देशों के ही पृथक् वर्ग मान लेना उचित है, तब दिक्-वाचक शब्दों की एक पृथक् कोटि माननी ही पड़ेगी। सच तो यह है कि भर्तृहरि का यह कथन अत्यधिक सार्थक है कि आखिर **संख्याशब्द** भी **संज्ञामात्र** हैं, कुछ अधिक नहीं।[८] यहां भी **भर्तृहरि** का अभिप्राय यही

---

१. पा० १. १. २३।
२. पा० १. १. २४।
३. पदकाण्ड का एकादश समुद्देश।
४. वा० ३. १. ३३, ७६, ८८; ३. ११. २६, आदि।
५. वा० ३. १. १३; ३. ५. २, ६; ३. ११. ५, १२, आदि।
६. पदकाण्ड का षष्ठ समुद्देश।
७. पा० २. १. ५० आदि।
८. वा० ३. ११. २५।

है कि सामान्यत: संज्ञा का जो कार्य होता है, **वही संख्या कहे जाने वाले शब्दों का भी होता है। गुण** या रूप आदि की भी स्थिति वे, इसी प्रसंग में, ऐसी ही मानते हैं। **वास्तव में इन सबको पृथक् समुद्देशों में गिनाने का प्रयोजन** यह है कि **द्रव्य की तुलना में, या उसके सम्बन्ध में, इनका वैयक्तिक महत्त्व और इनकी स्थिति बताई जा सके।** इन समुद्देशों में वे **संख्यात्व और गुणत्व** आदि की दार्शनिक विवेचना भी करते हैं। इस प्रकार का विवेचन इनके पृथक् विचार के प्रसंग में ही किया जा सकता है। अत: यह स्पष्ट है कि **इन समुद्देशों में भर्तृहरि का लक्ष्य संख्यावाचक या गुणवाचक संज्ञाभेदों की विशेषता बताना नहीं है; बल्कि यह है कि संख्या और गुण आदि के अपने धर्मों की चर्चा की जा सके। यही बात 'दिक्' के विषय में भी लागू होती है।**

संख्यासमुद्देश का एक विशिष्ट लक्ष्य यह भी है कि **वचनों की समस्या** पर विचार किया जा सके। **एकत्व, द्वित्व और बहुत्व** क्या हैं? और, उनकी कल्पना व्यक्ति-तत्त्वों के पृथक् अस्तित्व से भी कैसे जग पाती है? यह सब भी उस प्रसंग में खुलकर चर्चित हुआ है। इसी प्रकार की एक भिन्न समस्या **गुणसमुद्देश** का लक्ष्य बनी है। वहां उन्होंने **माधुर्य, महत्त्व,** आदि शब्दों और उनके द्वारा **व्यक्त तत्त्व** का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि इनका स्वतन्त्र अस्तित्व न रह कर **द्रव्याश्रित अस्तित्त्व** ही रहता है।' दूसरे शब्दों में, 'मधुर' कोई **द्रव्य** होता है—और उस दृष्टि से रस भी द्रव्य ही है, **गुण** नहीं। 'गुण' के रूप में, उस द्रव्य में ही, माधुर्य निवास करता है। पर, प्रत्ययों की दृष्टि से पाणिनि **माधुर्य, लावण्य, महत्त्व, लघुता,** आदि को भाव-द्योतक—या **भाव-प्रत्यय-प्रधान**—मानते हैं। **ण्य, त्व, तल्,** आदि प्रत्ययों को वे **भाववाचक** मानते हैं।[1] पाश्चात्य वैयाकरण भी इन्हें **भाववाचक** ही मानेंगे। **अंग्रेजी में** नेस (ness) आदि प्रत्ययों के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है, और वहां वह प्रत्यय 'भाववाचक' ही माना गया है। एक स्थान पर **पाणिनि** स्पष्ट करते हैं कि **गुणवाचक** शब्दों में **जड, मधुर,** आदि की गणना होती है, और उनसे ही **ष्यञ्** आदि प्रत्यय जुड़ते हैं।[2] पर, वास्तविकता यह है कि **भाव और गुण** में अन्तर इन शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। आखिर, ये भाव भी 'गुण' या 'गुणसूचित द्रव्य' के ही हैं। पर, **इससे भी बृहत्तर सत्य यह है कि भाववाचक, गुणवाचक और जातिवाचक शब्दों की सर्वसामान्य विशेषता उनके द्वारा समान रूप से जाति या सामान्य (समान धर्म भी इसमें ही गृहीत है) की सूचना की उपलब्धि है।**

---

१. पा० ५. १. ११९, १२३, आदि।
२. वा० ५. १. १२४।

संस्कृत व्याकरण में **भाववाचक** प्रत्ययों में धातु के साथ (कृदन्त रूप में) **ण्यत्, णिच्, णिङ्**, आदि को, तथा प्रातिपदिक के साथ (तद्धित रूप में) **ष्यञ्, त्व, तल्, इमनिच्**, आदि को गिनाया गया है। इन प्रत्यय-चिन्हों के कारण ही हम इनका अस्तित्व अलग से सिद्ध करते हैं। पर, यदि पूछा जाए कि हम किस गुण के कारण किसी द्रव्य को श्वेत, मधुर, शीतल, जड, चर, आदि कहते हैं;[1] तब जो उत्तर मिलेगा, यदि उसे ही 'गुण' मानना हो तो, वह इन्हीं भाववाचक शब्दों के रूप में होगा। **अतः गुण और भाव के बीच कोई बड़ी विभेदक रेखा खींचना असम्भव और अनुचित है।**

६.६ भाववाचक : कर्मवाचक

उक्त विवेचन से 'भाव' का **स्वरूप द्रव्य की सत्ता के आधार** के रूप में सिद्ध होता है। परन्तु, इसको दार्शनिक मान्यता प्रदान करते हुए जब इसे भारतीय दर्शनों में वर्णित 'कर्म' से अभिन्न सिद्ध किया जाता है, तब यह भुला दिया जाता है कि वहां 'कर्म' शब्द 'क्रिया' का पर्यायवाची है, सिद्ध रूप 'कर्म' का नहीं। यह बात शबरस्वामी के **मीमांसा भाष्य** में एकदम स्पष्ट हो जाती है। **'भावार्थाः कर्मशब्दाः**[1]' की व्याख्या में कर्म का प्रयोग वे **'भावप्रधानमाख्यातम्'** (नि०) के अर्थ में ही करते हैं, जो कि 'क्रिया' का समानार्थक है, न कि भाववाचक शब्दों की किसी पृथक् कोटि का।

६.७ जातिवाचक : द्रव्यवाचक

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाने के बाद कि जाति, द्रव्य, गुण और कर्म नाम के चार तत्त्वों में से 'कर्म' का अर्थ 'भाववाचक संज्ञा' नहीं है, यह विचारणीय हो उठता है कि शेष तत्त्वों पर भी विचार कर लिया जाए। इस प्रसंग में जाति और द्रव्य की तुलनात्मक स्थिति का विवेचन भी आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः ये दोनों शब्द तुलनात्मक दृष्टि से ही प्रयुक्त होते हैं। ये उन दो स्थितियों के द्योतक हैं, जो किसी भी वस्तु की हो सकती हैं। **क्रिया** भी इनके वृत्त में आए बिना नहीं रहती। यह बात अन्यत्र भी स्पष्ट की जाएगी।[2] **नाम-शब्दों** पर तो यह विवेचन लागू ही होता है। इन्हें सामान्यतः **जातिवाचक** और **व्यक्तिवाचक** संज्ञाओं का समानार्थक समझ लिया जाता है। पर, यह वास्तविकता

---

१. शावर भाष्य, मी० २. १. १।

२. दे० अगला अध्याय।

भुला दी जाती है कि **अर्थजाति**[1] जैसे शब्दों में 'जाति' का प्रयोग किसी शब्दवर्ग के लिए हुआ ही नहीं है। वास्तव में **जाति** और **द्रव्य** को, अंग्रेज़ी के **'कामन नाउन'** और **'प्रॉपर नाउन'** का समानार्थक न समझकर, **जनरल** और **पर्टिकुलर** एवं **कॉमन** और **इण्डिविज़्वल** का समानार्थक समझना चाहिए। इन दोनों द्वन्द्वों में से प्रथम को हम **अर्थविधा** पर सीमित कर सकते हैं, जब कि दूसरे को **शब्द-विधा** पर लागू मान सकते हैं। संस्कृत शब्दावली में इसके लिए **जाति-व्यक्ति** अथवा **सामूहिकता** और **व्यष्टि** के रूप में दो युग्म समानार्थक कहे जा सकते हैं। यह बात अन्यत्र स्पष्ट की गई है।[2]

सम्भवत: इससे 'गुण' का पृथक् ग्रहण भी उचित ही प्रतीत होने लगेगा। क्योंकि, कुछ विचारकों की दृष्टि में, गुण का सम्बन्ध इन दोनों में से किसी एक के साथ ही हो सकता है। किन्तु, यहां यह भी स्मर्त्तव्य है कि भर्तृहरि **क्रिया, गुण** और **संख्या** को समूचे रूप में **'जाति'** में ही परिगणित करते हैं।[3] **इस प्रकार** 'जाति', उनकी दृष्टि में, **अभिव्यक्ति की एक स्थिति विशेष है, जिनका सम्बन्ध अर्थ और शब्द के सभी भेदों-उपभेदों से समान रूप से है।**

'द्रव्य' के साथ स्थिति कुछ भिन्न है। **'द्रव्य' और 'व्यक्ति' समानार्थक हैं,** यह बात ऊपर कही जा चुकी है। **'सामूहिकता'** की तुलना में 'द्रव्य' शब्द **'इकाई या व्यक्तिगत सत्ता'** (व्यष्टि) की सूचना देता है। परन्तु, त्रुटि वहां आ जाती है, जब हम इसे 'संज्ञा' के एक वर्ग-विशेष के लिए ही रूढ़ मान बैठते हैं। **भर्तृहरि** 'द्रव्य' की परिभाषा इतने व्यापक रूप में करते हैं कि उसमें आत्मा, वस्तु, शरीर, तत्त्व, स्वरूप, आदि सभी का समावेश हो जाता है।[4] आकार को तो वे द्रव्य का अनिवार्य लक्षण ही नहीं मानते। आकार असत्य भी हो सकते हैं और भ्रमावह भी। सत्य वस्तु इन आकारों के पीछे छिपी रहती है। या, वह इनके माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है।[5] यह सत्य या नित्य वस्तु ही भर्तृहरि को 'द्रव्य' के रूप में अभिप्रेत है[6]। यह 'वस्तु' या 'द्रव्य' ही, भर्तृहरि के अनुसार, **दर्शन, दृश्य, द्रष्टा** और **प्रयोजन** के आधार पर भिन्न दीखने पर भी अभिन्न और एक ही रहता है[7]। **आकार** और **दर्शन** का सम्बन्ध परस्पर अनिवार्य है भी नहीं।[8]

---

१. वा० ३. १. ६, ८, ११ आदि में।

२. दे० इसी अध्याय में, आगे चलकर; एवं 'भाषा० वाक्य०' में पृ० १४५ और १५७ पर।

३. वा० ३. १. ३३, ३४।

४ वा० ३. २. १।

५. वा० ३. २. २-५, ११।

६. वा० ३. २. १।

७. वा० ३. २. १४।

८. वा० १. ६१; २. २८७—८।

इस प्रकार **'वस्तु'** (या द्रव्य) एक ही है। जब उसके **व्यक्तिगत आकार और लक्षण** को ध्यान में रख कर उसे एक पृथक् संज्ञा दी जाती है, तब उसे **'द्रव्यवाचक'** या **'व्यक्तिवाचक'** कहना सार्थक और समानार्थक हो जाता है। वहां व्यक्ति का अर्थ 'विशिष्ट द्रव्य' ही होता है। किन्तु, जब उसी वस्तु के आकार और स्वरूप के उन लक्षणों को ध्यान में रख कर विचार किया जाता है, जो उसे उसी आकार और स्वरूप वाली अन्य वस्तुओं से अभिन्न सिद्ध करते हैं, तब ऐसी 'संज्ञा' को, जो ऐसे सामान्य लक्षणों की सूचना दे, हम **'जातिवाचक'** या **'सामान्य'** संज्ञा कह देते हैं।

६.८ दो सत्य

परन्तु, यहां दो बातें **अवधेय** हो उठती हैं। **प्रथम** यह कि 'द्रव्य' का अभिप्राय किसी आकार या शरीर तक ही सीमित नहीं है। **दूसरी** यह कि **'जाति'** या 'सामान्य उपलब्धि' का सम्बन्ध केवल 'संज्ञा' के साथ ही नहीं है। **किसी भी पृथक् व्यक्तित्व या इकाई को** 'द्रव्य' कहते हैं, भले ही वह साकार हो या निराकार; या वह भले ही बह केवल भाव, गुण, या तत्त्व के रूप में विद्यमान हो। **'द्रव्य'** का अर्थ **'पदार्थ'** अवश्य कहा जा सकता है, पर **'सब्स्टैन्स'** के अर्थ में; **'मैटर' या** 'मैटीरियल' के अर्थ में नहीं। इन परवर्ती अर्थों में आकार और परिमाण की शर्तें आवश्यक हो जाती हैं। पर, जब पृथक्ता या विशिष्टता पर अधिक बल न हो, तब उसे, द्रव्य के लिए प्रयुक्त होने पर भी, 'द्रव्यवाचक' संज्ञा कहना उचित न होगा। वहां **'द्रव्यत्व'** या **'व्यक्तित्व'** का अभिधान करना मुख्य होता ही नहीं। आकार की विद्यमानता या अविद्यमानता से भी उस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। उस स्थिति के अनेकत्र सम्भावित अथवा उपलब्ध होने से, या उससे बोधित बहुत से लक्षण सामान्य रूप में अनेकत्र पाए जाने से, हम उस स्थिति के वाचक शब्द को, व्यक्ति की अपेक्षा, **जाति का वाचक** कहते हैं[1]। इसीलिए, **भर्तृहरि** ने 'जाति' को, द्रव्य या संज्ञा तक ही सीमित न रखकर, **सत्ता का अपर पर्याय** माना है[2]। **उनकी दृष्टि में 'सत्ता', 'प्रकृति,' 'जाति,' आदि शब्द एक ही स्थिति या वस्तु के वाचक हैं।**[3] **शुद्ध 'प्रकृति' भी जाति है**[4]**। 'क्रिया' तो है ही जाति**[5]**। गुण, संख्या, और लिंग भी जाति के ही वाचक हैं।**[6]

इस प्रकार 'जाति' एक **सर्वव्यापिनी महासत्ता** के रूप में है[7]। इसका

---

१. वा० ३. १. १४, १६, ६८, १००।

२. वा० ३. १. ३३।

३. वा० ३. १. ३४।

४. वा० ३. १. ३२; ३. ८. ३८।

५. वा० ३. १. ३५, ३६; ३. ८. २२-२३।

६. वा० ३, ११. २६।

७. वा० ३. १. ३४; ३. ८. ३५, ६२।

सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों से है[1]। शब्द द्वारा होने वाला 'प्रतिनिधित्व' उसकी जातिमत्ता[2] को सूचित करता है, जबकि 'अनुप्रवृत्ति' और 'व्यावृत्ति'—अथवा व्यापक समानता और विशिष्ट एवं संकुचित व्यक्तित्व क्रमशः उसके 'जाति' और 'व्यक्ति' रूप को स्पष्ट करते हैं'[3]। सब शब्दों में जातिरूपता की इस उपलब्धि के कारण ही पतंजलि ने कहा था : **'अथवा आकृतिर्द्रव्यम्'**[4]। भर्तृहरि अपनी महाभाष्य-टीका में आचार्य वाजप्यायन और व्याडि के मतों का उपसंहार करते हुए कहते हैं :

'वाजप्यायनस्याकृतिर्व्याडेस्तु द्रव्यम् ।·· तत्र वाजप्यायनस्य शब्द आकृतिमेव चोदयति न द्रव्यादीन् । · एवमिहापि गौरित्यनेन शब्देन गोत्वमेवाभिधीयते न द्रव्यमिति वाजप्यायनदर्शनम् । तथा द्रव्यमपि अभिधीयते, उपलक्षणं गोत्वादय, इति व्याडिमतम् ।'[5]

अर्थात्, वाजप्यायन ने जहां शब्द को 'जाति' ही कहना उपयुक्त समझा है, वहां व्याडि उसे अन्ततः 'व्यक्ति' का ही बोधक मानते हैं। व्याडि की दृष्टि में 'गौ' के बिना 'गोत्व' महत्त्वहीन और निरर्थक हो जाता है। अतः उनकी दृष्टि में 'गौ' का अर्थ पशु-विशेष ही है, न कि उससे सूचित लक्षण विशेष। हेलाराज ने भर्तृहरि के मत को—**उभयात्मक मान्यता** के रूप में—स्पष्ट किया है[6]। **पाणिनि** ने तो सभी पदार्थों को **उभयविध** स्वीकार किया है।[7]

६.९ दो ही भेद

पर, प्रकरण 'संज्ञा-विवेचन' का होने से हमें इतना कथन ही अभीष्ट है कि संज्ञा के केवल दो ही भेद सम्भव हैं : **द्रव्य (व्यक्ति) रूप और जातिरूप**। अन्य किसी रूप में किया गया उसका वर्गीकरण हमें अनन्त विस्तारमयी प्रक्रिया में ले जाएगा। **'द्रव्यरूप'** को अधिक स्पष्टता से **'व्यक्तिरूप'** कहना उचित है। भर्तृहरि को 'द्रव्य' नाम के प्रति आग्रह दीखता है। पदकाण्ड (वाक्यपदीय) में चतुर्थ समुद्देश को उन्होंने, या उनके परवर्त्ती टीकाकारों ने, **'भूयोद्रव्यसमुद्देशः'** नाम दिया है। इस अधूरे से लगने वाले समुद्देश में वे स्पष्टतः सत्त्व, व्यक्ति, या पदार्थ के नाम से अभिहित 'द्रव्य' की परिभाषा कर रहे हैं। जाति-लक्षणों की उप-

---

१. वा० ३. १. ६, ८।
२. वा० ३. ९. ११२।
३. वा० ३. १. १४, १९।
४. महा० १. १. १।
५. म० त्रि०, १. १. १।
६. वा० ३. ४. ३, एवं ३. ५. १ की व्याख्या में।
७. महा० १. १. १, 'उभयथा ह्याचार्येण······'।

स्थिति के रहते भी, व्यक्तिलक्षणों का वाहक होने के कारण, वह 'संज्ञामात्र' का आधार रहता है। तभी तो उसके स्थान पर प्रतिनिधि के रूप में 'सर्वनाम' का प्रयोग होता है[1]। भर्तृहरि ने एक ही कारिका में यह परिभाषा पूरी कर दी है। इस कारिका की पूर्ववर्त्ती दोनों कारिकाएं ऐसा आभास देती हैं, जैसे तृतीय कारिका के बाद अभी बहुत कुछ और कहा गया था। पर, मिलती हमें वही एक कारिका है, **जिसमें 'द्रव्य' की परिभाषा की गई है। दूसरी ओर,** यदि 'गुण-समुद्देश' की प्रथम कारिका को पढ़ें, तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्भवतः इन दोनों कारिकाओं के बीच कुछ अन्य न रहा होगा। कारण यह कि इन दोनों में ही भर्तृहरि ने द्रव्य और गुण की सापेक्ष सीमाओं या परिभाषाओं को स्पष्ट किया है। इसीलिए कई प्रतियों में इस द्वितीय द्रव्यसमुद्देश को इससे परवर्त्ती 'गुणसमुद्देश' का अभिन्न अंग माना गया है। **हमारी सम्मति में यह 'गुणसमुद्देश' का ही आरम्भिक भाग है।**

६.१० द्रव्य-परिभाषा

इस कारिका का अर्थ इस प्रकार है : **'वस्तु को लक्ष्य बनाकर जहां भी 'सर्वनाम' का प्रयोग किया जा सकता है, उस समस्त** अर्थराशि को, भेदविवक्षा **के कारण, 'द्रव्य' कहा जाता है**[2]।' इससे तीन बातें विशेष रूप से सामने आती हैं : **वस्तु-भावना, सर्वनाम का प्रयोगावकाश,** और भेदविवक्षा। इन तीनों पर विचार करने के बाद ही हम 'द्रव्य' की सही सीमाओं से परिचित हो सकते हैं।

६.१०.१ वस्तु-भावना

येस्पर्सन ने जिसे **'सब्स्टैन्स'** कहा है, उसे ही हम **'वस्तु'** कह सकते हैं। 'वस्तु' का अंग्रेजी पर्याय 'थिङ्' है। इन दोनों शब्दों का ही अर्थ **'मैटर'** या 'साव-यव पदार्थ' मात्र नहीं है। **इन सभी शब्दों का अभिप्राय उस अस्तित्व से है, जिसकी व्यक्तिगत सत्ता सिद्ध की जा सकती है। फिर, भले ही वह सत्ता शरीर, अवयव, भार, या स्थान आदि से रहित हो। भावात्मक अस्तित्व होना भी 'वस्तु' कहलाने के लिए पर्याप्त आधार है। इसीलिए** जब अन्यत्र भर्तृहरि 'द्रव्य' को **शरीर,तत्त्व, स्वरूप और आत्मा से अभिन्न कहते हैं**[3]**, तब उनकी दृष्टि में यही सत्य प्रधान रहता है कि व्यक्तिगत सत्ता या अस्तित्व के लिए शरीर, पिण्ड या** सावयव स्थिति का होना **ही आवश्यक नहीं है। प्रत्युत, व्यक्तिगत सत्ता और**

---

१. वा० ३. ४. ३।
२. वा० ३. ४. ३
३. वा० ३. २. १।

अस्तित्व तो आत्मा और तत्त्व जैसी अमूर्त वस्तुओं का भी होता है। इसीलिए जब भर्तृहरि 'द्रव्य' को वस्तु से संकेतित या उसपर आधारित मानते हैं, तब वे केवल भौतिक विज्ञान के एक सत्य का उल्लेख नहीं कर रहे होते; बल्कि सार्वत्रिक और सार्वकालिक विज्ञान के एक बृहत्तर सत्य का उल्लेख कर रहे होते हैं। यही कारण है कि यास्क **'वस्तूपलक्षण'** के स्थान पर, ठीक उसी अर्थ में **''सत्त्वप्रधान'** का प्रयोग करते हैं[1]। भर्तृहरि ने अनेकत्र इसका समर्थन किया है[2]। इस प्रसंग में सत्त्व का अर्थ **'बीइंग'** से है। यह अस्तित्व या सत्ता 'द्रव्य' का **प्रमुखतम लक्षण** है। हम बहुधा 'सत्ता' को 'चक्षु' का विषय मान बैठते हैं। इसी कारण हम उसके शरीर की भी कल्पना कर बैठते हैं[3]। पर, अन्ततः चक्षु विषयक ज्ञान **'सापराध'**[4] भी हो सकता है। **सत्य का निवास आकार से परे ही होता है**[5]।

६.१०.२ सर्वनाम-प्रयोग

स्पष्ट है कि **'वस्तु'** या **'द्रव्य'** किसी ऐसी सत्ता, या सत्तावान् पदार्थ, का संकेत करते हैं, जिसकी पृथक्ता हम अनुभव कर सकते हैं। इस पृथक्ता की सीधी और सरल पहचान यह है कि शब्द उस सत्ता की ओर संकेत करने में सफल हो सके। यह संकेत ही **'नाम'** या **'संज्ञा'** शब्दों द्वारा उपलब्ध होता है। हम बाद में 'संज्ञा' की 'नाम' से प्रायोगिक भिन्नता बताएंगे। पर 'संज्ञा' भी 'नाम' के बृहत्तर वर्ग का ही अंश है। यहाँ हमने इसका प्रयोग उसी बृहत्तर अर्थ में किया है, जिसमें इसे सामान्यतः 'नाम' का ही अपर पर्याय माना जाता है। 'संज्ञा' और 'संकेत' का धातुपरक अर्थ, संस्कृत में, एक ही है। √**'ज्ञा ज्ञाने'** और √**'किती संज्ञाने'** धातुओं से इन दोनों शब्दों का क्रमशः निर्माण हुआ है। इस प्रकार दोनों में एकार्थक धातुएं तो हैं ही, उनमें उपसर्ग भी एक ही प्रयोग हुआ है। अतः इन दोनों का मूलागत अर्थ एक ही होना चाहिए। वह अर्थ 'संकेतिका' या 'संकेतक' के रूप में कहा जा सकता है। इसे और अधिक स्पष्ट करके भर्तृहरि कहते हैं कि संज्ञा द्वारा जिस वस्तु या सत्ता का संकेत या संज्ञान होता है, वह परिवेश से पृथक् करके पहचानी जा सकती है[6]। इसी कारण वे उसे

---

१. 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' (नि० १. १. ३)।

२. वा० २. ३४५-३४६; ३. १. ३५; ३. ८. ४७; आदि।

३. वा० २. १२०, १३३, १३६।

४. वा० २. १३८।

५. वा० ३. २. ११।

६. वा० १. ६६, ७०; २. ३५७-३७२।

'व्यक्ति' कहते हैं[1]। इस पृथक्ता को स्पष्ट करने के लिए 'नाम' के साथ-साथ एक ग्रौर प्रतिनिधि-संकेत भी प्रयुक्त होता है, जो उस द्रव्य या सत्ता का व्यक्तिगत 'नाम' न होकर भी उसकी ग्रोर इंगित या संकेत कर ही देता है। इसी प्रतिनिधि को **सर्वनाम** कहा जाता है[2]। ये सर्वनाम किसी विशेष पदार्थ का इंगित स्वतः तब तक नहीं करते, जब तक इनका प्रयोग किसी के स्थान पर न हो। परन्तु, प्रयोग के बाद इनमें भी वैसी ही संकेत-सामर्थ्य ग्रा जाती है, जैसी सामान्य या व्यक्तिवाचक संज्ञाग्रों में! ग्रौर, तब ये उन द्रव्यों का ग्रभिधान करने लगते हैं। साथ ही, इन का प्रयोग भी उस वस्तु को ग्रन्य-व्यतिरिक्त सिद्ध करने के प्रयोजन से ही होता है। इस प्रकार इनका मूल भी **भेदविवक्षा** पर ही ग्राधारित है।

इस विवेचन का उद्देश्य यह नहीं है कि **सर्वनाम** को द्रव्य का स्थानीय बताया जा सके। प्रत्युत, इसका उद्देश्य यह बताना है कि, 'जब कहीं सर्वनाम का प्रयोग वस्तु को लक्ष्य में रखकर हो, तब जिस वस्तु के लिए वह प्रयोग हो रहा होता है उसे 'द्रव्य' कहते हैं।' दूसरे शब्दों में, सर्वनाम द्वारा संकेतित वस्तु को 'द्रव्य' कहा जाता है[3]। यहां यह स्मर्तव्य है कि यह इंगित या संकेत इसलिए ग्रावश्यक होता है कि हम उस संकेतित वस्तु को ग्रन्यों से व्यतिरिक्त या भिन्न करके बताना चाहते हैं[4]। यहाँ हम 'संज्ञा' के प्रयोग ग्रौर उसके नामकरण की उपयोगिता पर विचार नहीं कर रहे। हमारा बल केवल इस बात पर है कि **सर्वनाम द्वारा किसी भी वस्तु के व्यक्तिरूप का ही प्रतिनिधित्व होता है;** फिर भले ही वह वस्तु 'जातिवाचक' नाम द्वारा ग्रभिहित हो। इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि 'द्रव्य' **के जातिरूप होने पर भी, उसके स्थान पर सर्वनाम का प्रयोग होने की दशा में, उससे वस्तु या द्रव्य के व्यक्तिरूप का ही बोध होता है।** भेदक लक्षण द्रव्य के 'जातिरूप' में भी रहते हैं। तभी 'गोत्व' ग्रादि को 'जाति' कहा गया है[5]। किन्तु, **'यह घोड़ा', 'वह गौ', ग्रादि कहने पर किसी विशिष्ट द्रव्य या विशिष्ट जीव ग्रादि का ही बोध होता है।**

६.१.३ भेद-विवक्षा :

भेद-विवक्षा के इस प्रसंग को ग्रधिक स्पष्टता से समझ लेना ग्रावश्यक है। भेदक लक्षणों को ही भर्तृहरि 'गुण' कहते हैं[6]। सामान्यतः गुण भी **'लक्षण'**

---

१. वा० १. ६८।
२. वा० ३. ४. ३।
३. वही।
४. वही।
५. वा० ३. १. ३४।
६. वा० ३. ५. १।

ही होते हैं। वे स्वत: 'द्रव्य' नहीं होते। 'द्रव्य' का स्थान लेते ही वे 'गुण' नहीं रह जाते। निश्चय ही वे 'द्रव्याश्रित' हुए बिना नहीं रह सकते। तभी भर्तृहरि कहते हैं: **'गुणत्वं परतन्त्रत्वात्'** (वा० ३.५.१)। **गुण** का कार्य है **'प्रकर्ष'** को बताना।[1] वह प्रकर्ष **निकृष्ट** का बाचक भी हो सकता है **और उत्कृष्ट** का वाचक भी।[2] प्रकर्ष एक प्रकार की **दूरी या पृथक्ता** है, जो एक पदार्थ या स्थिति से दूसरे पदार्थ या स्थिति की भिन्नता को सूचित करती है।[3] यह दूरी जिन शब्दों द्वारा व्यक्त की जाती है, उन्हें **'विशेष शब्द'** या **'विशेषक** (विशेषण)' कहा जाता है।[4]

६.११ सर्वनाम : गुणशब्द

पर, भेदकथन करने पर भी, **सर्वनाम** का **गुणशब्द** से अन्तर है। सर्वनाम भी **भेद** बताते हैं। पर, **प्रकर्ष** बताना उनका कार्य नहीं है। उनके द्वारा बताया जाने वाला भेद **सत्ता अथवा संकेत का** है। इसीलिए वह 'नाम' के समान **स्वतन्त्र** है, परतन्त्र नहीं। परन्तु, **गुणशब्द** द्वारा जो भेद कथन होता है, वह **सहेतुक और सव्यापार** होता है।[5] 'यह घोड़ा' और 'काला घोड़ा' में अन्तर है। यह अन्तर 'यह काला घोड़ा' में और भी स्पष्ट हो जाता है। 'सर्वनाम' का प्रयोग विशेषण या गुणशब्द के लिए भी, या उसके प्रतिनिधि रूप में भी, होता है। अतः केवल **'भेद-विवक्षा'** को हेतु गिना देने मात्र से दोनों की स्थिति समझने में कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होना चाहिए। उन दोनों का प्रयोग भेदविवक्षा के लिए होने पर भी **'प्रकर्ष'** की सूचना उनमें से केवल **गुणशब्दों से** ही मिल पाती है। सर्वनाम को **'नाम' का स्थानीय** माना जाता है। पर, उसका **प्रयोग** गुण के स्थान पर भी होता है। यह प्रयोग तत्काल 'विशेषण' से समानता का आभास देता है। इसे **स्वतन्त्र संज्ञा** के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। पर, वास्तव में 'संज्ञा' स्वत: 'नाम' का ही एक **विशिष्ट रूप** है। इस पर भी, इस सबसे यह सिद्ध नहीं हो पाता कि 'नाम' या 'संज्ञा' का प्रयोग केवल **'द्रव्यों' के लिए** ही होता है। **गुण, रूप, संख्या, आदि सभी के वाचक शब्दों को समान रूप से ही 'संज्ञा' कहा जा सकता है**[6]। 'संज्ञा' का आधारभूत कार्य है व्यक्ति या द्रव्य को **समूह से अलग** सूचित करना। एक समूह को दूसरे समूह से भी, इसी पृथक्ता के आधार पर, भिन्न सिद्ध किया जा सकता है। **'सर्वनाम' का प्रयोग भी ठीक इसी 'पृथक्ता के संकेत' के लिए ही**

---

१. वा० १. ६४; ३. ५. २।
२. वा० ३. ५. ६।
३. वा० ३. ५. ८।
४. वा० ३. ५. ४।
५. वा० ३. ५. १।
६. वा० ३. ११. २५।

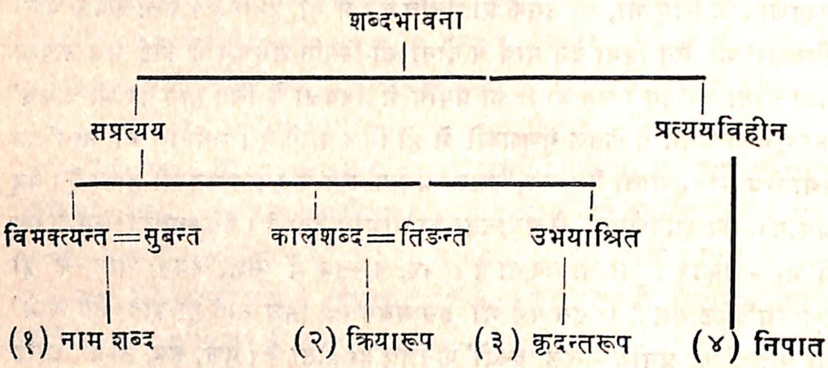
होता है। हम बता चुके हैं कि 'नाम' शब्द की व्यापकता में विधि, द्रव्य, तत्त्व, गुण, संख्या, रूप, आदि सभी वस्तुएं गृहीत हो जाती हैं।

६.१२ सर्वनाम और नाम

इस प्रकार यह तो लगभग निश्चित है कि सर्वनाम और विशेषण इस अर्थ में उस शब्दराशि से अभिन्न हैं, जो **क्रमवत्ता के अभाव** की सूचक होने के कारण क्रिया से भिन्न है, और जिसमें **मूल अर्थ** को संकेतित करने की अपनी मूल सामर्थ्य विद्यमान रहती है। ऐसी शब्दराशि को ही '**नाम**' कहा गया है। इस विषय में यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, शबरस्वामी और भर्तृहरि एकमत हैं। यह बात इससे पहले अध्याय में स्पष्ट की जा चुकी है।

६.१३ वार्रो : पदभेद

पाश्चात्य मध्ययुगीन विद्वान् **वार्रो** ने पदभेद की संख्या को 'चार' तक सीमित किया है। उसके वर्गीकरण को भारतीय व्याकरण की दृष्टि से निम्नरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :



इस विभाजन पर **येस्पर्सन** को यह आपत्ति है कि यह केवल **लातीनी** भाषाओं को ध्यान में रखकर किया गया है।[1] हम इसे **ग्रीक, संस्कृत, रूसी, फ़ारसी**, आदि अन्य प्राचीन भाषाओं पर भी घटता हुआ पा सकते हैं। पर, फिर भी, येस्पर्सन का उक्त कथन अधिकांशत: सत्य है। क्योंकि, हिन्दी, अंग्रेज़ी, चीनी आदि अनेक ऐसी भाषाएं हैं, जिनमें प्रत्ययों को इन भाषाओं की अपेक्षा कम, या बिल्कुल निषेधात्मक, महत्त्व प्राप्त है। संस्कृत वैयाकरणों ने 'पद' को प्रकृति-प्रत्यय

---

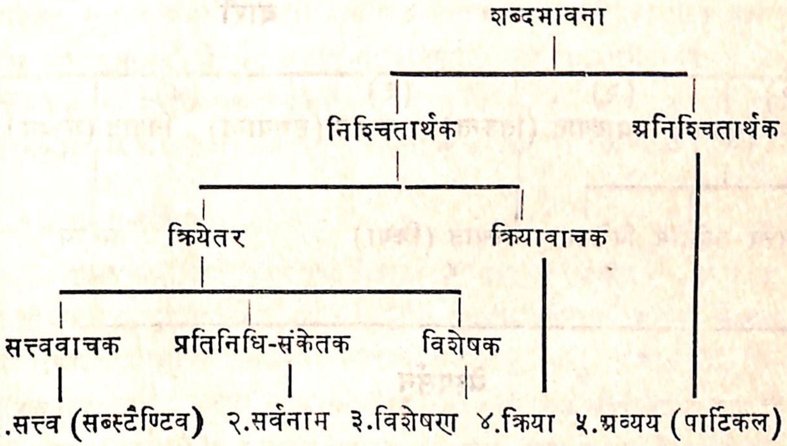
१. येस्प०, दि फिला० ग्रा०, पृ० ५८-५९।

विभागों में बांटा ही था, पर भर्तृहरि यह भी जानते थे यह विभाग सार्वत्रिक या वास्तविक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए उन्होंने विभाजन की इस प्रक्रिया को **अपोद्धार** नाम दिया।[1] इसे ही अन्य वैयकारणों ने **अलौकिक विग्रह** का नाम दिया।[2]

वैसे वार्रो के उक्त विभाजन में एक संशोधन का सुझाव देकर ही इसे पाणिनि के अनुकूल बनाया जा सकता है। वह यह कि कृदन्त शब्दों में धातुओं और धातु-प्रत्ययों का संयोग होने पर भी, क्योंकि प्रयोग के समय उनमें अन्त्य प्रत्यय रूपात्मक या विभक्तिपरक ही प्रयुक्त होते हैं, अत: रूपात्मक और साभिप्राय-एकता के कारण उन्हें एक ही नाम-वर्ग में रखना चाहिए। इस दृष्टि से पदराशि 'तीन' तक सीमित हो जाएगी : **नाम, क्रिया और अव्यय**।

६.१४ येस्पर्सन का वर्गीकरण

येस्पर्सन पदभेद का वर्गीकरण इससे भिन्न आधार पर करते हैं। उनकी दृष्टि में पद पांच हैं :



वार्रो के उक्त विभाजन पर **येस्पर्सन** की आपत्ति साभिप्राय है। **भर्तृहरि** के समान वे भी इस बात पर बल देते हैं कि पद-विभाजन का आधार प्रकृति-प्रत्यय जैसी रूपात्मक, अतएव एकदेशी, प्रवृत्ति पर नहीं होना चाहिए। जो **आधार** सार्वत्रिक नहीं है, उसके मानकर किया गया विभाजन सार्वत्रिक कैसे

---

१. वा० ३. १. १।

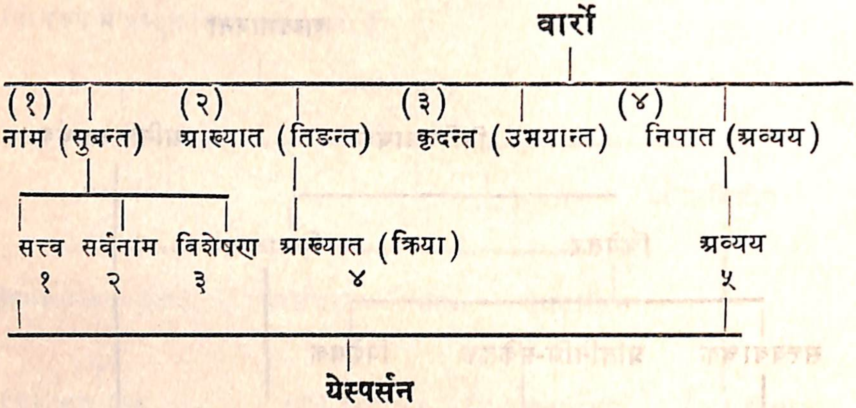
२. सिद्धान्त कौमुदी, समास-प्रकरण।

हो सकता है ? इसलिए, रूपात्मक आधार पर किया गया श्लाइख़र का विभाजन[1] भी उन्हें अमान्य ठहरता है।

ऊपर दी गई येस्पर्सन की तालिका में वार्रो के विभाजन से अन्तर अवलोकनीय है। अर्थ और संकेत की शक्ति के आधार पर किए गए इस विभाग में और वार्रो के **रूपात्मक विभाजन** में एक बात समान है : **अव्यय** (निपात) और **क्रिया** के विभाजन उभयत्र एक से स्वीकार किए गए हैं। शेष विभागों विषय में दोनों का विभाजन बहुत भिन्न है। **वार्रो** रूपात्मक दृष्टि से जिसे **नाम** के रूप में 'एक' वर्ग मानते है, **येस्पर्सन** उसे ही प्रयोजन के आधार पर **सत्त्व**, **सर्वनाम** और **विशेषण** के तीन वर्गों में विभक्त करते हैं। दोनों में एक अन्तर यह भी है कि येस्पर्सन **कृदन्त** को पृथक् विभाग स्वीकार नहीं करते।

६.१५ तुलनात्मक वर्गीकरण

इन दोनों के पदों की तुलना निम्न रूप में की जा सकती है :



६.१६ श्रोडर का प्रयास

वार्रो के अनुकरण पर ही, किन्तु **काल** और **लिंग** का प्रमुख आधार लेकर, श्रोडर ने सम्पूर्ण शब्दराशि को, **नाम** और **आख्यात** में वर्गीकृत करके इन्हीं के उपविभागों द्वारा, पुनः चार में बांट दिया है। अन्तर यह है कि अव्यय की गिनती उन्होंने पृथक् से नहीं की है। उनका विभाजन इस प्रकार है :

---

१. श्लाइख़र, 'नोमेन् उण्ड फ़ेर्बेन्', पृ० ५०६।

शब्दराशि

नाम — आख्यात

नाम: सामान्य (सलिंग, कालहीन) | व्यक्तिगत सर्वनाम (काललिंगहीन) | कृदन्त (सलिंग, सकाल)

आख्यात (सकाल, लिंगहीन)

इस वर्गीकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें **'क्रिया'** का मुख्य लक्षण **'काल'** को माना गया है, और **'नाम'** का मुख्य लक्षण **'लिंग'** को स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत **'नाम'** में 'काल' का, और **'क्रिया'** में **'लिंग'** का, अभाव माना गया है। इन दोनों के बीच ही शेष दोनों स्थितियां आती कही जा सकती हैं। ऐसा माना जाता है कि **हिन्दी** जैसी कुछ भाषाओं में **'क्रिया' का सलिंग प्रयोग** पाया जाता है[1]। **चीनी** जैसी भाषाओं में **'क्रिया'** के रूप से **काल** की सूचना भी उपलब्ध **नहीं** होती। **अंग्रेज़ी और जर्मन** संज्ञाओं में **लिंग** की निश्चित सूचना 'संज्ञा' के किसी भाग से **अनिवार्य रूप में नहीं** मिलती। **जर्मन, फ्रेंच** और इतालवी में यह सूचना **आदिनिपातों** और **सर्वनामों** से मिलती है। **अंग्रेज़ी** में यह सूचना एकमात्र **सर्वनाम** से ही मिलती है। अतः यह वर्गीकरण भी अव्ययों के अभाव में, तथा उक्त त्रुटियों के कारण, भ्रामक ही ठहरता है।

६.१७ पुरुष-संकेत

स्टाइन्थाल तथा दूसरे कुछ विद्वानों ने **क्रिया** की पहचान, 'काल-संकेत' को न बताकर, ''**पुरुष-संकेत**' को माना है[2]। उनकी दृष्टि में **उत्तम, मध्यम, और प्रथम पुरुष** का संकेतन प्रत्येक भाषा में सम्भव है। पर, यह बात भी व्यावहारिक सत्य नहीं है। क्योंकि, पुरुष-प्रत्यय जैसी कोई चीज़ चीनी भाषा में है ही नहीं। यही कारण है कि इस सब विचार को प्रस्तुत करने के बाद **येस्पर्सन** भी, यास्क-पाणिनि-पतंजलि-भर्तृहरि की परम्परा में, **वर्गीकरण का आधार शब्द-भावना और अर्थाभिव्यक्ति, अथवा संकेतन-सामर्थ्य, को बताते हैं। यास्क** ने **'सत्त्वप्रधान'** और **'भावप्रधान'** के रूप में शब्दों का उभयात्मक वर्गीकरण करते

---

१. ग्रियर्सन, चैटर्जी, आदि की धारणा का खण्डन आगे 'आख्यात' (अध्याय-७) में किया गया हैं।

२. स्टाइ० 'कैरेक्ट० डेर···', १८६०।

हुए **'भावना'** के इसी पहलू पर बल दिया है।[1] **पाणिनि** ने 'धातु' को मूल इकाई स्वीकार करके भी 'प्रातिपदिक' को भिन्न इकाई, केवल 'अर्थवत्ता' के आधार पर ही, स्वीकार किया है[2]। प्रत्यय प्रायोगिक इकाई नहीं है; यह बात भी वे स्पष्ट कर देते हैं। उनकी दृष्टि में 'प्रत्यय' का स्थान 'परवर्त्ती' ही ठहरता है[3]।

६.१८ भर्तृहरि का मत

भर्तृहरि इस समस्या पर एक अन्य दृष्टि से विचार करते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थवान् पद तो दो ही हैं: **नाम और आख्यात**। पर, इनमें पारस्परिक अन्तर केवल 'धातु' और 'प्रातिपदिक' के आधार पर, उनके रूपात्मक पक्ष के कारण ही, नहीं किया जा सकता। यदि रूपात्मक पक्ष पर ही यह वर्गीकरण भी आधारित होता, तब यह वर्गीकरण भी, चीनी आदि विश्वभाषाओं पर घटित न होने के कारण, अपूर्ण और अमान्य ही ठहरता। उन्होंने, पतंजलि की भांति, द्रव्य, आकृति, आदि पर भी इस वर्गीकरण को आधारित नहीं किया है। उसमें भी कदाचित् उतनी व्यापकता न आ पाती। उनका बल क्रिया और नाम के अधिक मौलिक और भावनात्मक अन्तर पर रहा है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह अन्तर, उनकी दृष्टि में, **क्रमभावना और साध्यता** की उपस्थिति और अनुपस्थिति का है। **'क्रिया' उस पद को कहते हैं, जहाँ क्रमिकता और साध्यता की भावना रहती है। जबकि 'नाम' उस पद को कहते हैं, जहां क्रमवत्ता समाप्त होकर 'सिद्धावस्था' जन्म लेती है**[4]।

अत: स्पष्ट है कि जब भर्तृहरि **द्रव्य** की बात करते हैं, तब वे किसी आकृति, शरीर या पदार्थ की ओर इंगित नहीं कर रहे होते; बल्कि क्रिया की साध्यावस्था से भिन्न उस **सिद्धावस्था** की ओर वे इंगित कर रहे होते हैं, जिसमें क्रिया के विविध चरण समाप्त होकर पूर्णता, सिद्धता या स्थिरता की भावना आ चुकी होती है। और, वहां क्रिया की 'तरलावस्था' के प्रतिकूल अधिक स्थिर स्थिति—सत्त्व या द्रव्यत्व की स्थिति —उत्पन्न हो चुकी होती है। कहा जा चुका है कि यह स्थिति तत्त्व, आत्मा या स्वभाव के रूप में ही रह सकती है[5]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि 'नाम' का आधार एक विशेष स्थिति या क्रमवत्ता के अभाव को मानते हैं, न कि द्रव्यमयता और शरीरमयता.

---

१. नि० १. १. १।
२. पा० १. २. ४५।
३. पा० ३. १. १. २।
४. वा० ३. १. ५५; ३. ८. २६।
५. वा० ३. २. १।

को। उनकी दृष्टि से हम कह सकते हैं :

आश्रितक्रमरूपत्वात् तत्क्रियेत्यभिधीयते ।। वा० ३.८.१ ।।
नामशब्दाः प्रवर्त्तन्ते संहरन्त इव क्रमम् ।। वा० ३.८.२९ ।।

वास्तव में यह वर्गीकरण अर्थभावना की अपेक्षा प्रयोग-भावना और प्रकृति पर अधिक आधारित है। पाणिनि इसे शुद्ध अर्थभावना पर आधारित कहते हैं : **'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'** (पा० १.२.४५)। **प्रातिपदिक** और **नाम** में अन्तर पहले स्पष्ट किया जा चुका है। यह अन्तर व्याकरणात्मक एवं व्यावहारिक स्थिति-भिन्नता के कारण है। यह अन्तर ठीक वैसा ही है, जैसा **'धातु'** और **'आख्यात'** की स्थिति में। **'धातु'** और **'प्रातिपदिक'** अव्यवहार्य, किन्तु व्याकरणात्मक, दो इकाइयाँ हैं; जोड़-तोड़ के बाद जिनके व्यावहारिक रूप ही **'आख्यात'** और **'नाम'** के रूप में प्रयोगार्ह बन कर सामने आते हैं।

६.१९ व्यक्तिगत उपयोगिता

परन्तु, प्रस्तुत प्रसंग द्रव्य, जाति, गुण, और कर्म के रूप में 'नाम' या 'संज्ञा' के चार भेद मानने के बाद उनकी व्यक्तिगत उपयोगिता को स्वीकार करने का है। यह पहले ही कहा गया है कि **'जाति'** का अर्थ **'सामान्य'** है[1] : 'सामान्य का इंगित करना' भी। यह 'जाति' यद्यपि **'क्रिया'** का मूलरूप है, और यद्यपि **'नाम'** भी मूलतः इसमें ही स्थित होते हैं[2], तब भी 'सामान्य' के कथन की दृष्टि से इसे 'नाम' का एक भेद, या इस पर आधारित भी, स्वीकार किया जा सकता है। दार्शनिक और व्याकरणात्मक भाषा में **'सामान्य'** का प्रतिद्वन्द्वी शब्द है : **'विशेष'**। इनमें से **सामान्य** की अभिव्यक्ति यदि **'जाति'** के माध्यम से होती है, तब **विशेष** का अभिव्यक्ति-माध्यम **'व्यक्ति'** बैठता है। परन्तु, भर्तृहरि 'जाति' की प्रतिद्वन्द्विता में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग करते हैं : **'तथा द्रव्यैरभिव्यक्ता जातिरेवाभिधीयते'** (वा० ३.१.२९)। इसीलिए पदविचार के प्रसंग में सर्वप्रथम 'जाति' पर विचार करने के बाद वे **'द्रव्य'** पर ही विचार करने बढ़ते हैं। **'जाति'** को यदि वे **'सत्ता'** का अपर पर्याय मानते हैं[3], तो द्रव्यत्व और व्यक्ति-धर्म के आश्रय के लिए वे **'द्रव्य'**[4] को **'व्यक्ति'** का अपर पर्याय मानकर उसे आत्मा, शरीर, वस्तु, या स्वभाव आदि के रूप में स्मरण करते हैं[5]। अधिक विचार करने

१. वा० ३. ८. २०।
२. वा० ३. १. ४८ आदि।
३. वा० ३. १. ३३।
४. वा० ३. १. १३।
५. ३. २. १

पर हम पाएंगे कि 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग नाम, सत्त्व, सब्स्टैण्टिव, आदि का प्रतिनिधि मात्र नहीं है; वह व्यक्तिसत्ता या व्यक्ति-रूप का प्रतिनिधि अधिक कहा जा सकता है।

अतः हमारी स्थापना है कि 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग भर्तृहरि उस स्थिति के लिए करते हैं, जिसे व्यक्तिवाचक संज्ञा या 'प्रॉपर नाउन' के द्वारा इंगित किया जाता है, और 'जाति' शब्द जिसके सामान्य रूप अथवा पक्ष को द्योतित करता है।

६.२० व्यक्ति : द्रव्य

यहां फिर एक बार यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भर्तृहरि जाति और द्रव्य (अथवा, व्यक्ति) की चर्चा मूलतः सत्त्ववाचक या नाम शब्दों के रूप में ही नहीं करते। 'जाति' की चर्चा करते हुए वे क्रिया, लिंग, वचन, आदि की स्थिति पर भी विचार करते हैं। उसके विपरीत, 'द्रव्य' की चर्चा के प्रसंग में वे आत्मा, वस्तु, शरीर, आदि की, एव उनकी एकता की, चर्चा करने लगते हैं। आत्मा और शरीर की एकता किसी 'व्यक्ति-द्रव्य' में ही हो सकती है। ऐसा द्रव्य 'व्यक्ति' ही कहा जाएगा, भले ही उसका वाचक शब्द तथाकथित 'जातिवाचक' हो, या 'व्यक्तिवाचक'। व्यक्तित्व का आधार आकार या शरीर को माना गया है। शरीर को दर्शन और भर्तृहरि नित्य नहीं मानते। अतः वे 'द्रव्य' को 'सत्त्व' का पर्याय मानते हैं, जो, केवल आकार पर ही आधारित न होकर, वस्तु या तत्त्व पर आधारित होता है। 'संज्ञा', केवल आकार का परिचय न देकर, उस 'द्रव्यत्व' या 'द्रव्य के व्यक्तित्व' का ही बोध कराती है। भर्तृहरि के शब्दों में :

> **आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तिस्मृतिनिबन्धनाः।**
> **ये ते प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा ॥ वा० २.१३३ ॥**
> **तेष्वाकारेषु यः शब्दस्तथाभूतेषु वर्त्तते।**
> **तत्त्वात्मकत्वात्तेनापि नित्यमेवाभिधीयते ॥ वा० ३.२.६ ॥**
> **विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।**
> **विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम् ॥ वा० ३.२.१५ ॥**

अर्थात्, 'आकार व्यक्ति का मुख्य लक्षण है : उससे ही व्यक्ति-स्मृतियों को आधार मिलता है।···आकारों के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता है, वह भी, उस आकारमात्र का कथन न करके, उसके पीछे छिपे तत्त्व या आत्मा का ही कथन करता है। जिस प्रकार विकारहीन स्वर्ण कुण्डल में भी प्रकृत रूप में रहता है, उसी प्रकार विकारहीन प्रकृति भी सत्य रूप में संज्ञा के पीछे छिपी रहती है।'

दूसरे शब्दों में, व्यक्तिवाचक संज्ञा यद्यपि प्रत्यक्षतः किसी विशेष आकार और द्रव्य की ओर इंगित कर रही होती है, फिर भी उसके द्वारा उस आकारवान् द्रव्य के भीतर छिपे जातीय लक्षणों का ही मुख्य बोध होता है। यह सत्य है कि जातीय लक्षणों के साथ-साथ अन्य व्यक्ति-लक्षण भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह बात 'जातिवाचक' नाम से अभिहित संज्ञाराशि पर भी लागू हो जाती है।[1]

६.२१ व्यक्ति : असत्य

पर, भर्तृहरि पुनः पुनः इस सत्य को उद्घोषित करते हैं कि 'व्यक्ति' या बाह्याकार अन्तिम सत्य नहीं हैं। **अन्तिम सत्य है 'जाति' या 'प्रकृति'**। प्रत्येक सत्ता या भाव के साथ **सत्य** और और **असत्य** के इन दो रूपों का संयोजन रहता है :

सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः ॥ वा० ३.१.३२ ॥

यह 'जातिमत्ता' ही आकार और रूप ग्रहण करके 'द्रव्यमय' अथवा 'व्यक्तिमय' बन जाती है :

प्रकृतौ प्रविलीनेषु भेदेष्वेकत्वदर्शिनाम्।
द्रव्यसत्त्वं प्रपद्यन्ते स्वाश्रया एव जातयः ॥ वा० ३.१.४३ ॥

पर, नाम-रूपों से बुलाने पर भी वह **सत्ता** मूलतः एक ही '**महासत्ता**' या 'प्रकृति' का अंश रहती है। सभी शब्द, चाहे वे व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में हों या जातिवाचक संज्ञा के रूप में, उसी जातिरूपता का ही परिचय देते हैं। 'क्रिया' आदि सभी शब्दों का समावेश इसी के अन्तर्गत होता है :

यथा जलादिभिर्व्यक्तं मुखमेवाभिधीयते।
तथा द्रव्यैरभिव्यक्ता जातिरेवाभिधीयते ॥ वा० ३.१.२६ ॥
सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥ वा० ३.१.३४ ॥

क्रमजन्यता और क्रमसमाप्ति के भेद से वही सत्ता 'क्रिया' और 'सत्त्व' के नाम से, क्रमशः, कहलाती है :

प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते।
क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति कथ्यते ॥ वा० ३.१.३५ ॥

पर, इस पर भी, यह सत्य है कि संसार में व्यवहार के लिए व्यक्ति-पदार्थ — और

---

१. वा० १.६८-६६।

उसकी वाचिका **व्यक्तिसंज्ञा**—का व्यक्तिवाचक रूप में ही प्रयोग होता है।

६.२२ द्रव्यवाचक व्यक्तिसंज्ञा : संज्ञा

'द्रव्य' के लिए प्रयुक्त इस व्यक्तिसंज्ञा को अनेक आचार्य केवल 'संज्ञा' के नाम से ही पुकारते हैं। उनकी दृष्टि में **संज्ञा** का प्रयोजन **व्यक्ति** का अभिधान करना ही है। **सामान्य** से पृथक् करके **'विशेष'** का अभिधान करना ही **संज्ञा** का मुख्य प्रेरक हेतु है।

> **स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिस्संज्ञोपदिश्यत।**
> **जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते॥ वा० १.६८॥**
> **संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे।**
> **जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते॥ वा० १.६९॥**

अर्थात्, 'कुछ आचार्य **'संज्ञा'** को **व्यक्तिरूपा** और आत्मरूपा मानते हैं। पर, सत्य यह है कि उसके द्वारा अभिव्यक्त व्यक्ति भी बृहत्तर जाति का अंगमात्र या अंश-मात्र होने से उस संज्ञा से **'जाति' का भी बोध** हो ही जाता है। जाति-कार्यों को व्यक्तिकार्यों से सर्वथा विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता।' और, 'कुछ अन्य आचार्य यह मानते हैं कि संज्ञा किसी व्यक्ति की ही हो सकती है।···सत्य यह भी है कि जातीय लक्षण भी व्यक्ति को ही इंगित करते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व उन जातीय लक्षणों से ही गुंथा सा रहता है।'

भर्तृहरि इस रहस्य को अधिक स्पष्टता से पहले ही कह चुके हैं :

> **प्राक्संज्ञिनाभिसम्बन्धात्संज्ञा रूपपदार्थिका।**
> **षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते॥ वा० १.६६॥**
> **तत्रार्थवत्त्वात्प्रथमा संज्ञाशब्दाद् विधीयते।**
> **अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते॥ वा० १.६७॥**

अर्थात्, 'संज्ञी (द्रव्य) से सम्बन्ध होने से पहले **संज्ञा** भले ही शब्दार्थ या 'पदार्थ' जैसी किसी वस्तु से सम्बद्ध रहती हो, पर 'संज्ञा' के रूप में 'द्रव्य' से सम्बद्ध हो जाने के बाद वह **स्वरूप** या **स्व-पदार्थ** जैसी किसी भी वस्तु से सम्बद्ध नहीं रह जाती। तब वह **प्रथमा** और **षष्ठी** विभक्ति द्वारा संकेतित वस्तु को ही संकेतित करती है।' उदाहरणार्थ, **'यह देवदत्त है'** या 'उसका **नाम देवदत्त है'** आदि में 'देवदत्त' का कार्य, किसी 'पदार्थ' या 'रूप' का उद्घाटन करना न होकर, किसी व्यक्ति-विशेष की ओर इंगित करना ही है। इस दशा में, उस 'संज्ञा' का अपना 'रूप' वह 'द्रव्य' या वस्तु हो जाती है, अपना पद-

जन्य अर्थ महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। निस्सन्देह यहां 'देवदत्त' जैसी व्यक्तिवाचक संज्ञा भी पुरुषत्व आदि लक्षणों को अन्तर्हित करके व्यक्ति की सूचना देती है। इसी कारण यहां 'देवदत्त' का अर्थ या उसका प्रयोग 'देवों द्वारा प्रदत्त' के अर्थ में न होकर, उस संकेतित पुरुष की सूचनामात्र के लिए होता है, जिसे उद्देश्य में रखकर इसका उच्चारण हुआ है। इसी कारण वहां शब्दार्थ महत्त्वपूर्ण न रहकर 'संकेत' या संकेतित व्यक्तिविशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

इसी बात को संग्रहकार व्याडि ने इस प्रकार कहा था :

न हि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे सन्निविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसन्निवेशे सति तुल्यरूपत्वात् असंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते (वा० १.६५ की स्वोपज्ञ वृत्ति में)।

अर्थात्, 'शब्दों का स्वरूप या आत्मरूप 'करण' या 'साधन' का स्थान नहीं ले सकता। उसका अभिधेय 'नित्य' रहता है। अभिधान या संज्ञा का द्रव्य से सम्बन्ध हो जाने पर तुल्यरूपता के कारण असंनिहित या असंनिविष्ट वस्तु का भी समावेश और विनिश्चय उसी 'संज्ञा' के द्वारा हो जाता है।'

इसी सत्य को भर्तृहरि अपनी त्रिपदी (महाभाष्य) टीका में यूं कहते हैं : **अथ कार्यसविषयाणि नामानि।**[1] अर्थात्, 'नाम और संज्ञाशब्द कार्यविशेष या प्रयोजन की दृष्टि से ही प्रयुक्त होते हैं।' उनका प्रयोग पद के अर्थ से प्रेरित नहीं होता। इसी प्रसंग में अन्यत्र वे 'संज्ञा' को **'एकद्रव्योपदेशिनी संज्ञा'** के रूप में कहते हैं।[2] स्पष्ट है कि संज्ञा का कार्य, गुण या अर्थ आदि का अभिधान न होकर, द्रव्यविशेष का बोध या संकेत कराना है। वह अपने शब्दार्थ या पदार्थ की दृष्टि से, किसी विशिष्ट गौरव को वहन न करके, अपने द्वारा संकेतित द्रव्य के रूपमात्र की ओर इंगित करती है। **यह संकेत ही उसका 'अर्थ' हो जाता है।** 'सर्व' शब्द की चर्चा में वे स्पष्ट कहते हैं : **'यदा तु सर्वशब्दः कस्यचिन्नामधेयत्वेनोपादीयते, तदा परित्यज्य स्वं प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूपमात्रोपकारी संज्ञाभावमनुभवतीति; स्वप्रवृत्तिनिमित्तपरित्यागोऽयमेतद् विशेषेष्वस्थानम्'।**[3] अर्थात्, यदि **सर्व** शब्द किसी द्रव्य या व्यक्ति के नामधेय (**संज्ञा**) के रूप में ग्रहण किया जाए, तब वह अपने **प्रवृत्तिनिमित्त** (पदार्थ) को छोड़कर रूपमात्र से ही 'सर्वनाम' जैसा रह जाता है। अन्यथा, **वह उसी 'रूप' में रहकर भी 'संज्ञा'** बन चुका होता है। वस्तुतः अपने प्रवृत्तिनिमित्त से उसका पृथक्

---

१. म० त्रि० १.१.६.२७।
२. वही।
३. वही।

हो जाना ही उसे 'संज्ञा' की इस विशेष स्थिति में ला देता है। स्पष्ट है कि 'संज्ञा' एक विशेष स्थिति है, जिसमें शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त किसी पद या पदार्थ से सम्बद्ध कोई भावना नहीं रहती ; प्रत्युत ऐसी किसी भावना से हीन द्रव्य का रूपमात्र ही उससे अभिप्रेत रह जाता है। उदाहरणार्थ, इसी 'सर्व' शब्द को लिया जा सकता है। इसका प्रवृत्तिनिमित्त इसका पदार्थ या शब्दार्थ है। इसे हम 'सब', 'सकल', आदि पर्यायों के द्वारा कह सकते हैं। इसे 'सर्वनाम' कहने का निमित्त यह है कि यह सभी नामों के स्थान पर प्रयुक्त हो जाता है : **'सर्वनामानि सर्वेषां नामानीति'** अथवा **'सर्वेषां यानि नामानीति।'**[1] किन्तु, जब इसी का प्रयोग, सब या बहुत से प्रयुक्त नामों के लिए न होकर, व्यक्तिविशेष या नामविशेष के लिए होता है, तब इसे, 'सर्वनाम' न कहकर, 'नाम' कहना ही अधिक उचित होता है। उस समय यह अपने प्रवृत्तिनिमित्त—**'सर्वशब्दश्च कृत्स्नवचनः। स तु संख्याविषयः, प्रकारनिषयः, कलावद्विषयश्च**[2]'—को छोड़कर किसी विशेष द्रव्य से सम्बद्ध हो जाता है : उसका **नामधेय** बन जाता है।

६.१३ संज्ञा : अर्थ

यहीं से एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न और उसके समाधान का पता चलता है। कहा जाता है कि सब शब्द अर्थवान् होते हैं। यदि ऐसा है, तब सब संज्ञाएं —या व्यक्तिवाचक नाम—भी अर्थवान् होने चाहिएं। अर्थात्, उनके प्रकृति-प्रत्यय द्वारा अभिव्यक्त पदार्थ की अभिव्यंजना होनी ही चाहिएं। दूसरे शब्दों में, नाम या संज्ञाएं भी अन्वर्थक अथवा सार्थक होनी ही चाहिए। पर, हम व्यवहार में उल्टी ही बात देखते हैं। संज्ञाएं—विशेषकर व्यक्तिवाचक संज्ञाएं—गुण, कार्य, आदि पर आधारित नहीं रहती। उन्हें तो प्रायः आकारभेद, शरीरभेद या सत्ताभेद आदि के प्रदर्शन के लिए प्रयोग किया जाता है। **'नाम' का शब्दगत अर्थ कुछ भी निकलता हो, अभिहित वस्तु का स्वभाव उससे भिन्न भले ही हो, तब भी कोई भी संज्ञा किसी भी पदार्थ के लिए प्रयोग कर ही ली जाती है।**[3] वस्तुतः संज्ञा का सम्बन्ध वस्तु के रूप से होता है : **रूप ही उसका पदार्थ होता है।**[4] प्रकृति-प्रत्ययगत कोई अर्थ उसमें नहीं रहता। इस दृष्टि से संज्ञा **सार्थक** भी हो सकती है और **निरर्थक** भी : **सार्थक** इसलिए कि उससे किसी वस्तु का अभिधान तो होता ही है; **निरर्थक** इसलिए कि उससे मूलगत या धातुगत किसी

---

१. वही। २. वही।

३. वा० १ ५६ ६२, ६५, ६७ तथा २. २८५, ३६७।

४. वा० १. १. ६. ७।

अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

भर्तृहरि इसी मान्यता को लेकर बढ़े हैं। उन्होंने पाणिनि द्वारा घड़ी गई व्याकरणात्मक संज्ञाओं—**सर्वनाम, नाम, षट्, वृद्धि,** आदि—को भी, इस प्रसंग में पदगत अर्थ से हीन, फिर भी स्वरूप पर आधारित, माना है।[1] यह बात अलग है कि हम अनेक ऐसी संज्ञाओं को भी सार्थक सिद्ध कर सकते हैं। **सर्वनाम** संज्ञा के विषय में ही तर्क करते हुए त्रिपदी टीका में वे कहते हैं: **"आचार्येणापि सर्वनामशब्दः शक्तिद्वयं परिगृह्य प्रयुक्तः। तथा सर्वनामशब्दश्च वाक्ये दृष्टो विशेषेऽनवतिष्ठमानः निश्रुतेः सर्वस्मादित्युच्यते, इति। एतेषां तावत् सर्वनामत्वं नैवमभ्युपगन्तव्यम्। एकैकोऽत्र सर्वेषां वाचक इत्येवं हि कल्प्यमाने कस्यचिदपि न स्यात् सर्वनामत्वम्। इदं शब्दो हि प्रत्यक्षे, न परोक्षे। एवं तच्छब्दोपि परोक्षे, न प्रत्यक्षे इति। तस्मात्स्वविषय एषां सर्वनामत्वमभ्युपगन्तव्यम्[2]।"** अर्थात्, **सर्वनाम** का जो शाब्दिक अर्थ है, वह भी **'इदम्', 'तद्'**, आदि शब्दों पर नहीं घट सकता। अन्ततः उनका अपने-अपने क्षेत्र में ही प्रयोग सम्भव है। इस पर भी उन्हें 'सर्वनाम' कहा ही जाता है। अन्यत्र वृद्धि आदि संज्ञाओं के विषय में भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं:

> **वृद्धयादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः।**
> **आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः ॥वा० १.५९॥**
> **वृद्धयादीनां च शास्त्रेऽस्मिन् शक्त्यवच्छेदलक्षणः।**
> **अकृत्रिमोऽभिसम्बन्धो विशेषणविशेष्यवत् ॥वा० २.३६६॥**

अर्थात्, **वृद्धिरादैच्** आदि सूत्रों में **आ, ऐ, औ,** आदि का नाम 'वृद्धि' आदि रखते ही यह सिद्ध नहीं होता कि वृद्धि शब्द का अपना कोई पदार्थ नहीं रहा। बल्कि यह कि उनका सामान्य अर्थ चाहे कुछ भी हो, विशेष प्रयोग में उनका सम्बन्ध केवल **संज्ञा** मात्र के रूप में ही रह जाता है। यद्यपि इस पर भी वे संज्ञाएं शब्द होने के कारण अपने **स्वरूप** या **मूलभाव** में स्थिर रहती हैं।" यह भेद भर्तृहरि द्वारा पूर्व परिगणित शक्तिद्वय के ही कारण होता है। शक्ति की विशेषता के कारण ही 'वृद्धि' आदि संज्ञाएं **सामान्य पदार्थ** और **विशेषवाचकता** दोनों को वहन करने में समर्थ होती हैं।

---

१. वा० १. ५९, ६६।

२. म० त्रि० १. १. ६. २७।

६.२४ महती संज्ञा

लोक में भी अनेक संज्ञाएं अन्वर्थक और पदार्थसम्बद्ध होती हैं। पतंजलि के अनुकरण पर भर्तृहरि भी ऐसी संज्ञाओं को **महती संज्ञा** का नाम देते हैं। उनकी दृष्टि में **महती संज्ञा** वह होती है, जो किसी निमित्त के रहने या न रहने पर भी सार्थक दृष्टि से ही प्रयुक्त होती है। शब्द के स्वरूप अथवा 'मूल भाव' पर उस संज्ञा का आधार होना चाहिए। तभी वह 'महती' कहलाती है :

> **संज्ञास्वरूपमाश्रित्य निमित्ते सति लौकिकी।**
> **काचित्प्रवर्त्तते काचिन्निमित्तासंनिधावपि ॥ वा० २.३६७॥**
> **शास्त्रे तु महती संज्ञा स्वरूपोपनिबन्धना।**
> **अनुमानं निमित्तस्य संनिधाने प्रतीयते ॥२.३६८॥**

पतंजलि के शब्दों में : "**अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणं; तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनम् : अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत**[1]।" अर्थात्, 'संज्ञा उसे कहते हैं, जिससे छोटा संकेत अन्य कोई न हो। नाम रखने का प्रयोजन ही लघुता है। अतः ऐसी संज्ञा को महती संज्ञा मान लेना चाहिए। '**महती संज्ञा**' उसे इसलिए कहा जाता है कि वह **अन्वर्थक** होती है : अर्थात् उसका पदार्थ ही अपने स्वरूप या मूलभावना के कारण उस नामकरण का आधार होता है।' स्पष्ट है कि पतंजलि '**संज्ञा**' को सामान्यतः सार्थक या अन्वर्थक नहीं मानते। कम से कम '**संज्ञी**' से उसका सम्बन्ध **अन्वर्थक** होना अनिवार्य नहीं है। पतंजलि ने इसी बात को अनेकशः दुहराया है। भर्तृहरि ने भी इसी मत को अनेकत्र सम्बद्ध स्थलों पर अनेकशः पुष्ट किया है।

६.२५ अन्वर्थता : एकद्रव्योपदेशिता

संज्ञा के सम्बन्ध में अनिवार्य अन्वर्थता की बात को प्रायः अमान्य ठहराते हुए भर्तृहरि **अग्नि, देवदत्त, अग्नीषोम,** आदि उदाहरणों से उसे समझाते हैं। उनके अनुसार 'संज्ञा' के रूप में व्यवहृत होते हुए ये शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को वहन नहीं करते। यद्यपि, इनका प्रसिद्ध अर्थ इनके साथ अन्यत्र सम्बद्ध रहता ही है; और ये 'स्वरूप' में भी स्थिर रहते ही हैं।[2] '**अग्निदत्त**' नाम में '**अग्नि**' का प्रकाश-दाह-युक्त सामान्य अर्थ महत्त्वहीन हो जाता है। यह '**दत्त**' शब्द

---

१. महा० १. १. ५. २३।

२. वा० १. ५६. ६०; २.२८१-२, ३५४।

के संयोग से 'अग्नि' शब्द को स्वरूप की होने वाली महत्त्वहीनता के कारण होता है[1]। संज्ञाओं में कई बार एक ही से पदांश प्रयुक्त होते दिखाई देते हैं। परन्तु, इतनी समानता मात्र से ही 'दत्त' शब्द 'यज्ञदत्त' और 'देवदत्त' की एकता को द्योतित नहीं करता। वहां वह अन्य संज्ञाओं का अंश है, न कि किसी स्वतन्त्र और निश्चित स्वरूप का वाहक[2]। इसका कारण यह है कि 'संज्ञा' स्वयं एक पूर्ण शब्द होती है। वह 'एकशद्रव्योपदेशिनी' होती है।[3] ऐसा होने से उसके खण्डों का महत्व नहीं रह जाता। जन-प्रयोग की प्रकृति भी यही है। 'खरणसा' और 'शूर्पणखा' आदि में 'न' का 'ण' में रूपान्तरण इसीलिए सम्भव हुआ है कि यहाँ शब्दों का कोई योग-विभाग सम्भव नहीं है। ऐसा होता तो प्रयोजन ही नष्ट हो जाता :

कृतणत्वाश्च ये शब्दा नित्यं खरणसादयः।
एकद्रव्योपदेशित्वात् साधून् सम्प्रचक्षते ॥ वा० २.३६३ ॥

वे इसे और स्पष्ट करके कहते हैं कि 'दत्त आदि से पूरी संज्ञा का आभास वैसे ही दुरूह है, जैसे ज्ये, द्रा, आदि से ज्येष्ठ, द्राघिष्ठ, आदि की प्रतीति।'[4] स्पष्ट है कि सामान्यत: संज्ञा का प्रयोग अर्थ की दृष्टि से नहीं किया जाता। संज्ञारूप ग्रहण करने के बाद उसके तथाकथित मूलभाव का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यदि ऐसा सम्भव हो, तब उसकी 'महती संज्ञा' जैसी विशिष्ट स्थिति मानना उचित होगा।

अन्यथा, 'संज्ञा' तो वह संकेत है, जिसके द्वारा हम द्रव्य को अभिधान देकर उसके सभी गुणों का स्मरण कर लेते है, या उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं[5]।

६.२६ जाति : व्यक्ति

यहीं पर इस विषय पर भी विचार कर लेना सप्रसंग होगा कि संज्ञा के 'जातिवाचक' और 'व्यक्तिवाचक' भेदों में क्या अन्तर है ? क्या दोनों को संज्ञा कहना उचित है, जबकि भर्तृहरि 'संज्ञा' को व्यक्तिवाचिका कहते हैं ? तथा, क्या व्यक्तिवाचक होने पर भी कोई संज्ञा जातिवाचिका हो सकती है ?

---

१. वा० २.२८२।
२. वा० २.३५४, ३५६।
३. म० त्रि०१. १. ६. २७।
४. वा० २. ३५३-४, ३६२।
५. वा० १.६०; २.३५५, ३६५-६।

६.२६.१ भेद

इस सम्बन्ध में हम भर्तृहरि के निम्न कथन की ओर फिर से ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे :

> स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिस्संज्ञोपदिश्यते ।
> व्यक्तेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ।। वा० १.६८ ।।
> संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे ।
> जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते ।। वा० १.६९ ।।

अर्थात्, "संज्ञा व्यक्तिवाचका होने पर भी जातिवाचिका ही होती है। उसके व्यक्ति कार्यों में से ही जातिलक्षणों का बोध होना अनिवार्य है। सच तो यह है कि संज्ञा से जिस व्यक्ति का बोध होता है, उसका प्रत्यय भी किन्हीं विशेष जातिलक्षणों के कारण ही होता है।"

यह बात बहुत अंश तक सही भी है। कुछ भाषाओं में व्यक्तिवाचिका संज्ञा के साथ भी **लिंगवचनादि** का योग रहता है। ये स्वतः **जातिलक्षण** हैं। अन्य कुछ भाषाओं में व्यक्तिवाचिका संज्ञा के लिंगादि का परिचय पृथक् **निपातों** से मिलता है। ये निपात या अन्य सहवर्त्ती शब्द संज्ञा के साथ ही रहते हैं। पर, कुछ भाषाओं में लिंगादि का परिज्ञान वाक्य में प्रयुक्त **क्रिया** के द्वारा मिलता है। इन तीनों प्रकार की भाषाओं के रूप में हम क्रमशः **संस्कृत, अंग्रेजी,** (जर्मन, फ्रेंच, इतालवी, आदि), और **हिन्दी** को उदाहरणार्थ गिना सकते हैं।

पर, प्रश्न यहाँ तक ही सीमित नहीं है। **'मनुष्य'** को जातिवाचिका संज्ञा माना जाता है। पर, **'राम', 'श्याम', 'वृकोदर'**, आदि व्यक्तिवाचिका संज्ञा के रूप में माने जाते हैं। सच यह है कि इन सभी शब्दों के उच्चारण से जो आकृति हमारे सामने आती है, उसमें **साम्य अधिक** होता है : **अन्तर नगण्य** ही होता है। छोटे-मोटे चिह्नों के बल पर उनमें किया गया भेद प्रत्यक्ष-दर्शन या किसी अन्य सूचना पर अधिक आधारित रहता है। 'राम' का परिज्ञान विशेष चिह्नों की अपेक्षा उसके सम्बन्ध में ज्ञात अन्यान्य तथ्यों पर अधिक आधारित है। 'मनुष्य' के सम्बन्ध में ज्ञात तथ्य और उसके ज्ञात लक्षण ऐसे हैं, जिन्हें हम **सामान्य** रूप में या **सर्वत्र** पा सकते हैं। पर, 'राम' आदि के सम्बन्ध में ज्ञात **विशेष** तथ्यों को हम उससे सूचित व्यक्ति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं घटित होता नहीं पाते। इसी आधार पर हम **'मनुष्य'** को 'सामान्य' या 'जातिवाचक' एवं **'राम'** को 'विशेष' या 'व्यक्तिवाचक' संज्ञा मान लेते हैं।

यह भेद तब तक ही है, जब तक हमें यह पता है कि **'राम' भी मनुष्य**

ही है, और यह कि हम दो **सजातीय** शब्दों पर ही विचार कर रहे हैं। पर, ज्योंही हम दो विजातीय शब्दों पर समानान्तर रूप में विचार करने लगते हैं, तब यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यत: **'जातिवाचक'** होने पर भी वे शब्द तुलनात्मक रूप में **'व्यक्तिवाचक'** ही अधिक प्रतीत होते हैं। **मछली, बन्दर,** और **मनुष्य** शब्दों पर विचार करते हुए, हम उन्हें विशिष्ट व्यक्तिरूपों से सम्बद्ध ही अनुभव करते हैं। 'अन्धों में काना राजा' में **'अन्धों में'** शब्द की अपेक्षा **'काना'** शब्द 'व्यक्तिवाचक' ही अधिक प्रतीत होता है। इस प्रतीति का मूल कारण है शब्दों की तुलनात्मक स्थिति। किसी **समूह** के बीच एक **व्यक्ति** इसलिए पृथक् उभर आता है कि हम उसमें कुछ लक्षण ऐसे पा लेते हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते। इसी **'विशेष'** के कारण उसे विविक्त' या **'व्यक्ति'** कहा जाता है। 'समूह' और 'व्यक्ति' का यह अन्तर भी सापेक्ष है। **'समूह'** एक से द्रव्यों का भी हो सकता है, और भिन्न-भिन्न द्रव्यों का भी। **'रत्न'** नाम एक समूह का भी हो सकता है, और एक विशिष्ट मणि का भी। पर, जब **'रत्नों में वैदूर्य'** कहा जाता है, तब 'रत्न' एक समूह का वाचक हो जाता है। वहां **'वैदूर्य'** व्यक्ति का वाचक बन जाता है। पर, यह सत्य है कि 'वैदूर्य' और 'राम' की स्थिति भिन्न है। 'राम' नाम से किसी विशिष्ट काल में हुए एक विशिष्ट व्यक्ति का ही बोध होता है। यह नाम अनेक व्यक्तियों का, अनेक कालों में, अनेक स्थान पर भी हो सकता है। पर, तो भी इसे जातिवाचक इसलिए नहीं कह सकते कि इसके द्वारा किन्हीं ऐसे चिन्हों का पता नहीं चलता, जो सब रामों में एक समान पाए जाते हों। इसके विपरीत **'वैदूर्य'** के नाम, आकृति, गुण और धर्म को वहन करने वाले पाषाणखण्ड या मणियां **कोटिशः** हो सकती हैं। **'कोहेनूर'** नाम एक विशेष मणि को ही एक विशेष समय में दिया गया। इसकी तुलना में **'वैदूर्य'** नाम मणियों के एक वर्ग का ठहरता है। इसपर भी, जब हम मिले-जुले रत्नों की बात कर रहे होते हैं, तब यही 'वैदूर्य' **व्यक्तिवाचक** बन जाता है : उस समय अन्यों से भिन्नता प्रदर्शित करके यह शब्द केवल एक मणि का ही संकेत कर रहा होता है। यही बात **'चर्चिल', 'पंडितजी', 'गाँधीजी'**, आदि नामों के साथ भी देखी जा सकती है। 'वंश' की सूचना देने वाले जातिवाचक नाम होकर भी ये सभी नाम इतिहास-प्रसिद्ध किसी एक या दूसरे व्यक्तित्व के साथ ही जुड़कर रह गए हैं।

६.२७ सापेक्ष महत्त्व

अत: स्पष्ट है कि व्यक्ति और जाति का यह भेद केवल तुलनात्मक दृष्टि से ही महत्त्व रखता है। **एक स्थान पर जिसे हम 'व्यक्तिवाचक' संज्ञा समझते हैं,**

दूसरे स्थान पर वही 'जातिवाचक' का कार्य सम्पादित कर रही होती है। अन्यत्र इसके विपरीत भी देखने को मिलता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी अवधेय बात यह है कि चाहे जातिवाचक शब्द हों या व्यक्तिवाचक, उनसे होने वाली प्रतीति 'जाति' और 'व्यक्ति' की मिली-जुली, या उभयात्मक, होती है। जातिवाचक शब्दों से भी अन्ततः **'व्यक्ति'** का ही चित्र सामने आता है, और व्यक्तिवाचक शब्दों से भी आपाततः **'जातिरूप'** का ही बोध होता है। इन दोनों संज्ञाओं में, इसपर भी, मूल अन्तर यह है कि **'जातिवाचक'** संज्ञाओं के द्वारा जिन व्यक्ति-आकृतियों से हम परिचित होते हैं, वे व्यक्ति का बोध कराकर भी हमें **सामान्य** लक्षणों से ही परिचित करा पाती हैं। दूसरी ओर, **'व्यक्तिवाचक'** संज्ञाओं से जिस जातिरूप का परिचय प्राप्त होता है, वह उस द्रव्य के **विशिष्ट** या व्यक्ति-चिन्हों को अपाकृत या ओझल नहीं करता।

अतः, विभेदक रेखा के विद्यमान होने पर भी, इन दोनों भेदों के बीच **सापेक्षता** को ही प्रधान माना जा सकता है। दोनों संज्ञाएं जाति और व्यक्ति का बोध कराती हैं। हाँ, उनका वर्गीकरण उनके द्वारा होने वाली अन्तिम प्रतीति के आधार पर ही माना जाता है।

३.२६ 'संज्ञा' नामकरण

उक्त विवेचन से इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि 'संज्ञा' व्यक्ति-वाचिका ही होती है या नहीं ? सापेक्ष विस्तार पाकर **'व्यक्तिवाचक'** संज्ञा ही **'जातिवाचक'** रूप धारण कर लेती है। कारण यह कि जो लक्षण अब तक हम एक ही व्यक्ति में पा रहे थे, अब उन्हीं लक्षणों से सम्बद्ध अनेक व्यक्ति हमारे सामने आते हैं। दूसरे शब्दों में, जातिवाचकता का निर्णय इस बात से होता है कि किसी 'संज्ञा' के लक्षण कितने विस्तृत दायरे में और कितने विविध व्यक्तियों में समान रूप में घटते हुए मिलते हैं। **'मनुष्य'** को आपाततः **व्यक्तिवाचक** संज्ञा के रूप में ही प्रयोग किया गया होगा। अन्वर्थक होने के कारण इसे, भर्तृहरि और पतंजलि के अनुकरण पर, **'महती संज्ञा'** कहा जा सकता है। किन्तु, एक विशाल **'समूह'** में उन्हीं लक्षणों की उपलब्धि अथवा व्याप्ति के कारण यही संज्ञा **'सामान्य'** या **'जातिवाचक'** बनती गई। वस्तुतः इस महत्त्वपरिवर्त्तन को ही लक्षण की **'गौणता'** और **'मुख्यता'** के रूप में कहा जा सकता है।

६.२९ भर्तृहरि का मत

भर्तृहरि निम्न शब्दों में यही सत्य दुहराते हैं :

> अतः संयोगिदेशानां गौणत्वं परिकल्प्यते ।
> अविवेकात्प्रदेशोभ्यो मुख्यत्वं समवायिनाम् ।। वा० ३.१.१८ ।।
> अनुप्रवृत्तिरूपा या मुख्यां तामाकृतिं विदुः ।
> केचिद् व्यावृत्तिरूपां तु गौणत्वेन प्रचक्षते ।। वा० ३.१.१९ ।।

अर्थात्, **'समवाय** और **विशेष** एवं **अंगी** और प्रदेश पर आश्रित लक्षण अनुप्रवृत्ति और व्यावृत्ति—अथवा सामान्य और व्यतिरिक्त—के भेद से **'मुख्य'** और **'गौण'** बन जाते हैं।' वा० १.६९ का भी यही आशय है : **'जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते'**।

दूसरे रूप में, हम कह सकते हैं कि भर्तृहरि की दृष्टि में **'जाति किसी वस्तु का सर्वग्राही अथवा सर्वांगीण पहलू है, जबकि 'व्यक्ति' उसी का 'एकांगी' पक्ष है।' 'परशुराम'** कहने पर एक व्यक्ति का ही बोध होता है; भले ही वह बोध सामान्य 'मनुष्य' के बोध से अधिक अन्तर पर न हो। किन्तु, जब हम **'परशुरामादि'** कहते हैं, तब 'परशुराम' भी **'जातिवाचक'** के रूप में ही प्रयुक्त हो रहा होता है। पर, इससे उसे मूलतः एकाकी प्रयोग में **'व्यक्तिवाचक'** मानने में कोई अड़चन नहीं आती।

अतः स्पष्ट है कि **'संज्ञा' मूलतः व्यक्ति लक्षणों का ही निर्देश करती है। पर, सच यह भी है कि कोई भी 'व्यक्ति' जाति की स्थिति में से बिना गुज़रे नहीं रह सकता। व्यक्ति 'जाति' का ही अंग है। अतः 'व्यक्ति संज्ञा' भी 'जातिवाचक' का ही अंग है, या उसका रूपान्तर मात्र है। मूलतः, 'संज्ञा' के कार्य और स्वरूप की दृष्टि से, उन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है। यह उनके परस्पर सापेक्ष कार्यक्षेत्र और सीमा का अन्तर है, जो उन्हें पृथक्-पृथक् वर्गों में रख देता है।**

६.३० येस्पर्सन का मत

इस विषय में भर्तृहरि और येस्पर्सन के विचार साम्य रखते हैं। येस्पर्सन की **'तीन क्रम'** या **'थ्री रैंक्स'** की धारणा की बात ऊपर कही जा चुकी है। अन्यत्र भी उन्होंने अनेक उदाहरणों द्वारा उक्त सत्यों की ही पुष्टि की है। व्यक्ति-वाचक और सामान्य संज्ञाओं पर विचार के प्रसंग में वे इन दोनों के मध्य किसी सरल विभाजक रेखा मानने की बात को नितान्त अव्यावहारिक मानते हैं। **'संज्ञा' द्वारा रूपान्तर** या प्रयोगान्तर की स्थिति को संभव स्वीकार करने का अर्थ है,

उसकी 'व्यक्तिसत्ता' की सीमा को परिवर्त्तनशील स्वीकार करना। इसे हम 'व्यक्ति' का **'जाति में रूपान्तरण'** भी कह सकते हैं।

६.३१ निष्कर्ष : उभयात्मक

इस विवेचन से ऊपर उठाए गए इस तीसरे प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि कोई संज्ञा व्यक्तिवाचक होकर भी जातिवाचक हो सकती है या नहीं ? सत्य यह है कि स्वभाव के बल पर न किसी संज्ञा को शुद्ध रूप में 'व्यक्तिवाचक' कहा जा सकता है, और न 'जातिवाचक' ही कहा जा सकता है। दोनों ही प्रकार की संज्ञाएं उभयात्मक अभिव्यक्ति देने में समर्थ होती हैं। इसे दार्शनिक भाषा में भर्तृहरि इस प्रकार कहते हैं :

> **तस्माद् द्रव्यादयः सर्वाः शक्तयो भिन्नलक्षणाः।**
> **संसृष्टाः पुरुषार्थस्य साधिकाः, न तु केवलाः** ॥वा० ३.१.२३॥
> **यथैव चेन्द्रियादीनामात्मभूता समग्रता।**
> **तथा सम्बन्धिसम्बन्धसंसर्गेऽपि प्रतीतयते** ॥वा ३.१.२४॥

"जैसे इन्द्रियों से मिलकर **शरीर और आत्मा** एक बनते हैं : सम्पूर्ण बनते हैं; उसी तरह **व्यक्ति** (सम्बन्धी) और 'जाति' (सम्बन्ध) के प्रसंग में भी **एकदेशिता** और **समग्रता** की बात समझी जा सकती है। द्रव्यादि या जाति-व्यक्ति आदि विविध शक्तियों के मिलने से ही अर्थ और वस्तु की **समग्रता** सामने आती है।"

६.३२ जातिवाचक नाम :

अब तक का यह विचार **संज्ञा** या **व्यक्तिवाचक नाम** के सम्बन्ध में था। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात हमारे सामने यह आई कि जाति और व्यक्ति का भेद एक दूसरे को आविष्ट और प्रभावित करके अस्पष्ट सा हो जाता है। फिर भी, इस प्रसंग में हम 'जातिवाचक' कहे जाने वाले 'नामों' पर विचार करेंगे। स्पष्ट है कि हमें 'जाति' के सामान्य या शब्द-सामान्य रूप पर विचार करना यहां अभीष्ट नहीं है।

६.३३ सामान्य और विशेष :

भारतीय दर्शनों की भाषा में **जाति** और **व्यक्ति** के विभेदक तत्त्वों को क्रमशः सामान्य और **विशेष** नाम से स्मरण किया गया है। **सामान्य** समवाय का धर्म है। किसी समवाय या समुदाय में स्थित जो लक्षण समान रूप से उस समुदाय के प्रत्येक व्यक्तिद्रव्य में स्थिर पाए जाते हैं, उन्हें ही हम **जातिलक्षण**

कहते हैं। इन लक्षणों की समानता की सीमा संकुचितम भी हो सकती है और विस्तृततम भी। **जितने ही कम** लक्षणों पर हम इस 'सामान्य', और इस पर आधारित 'समवाय', को आधारित करना चाहेंगे, **उतना ही व्यापक** क्षेत्र उसकी 'जातिवाचकता' का होता जाएगा। उदाहरणार्थ, **चर-अचर, जड़-चेतन, प्राणी, जलचर, पक्षी,** आदि शब्दों में साम्य का आधार बहुत कम लक्षणों तक व्याप्त है। पर, लक्षणों की इस कमी के कारण ही इनकी परिधि में अधिकाधिक वस्तुओं का परिगणन होता जाता है। **चर-अचर,** एवं **जड़-चेतन** शब्दों में साम्य के आधार क्रमशः **गति** और **चेतना** ही है। ये लक्षण अधिकांशतः विश्व के समस्त द्रव्यों में सकारात्मक या नकारात्मक रूप में सिद्ध किए जा सकते हैं। इस प्रकार इस एक-एक शब्द-युग्म में ही हमने समस्त विश्व का—और उसमें विद्यमान द्रव्यों का—वर्गीकरण कर दिया है। अतः **चर, अचर, जड़ और चेतन** आदि शब्दों की जातिमत्ता अत्यधिक ग्राही और व्यापक हो जाती है। यही बात अन्य उक्त शब्दों पर भी लागू होती है। **प्राणी** का आधार 'श्वसन' है, जो अत्यधिक व्यापकता के साथ उपलब्ध हो सकता है। 'वनस्पतियां' भी इसी शब्द की सीमा में आ जाती हैं। पर, जो व्यक्ति वनस्पतियों की सजीवता से परिचित नहीं है, वह उसे 'प्राणी' की परिधि से बाहर ही स्वीकार करेगा। इनकी अपेक्षा **चलचर** और **पक्षी** आदि शब्द अधिक व्यापक लक्षणों पर आधारित हैं। इसीलिए उनकी व्यापकता की परिधि भी सीमित हो जाती है : **चर** और **प्राणी** तो ये दोनों हैं ही, पर जल में विचरण और पंख सहितता इनकी अन्य विशेषताएं हैं। इन विशेषताओं का दायरा पहले से भी अधिक व्यापक है। किन्तु, इनकी पकड़ में उतने ही कम 'प्राणी' या 'चर' आते हैं। कारण यह है कि जितनी विशेषताओं या लक्षणों की संख्या बढ़ती जाएगी, उतना ही उनकी पकड़ में आने वाला क्षेत्र कम होता जाएगा। **स्वभावतः 'चर' और 'प्राणी' की अपेक्षा ये दोनों शब्द 'व्यक्तिवाचक' कहे जाने चाहिए।**

इसका दार्शनिक कारण यह है कि 'लक्षण', 'चिन्ह' या 'विशेषता' वस्तुतः उन बातों को बताते हैं, जिनके आधार पर **विवेचन,** या एक को दूसरे से पृथक् पहचानना, सम्भव हो पाता है। वस्तुतः इस प्रकार, **लक्षण** या **पहिचान** की मूल कल्पना **व्यक्ति** की स्थापना के लिए होती है। इस **पहिचान** के तत्त्वों की संख्या जितनी ही **बढ़ती** जाएगी, उतनी ही चुनाव की सीमा **संकुचित** होती जाएगी। परिणाम यह है कि **महती संज्ञा** जैसी अन्वर्थक संज्ञाओं के द्वारा हम जिन वस्तुओं या द्रव्यों को पहचानेंगे, उनमें परस्पर अधिकाधिक समान लक्षण भी हम स्पष्ट होते पाएंगे। अतः अपेक्षाकृत रूप में वे **व्यक्तिबोधक** ही होती हैं। अन्तर

यही है कि उनका संकेत केवल एक **द्रव्यविशेष** तक ही सीमित नहीं रह जाता। इसीलिए **द्रव्यविशेष** तक सीमित रहने वाले **संज्ञाशब्दों** की अपेक्षा वे, विस्तृत परिधि ग्रहण करने के कारण, **जातिवाचक** गिन लिए जाते हैं। यद्यपि, ये दोनों स्थितियां अन्ततः **सापेक्ष** ही कही जा सकती हैं। **पक्षी** की अपेक्षा **कबूतर, बटेर, तोता,** आदि शब्द **व्यक्तिवाचक** ही गिने जाते हैं; यद्यपि उन्हीं की समान कोटि का '**मनुष्य**' जातिवाचक ही माना जाता है। क्रमशः बढ़ती हुई 'व्यक्ति-चेतना' को हम निम्न रूप में अच्छी तरह देख सकते हैं :

चर

चेतन

प्राणी

जीव

जन्तु

नभचर

पक्षी

दिवाचर

विहंगम

कपोतादि

वैशम्पायन, हारीत, आदि।

शब्द के व्यक्ति-विकास-क्रम की इस तालिका में कुछ वर्ग घटाए भी जा सकते हैं। दूसरी ओर, 'दिवाचर' आदि वर्गों में कुछ भेद विशालकाय, लघुकाय, शिकारी, कणाद, आदि भी बढ़ाए जा सकते हैं।

समानता के इन आधारों पर सीमित होती द्रव्य-संख्या की एक सीमा वह आ जाती है, जब हम समानाकृति प्रत्येक द्रव्य को दूसरे से पृथक् करके देखना चाहते हैं। उस स्थिति में लक्षणसाम्य की बात प्रधान नहीं रहती। हम ऐसे सार्थक और निरर्थक नाम चुनने लगते हैं, जिनके द्वारा यह चुनाव, किन्हीं लक्षणों पर आधारित न रहकर, 'व्यक्ति' के पृथक्करण पर ही आधारित हो जाता है। **राम, श्याम, कालिदास,** आदि ऐसे ही नाम हैं, 'संज्ञा' रूप में जिनका शाब्दिक अर्थ अभिप्रेत नहीं रहता। '**धोबी, भंगी, कबूतर,**' आदि की स्थिति इनसे कुछ भिन्न है। सामान्य गृहस्थ परिवार के सम्पर्क में जो भी धोबी आता है, उस परिवार के लिए उसका '**धोबी**' नाम **व्यक्तिवाचक संज्ञा** बन जाता है। यही बात घर में पाले हुए '**कबूतर**' आदि के लिए भी लागू होती है। प्रदेश विशेष में '**साग**' का अर्थ, सामान्य '**पत्र-शाक**' न रहकर, '**सरसों का साग**' हो जाता है।

हर खेतीहर के यहाँ उत्पन्न होने पर भी यह 'साग' शब्द **'व्यक्तिवाचक संज्ञा'** के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **'व्यक्तिवाचक संज्ञा'** का मुख्य लक्ष्य और प्रयोजन एक-एक द्रव्य को **पृथक् नाम देना** है। यद्यपि, इन नामों के सम्बन्ध में भी इनके एक से अधिक व्यक्तियों पर लागू होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। जिन संज्ञाओं के द्वारा एक से अधिक व्यक्तियों का बोध सम्भव हो, उन्हें सापेक्ष दृष्टि से **'जातिवाचक'** कहना ही अधिक उचित ठहरता है। अतः स्पष्ट है कि **'जाति'** का अर्थ है : **सामान्य या समानता**। इसे ही **'आकृति'** शब्द के द्वारा भी कहा जाता है। ऐसे शब्दों में **'सामान्य'** और **'विशेष'** की मात्रा सापेक्ष रूप में कम-अधिक रह सकती है। पर, तब भी **'सामान्य'** खोजने की भावनामात्र ही शब्दों को **'जातिवाचक'** बनाने के लिए पर्याप्त है। निश्चय ही **'व्यक्तिवाचकता'** का आधार 'विशेषता' या **'विशिष्ट स्थिति'** बताना होता है। इसीलिए भर्तृहरि और येस्पर्सन इन दोनों में विभेद को अत्यन्त सूक्ष्म और प्रधानतः अव्यवहार्य स्वीकार करते हैं।

६.३४ अनुप्रवृत्ति और व्यावृत्ति :

सामान्य और **विशेष** की दार्शनिक पृष्ठभूमि को ही सूचित करने के लिए भर्तृहरि इन दो सापेक्ष शब्दों को चुनते हैं। वा० ३.१.१४ एवं १९ में वे इन दो शब्दों के माध्यम से ही जाति और व्यक्ति की भिन्नता के मूल आधार और हेतु की सूचना देते हैं। **'अनुप्रवृत्ति'** का अर्थ हम अनुकूल प्रवृत्ति या अनुरूप प्रवृत्ति के रूप में कर सकते हैं। **'व्यावृत्ति'** का अर्थ, उस दशा में, होगा—'विपरीतता' या 'संकोच'। अर्थात्, यदि कुछ द्रव्यों में कुछ लक्षण, या उनकी प्रकृति का कुछ अंश अनुकारी या अनुप्रवर्त्ती लगता है, तब मुख्य रूप से, या बाह्याकार रूप से, उन्हें एक वर्ग में रखा जा सकता है। परन्तु, यदि उनके कुछ विचार्य लक्षण ऐसे हैं, जो एक दूसरे में नहीं पाए जाते, या एक-दूसरे के विभेद को या उनकी विपरीतता को सूचित करने वाले हैं, तब उन लक्षणों के बल पर उन्हें एक-दूसरे से भिन्न या पृथक् सिद्ध किया जा सकता है। शर्त यही है कि ये लक्षण किसी **समूह** को दृष्टि में रखकर ही ढूँढ़े जाते हैं। 'समूह' **जाति** का धर्म है। अतः ये लक्षण आपाततः हर शब्द की **जातिमत्ता** को सूचित करते हैं। पर ये ही बाद में उसके **व्यक्ति** होने की पुष्टि भी करते हैं।

भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः।
भावात्मसु प्रपंचोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते ॥ वा० ३.१.२० ॥

अनुप्रवृत्तिधर्मो वा जातिः स्यात्सर्वजातिषु ।
व्यावृत्तिधर्मसामान्यं विशेषे जातिरिष्यते ।। वा० ३-१-१४ ।।

अर्थात्, "सत्तावान् द्रव्यों में भिन्नता या अभिन्नता का प्रपंच लक्षणों की 'संसृष्ट' अवस्था में ही होता है। जाति या समानता की बात केवल जातिशब्दों में ही नहीं मिलती, बल्कि विशेषवाची और विशेषण शब्दों तक में ऐसे समान लक्षण खोजे जा सकते हैं।"

६.३५ भाववाचक

जाति और व्यक्ति के बारे में अन्यत्र भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं :

सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावमवस्थितौ ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः ।। वा० ३.१.३२ ।।
सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।। वा० ३.१.३३ ।।
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा, तामाहुस्त्वतलादयः ।।वा० ३.१.३४।।

अर्थात्, "द्रव्यमात्र में यदि कोई बात सत्य है तो वह, जिसे हम **सत्ता**, भाव या मूलार्थ के रूप में कहते हैं। उसे ही त्व, तल्, आदि प्रत्ययों के द्वारा—महत्त्व, शुक्लता, आदि शब्दों के रूप में—कहा जाता है। सम्बन्धी के भेद से भिन्न होती हुई यह 'सत्ता' ही जातियों की भिन्नता का कारण बनती है। वस्तुतः जिस तरह द्रव्यों का **आकार असत्य** है और **आत्मा सत्य** है, उसी तरह प्रत्येक द्रव्य में आत्मा या मूलवस्तु के रूप में रहने वाली यह **जाति ही सत्य** है। इसको आकारगत अभिव्यक्ति देने वाले व्यक्तित्व नाशवान् और, इसीलिए, असत्य या अनित्य हैं।"

भर्तृहरि के इस कथन में यह बात अवधेय है कि किसी शब्द या संज्ञा को 'जाति' तभी कहा जा सकता है, जब हम उसकी मूल भावना को अन्यत्र भी अनुकृत होता पाएं। **'राम'** और **'रावण'** जैसे शब्दों से भी, जिन्हें हम विशुद्ध 'संज्ञा' या 'व्यक्तिवाचक नाम' कहते हैं, **'रामत्व'** और **'रावणत्व'** शब्दों का निर्माण हो ही जाता है। ऐसे **भाववाचक** शब्द तो होते ही 'जातिवाचक' हैं; क्योंकि वे ऐसे गुणों की ओर इंगित कर रहे होते हैं, जिन्हें 'राम' आदि के अतिरिक्त अन्यत्र भी खोजा जा सकता है। पर, 'राम' आदि शब्दों में भी लिंग-वचनादि के योग से बहुत से सामान्य लक्षणों या 'जाति' की सत्ता सिद्ध होती ही है। **वचन** की सत्ता

अनुवर्त्तन या अनुप्रवर्त्तन पर ही आधारित है। वैसे भी, केवल शारीरिक भिन्नता के कारण ही किसी संज्ञा की सत्ता को स्थायी नहीं कहा जा सकता। शारीरिक भिन्नता के लक्षण द्रव्य-व्यक्ति की सशरीर उपस्थिति में ही स्पष्ट हो पाते हैं। वह नित्य होनी सम्भव नहीं है। हम उस 'संज्ञा' के साथ व्यष्टिगत कुछ विशेषताओं को भी जोड़ बैठते हैं। ये **विशेषताएं** समवेत रूप में ही अन्य किसी व्यक्ति में भी मिल सकती हैं। इन विशेषताओं को ही **'रामत्व'** आदि के रूप में कहा जाता है। शरीर के नाशवान् होने पर भी 'रामत्व' **नित्य** है। **राम** की व्यक्ति-सत्ता का स्मरण तो केवल **'सामान्य मनुष्य'** के रूप में ही होता है। पर, उसकी पृथक् पहचान (संज्ञान) उसके इन गुणों के कारण ही सम्भव हो पाती है, जो व्यक्तिविशेष में स्थिति होने पर भी मनुष्य मात्र में पाए जा सकते हैं। इसीलिए भर्तृहरि ने अधिक व्यापक उक्ति कही थी :

न तदुत्पद्यते किंचिद् यस्य जातिर्न विद्यते।
आत्माभिव्यक्तये जातिः कारणानां प्रयोजिका॥ वा० ३.१.२५॥

अर्थात्, 'जन्म और सत्ता से युक्त कोई भी पदार्थ या द्रव्य ऐसा नहीं है, जिसमें सामान्य लक्षणों या जातीयता की उपलब्धि न हो। किसी भी पदार्थ या द्रव्य की अभिव्यक्ति इन जातीय लक्षणों के कारण ही सम्भव हो पाती है।' **त्व, तल्,** आदि भाववाचक प्रत्ययों का योग प्रत्येक शब्द में अन्तर्हित इसी जातीयता को स्पष्ट कर देता है।

६.३६ जाति-सूचक लक्षण

ऊपर कई स्थानों पर जाति सूचक लक्षणों की चर्चा आई है। वे जाति-सूचक लक्षण, जो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं तक में पाए जाते हैं, लिंग, वचन, विभक्ति, आदि के रूप में कहे जा सकते हैं।

६.३६.१ लिंग

इसकी सूचना पहले ही यह इंगित कर देती है कि अमुक व्यक्ति किस 'लिंग' का है। इतने मात्र से ही हमें सामान्य आकार, बाह्यचिह्न एवं अन्य बहुत सी बातों की सूचना मिल जाती है। ये लक्षण केवल नाममात्र से ही नहीं पता चलते, बल्कि इनकी सूचना उस द्रव्य या वस्तु के लिंगमात्र के ज्ञान से भी मिल जाती है। इसकी अभिव्यक्ति चार रूप में हो सकती है : **प्रत्यय, क्रियारूप, आदि-निपात,** और **भावना** के रूप में। प्रत्यय के द्वारा लिंग की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत आदि प्रत्ययप्रधान भाषाओं में मिल जाते हैं। संस्कृत के **फलम्, बालिका,**

स्त्री, आदि में; पंजाबी के दिलीपसिंह-दिलीपकौर आदि में; उर्दू के महबूब-महबूबा आदि में; अंग्रेज़ी के अनियमित 'एँज़्' (डचेज़),'आइन' (कैथराइन), आदि प्रत्ययों के रूप में; इतालवी के **सिन्योर-सिन्योरा** आदि में; रूसी के **'ओफ़्-ओवा'** (इवानोफ़, इवानोवा) आदि में, किसी न किसी आधिक्य के रूप में यह **प्रत्ययजन्य लिंग-भेद** स्पष्ट हो जाता है। समस्त भारोपीय भाषाओं में 'नाम' की ही भांति 'सर्वनाम' में भी लिंग का योग रहता है। उनसे भी, नाम के अभाव में, 'लिंग' की सूचना मिलती ही है।

६.३६.२ क्रियारूप

हिन्दी और उर्दू में क्रियारूपों से लिंग-निश्चय की बात सामान्यतः कही जाती है। सच यह है कि इस विषय में हिन्दी का प्रभाव उर्दू पर पड़ा है। इससे भी बड़ा सत्य यह है कि हिन्दी का यह लिंग, क्रियारूप में निवास न करके, संस्कृत के सलिंग क्रियारूपों के अवशेष तद्भव **कृदन्त** क्रिया-रूपों में निवास करता है। मूलतः **'कृदन्त'** रूप क्रियावाचक 'नाम' के रूप में प्रयुक्त होते हैं। भर्तृहरि लिंग को **'द्रव्याश्रित'** मानते हैं। यह बात हम आगे स्पष्ट करेंगे। पर, क्रिया 'द्रव्य' नहीं है। अतः उसमें लिंग का निवास, उनकी दृष्टि में, सम्भव नहीं है। फिर, क्रियारूप में, 'लिंग' का यह तथाकथित संकेत भी, वस्तुतः 'नाम' के लिंग की ही सूचना देता है।

६.३६.३ आदिनिपात

जर्मन, अंग्रेज़ी, इतालवी, फ्रेंच, आदि में आदिनिपात का प्रयोग संज्ञा के साथ ही होता देखा जाता है। इनसे लिंग की सूचना, अंग्रेज़ी को छोड़कर, प्रायः इन सभी भाषाओं में हो जाती है। यहां यह स्मर्त्तव्य है कि रूसी तथा अन्य पूर्व-यूरोपीय भाषाओं में जहां इन आदिनिपातों की स्थिति उपलब्ध नहीं है, वहां ग्रीक, लातीनी आदि प्राचीन भाषाओं में इनकी उपस्थिति सविभक्तिक सर्वनाम के रूप में पाई जाती है।

६.३६.४ भावना

परन्तु जिन प्रत्ययविहीन भाषाओं में यह सब सम्भव नहीं होता, और जहां प्रत्येक भाव और द्रव्य के लिए एक पृथक् शब्द का प्रयोग होता है, वहां लिंगभेद का परिज्ञान केबल शब्द की प्रयोग-भावना से ही हो सकता है। अतः 'भावना' भी लिंग-द्योतन का एक उपाय है। बल्कि इसे प्रमुख उपाय कहना

अधिक उचित होगा। चीनी, अफ्रीकी, आदि भाषाओं में यह बात अधिक स्पष्टता के साथ देखी जा सकती है।

६.३६.५ वचन

वचन की बात उक्त चारों से कुछ अलग ही समझनी चाहिए। यह तो निर्विवाद है कि जहां भी बहुवचन का प्रयोग होता है, भले ही वह व्यक्तिवाचक संज्ञा का हो, वहां इंगित किसी एक व्यक्ति की ओर सीमित न होकर अनेक तत्सम व्यक्तियों की ओर होता है। अनेकता की यह भावना ही 'जाति' की उपस्थिति की सम्भावना उत्पन्न करती है। पर, एकवचन होने पर भी सदा ही एक व्यक्ति का ही बोध नहीं होता। **पाणिनि** १.२.५८ में इस बात को बताते हैं कि 'जाति' का कथन अभीष्ट होने पर बहुवचन और एकवचन का आपस में व्यत्यय हो सकता है। भर्तृहरि वा० ३.१.९६ में इसी सत्य को दूसरे रूप में कहते हैं। उनका कथन है कि एकवचन से अभिव्यक्त वस्तु के भी अनेक भेद हो सकते हैं। जब हम उन भेदों की चर्चा न करके केवल एक व्यक्ति पर ही विचार करते हैं, तब वह पदार्थ 'व्यक्ति' ही कहलाता है। किन्तु, जब हमारा ध्यान उन **भेद-उपभेदों** की ओर जाता है, या इस ओर कि वह वस्तु किन भेदरूपों के बीच से उभर कर सामने आती है, तब हमारी बुद्धि में वह एकाकी द्रव्य रूप में नहीं गृहीत होती। बल्कि तब उसका ग्रहण समूह-सहित, या **समूहांग** के रूप में, होता है। निश्चय ही यह समूहबुद्धि ही उसके जातिरूप को सामने लाती है (वा० ३.१.९७)। पाणिनि द्वारा जातिवाचक शब्दों में एकवचन के स्थान पर बहुवचन का उक्त विधान भी इसी आधार पर हुआ है। दूसरे शब्दों में, जाति के कथन के लिए एकवचन या बहुवचन के प्रयोग से विशेष अन्तर नहीं पड़ता। कोई एक नियम भी निश्चित नहीं किया जा सकता। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'जाति' का आधार आकृति, गुणभेद और गुणसाम्य पर अधिक होता है, संख्या पर नहीं। क्योंकि सामान्यतः जाति की सत्ता बहुसंख्या या बहुवचन पर आधारित समझी जाती है, इसीलिए यदि जातिवाचक शब्द से अभिहित द्रव्य 'एक' भी हो, तब भी उसे बहुवचनयुक्त संज्ञाशब्द द्वारा अभिहित कर दिया जाता है। भर्तृहरि कहते हैं :

> **सकृत्प्रवृत्तावेकत्वमावृत्तौ सदृशात्मनाम्।**
> **भिन्नात्मिकानां व्यक्तीनां भेदापोहाद् प्रपद्यते॥ वा० ३.१.९८॥**
> **अनुप्रवृत्तेति यदा भिन्ना बुद्धिः प्रतीयते।**
> **अर्थो व्यावृत्तरूपोऽपि तदा तत्त्वेन गृह्यते॥ वा० ३.१.९९॥**

अर्थात्, "ऐसे भिन्नात्मा व्यक्ति, जो आन्तरिक रूप में अथवा वस्तुतः एक से हैं, भेद-लक्षणों को छोड़कर एक-एक का ग्रहण करने पर 'एक' ही कहलाते हैं। अथवा, आवृत्ति के समय सदृश प्रतीयमान पदार्थों पर व्यक्तिशः पृथक् विचार के समय, या भेद-बुद्धिहीन होकर सामूहिक विचार के समय, एक या अनेक को एक ही बार में जब हम अभिहित करना चाहते हैं, तब उसे समूहरूप होने पर भी 'एक' ही गिनते हैं।" तथा, "सामान्यतः **व्यावृत्तरूप** द्रव्य को 'व्यक्ति', और **अनुप्रवृत्तरूप** द्रव्य को 'जाति', कहा जाता है। किन्तु, जब व्यक्ति-द्रव्यों में '**अनुप्रवृत्ति**' की बात देखी जाती है, तब उनमें भी '**तत्त्व**' अर्थात् भावबुद्धि अथवा एकत्वबुद्धि की प्रधानता आ जाती है। और, जाति की इस वृत्ति के कारण वे शब्द 'जातिवाचक' ही कहे जाते हैं।"

सरूपाणां च सर्वेषां न भेदोपनिपातिनः।
विद्यन्ते वाचकाः शब्दाः, नापि भेदोऽवधार्यते ।। वा० ३.१.१०० ।।

अर्थात्, 'समान रूप वाले जितने भी द्रव्य होते हैं, उन सबके परस्पर भेद-चिन्हों को व्यक्त करने वाले वाचक शब्द या संज्ञाएं खोज पाना असंभव है। न ही उनके भेदों का पूरा ध्यान रखा जा सकता है। इसीलिए उन्हें एक ही शब्द के द्वारा अभिहित कर दिया जाता है।'

६.३६.६ पाणिनि :

इस बात को पाणिनि '**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**' (पा० २.२.६) के द्वारा कहते हैं। 'हरिणी' प्राणी-व्यक्ति का वाचक है, पर 'हरिणियां' जाति का वाचक बन जाता है। स्पष्ट है कि संकेतित समूह में गृहीत सभी व्यक्ति आकारतः भले ही समान हैं, पर व्यक्तिगत भेदोपभेदों में वे समान नहीं हैं। इस पर भी, उन सबके लिए वाचक अथवा अभिधान शब्द रखना कठिन है। यदि व्यक्ति रूप में ऐसे नाम रख भी लिए जाएं, तब समूह-संकेत के समय इन सबका पृथक्-पृथक् उच्चारण और ग्रहण असम्भव हो जाता है। इसलिए, जब सामान्यतः एक आकार की वस्तुओं का सामूहिक रूप से अभिधान अभीष्ट होता है, जो कि उनके एक-विभक्ति होने से सिद्ध हो जाता है, तब, हर व्यक्ति के साथ वचन-विभक्ति का प्रयोग न करके, सारे समूह के लिए तत्र-प्रयुक्त प्रथम या अन्य किसी सरूप शब्द के साथ द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग हो ही जाता है। इस प्रकार द्विवचन या बहुवचन का प्रयोगमात्र ही उस शब्द को 'व्यक्ति' क्षेत्र से निकाल कर 'जाति' क्षेत्र में ले आता है।

६.३६.७ विभक्ति

विभक्ति को भी 'जाति' का द्योतक कहा गया है। इसकी स्थिति भी पूर्वोक्त चारों तत्त्वों से भिन्न है। पाणिनि के उक्त सूत्र में ही इस सत्य का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'मैं और तुम देते हैं' के स्थान पर 'हम देते हैं' का प्रयोग होता है। और, वह उचित भी है। किन्तु, 'मैं तुम्हें देता हूं' के स्थान पर 'हमें देता हूं' या 'तुम देता हूं' का प्रयोग नहीं हो सकता। कारण यह है कि **सजातीयता** की एक और बड़ी शर्त **समान-विभक्तिता** भी है। 'विभक्ति' द्रव्य की स्थिति की बोधिका है। क्रिया के साथ द्रव्य के सम्बन्ध या स्थिति को बताने वाली विभक्ति ही होती है। 'समान-विभक्ति' का अर्थ है—'द्रव्यों की समान स्थिति'। 'मैं और तुम' के स्थान पर आने वाला 'हम', इस दृष्टि से, सजातीय प्रयोग है। किन्तु, 'मैं तुम्हें' के प्रयोग में, विभक्ति-भिन्नता के कारण उन्हें सजातीय प्रयोग न मान कर, उनके स्थान पर स्थानीय या एकशेष प्रयोग नहीं किया जा सकता। भर्तृहरि के शब्दों में :

सरूपसमुदायात्तु विभक्तिर्या विधीयते।
एकस्तत्रार्थवान् सिद्धः समुदायस्य वाचकः॥ वा० ३.१.९०॥

अर्थात्, 'समानरूप पदार्थों के समुदाय से जब किसी एक ही विभक्ति का विधान किया जाता है, तब उस अर्थ को वहन करने वाला एक भी शब्द सारे समूह का वाचक बन जाता है।'

इससे पूर्व के दो श्लोकों में भी भर्तृहरि ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में समझाना चाहा है। यह बात उन्होंने विशेष कही है कि गुण और द्रव्य में से जाति-विनिश्चय के लिए गुण की अपेक्षा 'द्रव्य की सरूपता' प्रधान लक्षण ठहरती है। उसके द्वारा ही 'द्रव्य-जाति' का निश्चय होता है।

६.३७ जातिवाचक संज्ञाशब्दों की सीमा

सामान्यतः जातिवाचक शब्दों की सीमा बहुत व्यापक है। कहा जा चुका है कि भर्तृहरि की दृष्टि में शब्दमात्र ही जाति की अभिव्यक्ति देते हैं[1]। कोई भी शब्द जातिकी पहुंच से बाहर नहीं है। 'अर्थ' को भी वे प्रधानतः जाति के रूप में ही मानते हैं।[2] 'क्रिया' का तो वे व्यक्ति-रूप नहीं मानते ही नहीं। उसे वे नित्य जाति के रूप में स्वीकार करते हैं।[3] इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में,

---

१. वा० ३. १. ७।
२. वा० ३. १. ११।
३. वा० ३. १. ३५; ३. ८. २१।

हमें जातिवाचक शब्दों की सीमा पर विचार न करके, 'जातिवाचक संज्ञा' की सीमा पर विचार करना ही अभीष्ट है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे व्यक्तिवाचक संज्ञा के विपरीत एक इकाई माना है। हम आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह धारणा उचित नहीं है। यदि यह अन्तर है ही, तो भर्तृहरि के अनुसार 'जाति संज्ञा' अत्यधिक व्यापक विस्तारवाली है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि व्यक्तिसंज्ञा के अतिरिक्त जो भी नामराशि बच जाती है, उसे 'जातिवाचक' या 'जातिसंज्ञा' के रूप में ही ग्रहण किया जाना उचित है।

हम पहले कह आए हैं कि इसी प्रकार की संज्ञा में पाश्चात्य वैयाकरण संख्यावाचक, गुणवाचक, भाववाचक आदि भेदों का भी परिगणन करते हैं। उनकी दृष्टि में जातिवाचक संज्ञा इनसे पृथक् है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में 'नाम' के व्यक्तिवाचक संज्ञा के अतिरिक्त कम से कम चार भेद अन्य हैं। इनके अतिरिक्त, उनकी दृष्टि से, सर्वनाम, विशेषण, आदि की स्वतन्त्र मान्यता की बात पहले कही ही जा चुकी है। उन्हें तो 'नाम' से भिन्न सर्वथा स्वतन्त्र कोटियां ही माना गया है। भारतीय दृष्टि इससे भिन्न है। महावैयाकरण भर्तृहरि इस समस्त सुबन्त पदराशि को 'जातिवाचक संज्ञा' में ही अन्तर्गृहीत करते हैं। इस का कारण है जाति-लक्षणों का उन शब्दों पर पूरी तरह घटना। उनकी दृष्टि को पूरी तरह समझने के लिए यह अभीष्ट होगा कि हम कुछ अधिक विस्तार के साथ समस्या पर विचार करें। इस विचार प्रसंग में हमें यह बात न भूल जानी चाहिए कि जाति और व्यक्ति को भर्तृहरि दो सापेक्ष स्थितियां मानते हैं। उनके आधार पर नाम-शब्दों का कोई स्थायी विभाजन स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में विचार हम 'गुण' से आरम्भ करेंगे।

६.३८ भाववाचक और गुणवाचक संज्ञा

भाववाचक संज्ञा सामान्यतः उसे कहा जाता है, जो किसी मूलशब्द में **त्व, तल्**, अथवा तद्वाचक अन्य प्रत्ययों के योग से बनती है। इन प्रत्ययों के योग द्वारा हम 'नाम' के पीछे छिपी मूल भावना की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। 'मनुष्य' शब्द व्यक्तिवाचक भी हो सकता है और जातिवाचक भी। उसका अस्तित्व जिस भावना, चरित्र, या विशेषता के कारण है, उसे ही संक्षेप में 'मनुष्यता' कह दिया जाता है। परन्तु, यह 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यता' किसी एक गुण का नाम नहीं है। यह उन सब गुणों के समूह का नाम है, जिनके होने से मनुष्य-जीवन को आदर्श और पूर्ण मान लिया जाता है। वस्तुतः ये सब गुण सम्मिलित होकर ही मनुष्य के अस्तित्व का आधार बनते हैं। अतः इन्हें मनुष्य

का भाव' या 'मनुष्य होने का भाव' के रूप में कह दिया जाता है। इस भाव के व्यक्ति-अंशों को, और उनके सामूहिक रूप को भी, 'गुण' नाम से कह दिया जाता है।

६.३६ समानता

इस प्रकार हमने देखा कि 'भाव' और 'गुण' तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं। भाव का दूसरा नाम 'तत्त्व' भी है। किसी भी वस्तु के अस्तित्व के पीछे छिपी वह बात जो उसे भिन्न-जाति सिद्ध करती है, उसका 'तत्त्व' या उसका 'भाव' कहलाती है। स्वाभाविक है कि ऐसे गुण किसी एक ही द्रव्य या व्यक्ति तक सीमित नहीं माने जा सकते। गुणों का आधार 'द्रव्य' अवश्य है, किन्तु कोई एक निश्चित द्रव्य किसी एक निश्चित गुण से सम्बद्ध नहीं है। अतः जिस भी द्रव्य में ये गुण समाहित हो जाएंगे, वही द्रव्य उस तत्त्व या भाव से युक्त मान लिया जाएगा। इस प्रकार, क्योंकि इन गुणों का संयोग एक से अधिक द्रव्य में भिन्न-भिन्न काल और भिन्न-भिन्न देशों में संभव है, इसलिए इस तत्त्व, भाव या गुण को भर्तृहरि 'सामान्य' या 'जाति' मानते हैं।[1] इसे ही **त्व, तल्, ष्यत्**, आदि प्रत्यय प्रकट करते हैं। प्रत्यय-प्रधान प्रायः सभी भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्यय की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में सम्भव होती ही है।

इस सब कथन के द्वारा हमारा अभिप्राय यह है कि वस्तुतः जब हम **त्व, तल्**, आदि द्वारा अभिव्यक्त भाव को 'जाति' संज्ञा दे रहे होते हैं, तब हमारा 'भाव' से अर्थ 'गुण' से ही होता है। किसी द्रव्य में निहित गुण ही उस द्रव्य के पीछे छिपी मूल भावना या जाति को व्यक्त करते हैं। यदि ये गुण न हों, तब कदाचित् हम उस वस्तु को वह नाम ही न देना चाहें। इन्हीं गुणों को **प्रकर्ष-हेतु** अथवा भिन्नता का आधार कहा गया है।[2] इनकी **द्रव्याश्रितता** को बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं :

> **संसर्गि भेदकं यद्यत् सव्यापारं प्रतीयते।**
> **गुणत्वं परतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्रे उदाहृतम्** ॥ वा० ३.५.१॥

अर्थात्, 'जो भी द्रव्याश्रित लक्षण मिले-जुले होकर भी उस द्रव्य को अन्य द्रव्यों से भिन्न सिद्ध करने वाले ठहरते हैं, और जो सोद्देश्य और सप्रयोजन दिखाई देते हैं, उन्हें गौण या परतन्त्र होने के कारण 'गुण' कहा जाता है।' स्पष्ट है कि 'गुण' स्वयं 'द्रव्य' नहीं है। वे उसका स्थान भी नहीं ले सकते। पर, यदि ये न हों,

---

१. वा० ३. १. ३४।

२. वा० १. ६५; ३. ५. २।

तब एक वस्तु का दूसरी से भेद ही न बताया जा सके[1]। अन्यत्र वे कहते हैं :

महत्त्वं शुक्लभावं च प्रकृतिः प्रतिपद्यते।
भेदानापेक्षिता सा तु गौणत्वस्य प्रयोजिका।। वा० २.२८०।।

अर्थात्, 'महत्त्व और शुक्लता आदि प्रकृति के ही धर्म हैं। भेद के विषय में इस प्रकृति की अपेक्षा न होने पर वह गुणत्व या गुण-भाव की प्रयोजिका हो जाती है।' अर्थात्, गुणों का जन्म प्रकृति में भेद-बुद्धि की अपेक्षा के कारण होता है। द्रव्य का स्थान न ले सकने के कारण ही गुणों को गौणत्व वृत्ति का प्रयोजक माना गया है।

६.४० भिन्नता

किन्तु इससे भिन्न भी गुण की एक प्रकृति है :

जातीनां च गुणानां च तुल्येऽङ्गत्वे क्रियां प्रति।
गुणाः प्रतिनिधीयन्ते छागादीनां न जातयः।। वा० ३.१.७८।।
सामान्येनान्यतराभावे विकल्पः कैश्चिदिष्यते।
अतद्गुणोऽतश्छागः स्यान्मेषो वा तद्गुणो भवेत्।। वा० ३.१.८०।।

स्पष्ट है कि गुण एक ही द्रव्य में सीमित नहीं होते। उनका सम्बन्ध एक जाति से भी सीमित नहीं है। गुणों की समता के आधार पर जाति का निश्चय अवश्य होता है, किन्तु पृथक्-पृथक् गुण की पृथक्-पृथक् द्रव्य या जाति में उपस्थिति सम्भव है। उदाहरणार्थ, 'किसी विशिष्ट गुण से युक्त बकरा चाहने पर संभव है हमें बकरा तो मिले, पर उसमें वे गुण न हों; या फिर उन्हीं गुणों से युक्त 'मेष' ही मिल जाए। जहां प्रयोजन केवल गुणों से होता है, वहां द्रव्य या जाति की मुख्यता नहीं रहती है'। यह बात हमारी इस पूर्व उक्ति को अधिक स्पष्ट कर देती है कि 'भाव' का अर्थ वह गुणसमूह है, जिस पर किसी द्रव्य, जाति, या क्रिया का आधार और अस्तित्व टिका होता है। **'ब्राह्मणत्व'** स्वतः भाव है। इसे हम एक विशिष्ट गुण-समूह भी कह सकते हैं। इसी शब्द के द्वारा हमें उन विभिन्न गुणधर्मों का पता चलता है, जिनके द्वारा किसी व्यक्ति या जाति को **'ब्राह्मण'** कहा जाता है। 'ब्राह्मणत्व' से इंगित होने वाले सारे गुण सम्भव है किसी एक ही ब्राह्मण में न मिलें, पर उनमें से कुछ गुणों की उपलब्धि से भी उसे 'ब्राह्मण' तो कह ही दिया जाता है।

अतः यह तो स्पष्ट है कि जहां हम 'भाववाचक' शब्दों को 'गुणवाचक'

---

१. वा० ३. ५. ३।

शब्दों के अन्तर्गत रख सकते हैं, वहां इन दोनों वर्गों को सर्वत्र समानार्थक नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, 'गुणवाचक' संज्ञा को सदा 'भाववाचक' कहने में आपत्ति की सम्भावना बनी रहेगी।

६.४१ एक अन्य अन्तर

इन दोनों का यह अन्तर एक स्थल पर अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है। गुण-शब्दों को विशेषक शब्द भी कहा गया है। भाववाचक शब्दों को ऐसा नहीं कहा जा सकता। **ब्राह्मणत्व, शुक्लता, महत्त्व,** आदि 'विशेषताएं' अवश्य कही जा सकती हैं, पर उन्हें 'विशेषण' किसी भी रूप में नहीं कहा जा सकता। शुक्ल, महान्, आदि शब्द विशेषण के रूप में होते हैं, परन्तु इन्हीं के त्वतलादि संयोगजन्य भाववाचक रूप शुक्लता, महत्त्व आदि कभी भी विशेषण का स्थान नहीं ले सकते। 'ब्राह्मण' जैसी जातिवाचक संज्ञाएं भी जब केवल गुणों की द्योतिका बन कर ही प्रयुक्त होती हैं, तब वे भी 'विशेषक' या 'विशेषण' के रूप में आ जाती हैं।[1] 'गौ' का अर्थ **'सास्नादिमान् पिण्ड'** भी है, और **'वाहीक'** भी।[2] परवर्त्ती अर्थ में वह विशेषण भी बन जाता है। 'गुण' के कारण आनेवाले इसी अर्थ को 'गौण' कह दिया जाता है।

'गुणशब्दों' का स्थान 'संज्ञा' की अपेक्षा है भी **'गौण'** ही। 'संज्ञा' द्रव्य और जाति की सूचिका होती है। वह अन्वर्थक या **महती** भी हो सकती है; अथवा उसका प्रयोजन केवल **संकेतन** और **लघूकरण** भी हो सकता है। वह विशेषण शब्दों के बिना भी प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि से वह प्रधान और मुख्य होती है। किन्तु, विशेषक शब्दों की स्थिति इससे भिन्न है। 'गुण' की भांति वे भी **द्रव्याश्रित** होते हैं। द्रव्य में स्थित 'जाति' या 'सामान्य' का आधार ये गुण ही होते हैं। किन्हीं गुणों के आधार पर ही 'समानता' स्वीकार की जाती है। इन्हें ही **लक्षण** या भेदक लक्षण भी कह दिया जाता है। इसी कारण 'जाति' से भिन्न करके किसी द्रव्य को पहचानने के लिए भी इन्हीं 'गुणों' को आधार बनाया जाता है। अन्तर यह है कि व्यक्तिविशेषक गुण वे होते हैं, जो अन्य समान द्रव्यों में नहीं पाए जाते। ऐसे गुणों को **प्रकर्षहेतु** और भेदक कहा गया है। विशेषक शब्द ऐसे ही गुणों पर आधारित होकर किसी द्रव्य की भिन्नता की सूचना देते हैं। इसलिए स्वतः गुण को जाति का आधार मानकर भी, उसे **द्रव्याश्रित** कहा गया है।[3] इसी आधार

---

१. वा० २. २६६, २६८; एवं येस्पर्सन के 'तीन क्रम' से तुलनीय।
२. वा० २. २५४। ३ वा० ३. ५. २।

पर उसे 'परतन्त्र' भी कहा गया है।[1] विशेषण शब्दों का जन्म ही किसी द्रव्य की विशेषता के द्योतन के लिए होता है। वस्तुत. जहां 'भाववाचक' शब्द स्वयं किसी गुण का 'संज्ञा-रूप' में कथन करते हैं, वहां 'विशेषण' शब्द किसी द्रव्य में अन्तर्हित 'गुणों' का कथन करते हैं।

'माधुर्य' गुण होते हुए भी 'संज्ञा' है, भले ही वह संज्ञा 'गुण' की ही है। परन्तु 'मधुर' शब्द, गुण की संज्ञा न होकर, उस गुण से युक्त द्रव्य की संज्ञा है। यह संज्ञा गुणाश्रित होने से उस संज्ञा से भिन्न है, जिससे हम सामान्यतः द्रव्य-विशेष का बोध प्राप्त करते हैं। कारण यह है कि गुणवाचक 'मधुर' शब्द का प्रयोग उस गुण से युक्त किसी भी द्रव्य के लिए हो सकता है, जबकि 'आम' आदि का प्रयोग द्रव्य-विशेष के लिए ही हो सकता है। यह इसलिए कि 'आम' आदि नाम, 'मधुर' आदि की भांति, सदा गुण पर ही आधारित नहीं होते। उधर, 'माधुर्य' की उपस्थिति किसी भी द्रव्य में सम्भव है। इसीलिए वह द्रव्य 'मधुर' कहा जाता है। महाभाष्यकार ने जातिशब्द, गुणशब्द और द्रव्यशब्द के रूप में जो तीन पदभेद माने हैं[2], उनमें से 'माधुर्य' आदि का समावेश 'जातिशब्द' के अन्तर्गत हो जाता है। इसके विपरीत, किसी द्रव्य की विशेषता द्योतित करने के कारण 'मधुर' आदि शब्द गुणशब्द या 'विशेषण' के अन्तर्गत गृहीत होते हैं।

इस पर भी यह सत्य है कि 'मधुर' आदि शब्द किसी न किसी द्रव्य को ही इंगित करते हैं; यद्यपि उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त होकर भी ये उसके नाम को स्थानान्तरित नहीं करते। आगे चलकर हम, भर्तृहरि की दृष्टि से, यह सिद्ध करेंगे कि 'कृष्णतिल' में 'कृष्ण' भी 'नाम' ही है।[3] परन्तु, वहां यह भी कहा जाएगा कि सापेक्ष दृष्टि से 'कृष्ण' शब्द गुणवाचक ही ठहरता है। इस सत्य को भर्तृहरि त्रिपदी टीका में इस प्रकार कहते हैं :

"यदा सर्वार्थसंसृष्टं नीलं गुणद्रव्यजातिभिरुपलभते, तदा यथाबुद्धिः शब्द-प्रयोग इति स्वबुद्ध्यनुकारेण नीलशब्दः सर्वार्थोपग्राही प्रयुक्तः इति। यथैव नीलशब्देन नीलगुणं द्रव्यमभिहितमेवमुत्पलद्रव्यमिति[4]।"

अर्थात्, नील आदि गुणबोधक शब्द गुणवाचक, जातिवाचक या द्रव्यवाचक रूपों में से किसी भी रूप में प्रसंगानुसार व्यवहृत हो सकते हैं। पर द्रव्य का अभिधान उनसे सदा होगा ही।

---

१. वा० ३. ५. १।

२. महा० १. १. २, माहे० २, वा० २।

३. वा० ३. १४. ६।

४. म० त्रि० १. १. २।

इस प्रकार 'गुणवाचक' शब्दों के दो भेद हुए :

गुणशब्द

गुणनाम (गुणवाचक नाम) गुणशब्द (विशेषक नाम)

६.४२ भाववाचक

इनमें से 'गुणवाचक नाम' की कोटि में ही भाववाचक शब्दों का भी अन्तर्भाव किया जा सकता है। उन दोनों का कार्य गुण की संज्ञामात्र—या उस द्वारा सूचित द्रव्यभावना—का कथन करना है। 'विशेषक नाम' शब्द में 'नाम' के प्रयोग पर आपत्ति हो सकती है। पर ऊपर कहे सत्यों के प्रकाश में यह आपत्ति निराधार ठहरती है। कारण यह कि जिन्हें हम सामान्यतः 'विशेषण' कहते हैं, दार्शनिक और व्यावहारिक आधार पर वे स्वतः द्रव्याभिधायी बनकर ही प्रयुक्त होते हैं। अतः मूलतः उन्हें भी 'नाम' कहना ही उचित है।[1] यद्यपि, यह भी सत्य है कि उनके द्वारा विशेषकथन किसी 'गुण' की सूचना के द्वारा ही सम्भव होता है।

६.४३ परिणाम

इस सब विवेचन से निम्न निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं :

(१) भाववाचक और गुणवाचक संज्ञा के नाम से ज्ञात शब्दराशियां मूलतः 'एक' हैं।

(२) दर्शन और व्याकरण के 'गुणशब्द' के रूप में उन्हें इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे स्वतः गुण की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(३) 'गुण' का कार्य विशेषता या भेदकता को बताना है। इसलिए 'गुण-शब्द' का पर्याय 'विशेषक शब्द' या 'भेदक शब्द' ही हो सकता है। इन्हें हम सामान्यतः 'विशेषण' कहते हैं।

(४) पर, ये विशेषण भी अन्ततः द्रव्याश्रित और द्रव्यसंकेतक ही होते हैं। अतः ये भी 'नाम' से अभिन्न ही सिद्ध होते हैं।

---

१. वही।

६.४४ भर्तृहरि का मत

(क) वाक्यपदीय १.६३ से ६५ में भर्तृहरि क्रमशः यह बताते हैं :

(१) गुण द्रव्य के आश्रित होता है। परतन्त्र होने से क्रिया से उसका सम्बन्ध नहीं होता।

(२) उपमान और उपमेय में समानस्थित 'सामान्य धर्म' की स्थिति बदलती रहती है। जब वह भी उपमान या उपमेय का स्थान ले लेता है, तब उसके भी व्यतिरेक या प्रकर्ष का हेतु कोई अन्य 'सामान्य धर्म' बन जाता है।

(३) एक स्थान पर प्रकर्ष बताने का हेतु 'गुण' अन्यत्र स्वतन्त्र शब्द के रूप में व्यवहृत होता है। परवर्त्ती स्थिति में उसका प्रकर्ष उस गुण में स्थित किसी अन्य गुण के द्वारा पता चलता है (तुल० वा० ३.१४.४५३)।

(ख) महाभाष्य, त्रिपदी टीका में वे स्पष्ट करते हैं :

(१) **'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्यनेन तत्कथयति।...एवं गुणशब्दोऽपि शुक्लादिर्गुणसामान्ये यदृच्छाशब्दः, गुणनिमित्तापेक्षया जातिशब्दः, गुणाभिधायी सः गुणशब्दः'** (म० त्रि० १.१.२)।

अर्थात्, शुक्ल आदि गुणसंज्ञा के रूप में प्रयुक्त होकर 'द्रव्यशब्द' या 'यदृच्छाशब्द'मात्र कहलाते हैं; गुण के निमित्त की अपेक्षा में (भाववाचक रूप में) उन्हें 'जातिशब्द' कहते हैं; और किसी द्रव्य के गुणविशेष के कथन के लिए प्रयुक्त होकर वे ही 'विशेषण' या 'गुणशब्द' कहलाते हैं।

(२) **'अथ या एता जातिगुणक्रियानिमित्ताः संज्ञाः, सर्वासामेवासां यदृच्छाशब्दा एवादिभूताः, न ह्यपेक्षितनिमित्तान्तरा अर्थेषु विनियोगं कुर्वन्ति। अतः संज्ञानामादिभूतेषु यदृच्छाशब्देषु न्याय्यो यः सः कल्पयितव्यः** (वही)।'

अर्थात्, जाति, गुण और क्रिया पर आश्रित जितनी भी संज्ञाएं हैं, उन सबके ही मूलभूत 'यदृच्छाशब्द' होते हैं। अन्यान्य निमित्तों के कारण उन्हीं के अन्यान्य प्रयोग संभव होते हैं। अतः संज्ञाओं के आदिभूत इन यदृच्छाशब्दों से ही न्याय्य शब्द को कल्पित करना चाहिए।

(३) **'गौरित्यथायं शब्दो गोत्वे प्रतिलभ्यं स्वरूपं तदधिष्ठान एव द्रव्ये प्रवर्त्तते।...संयोगं विशेषणत्वं रूपादिष्विव**

> साकृतिरिव। अस्य तु द्रव्याभिधानं गुणकल्पनया जातित्व-
> मापादितस्य, तच्छब्देनाभिधानात्।...तत्र केषांचि-
> न्माधुर्यादयोऽत्यन्तमनभिधीयमाना गुडादिभिः शब्दैस्तानर्थान्
> ...इत्येवं गोत्वादयोऽपि (त्रि० १.१.१)।'

अर्थात्, ''गौ' नाम उस द्रव्य का है, जिसमें गोत्व गुण की उपलब्धि होती है।...विशेषण भी साकार द्रव्यवत् ही होता है। जातिरूप ग्रहण करने और गुण की सामर्थ्य होने से, इसे भी द्रव्य ही कहा जाता है।...कुछ लोग माधुर्यादि शब्दों द्वारा गुण कथन न करने पर भी, 'गुड' आदि शब्दों से उन गुणों को ग्रहण कर ही लेते हैं।...यही बात गोत्व आदि पर भी लागू होती है।'

(ग) वाक्यपदीय में अन्यत्र वे कहते हैं :

> निर्ज्ञातद्रव्यसम्बन्धे यः कर्मण्युपदिश्यते।
> गुणस्तेनार्थिता तस्य द्रव्येणेव प्रतीयते॥ वा० ३.१.७२॥
> कश्चिदेव गुणो द्रव्ये यथासामर्थ्यलक्षणः।
> आधारोऽपि गुणस्यैवं प्राप्तः सामर्थ्यलक्षणः॥ वा० ३.१.७३॥

अर्थात्, 'गुण की सत्ता द्रव्य के बिना, और द्रव्य की उसके बिना, सम्भव ही नहीं।'

(घ) और भी,

> सर्वं च सर्वतोऽवश्यं नियमेन प्रकृष्यते।
> संसर्गिणा निमित्तेन निकृष्टेनाधिकेन वा॥ वा० ३.५.६॥
> नापेक्षते निमित्तं च प्रकर्षे व्यापृतं यदि।
> द्रव्यस्य स्यादुपादानं प्रकर्षं प्रत्यनर्थकम्॥ वा० ३.५.७॥
> सव्यापारो गुणस्तस्मात्स्वप्रकर्षनिबन्धनः।
> द्रव्यात्मानं भिनत्त्येव स्वप्रकर्षे निवेशयन्॥ वा० ३.५.८॥

अर्थात्, 'सभी पदार्थ एक-दूसरे से अलग हैं। उनमें अन्तर्हित यह दूरी (प्रकर्ष) किसी अधिक या निकृष्ट निमित्त के कारण होती है। यदि इस 'निमित्त' की संभावना न हो, तब इस दूरी के प्रसंग में 'द्रव्य' का उल्लेख ही निरर्थक हो जाएगा। इसीलिए क्रियासहित गुण ही द्रव्य के आत्मरूप में विद्यमान प्रकर्ष को सामने लाता है।'

६.४५ एक दृष्टि में

भर्तृहरि के उक्त विवेचन को निम्न रूप में निबद्ध कर सकते हैं :

(१) गुण द्रव्याश्रित होता है, स्वतन्त्र नहीं।

(२) स्वतन्त्र होते ही वह द्रव्य का स्थान ले लेता है। तब उसका प्रकर्ष उसके अन्तर्वर्त्ती किसी अन्य गुण से पता चलता है।

(३) गुणवाचक शब्द, अन्य शब्दों की ही भांति, यादृच्छिक उत्पत्ति वाले होते हैं। अतः वे सामान्य से अभिन्न ही हैं।

(४) वे जातिशब्द या गुणशब्द की स्थिति में भी रह सकते हैं।

(५) 'गुण' द्रव्य से पृथक् अस्तित्व नहीं रखते।

(६) गुणवाचक शब्द द्रव्य से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत नहीं करते। उनके प्रयोग से द्रव्य का भेदक प्रकर्ष अवश्य पता चलता है।

और भी संक्षेप में कहा जा सकता है : "भर्तृहरि की दृष्टि में गुणशब्द भी अन्ततः द्रव्यशब्द और जातिशब्द के समान ही 'द्रव्य के वाचक' होते हैं। इसीलिए, वे सामान्य संज्ञा से अभिन्न होते हैं।"

६.४६ पुनरुक्ति :

इसीलिए हमने आरम्भ में कहा था कि गुणवाचक शब्द सामान्य संज्ञा से अभिन्न होते हैं। अधिकतम हम उन्हें,जातिशब्द और द्रव्यशब्द की भांति, नाम-शब्द के बृहत्तर परिवार का एक अंगमात्र मान सकते हैं। यदि 'जातिवाचक' और 'द्रव्य-वाचक या व्यक्तिवाचक' के रूप में संज्ञा के दो भेद माने ही जा सकते हैं, तो उसका तीसरा भेद 'गुणवाचक' या 'विशेषक' भी माना जा सकता है। महाभाष्यकार भी कदाचित् इसी बात से सहमत हैं। पर अन्ततः, जिस प्रकार न कोई शुद्ध जातिवाचक शब्द है और न ही व्यक्तिवाचक, उसी प्रकार शुद्ध 'गुणवाचक' या 'विशेषक' शब्द की भी कोई भिन्न कोटि नहीं कही जा सकती। इसीलिए जब नामत्रयी के रूप में पतंजलि जाति, द्रव्य, और गुण के वाचक तीन शब्दभेदों का उल्लेख करते हैं, तब उनका अभिप्राय मुख्यतः 'सामान्य', 'विशेष', आदि के परिणामविवेचन से ही होता है।

६.४७ विशेषण और गुणशब्द :

इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा और शेष रह गई : क्या भर्तृहरि की दृष्टि में गुणशब्द को 'विशेषण' कहना उचित है ? इसका उत्तर हम भर्तृहरि के शब्दों में ही देना उचित समझते हैं। उन्होंने गुण के चार लक्षण माने हैं : **संसर्गी, भेदक, परतन्त्र,** और **प्रकर्षद्योतक**। यदि इनमें से प्रत्येक लक्षण के आधार पर विचार करें, तो पता चलेगा कि ये सभी बातें 'विशेषणों' पर भी लागू होती हैं।

मधुर, नील, सरस, आदि सभी विशेषणशब्दों में :

—द्रव्य और गुण को अलग-अलग नहीं किया जा सकता;

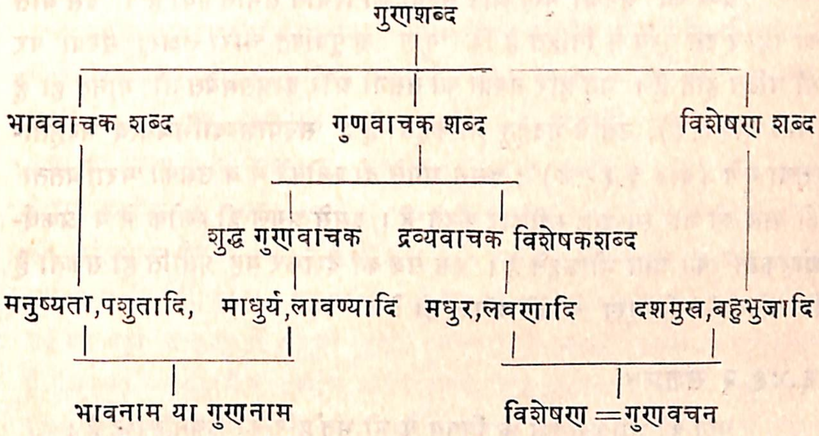
—इनसे युक्त व्यक्ति दूसरे से भिन्न सिद्ध होता है;

—ये शब्द किसी स्वतन्त्र गुण के वाचक न होकर द्रव्यवाचक ही हैं;

—और, इनसे एक ही जैसे द्रव्य-व्यक्तियों की भिन्नता का हेतुबोध होता है।

६.४८ सार-संक्षेप

इसीलिए, ऊपर 'गुणशब्दों' के सम्बन्ध में कहे गए परिणाम 'विशेषण' के विषय में भी समान रूप से लागू होते हैं। इनके वर्गीकरण को हम भर्तृहरि के अनुसार निम्न रूप में रख सकते हैं :



इनमें से प्रथम वर्ग के 'गुणनाम' शब्दों को हम स्पष्टत: जातिवाचक या यदृच्छात्मक संज्ञाओं में गृहीत कर सकते हैं। अन्तत: हैं वे गुणों की ही संज्ञाएं। विशेषण या विशेषक शब्दों की भी कोटि 'जातिवाचक' में ही गृहीत हो जाती है। अन्तत: इनसे भी द्रव्य के ही आकार या प्रकृति का पता चलता है। किसी अंश में इन्हें 'महती संज्ञा' भी कहा जा सकता है। 'धोबी', 'काण', 'लंगड़ा', आदि शब्दों को विशेषण के रूप में और स्वतन्त्र संज्ञा के रूप में समान रूप से ही प्रयोग किया जा सकता है। पर, हम सामान्यत: 'धोबी' को 'जातिवाचक संज्ञा' और 'काणा', 'लंगड़ा', आदि को 'विशेषण' के रूप में गिनते हैं। सच यह है कि दोनों ही प्रकार के शब्द अन्तत: 'जातिवाचक' ही कहे जा सकते हैं। यही उनकी 'एकता' का सार है। 'उदार मनुष्यता', 'दुर्दान्त पशुता', आदि के

द्वारा भावनाम शब्दों की भी जातिमत्ता स्पष्ट हो जाती है। कम से कम भाव-वाचक और गुणवाचक शब्दों की पृथक् दो कोटियां मानना तो किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

६.४६ संख्यावाचक संज्ञा

यदि हम इस तथ्य को समझ लें कि वर्ग, भेद और अस्तित्व की दृष्टि से संख्या और गुण की स्थिति एक सी है, तब इस सारे प्रसंग पर विचार ही व्यर्थ हो जागगा। इन दोनों के वाचक शब्दों को ही 'जातिवाचक संज्ञा' के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है।

६.४६.१ लक्षण-साम्य

द्रव्य की अपेक्षा गुण और संख्या की स्थिति समान क्यों है ? इस बात का रहस्य इस तथ्य में निहित है कि 'गुण' के पूर्वोक्त चारों लक्षण 'संख्या' पर भी घटित होते हैं। भर्तृहरि संख्या को संसर्गी और **द्रव्यसमवेत** तो मानते ही हैं (वा० ३.११.३), उसे वे भेदहेतु भी कहते हैं: '**संख्याशब्दाभिधेयत्वं भेदहेतोस्तथा गुणे** (वा० ३.११.४)'। इससे अगले दो श्लोकों में वे उसकी '**पराश्रितता**' की बात को भी स्पष्टत: स्वीकार करते हैं। इससे अगले ही श्लोक में वे '**प्रकर्ष-द्योतकता**' की बात भी कहते हैं। इस सब को देखकर यह प्रतीति हो सकती है कि 'संख्या' कहीं 'गुण' का ही अंग न हो ?

६.४६.२ संज्ञात्व

गुण की भांति संख्या के विषय में भी भर्तृहरि का कथन स्पष्ट है :

> **संख्या नाम न संख्यास्ति संज्ञैषेति तथोच्यते।**
> **रूपं न रूपमित्येवं संज्ञा सा हि सितादिषु ॥ वा० ३.११.२५ ॥**
> **संख्यानजातियोगात्तु संख्या संख्येति कथ्यते।**
> **रूपत्वजातियोगाच्च रूपे रूपमिति स्मृतम् ॥ वा० ३.११.२६ ॥**

अर्थात्, 'एक, दो, आदि न शुद्ध संख्याएं हैं, और न ही सित, कृष्ण, आदि शुद्ध गुण। दोनों ही संज्ञाएं हैं। अन्तर यही है कि इनमें से प्रथम में गणना की या विभेद की समानता (जातिमत्ता) विद्यमान है, तो दूसरे में रूप की सजातीयता का आधार लिया गया है। अत: अन्तत: दोनों 'जातिवाचक' संज्ञाएं ही कही जानी चाहिएं।'

६.५० येस्पर्सन का मत और विवेचन

यहां हमें येस्पर्सन की मान्यता का उल्लेख अनिवार्यतः उचित प्रतीत होता है। वे 'संख्या वाचक' संज्ञा के लिए 'न्यूमरल' शब्द का प्रयोग करते हैं[1]। पर, वे पाश्चात्य वैयाकरणों की भांति इन शब्दों को 'संज्ञा' का एक भेद स्वीकार न करके 'सर्वनाम' के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। येस्पर्सन की यह बात अपने तईं नई प्रतीत होती है। किन्तु, पाणिनि ने यह बात बहुत पहले ही स्वीकार की थी। पा० १.१.२१ पर कात्यायन और पतंजलि ने शंका और समाधान किया है कि 'एक' आदि को 'संख्या' के अन्तर्गत क्यों नहीं स्वीकार किया गया ? केवल तीन सूत्रों में ही पाणिनि ने उस सब शब्दराशि को गिना दिया है, जिसे 'संख्या' कहा जाना चाहिए। यह अवधेय है कि पाणिनि द्वारा यहां 'संख्या' का प्रयोग एक पारिभाषिक संज्ञा के रूप में किया गया है। यह पारिभाषिक संज्ञा व्याकरण की रचनात्मक आवश्यकता की दृष्टि से स्वीकार की गई है। **'बहुगणवतुडति संख्या'**[2] में वे जिस शब्दराशि को 'संख्या' कहते हैं, उसमें से कुछ को बाद में वे **'ष्णान्ताः षट्**[3]' के द्वारा **'षट्'** संज्ञा देते हैं। **'डति च**[4]' के द्वारा दोनों संज्ञाएं स्वीकार की जाएं या केवल 'षट्' संज्ञामात्र, इस पर विवाद हो सकता है। पर पाणिनि यहां केवल 'षट्' का ही विधान करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस शब्दराशि को सामान्यतः हम 'संख्या' नाम से जानते हैं, पाणिनि की 'संख्या' संज्ञा द्वारा उस सबका ग्रहण नहीं होता। इसका कारण यह भी कहा जा सकता है कि पाणिनि का उद्देश्य यहां उन शब्दों को भी मूलतः 'संख्या' के अन्तर्गत स्वीकार करना रहा है, जिनका व्यावहारिक उपयोग परिगणन के लिए होता है। 'कति', 'बहु', आदि शब्द ऐसे ही हैं। पर, इसपर भी, ऐकान्तिक सत्य यही है कि पाणिनि ने 'एकादिक' संख्या को कहीं भी व्याकरणात्मक प्रयोजन की दृष्टि से 'संख्या' संज्ञा नहीं दी। स्पष्टतः वे संख्याशब्दों को एक पृथक् और स्वतन्त्र विभाग के रूप में नहीं गिनते। यह भेद 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' संज्ञा का भेद भी कहा जा सकता है[5]।

---

१. दि फ़िला० आ०, पृ० ८५, पं० ५-८।
२. पा० १. १. २१।
३. पा० १. १. २२।
४. पा०. १ १. २३।
५. महा० और म० त्रि० में १. १. ६. २३ की टिप्पणी।

६.५१ तीन भेद

पर, इसके विपरीत, पाणिनि **सर्वादिगण** में एक और द्वि जैसी संख्याओं को परिगणित करते हैं। यहीं पर एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि पाणिनि संख्यावाचक शब्दों के तीन स्पष्ट वर्ग मानते हैं, जिन्हें अन्ततः वे 'सर्वनाम' के बृहत् परिवार में समवेत कर लेते हैं। ये तीन भेद निम्न हैं :

१—**संख्या (संज्ञा)**—एक, दो, आदि।[1]

२—**संख्या (विशेषण)**—प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं एक, दो, तीन आदि।[2]

३—**समूहबोधक**—उभय, सर्व, विश्व, आदि।[3]

इन तीनों को पाणिनि ने सर्वनामों के अन्तर्गत ही गृहीत किया है। इस प्रकार संख्याशब्दों का एक ऐसा रूप भी है, जिसके द्वारा, गणना का कार्य न होकर, भेदकारक एक अनिश्चित इंगित होता है। अंग्रेजी में 'वन्' या 'वन्स' (one or ones), हिन्दी में 'एक' आदि तथा संस्कृत में 'एके' आदि इसी प्रकार के प्रयोग हैं, जो प्रायः 'कोई' या 'किसी' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। बहुवचनात्मक प्रयोग 'कई' के अर्थ में हुआ है। संस्कृत में 'एकः' और 'कश्चित्', अथवा 'एके' और 'केचन', प्रायः समानार्थक ही प्रयुक्त होते हैं।

६.५२ भर्तृहरि की टिप्पणी

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि टिप्पणी के रूप में एक नई बात कहते हैं। यह बात मूलतः वे 'सर्व' शब्द के विषय में कहते हैं, किन्तु लागू यह सभी संख्याशब्दों पर समान रूप से होती है। उनके शब्दों में :

'सर्वशब्दश्च कृत्स्नवचनः। स तु संख्याविषयः, प्रकारविषयः, कलावद्विषयश्च' (म० त्रि० १.१.६.२७)।

अर्थात्, 'सम्पूर्ण' या 'सब' के अर्थ वाला 'सर्व' शब्द **संख्या, प्रकार** और **कलावान्** के विषय में समान रूप से रूढ़ होता है। यहां 'संख्या' का अर्थ स्पष्ट है। 'सर्व' शब्द उसी प्रकार संख्यावाचक है, जैसे बहु, कति, आदि शब्द हैं[4]। अधिक व्याख्या के द्वारा वे इसे स्पष्ट करते हैं : **'सर्वाण्यन्नानि भुक्तानि निरवशेषाणि...सर्वमन्नं भुंक्ते सर्वप्रकारकं भुंक्ते...कलावति च सर्व ओदनो भुंक्ते यः पात्र्यामावर्जित इति** (वही)।'

---

१. पा० १. १. २७।
२. पा० १. १. ३३।
३. पा० १. १. २७
४. पा० १. १. २३।

तीन प्रकार के अर्थों की यह बात केवल 'सर्व' शब्द पर ही लागू नहीं होती। यह बात हर 'संख्याशब्द' पर समान रूप से लागू होती है। **येस्पर्सन ने** 'तीन क्रमों' का आधार तीन अर्थवृत्तियों को बताया है : **मुख्यार्थ, गौणार्थ, और गौणतर अर्थ**। ये तीनों क्रम हर अर्थवान् शब्द पर पूरी तरह लागू होते हैं। संख्यावाचक शब्द जब संख्या का अभिधान करते हैं, तब **मुख्यार्थ** में रहते हैं। अन्य अर्थों में उनका व्यवाहर **गौण और गौणतर** होता है। इन तीनों को हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं :

संख्या = सर्वनाम

मुख्यार्थ	गौणार्थ	गौणतरार्थ
संख्यात्मक	क्रमात्मक	सर्वनामात्मक
(संख्याविषयः)	(कलावद्विषयः)	(प्रकारविषयः)
एक, दो, तीन, आदि।	प्रथम, द्वितीय, आदि।	(कोई), एक, दो-चार, अनेकादि।

६.५३ दो तथ्य

यहां दो तथ्य अवधेय हैं : प्रथम यह कि शब्द का मूल रूप तीनों स्थानों पर एक ही हैं। उसमें किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। अन्तर केवल उसके प्रयोग और प्रयोजन में आता है। मूल रूप की दृष्टि से अन्तर तभी आता स्वीकार किया जाएगा, जब वह किसी व्यक्ति की संज्ञा के रूप में प्रयोग हो रहा हो।

'यदा तु सर्वशब्दः कस्यचिन्नामधेयत्वेनोपादीयते, तदा परित्यज्य स्वं प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूपमात्रोपकारी संज्ञाभावमनुभवतीति, स्वप्रवृत्तिनिमित्त—परित्यागोऽयमेतद्विशेषेऽवस्थानमेवं च कृत्वोक्तं कस्यैकस्यचिदिति।'

(म० त्रि० १.१.६.२७)

द्वितीय तथ्य यह कि इन तीनों अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध इस रूप में है कि **संख्यात्मक** सर्वनामों का मूल प्रयोजन भी 'गणना' ही है। अतः **'मुख्यार्थ'** के रूप में 'गणना' ही उनका मूल उद्देश्य ठहरता है। निस्सन्देह यह गणना द्रव्य की ही होती है। गणना से सम्बद्ध, किन्तु स्थिति या क्रम को सूचित करने की, वृत्ति **'कलावद्विषय'** कही जा सकती है। यह अर्थ गौण कहा जा सकता है। इसके **द्वारा** ही हम किसी समूह को विभाज्य समझकर उसकी कलाओं या अंगों को,

उनके स्थान-क्रमादि के अनुसार, इंगित करते हैं। यहां स्थान और क्रम का स्वतः उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि सूचित व्यक्ति का। 'कोई' या 'कई' के अर्थ म 'एक', 'दो-चार', या 'अनेक' आदि के प्रयोग में 'गणना' का यह अर्थ गौणतर हो जाता है। यद्यपि, मूलतः वहां भी 'परिगणन' की वृत्ति उपस्थित होती है।

६.५४ मूल सत्य

यह सत्य है कि उक्त तीनों प्रकार के प्रयोग में संख्यावाचक शब्द अन्ततः द्रव्य का ही इंगित करते पाए जाते हैं; तब भी यह सत्य है कि इस द्रव्य-संकेत के क्रम में भी तीनों जगह अन्तर रहा है। प्रथम क्रम में एक, दो, तीन, आदि से 'एक संख्या का द्रव्य' आदि का जो बोध होता है, उसमें संख्यान का अपना महत्त्व है। द्वितीय क्रम में प्रथम, द्वितीय, आदि शब्दों द्वारा संख्यान मुख्य बात नहीं रह जाती। यहां मुख्य उद्देश्य द्रव्य का स्थान या क्रम बताना हो जाता है, पर संख्या यहां भी सर्वथा महत्त्वहीन नहीं होती। कलावत् का अर्थ हम सामान्यतः कर सकते हैं : एकसंख्यावान्=प्रथम, आदि। तृतीय क्रम में संख्यान इतना गौण रह जाता है कि संख्यावाचक शब्द का प्रयोग द्रव्य या व्यक्ति की सूचना के लिए ही सीमित हो जाता है। कम से कम, शब्द से सामान्यतः सूचित निश्चित संख्या बताना वहां उद्देश्य नहीं रहता। 'दो-चार' या 'इक्के-दुक्के' आदि का प्रयोग आपाततः भले ही संख्याश्रित प्रतीत होता है, पर अन्ततः वह 'अनिश्चित संख्या' जैसी स्थिति, या सर्वनाम द्वारा सूच्य स्थिति, की ही सूचना देता है। इस स्थिति में इसे 'संख्याबोधक' सर्वनाम से अभिन्न ही माना जाना चाहिए। इस क्रम के शब्दों द्वारा 'गणना' के स्थान पर 'परिमाण' की सूचना अवश्य मिलती है, जो संख्यावाचक शब्दों का मूल प्रयोजन नहीं है।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि संख्या या संख्यावाचक शब्द द्रव्यमात्र के ही अभिधायी हैं। इसीलिए उन्हें 'संज्ञा' से अतिरिक्त और भिन्न कुछ न मानना चाहिए। हां, यह संज्ञा जातिवाचक होकर भी सर्वनाम कोटि के अधिक समीप ठहरती है। अतः यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि येस्पर्सन की यह धारणा, कि 'संख्याशब्दों' का प्रयोग 'सर्वनामों' के अन्तर्गत ही होना चाहिए, न्यायसंगत और भारतीय मान्यता के अनुकूल है। यद्यपि, आपाततः पाणिनि 'सर्वादिगण' में 'एक' और 'द्वि' को ही सर्वनाम गिनते हैं।

६.५४.१ वचन और संख्या

'वचन' शब्द अथवा द्रव्य में अन्तःस्थित संख्यान की वह वृत्ति है,

जिसकी सूचना के लिए सदा ही पृथक् से संख्याशब्द जोड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः 'वचन' का सम्बन्ध किसी भी प्रकार 'संख्यावाचक' शब्दों से नहीं ठहरता। उनपर हम अलग से ही विचार करेंगे।

६.५५ लिंग-योग

संस्कृत और तत्सदृश अन्य भाषाओं में एक अन्य बात स्पष्ट होती है। उनमें संख्यावाचक शब्दों में भी लिंगचिन्ह स्पष्ट होते हैं। यह बात लगती अद्भुत है, पर है सत्य। यह अद्भुतता तब तक ही प्रतीत होती है, जब तक हम उन शब्दों को 'शुद्ध संख्या' जैसी किसी स्थिति में मान बैठते हैं। पर, ज्यों ही हम निम्न सत्यों पर ध्यान देते हैं, तब हमारा यह आश्चर्य दूर हो जाता है :

—कि अन्ततः ये द्रव्य-संख्या के सूचक 'संज्ञामात्र' हैं;

—कि इनका इंगित द्रव्य की ओर ही होता है;

—और, कि इनका समाहार 'सर्वनाम' से पृथक् वर्ग में नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार 'गणना' द्रव्यधर्म है और, इसीलिए, द्रव्य से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक हो जाता है कि अन्य द्रव्यधर्मों से भी उसका सम्बन्ध हो। 'लिंग' इस प्रकार का एक द्रव्यधर्म है। इसका संयोग संख्या की प्रकृति में किसी लिंगात्मक अन्तर को नहीं बताता। इसके योग से तो संख्यात द्रव्य के ही लिंग का परिज्ञान होता है। सर्वनाम और विशेषण शब्दों में भी लिंग का योग पाए जाने का यही कारण है। प्रत्युत, यह कहना अधिक उचित होगा कि लिंग-योग के कारण ये सभी शब्द द्रव्य-बोधक सिद्ध होते हैं। द्रव्यबोधकता संज्ञा का धर्म होने से, इन सब को 'संज्ञा' के बृहत्तर परिवार का अंग मानना ही उचित है। पर हिन्दी, अंग्रेज़ी, चीनी, आदि भाषाओं में स्थिति सर्वत्र ऐसी नहीं है। इनमें लिंग-चिन्ह या तो हट रहे हैं, या हैं ही नहीं। पर इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल 'संख्याशब्दों' से ही नहीं है।

६.५६ विभक्ति-चिह्न

उक्त युक्तिक्रम संख्याशब्दों के साथ प्रयुक्त विभक्तिचिन्हों पर भी पूरी तरह घटित होता है। इनका उपयोग और सम्बन्ध 'द्रव्य' के साथ है, 'संख्यान-कार्य' के विषय में नहीं। इनकी उपलब्धि भी सार्वत्रिक नहीं कही जा सकती। पर, जहां भी उपलब्ध हैं, वहीं ये 'संख्याशब्दों' के सामान्य 'संज्ञास्वरूप' को सिद्ध करते हैं।

६.५७ निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'संख्यावाचक संज्ञा' के नाम से 'संज्ञा' का कोई पृथक् भेद स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। हां, सर्वनाम की भाँति इन्हें भी एक भेदमात्र अवश्य माना जा सकता है। अन्ततः सर्वनाम भी 'नाम' में ही अन्तर्गृहीत होते हैं। अतः 'संख्याशब्द' भी 'नामशब्दों' के एक भेदमात्र ही हैं।

६.५८ सर्वनाम

'सर्वनाम', 'प्रोनाउन' या इसी अर्थ की वहन करने वाली अन्य संज्ञाएं निश्चय ही इस धारणा को लेकर चलती हैं कि इनसे अभिहित शब्दराशि स्वतः 'संज्ञा' (नाम) है, या संज्ञा का एक भेदमात्र। इसकी जितनी भी परिभाषाएं अब तक की गई हैं, उनकी शब्दावली में अन्तर हो सकता है; खींचा-तानी भी सम्भव है; पर अन्ततः वे इस बात पर सहमत हैं कि मूलतः सर्वनाम भी 'संज्ञा' या 'नाम' ही है : उसका प्रयोग किसी अन्य संज्ञा के स्थान पर ही होता है, यदि ऐसी संज्ञा का प्रयोग उसी प्रसंग में पूर्व हो चुका हो। यहां हम इतना और जोड़ देना चाहेंगे कि तीन क्रमों की स्थिति में सर्वनामों का प्रयोग चाहे संज्ञारूप में द्रव्य-संकेत के लिए हो, विशेषण रूप में हो, या अन्य किसी रूप में, 'संकेत' का आशय वहां रहता ही है। यह 'संकेत' ही संज्ञा का मुख्य लक्षण है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

६.५९ येस्पर्सन की धारणा

येस्पर्सन सर्वनाम को केवल 'नाम के स्थान पर प्रयुक्त होने वाली शब्द-राशि' नहीं मानते। परन्तु, वह नोरीन जितनी व्यापक परिभाषा भी करने को तैयार नहीं हैं। नोरीन ने 'एक्सप्रेस्सिव सेमीम' (व्यंजक अर्थतत्त्व) की तुलना में 'सर्वनाम' को एक व्यापक आधार प्रदान किया है। वह सर्वनाम की सीमा को इस विस्तार तक ले गए कि उन्हें स्वयं यह भ्रम होने लगा कि कहीं यह परिभाषा 'राम', 'जोन', आदि को भी अपनी सीमा में न ले ले। उन्हें इस शंका के परिहार के लिए पर्याप्त श्रम करना पड़ा है।[1] येस्पर्सन इस प्रयत्न को आवश्यकता से अधिक व्यापक और बहुमुखी मानते हैं। साथ ही वे इसमें यह दोष भी पाते हैं कि 'प्रश्नात्मक सर्वनाम' तक इसमें गृहीत नहीं होते। उनकी दृष्टि में नोरीन की यह त्रुटि केवल 'अर्थ या भाव' पक्ष पर ही विचार करने के कारण संभव हुई है।

---

१. वी-एस , ५, पृ० ६३।

उन्होंने रूप-पक्ष पर समुचित विचार नहीं किया है।[1]

दूसरी ओर, स्वयं येस्पर्सन ऐसी शंकाएं खड़ी करते हैं, जिनके आधार पर 'मैं' जैसे व्यक्तिबोधक, 'कौन' जैसे प्रश्नवाचक, और 'कोई नहीं' या 'नोबडी' (Nobody) जैसे निषेधात्मक शब्दों को 'सर्वनाम' कहने में शंका होती है। साथ ही, वे उन मान्यताओं से भी सहमत नहीं हैं, जिनके अनुसार सामान्यतः 'सर्वनाम' कहे जाने वाले शब्दों को 'मुख्य शब्द', 'अधिकारी विशेषण', और 'निदर्शक विशेषण', आदि वर्गों में बांट दिया जाता है।[2] इससे भी आगे बढ़कर वे तो अंग्रेज़ी के 'ए' (a), 'ऐन' (an), जैसे आदिनिपातों को भी, संख्यामूलक होने के कारण, 'सर्वनाम' में ही गिनते हैं। **संख्या** को तो उन्होंने माना ही **सर्वनाम** है[3]। सर्वनामों के जिन विविध वर्गों को उन्होंने स्वीकार किया है, उनमें सामान्यत: 'सापेक्ष' (Relative) कहे जाने वाले सर्वनाम को वे 'समुच्चयार्थक' कहना अधिक पसन्द करते हैं। 'निदर्शक' और 'व्यक्तिबोधक' भेदों में उन्हें कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। यही बात 'प्रश्नात्मक' भेद के विषय में भी कही जा सकती है। येस्पर्सन के अनुसार सर्वनाम के सम्बन्ध में अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात अर्थ के तीन क्रमों की है। इनमें से मुख्य क्रम' वहां होता है, जहां द्रव्य-संकेत के अपने मुख्य उद्देश्य से सर्वनाम प्रेरित रहता है। 'गौण' वहां, जहां वह 'विशेषण' के रूप में प्रयुक्त होता है। 'गौणतर' वहां, जहा वह क्रिया-विशेषण या अन्य कोई दूरतर स्थान अपना लेता है[4]।

६.६० विवेचना

यदि केवल संज्ञा का स्थान ग्रहण करनेवाले, या उनको एक ही प्रसंग में दुहराने से बचानेवाले, शब्दों को ही 'सर्वनाम' कहा जाना है, तब तो येस्पर्सन का यह उपहास-क्रम उचित ही प्रतीत होता है कि 'उस स्थिति में 'सर्वक्रिया' और 'सर्वविशेषण' जैसी कितनी ही तत्सम कोटियों को स्वीकृति देनी होगी'। दूसरी ओर, नोरीन का मत इन सभी कोटियों को एक ही सीमा में ले आता है, जिससे नए भ्रम के सृजन की सम्भावना है। उनकी इस धारणा के प्रति येस्पर्सन की आशंकाएं उचित ही जँचती हैं। अन्ततः, येस्पर्सन स्वयं सर्वनामों की परम्परागत शब्दराशि पर ही विचार करते हैं, और संभवतः उन्हें ही सर्वनाम स्वीकार कर भी लेते हैं।

इस सम्पूर्ण भ्रम का कारण यह है कि 'अव्यय' और 'सर्वनाम' के अन्तर

---

१. दि फिला० ग्रा०, पृ० ८३।

२. वही, पृ० ८४।

३. दि फिला०, पृ० ८५, पंक्ति ५-८।

४. वही, पृ० ९९-१००।

को स्पष्टतः नहीं पहचाना गया। इस असामर्थ्य का मूल कारण है अंग्रेजी को आधार-भाषा मानकर विचार करना। अंग्रेज़ी के सर्वनामों में जब हमें अधिकांश स्थानों पर लिंग-विभक्ति-वचनादि का योग नहीं मिलता, तब हम उन्हें तथा-कथित अव्ययों से अभिन्न मानकर उन दोनों को एक ही वर्ग में रख देते हैं। इस वर्ग को ही 'सर्वनाम' कह दिया जाता है। जबकि सत्य यह है कि अंग्रेज़ी में भी इन्हीं सर्वनामशब्दों का एक वर्ग लिंग-वचन-विभक्ति से भूषित मिलता है।[1] परन्तु, विचारप्रसंग में प्रायः इस सत्य को भुला दिया जाता है या इसकी व्याख्या भ्रामक रूप में की जाती है। यही कारण है कि ऐसे विचारकों को 'अव्यय' और 'सर्वनाम' परस्पर उलझते वर्ग दिखाई देते हैं। पाणिनि इस अन्तर को भलीभांति पहचानते हैं। उनके लिए सर्वनाम की प्रमुख शर्त नाम-सादृश्य है। यदि नाम या संज्ञा लिंग-वचन-विभक्ति का संकेत करते हैं, तब सर्वनाम को भी वैसा ही करना चाहिए। जिस भाषा में नामशब्दों में से लिंग-विभक्ति आदि का योग मिटना आरम्भ हो गया है, वहां सर्वनाम के लिए इन्हें विभेदक चिह्न माना ही कैसे जा सकता है? हिन्दी और अंग्रेजी इसी वर्ग की भाषाएं हैं। अंग्रेज़ी के उक्त उदाहरणों में तो फिर भी लिंग-वचन-विभक्ति में से कुछ न कुछ शेष है, किन्तु हिन्दी की तो स्थिति ही निराली है। वहां अंग्रेज़ी से भी दशमांश ही ऐसे चिह्न शेष रह गए हैं। अतः एकमात्र इसी आधार पर सीमाभेद स्वीकार न करना उचित नहीं ठहरता। पाणिनि ने जब **'अव्ययादाप्सुपः'**[2] और **'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'**[3] के द्वारा अव्ययों को लिंग-वचन-विभक्तिहीन स्वीकार किया था, और उसकी व्याख्या **'सदृशं त्रिषु लिंगेषु'** आदि कारिकाओं द्वारा पर-वर्त्ती विद्वानों ने की थी, तब उनका अभिप्राय सर्वनाम और अव्यय के आपसी भेद को स्पष्ट करना भी रहा होगा। यह स्पष्ट है कि वे **कः**, **कुतः**, **कथम्**, आदि की भिन्न प्रकृतिता को पहचानते थे। इनमें से **'कः'** में लिंगादि के योग द्वारा **रूपान्तरण** सम्भव है। 'कुतः' में भी विभक्ति की सम्भावना कभी शायद रही होगी; तभी **क्व** (कु+अ), **कुत्र**, **कुह**, आदि रूपों का निर्माण सम्भव माना गया। किन्तु, बाद में अन्य रूपों का प्रयोग या लिंगादि का योग न हो पाने से **कुतः**

---

१. उदाहरणार्थ :(क) He, She, It : Him, His—Her, it's, they, Them, Their; I, You : Me-Mine-My, Your, etc.
(ख) Who, What : Whom, Whose, Where etc.
(ग) This, It, That : These, Those, etc.

२. पा० २. २. ८२। ३. पा० १. १. ३८।

कथम्, आदि को अव्यय मान लिया गया। उस स्थिति में कुत्र, क्व, आदि को भी स्वतन्त्र रूप वाले अव्यय स्वीकार किया गया। यद्यपि, यह सत्य भी साथ ही स्वीकार किया गया कि इन सब तथाकथित प्रश्नवाचक अव्ययों में मूल अर्थवान् प्रातिपदिक 'किम्' या समानार्थक शब्द ही है। यह बात प्राय: सभी सप्रत्यय भाषाओं पर इसी रूप में घटित होती है। भारोपीय परिवार की तो सभी भाषाओं पर यह बात पूरी तरह घटती है। अंग्रेज़ी के तत्सम शब्दों में प्रातिपदिक के रूप में 'व्ह' (wha-) को खोजा जा सकता है। जर्मन का यह प्रातिपदिक 'व' (wa-) है। इतालवी में यह 'के' (che-) या 'को' (co-) के रूप में पाया जाता है। फ्रेंच में यह 'के' (que-) है। अत: प्रश्नवाचक अव्ययों या सर्वनामों में एक ही प्रातिपदिक की सर्वत्र उपलब्धि सम्भव होने से उन्हें स्वतन्त्र 'अव्यय' मानना उचित नहीं ठहरता। वे सर्वनामों की परम्परा से ही आगत शब्दरूप हैं।

वस्तुत: अंग्रेज़ी और हिन्दी जैसी भाषाओं में वियोगात्मकता और सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण इन भेदचिह्नों का प्रयोग कम से कम होता गया है। 'अव्ययों' में प्राय: किसी भी भाषा में विभक्ति चिह्न उपलब्ध नहीं होते। इसी आधार पर इन दोनों में या तत्सम अन्य भाषाओं में दोनों की समानता का भ्रम बना रहता है। एक अन्तर यह है कि प्रतिनिधित्व की भावना 'सर्वनाम' में ही होती है, 'अव्यय' में नहीं।

सर्वनामों के वर्गीकरण का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है; फिर भी हम इस पर आगे प्रकाश डालेंगे। येस्पर्सन के 'तीन अर्थक्रमों' की बात को भर्तृहरि 'सर्वनामों' पर किस प्रकार घटता पाते हैं, यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है। उन दोनों की धारणा में किंचित् अन्तर तो है ही, पर प्रयोजन दोनों का एक ही है।

६.६१ भारतीय दृष्टि : पाणिनि

पाणिनि ने 'सर्वादिगण' में पठित शब्दों को 'सर्वनाम' की संज्ञा दी है।[1] संस्कृत के 'सर्वादिगण' की भांति हर भाषा में कुछ ऐसे शब्द पृथक् वर्ग के रूप में गिने जा सकते हैं। अन्य भाषाओं में इस प्रकार के शब्दों की संख्या कम या अधिक भी हो सकती है। अंग्रेज़ी में 'नोबडी' (Nobody) और 'नन्' (None) की उत्पत्ति मूलत: दो विविध शब्दों से मिलकर होती मानी जाती है। संस्कृत में इनका अनुवाद 'एक' शब्द के द्वारा हो पाना सम्भव नहीं है। 'नान्य:' और 'नैक:' के रूप में शब्द-रचना करने पर भी समस्या का हल नहीं

---

१. पा० १. १. २७।

होता। ये रूप सन्धिगत ही रहेंगे। फिर संस्कृत में, इनका 'सर्वनाम' के रूप में प्रयोग बहुप्रचलित है भी नहीं। उधर, अंग्रेज़ी में ये शब्द पूर्णत: 'सर्वनाम' बन चुके हैं। पाणिनि 'सर्वनाम' को एक अर्थमूलक वर्ग मानते हैं, जिसका परिगणन वे दस सूत्रों में करते हैं।[1] इनमें से अनेक शब्द एक अर्थ में सर्वनाम, और दूसरे अर्थ में 'नाम', की तरह व्यवहृत होते हैं। स्पष्ट है कि प्रवृत्तिगत रूप में सर्वनाम और अव्यय दो पृथक् वर्ग हैं, जिन्हें केवल आकारसाम्य के बल पर ही एक न मान बैठना चाहिए। चीनी भाषा में तो सभी शब्द रूप-प्रत्यय-विहीन हैं, पर उन सबको ही 'अव्यय' नहीं मान लिया जाता।

६.६२ कात्यायन और पतंजलि

कात्यायन अपने एक वार्तिक में यह शंका उठाते हैं कि 'सर्वनाम' संज्ञा व्याकरण के नियमानुकूल ठीक नहीं है। यदि यह संज्ञा समस्त और एकीभूत पद है, तब इसे 'सर्वनाम' न होकर 'सर्वणाम' होना चाहिए[2]। पर, लोकप्रचलित रूप 'सर्वनाम' है। अत: वे इसे 'निपातन' के द्वारा स्वत:सिद्ध मानते हैं। पतंजलि भी इस बात से सहमत हैं। पर, भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उनकी युक्ति इससे भी प्रबल है। वे यह कहते हैं कि जिस प्रकार 'सर्व' और 'नाम' दो प्रकृति-शब्द हैं, उसी प्रकार 'सर्वनाम' भी एक स्वतन्त्र प्रकृतिशब्द है। इसी कारण उसमें 'णत्व' की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।[3]

आपातत: यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं लगती, किन्तु अधिक विचार पर इसका महत्त्व सामने आ जाएगा। दो प्रकृतिशब्दों के योग से मिलकर भी सन्धि-आदि के प्रभाव से बचे रहपाना इस बात को सूचित करता है कि 'सर्वनाम' में अपनी 'इकाई' की भावना होते हुए भी 'सर्व' और 'नाम' दोनों का प्रतिनिधित्व सुरक्षित है। सर्वथा पृथक् कार्य होने पर, समास के सामान्य नियम के अनुसार णत्वादि होना ही चाहिए था। घटक या उपादानरूप दोनों पूर्वोक्त शब्दों से इसका क्या सम्बन्ध है, इसे पतंजलि समझाते हैं :

क—सर्वेषां यन्नाम तत्सर्वनाम।

ख—सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। सर्वेषां नामानि चाऽतः सर्वनामानि।

ग—सर्वेषां यानि च नामानि तानि सर्वादीनि।

---

१. पा० १. १. २७ से ३६ तक।

२. महा० १. १.६. २७, वा० १।

३. वही।

घ—अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुतः एतत् ? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करण एतत्प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत (महा० १.१.६.२७)।

इन सभी वक्तव्यों से एक ही बात स्पष्ट होती है कि 'सर्वनाम' एक अन्वर्थक 'महती संज्ञा' है, जिसकी व्याख्या विविध ढंग से की जा सकती है। 'सर्वादीनि' का अर्थ एक 'गणविशेष' से भी लिया जा सकता है, सभी नामों या द्रव्यों पर प्रतिनिधि रूप में लागू होनेवाली समान शब्दराशि से भी, और ऐसी संज्ञा से भी 'जो सभी वस्तुजात के लिए समान रूप में व्यवहृत हो सके।'

६.६३ भर्तृहरि की धारणा

संज्ञा—इसी बात को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं: **'अथैवं कल्प्यते, आदीयतेऽस्मादित्यादिः ; सर्वस्मादादीयते इति सर्वादिः**[3]'। अर्थात्, 'जिसका ग्रहण सबमें से होता है, वह 'सर्वादि' है।' इसका दूसरा अर्थ वे 'गण' के रूप में भी करते हैं : **'अथवा आदिशब्दः समीपवचन इहोपात्तः। स च समुदायस्यैव सामीप्येन विशेषणं विश्वादीनामवयवानामिति समुदायस्य संज्ञयाऽनभिसंबन्धादवयवानां क्रियते। तच्चानुमीयमाना** (वही)।' यहीं वे स्पष्ट भी कर देते हैं कि 'सर्वादि' भले ही 'गण' हो, पर 'सर्वनाम' संज्ञा का प्रयोग, गुण के लिए सामूहिक रूप में न किया जाकर, उस गण के प्रत्येक अवयव के लिए भी किया जाता है। अर्थात् इस गण में आनेवाला प्रत्येक शब्द भी 'सर्वनाम' ही है।'

कार्य :—सर्वनाम के कार्य को अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :

क—अथवा नेदं संज्ञाकरणं, सर्वादीनीति नेदं सर्वादीनां नामधेयम्। किं तर्हि, भावविशेषणम्। सन्निवेशस्य विशेषणे सर्वेषां यानि गणसन्निविष्टानि।

ख—अथ कार्यसविषयाणि नामानि।

ग—सर्वेषां यन्नाम, तस्मादंगात्स्मायादयः।

घ—सर्वार्थोपग्राही प्रयुक्तः। ...सर्वनामत्वेन परिच्छिन्नानि सर्वादीनि, तान्येव सर्वनामसंज्ञां लभन्ते।

ङ—यदा तु सर्वशब्दः कस्यचिन्नामधेयत्वेनोपादीयते तदा परित्यज्य

---

१. म० त्रि०, वही।

स्वं प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूपमात्रोपकारी संज्ञाभावमनुभवतीति। स्वप्रवृत्तिनिमित्तपरित्यागोयमेतद् विशेषेऽवस्थानम्। एवं च कृत्वोक्तं कस्यैकस्यचिदिति (म० त्रि० १.१.६.२७)।

इन उद्धरणों में कही गई बातों से सर्वनाम का कार्य और कार्यक्षेत्र सूचित होता है। साथ ही, इनसे संज्ञा से उनका भेद भी स्पष्ट होता है। 'नाम' या 'संज्ञा' शब्द कार्यसविषय अथवा विशिष्ट उद्देश्य वाले होते हैं। उनका विषय या उद्देश्य द्रव्यविशेष या जातिविशेष होता है। पर सर्वनाम का सम्बन्ध किसी द्रव्य या जाति-विशेष से नहीं होता। वस्तुवाचक या वस्तुनिर्देशक दोनों ही रूपों में एक ही सर्वनाम का प्रयोग हो सकता है। दो भिन्न सर्वनाम भी वहां प्रयुक्त हो सकते हैं। पर, यह स्पष्ट रहना चाहिए कि 'सर्वनाम' का मुख्य लक्षण **सर्वार्थोपग्राही** होना है। अर्थात्, वह सीमित अर्थ या सीमा के लिए प्रयुक्त न होकर व्यापकतम सीमा के लिए प्रयुक्त होता है। 'अर्थ' का अभिप्राय यहां 'वस्तु' से ही है। जब हम सर्व, विश्व, एक, आदि शब्द कहते हैं, तब उनसे कितनी ही वस्तुओं या द्रव्यों का संकेत मिल सकता है। उनके संकेत को द्रव्य या जातिविशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत 'उत्पल'[1] और 'जोन'[2] को हम कितने ही व्यापक अर्थों में प्रयोग करें, तो भी उन्हें सर्वार्थोपग्राही नहीं कहा जा सकता। अन्ततः ये दोनों शब्द संज्ञा के रूप में ही व्यवहृत होंगे।

सब आदमी, सब काम, सब दिन, सब बातें, आदि विविध प्रयोगों में 'सब' (सर्व) का प्रयोग अबाध रूप से एक ही अर्थ में हुआ है। 'सबने सुना', 'सब कुछ किया', आदि में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। यहां 'नाम' से अन्तर स्पष्ट है। नाम अधिक सोद्देश्य और सीमित अवकाश वाले होते हैं। पर, सर्वनाम सोद्देश्य होते हुए भी अनेक नामों की जगह एक ही प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः उनका अवकाश बहुत व्यापक है। दूसरे शब्दों में, सर्वनाम सदा ही सामान्य का बोध कराते हैं, जबकि संज्ञा का कार्य सामान्य और विशेष दोनों का बोध कराना है।

६.६४ अवधेय तथ्य

पतंजलि और भर्तृहरि की इन व्याख्याओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'सर्वनाम' को केवल सामान्य संज्ञामात्र ही न समझ लेना चाहिए,

---

१. म० त्रि० १.१.६.२७।

२. दि फिला० आ०, पृ० ८३।

बल्कि यह अन्वर्थक और 'महती संज्ञा' है। इस संज्ञा का प्रयोग सोद्देश्य रूप में किया गया है। इसका प्रयोजन किसी गणविशेष की ओर इंगित करना उतना नहीं है, जितना एक ऐसे संज्ञावर्ग का पृथक् से परिगणन कराना है, जिसका प्रयोग विशिष्ट द्रव्य या जाति तक सीमित न रहकर सभी संज्ञाओं के लिए समान रूप में हो सकता है।

पर, इतने से ही यह भी सिद्ध नहीं होता कि इनका अन्तर्भाव 'नाम' के बृहत्तर वर्ग में नहीं हो सकता। 'नाम' उस बृहत्तर शब्दराशि का नाम है, जिसका उद्देश्य किसी द्रव्य या वस्तु की सत्ता या स्थिति की ओर इंगित करना है। इसे हमने 'सत्त्व' का ही अपर पर्याय स्वीकार किया है। वस्तु या द्रव्य की ओर इंगित करना ही 'सर्वनाम' का भी उद्देश्य है। अत: 'नाम' और 'सर्वनाम' में सीमाक्षेत्र का अन्तर होने पर भी, दोनों को 'नाम' के बृहत्तर वर्ग का अंग स्वीकार किया जाना चाहिए। वास्तव में अन्तर 'संज्ञा' (व्यक्तिवाचक और जातिवाचक) और 'सर्वनाम' में उनके प्रयोजनवैविध्य की दृष्टि से है। **'लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्'** का उद्देश्य केवल 'संज्ञा' पर ही घटित होता है, 'सर्वनाम' पर नहीं। इस दृष्टि से 'सर्वनाम' शब्द स्वत: एक 'संज्ञा' है। उसका कार्य-क्षेत्र सर्व, विश्व, आदि शब्दों की अपेक्षा अत्यधिक सीमित है। फिर भी, सर्वनामों द्वारा केवल उन्हीं वस्तुओं का इंगित होता है, जिनका 'नाम' के द्वारा संकेतन हो सकता है। अत: मूलत: दोनों एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् से विभाज्य नहीं हैं।

६.६५ सर्वनामों का त्रिविध प्रयोग

ऊपर येस्पर्सन के तीन अर्थ-क्रमों और भर्तृहरि द्वारा परिगणित सर्वनाम के त्रिविध प्रयोग की चर्चा हुई है। वहीं कहा गया है कि इन दोनों में परस्पर सीधा सम्बन्ध न होने पर भी तुलनात्मक दष्टि से इनमें कुछ मेल बिठाया जा सकता है। ये तीन भेद हैं: संख्याविषय, कलावद्विषय और प्रकारविषय। 'सर्व' का अर्थ 'एक-एक करके सब' (संख्या), 'सभी प्रकार के' (प्रकार), और 'सम्पूर्ण' (कोई अंश बिना छोड़े), तीनों रूप में हो सकता है। इसे ही हम पहले संख्या, प्रकार, और परिमाण के नाम से कह आए हैं। यह बात संख्याविषयक सर्वनामों पर अधिक घटती है। परन्तु, इससे यह भी पता चल जाता है कि प्राय: सभी सर्वनामों का प्रयोग किसी एक निश्चित अर्थ में होता नहीं कहा जा सकता। फिर, ये अर्थ भी एकसा महत्त्व नहीं रखते। कहा जा चुका है कि संख्या-

---

१. वा० ३. ४. ३: 'वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते'।

वाचक सर्वनामों में 'संख्यान' मुख्य विषय है, 'कलावत्ता' गौण, और 'प्रकार' गौणतर ! संकेतक और निदर्शक सर्वनामों में 'संज्ञा-संकेत' प्रधान अर्थ कहा जा सकता है, द्रव्य या जाति का 'प्रकार-संकेत' गौण, और 'संख्यान' का अर्थ गौणतर ! पर, त्रिविध प्रयोग किसी-न-किसी रूप में हर सर्वनाम का हमें मिलता ही है।

६.६६ सर्वनामों के भेद

सामान्यत: प्रमुख भेदों के रूप में व्यक्तिबोधक समुच्चयात्मक, तुलनात्मक, निदर्शक, प्रश्नवाचक, और अनिश्चित वर्गों के सर्वनामों को गिनाया जाता है। इनमें से येस्पर्सन समुच्चयात्मक और व्यक्तिबोधक वर्गों को प्रमुख स्थान देते हैं। 'समुच्चयात्मक' में तुलनात्मक या सापेक्षिक सर्वनामों का ग्रहण उन्हें अभीष्ट है।

भर्तृहरि भी सर्वनाम के दो ही भेद मानते हैं : **वस्तुमात्राभिधायी** (सर्व, विश्व, आदि) और **विशिष्टवस्तुवाची** (अन्यतर, कतर, आदि)। 'वस्तूपलक्षण' की व्याख्या में हेलाराज कहते हैं : '**इह सर्वनाम्नां द्वयी गतिः। वस्तुमात्राभिधायिन: केचिद् यथा सर्वादय:। विशिष्टवस्तुवाचकाश्चान्ये यथान्यतरादयः। तत्र पूर्वैर्द्र व्यं लक्ष्यते। ...द्वितीयमपि विशेषलक्षणमाह—भेद्यत्वेन विवक्षित इति** (प्रकीर्णप्रकाश, वा० ३.५.३)'।

इनमें से **वस्तुमात्राभिधायी** को अंग्रेज़ी व्याकरण के 'कलेक्टिव' या येस्पर्सन के 'समुच्चयबोधक' के रूप में देखा जा सकता है। 'विशिष्टवस्तुवाचक' को हम 'व्यक्तिबोधक' के समकक्ष रख सकते हैं। भर्तृहरि ने इस वर्गीकरण को एक स्थायी दार्शनिक आधार प्रदान किया है : सामान्य और विशेष के द्वारा। 'नाम' के सम्बन्ध में वैशेषिक के ये दोनों तत्त्व 'जाति' और 'व्यक्ति' के विभेद का कारण बनते हैं।

भर्तृहरि और येस्पर्सन का यह वर्गीकरण अधिक पूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि इसका आधार शब्दरचना या किसी भाषाविशेष की प्रयोगप्रवृत्ति पर नहीं है; बल्कि यह सभी भाषाओं में छिपे दो सामान्य दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन पर आधारित है। अपने दार्शनिक आधार के कारण ही यह वर्गीकरण समस्त विश्व की भाषाओं पर समान रूप से लागू हो सकता है। इसका किसी भाषाविशेष से सम्बन्ध नहीं है।

६.६७ अव्यय से अन्तर

कहा जा चुका है कि अनेक स्थलों पर अव्यय और सर्वनाम में अन्तर

मिटता दिखाई देता है। संस्कृत के **कथम्, यथा, तथा**, आदि में एवं अंग्रेज़ी के हाऊ (how), ऐज़् (as), सो (so), आदि में ऐसी ही स्थिति उपलब्ध है। अन्य भाषाओं में भी ऐसे उदाहरण खोजे जा सकते हैं। इन्हें अलग-अलग वर्ग में सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं। पर, इस अन्तर को पहचानने का सही तरीका यही है कि जिन शब्दों का प्रयोग संज्ञादि के समान स्वतन्त्र रूप में करने पर संज्ञादि के अनुरूप ही विभक्तिवचनादि का योग होता दीखता है, उन्हें सर्वनाम कहना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि ऐसा प्रत्यय-योग भौतिक रूप में सदा ही उपस्थित हो। भावात्मक रूप में इन चिह्नों या इन लक्षणों की उपस्थिति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु, जिन शब्दों के साथ भावात्मक रूप में भी यह योग सम्भव नहीं है, उन्हें 'अव्यय' ही कहना चाहिए; फिर भले ही उनके प्रत्यक्ष रूप में किसी विभक्ति-वचन का संयोग दिखाई ही दे। कारण यह कि विभक्तिवचनादि का योग शब्दों की द्रव्य-सूचकता को द्योतित करता है, जबकि 'प्रक्रिया या विधेय' की सूचना देने वाले अव्ययों में इन चिह्नों का अभाव रहता है। अतः प्रत्ययसंयुक्त होकर भी यदि कोई शब्दराशि रूपात्मक दृष्टि से 'स्थिर' हो चुकी है, तब उसे 'अव्यय' कहना ही अधिक उचित होगा।

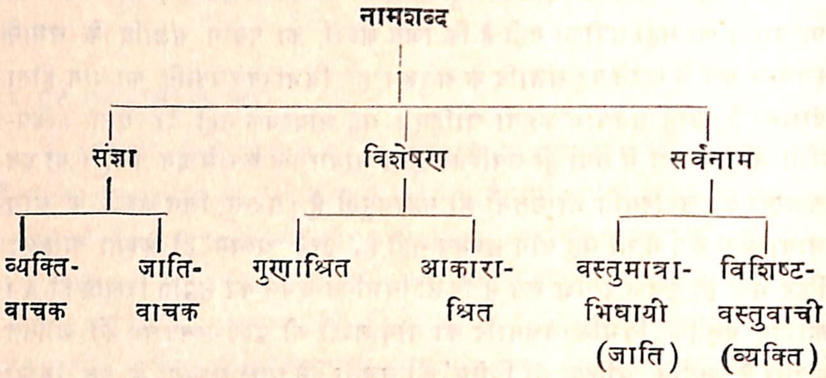
उदाहरणार्थ, 'कैसे' और 'कैसा' के पर्यायवाचक शब्दों को ही लेलें। कैसे, कथम्, हाऊ (how), आदि शब्द किसी प्रक्रिया के बारे में सूचना माँगते हैं। प्रक्रिया लिंगविभक्तिहीन है। अतः इन शब्दों के रूप को देखकर प्रत्यय की खोज के कार्य में नहीं बढ़ना चाहिए। वह खोज पूरी होने पर भी प्रयोजनहीन रहेगी। परन्तु दूसरी ओर, कीदृक्, कैसा, आदि द्वारा द्रव्य के विषय में सूचना मांगी गई है। अतः ऐसे स्थानों पर 'प्रातिपदिक' के रूप में समान इकाई खोज लेने पर भी उक्त दोनों कोटियों को अलग-अलग मानना ही उचित है। यही कारण है कि कैसा-कैसी, कीदृक्-कीदृशी, में लिंगादि के योग को देखा जा सकता है।

अतः 'सर्वनाम' की सबसे बड़ी शर्त उसकी द्रव्य से सम्बद्धता कही जा सकती है, चाहे वह 'सामान्य' रूप में हो या 'विशेष' रूप में। और इस प्रकार, यह 'नामशब्दों का ही एक भेद सिद्ध होता है; क्योंकि वे भी द्रव्य-सम्बद्ध ही होते हैं।

६.६८ उपसंहार

अन्ततः हम कह सकते हैं कि 'नामशब्दों' के मुख्य भेद या वर्ग हैं :

व्यक्तिसंज्ञा, जातिसंज्ञा, विशेषण, और सर्वनाम। इनमें से पहले दोनों का क्षेत्र परस्पर उलझता है। अतः उन्हें 'संज्ञा' के एक वर्ग में भी रखा जा सकता है। इस प्रकार भर्तृहरि के अनुसार अन्तिम चित्र कुछ इस प्रकार होगा :



पर मूलतः संज्ञा, विशेषण, और सर्वनाम एक ही स्वभाव और धर्म के हैं। वे द्रव्यों के अभिधायी हैं। इसीलिए उन्हें 'नाम' या 'सत्त्व' के बृहद्-वर्ग में, उसके ही अवान्तर भेदों के रूप में, रखना ही उचित है।

———

आख्यात और क्रिया

७.१ नाम और आख्यात में अन्तर :

नाम और आख्यात की चर्चा दो पदभेदों के रूप में करते हुए, पिछले अध्यायों में हम कह आए हैं कि उनमें मुख्य अन्तर **तिङन्त-सुबन्त** जैसा आकृतिमूलकमात्र नहीं है। न ही वह 'करना' या 'होना' जैसी समानार्थक अपिवा समानाधिकरण स्थिति और उसके अभाव पर ही आश्रित है। बल्कि, उनमें मुख्य अन्तर क्रमवत्ता और क्रमहीनता पर आधारित है। अर्थात्, 'नामशब्द' सत्ता की उस स्थिति को सूचित करते हैं, जिसमें परिवर्त्तमान क्रमिकता या प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। उन शब्दों के द्वारा किसी भी रूप में यह बोध नहीं होता कि प्रक्रिया अभी चालू है। इसके विपरीत 'क्रियाशब्दों' की विशेषता ही यह स्वीकार की गई है कि वे जिस स्थिति या भावना का परिचय देते हैं, उसमें क्रमवत्ता अथवा क्रमिकता की भावना प्रधानतया निहित रहती है।

७.२ सामूहिकता और क्रमवत्ता :

इस प्रसंग में भर्तृहरि के ये शब्द विचारणीय हैं :

आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते ।। वा० ३.८.१ ।।
आश्रितक्रमरूपत्वादभिधानं प्रवर्त्तते ।। वा० ३.८.३ ।।
गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।। वा० ३.८.४ ।।
सामान्यभूता सा पूर्वं भागशः प्रविभज्यते ।। वा० ३.८.३८ ।।
इन्द्रियैरन्यथा प्राप्तौ भेदांशोपनिपातिभिः ।
अलातचक्रवद् रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते ।। वा० ३.८.३८ ।।

इन थोड़े से उद्धरणों में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भर्तृहरि क्रिया की पूर्णता या उसकी सत्ता में तीन तत्त्वों की उपस्थिति पर बल देते हैं। ये तीन तत्त्व हैं : **क्रमवत्ता, सामूहिकता,** और **भागवत्ता**। 'क्रमवत्ता' का अर्थ स्पष्ट है : क्रिया की व्यापकतर उपलब्धि में भाग लेने वाले छोटे-छोटे अंशों की व्यवस्थापूर्वक या

उत्तरोत्तर परिवर्त्तमान स्थिति। 'पढ़ता है', 'करता है', आदि शब्दों के उच्चारण से हमारे सामने झटिति वैसे ही समग्र और एक चित्र का आविर्भाव नहीं होता, जैसे चित्र का 'राम', 'आदमी', आदि शब्दों से होता है। इन दोनों उदाहरणों में भी एक समानता खोजी जा सकती है : 'भाग' की उपलब्धि दोनों स्थानों पर सम्भव है। पर, क्रम की स्थिति इससे भिन्न है। भागों की सत्ता द्रव्यशब्दों या नामशब्दों में भी रह सकती है, और क्रियाशब्दों में भी। पर जब **'नामशब्दाः प्रवर्त्तन्ते संहरन्त इव क्रमम्'**[1] कहा जाता है, और **'क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति कथ्यते'**[2] के द्वारा उसी उसी वक्तव्य को दुहराया जाता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों की एक कोटि में भागवत्ता होने पर भी क्रम नहीं रहता। पर, दूसरी कोटि में भागवत्ता के साथ ही क्रमवत्ता अथवा क्रमिकता की स्थिति भी रहती है। इस क्रमिकता को हम 'उत्तरोत्तर विकासशीलता' भी कह सकते हैं। अर्थात्, कोई भी क्रिया, स्वयं में एक सिद्ध सत्य या वस्तु न होकर, 'होने' या 'करने' की स्थिति में ही पूर्ण होती है। यह 'होना' या 'करना' कालक्रम पर आधारित होता है। 'काल' पर आधारित होने से इसकी निष्पत्ति **भागशः** होती है; क्योंकि किसी एक क्षण में हो रही क्रिया बृहत्तर क्रिया का अंश ही कही जा सकती है। स्वतः उसे सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

क्रियाभेद से व्यवस्था में भी भेद आ जाता है। एक ही क्रिया यदि काल-भेद से घटित हो, तब भी व्यज्यमान उसके अंशों या भागों की पूर्वापर व्यवस्था में अन्तर आ जाता है। इसपर भी सत्य यही ठहरता है कि किसी क्रिया के भाग या चरण क्रमरूप में आविर्भूत होकर ही किसी एक 'सत्ता' या 'भावना' का पूरा चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इनमें क्रम चाहे एक निश्चित व्यवस्था में हो या न हो, उसकी विद्यमानता से निषेध नहीं किया जा सकता।

७.३ आख्यात, धातु और क्रिया

निरुक्तकार ने 'आख्यात' को 'नाम' के समकक्ष ही पदभेद मानते हुए, उस की व्याख्या इस प्रकार की है : **भावप्रधानमाख्यातम्**[3]। अर्थात्, 'भाव-प्रधान' शब्द-राशि 'आख्यात' कही जाती है। यहां 'आख्यात' से उनका अभिप्राय 'धातु' से है या 'क्रिया' से, यह बात विवादास्पद नहीं है। किन्तु, पाणिनि के **'भूवादयो धातवः**[4]**'** की व्याख्या में पतंजलि ने **'क्रियावचनो धातुः'** और **'भाववचनो धातुः'** कहा है[5]।

---

१. वा० ३. ८. ३०।
२. वा० ३. १. ३५।
३. नि० १. १. १. १।
४. पा० १. ३. १।
५. वही, महा० टीका।

ग्रारम्भ में वे इन दोनों व्याख्याग्रों को संभावना मात्र ही मानकर चले हैं। किन्तु, बाद में वे दोनों को ही स्वीकार कर लेते हैं। इससे यह ग्रनुमान सहज हो सकता है कि यास्क का 'ग्राख्यात' ग्रौर पाणिनि का 'धातु' एक ही ग्रर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु, ग्रागे चलकर पतंजलि 'धातुनिश्चय' के जिस प्रकार को स्वीकार करते हैं, उससे यह पता चलता है कि वे मूल 'धातु' ग्रौर उसके सप्रत्यय 'क्रियारूप' ग्रौर 'कृदन्तरूप' में पर्याप्त ग्रन्तर स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में, तिङन्तरूप ग्रौर कृदन्तरूप व्यावहारिक हैं, जबकि धातुरूप ग्रनुमानाश्रित मात्र हैं। यह ग्रन्तर हम बाद में स्पष्ट करेंगे।

७.४ भाव : क्रम

यहां मुख्य विषय यह है कि ग्राकारतः जिसे 'तिङन्त ग्रौर कृदन्त' एवं व्यवहारतः' जिसे 'क्रिया' कहते हैं, उसे ही निरुक्तकार ग्रौर पतंजलि की दृष्टि में 'भाववचन' कहा जा सकता है या नहीं? 'भाव' की व्याख्या पतंजलि ने इस प्रकार की है: '(क) **भवतेः स्वपदार्थो भवनं भाव इति**, (ख) **भवतीति भावः**, (ग) **भाव्यते यः सः भाव, इति**।' ग्रर्थात्, 'होना', 'होने वाला' ग्रौर 'कालान्तर में साध्य'—ये तीन ग्रर्थ 'भाव' के हैं। पतंजलि ने ये तीनों ही लक्षण 'क्रिया' पर घटित होते माने हैं। इसी ग्रर्थ में भाव-प्रधानता को ध्यान में रखकर सम्भवतः कात्यायन ने **'ग्रस्तिभवतिविद्यतीनां धातुत्वम्'** के रूप में धातु के स्वरूप को समझाना चाहा था[1]। कहा गया है कि यहां उनका उद्देश्य केवल 'ग्रस्, भू, ग्रौर विद्' धातुग्रों के परिगणन का रहा है। पर, सत्य यह है कि क्रियावचन ग्रौर भाववचन की व्याख्या के बीच में ग्राने वाला यह वार्त्तिक स्पष्ट करता है कि 'भाव' का ग्रर्थ क्रिया के 'साध्यमान', होनेवाले, या 'सत्तामात्र' के ग्रस्तित्व से ही नहीं है, बल्कि व्यापकतर ग्रर्थों में वह सत्ता, भाव, ग्रौर विद्यमानता—तीनों—बातों को स्वयं में ग्रन्तर्हित करता है। इसी बात को 'शब्दकौस्तुभ' ग्रौर 'वैयाकरणभूषणसार' में 'कृञोऽर्थः यत्न इष्यते' ग्रादि के रूप में कहा गया है।

७.५ भाव-संख्या

परन्तु यह बात ग्रपूर्ण ही रहेगी, यदि यह स्पष्ट न किया जाए कि निरुक्तकार ग्रौर पतंजलि ने भावों की संख्या छह मानी है। भर्तृहरि भी इसी बात को दोहराते हैं[2]। निरुक्त ग्रौर महाभाष्य की एक उक्ति समान है: **'षड्भाव-**

१. पा० १, ३. १, वा० १.।

२. वा० १. ३, ग्रादि।

विकारा इति ह स्माह भगवान्वार्ष्यायणिः, जायतेऽस्तिविपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति[१]। स्पष्ट है कि यहां 'भाव'का अर्थ केवल 'भू' धातुके मूलार्थ तक सीमित नहीं है। किसी क्रिया की सत्ता की विविध स्थितियां ही 'भाव' कहलाती हैं, जिसे छह रूप में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यह छह भावविकार एक ही सत्ता की छह विविध स्थितियों के सूचक ठहरते हैं। स्पष्ट है कि क्रिया 'द्रव्य' की भांति 'स्थिर' सी नहीं दिखाई देती। वह प्रवर्त्तमान क्रम की एक स्थिति या प्रक्रिया है। उसकी स्थिति काल-क्षणों के व्यवधान के साथ बदलती रहती है। 'वह जनमा', 'वह बड़ा हुआ', 'वह वन को गया', और 'वह मर गया' में 'वह' शब्द अपरिवर्त्तनीय है। पर, इसके साथ जुड़े क्रियाशब्द विभिन्न स्थितियों को सूचित करते हैं। ये स्थितियां यदि उसी 'वह' से सम्बद्ध हैं, तब स्वभावतः एक इतिहास में घटित नहीं हो सकती। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति या द्रव्य से सम्बद्ध क्रिया-स्थितियां एक ही क्षण में—**युगपत्**—होनी असम्भव हैं, उसी प्रकार उस एक क्रिया के विविध **चरण** या उसकी विविध क्षण-स्थितियां एक ही क्षण में अथवा युगपत् होनी असम्भव हैं। स्पष्ट है कि उनकी सम्भावना विविध काल-क्षणों में ही हो सकती है। ये विविध चरण ही '**भाव**' कहलाते हैं। इनके निष्पादन में काल का व्यवधान आ जाता है। इसे ही स्पष्ट करते हुए पतंजलि ने कहा था : **अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः कालाः व्यज्यन्ते। अस्त्यादिभिश्चापि भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते** (महा० पा० १.३.१.१)।

७.६ क्षणविशेष और क्रम :

स्पष्ट है कि जब हम 'है' या 'हो रहा है' के अर्थ में कोई आख्यात या 'क्रिया' प्रयोग करते हैं, उस समय हमें उससे पूर्व या पश्चात् की स्थिति-सम्भावना का निषेध अभीष्ट नहीं होता। प्रत्युत, हमें एक क्षणविशेष की स्थिति को उस शब्दविशेष से पकड़ना अभीष्ट होता है। सत्य यह है कि हम किसी भी क्रिया-शब्द का प्रयोग करें, या उसका शाब्दिक अर्थ किसी भी क्षणविशेष की स्थिति को व्यक्त और ध्वनित करता दिखाई दे, वहां क्रिया तब भी विविध चरणों में बँटकर अथवा उनसे संयुक्त होकर प्रयुक्त हो रही होती है। 'वह खाता है' आदि में एक क्षणविशेष को पकड़ने का कितना ही यत्न हम करें, उसके द्वारा एक ऐसी 'प्रक्रिया' सामने आती है, जिसके अनेक चरण होते हैं, और जिसके निष्पादन में अनेक क्षणस्थितियों का योगदान होता है। 'पढ़ता है' में पुस्तक उठाने से

---

१. नि० १. १. १. २ और महा० १. ३. १. १।

लेकर, उसे रख कर उठ जाने तक की सभी प्रक्रिया सम्मिलित है। 'खा चुका' भी एक क्षणविशेष की बात नहीं है। भोजन की समाप्ति के पूर्व से लेकर खाने के बाद तक की सारी स्थितियां इस एक ही शब्द के द्वारा ध्वनित हो जाती हैं। 'काल' का ग्रहण स्पष्टतः एक ही 'क्रिया' के विविध चरणों की सम्भावना को स्वीकार करता है। इन चरणों की ही सूचना उक्त छह भावों के रूप में देने का यत्न किया गया है। भर्तृहरि के शब्दों में :

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥ वा० १.३॥
सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते।
क्रमेण शक्तिभिस्ताभिरेवं प्रत्यवभासते॥ वा० ३.१.३६॥

अर्थात्, 'भावभेद का उद्भव जन्मादि छह विकारों से ही होता है। उनका आश्रय 'काल' पर होता है। इन छह विकारों के रूप में 'जाति' या 'सत्ता' ही छह भाव-विकारों को प्राप्त होती है।'

'काल' का यह अन्तर्ग्रहण ही 'क्रम' की भावना को जन्म देता है। जब एक ही क्षण में छहों स्थितियां सम्भव नहीं हैं, तब स्पष्ट है कि वे एक-एक करके ही होंगी। इसे ही 'क्रमशः होना' कहा गया है :

आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्याः यत्रेदं कालदर्शनम्।
पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम्॥ वा० ३.१.३७॥
क्रमो हि धर्मः कालस्य॥ वा० २.५०॥
क्रिया तु योगपद्येऽपि क्रमरूपानुपातिनी॥ वा० २.४६५॥

अर्थात्, 'पूर्वापरभाव जैसी स्थिति को 'क्रम' कहते हैं। यह क्रम काल का धर्म है। 'क्रिया' चाहे सुनने में 'युगपत्' घटित होने वाली लगे, तब भी 'क्रम' की स्थिति उसमें रहती ही है।' परन्तु, पौर्वापर्य और क्रम का अर्थ यह भी नहीं है कि किसी विशेष क्रिया में किसी विशेष क्रम से कुछ घटनाएं होती हैं। जब क्रम को 'काल का धर्म' कहते हैं, तब उसका अर्थ केवल इतना बताना होना है कि समय के साथ-साथ कुछ घटनाएं आगे-पीछे के क्रम में घटित होती हैं। काल की भिन्नता से हर बार सम्पादित होने वाली क्रिया में घटित क्रम की भिन्नता रह सकती है।

७.७ समूहवृत्ति

क्रम की सत्ता स्वीकार करते ही हम क्रिया की सम्पन्नता में बहुत से

अंशों या भागों की विद्यमानता स्वीकार कर लेते हैं, फिर भले ही इनकी सूचना हमें 'क्रिया' शब्द के उच्चारण से न भी मिले :

प्रक्षालनं शरावाणां स्थालीनां मार्जनं तथा ।
अनुक्तमपि रूपेण भुज्यङ्गत्वात् प्रतीयते ।। वा० २.३१३ ।।

'खाना क्रिया में शरावों का धोना, थाली मांजना, आदि भी सम्मिलित होते हैं; यद्यपि क्रिया के शाब्दिक रूप में ऐसा कुछ नहीं है।' खाना समाप्ति के निकट होने पर भी 'खा चुके' कह ही दिया जाता है। यद्यपि अर्थ-दृष्टि से उसकी सत्ता अभी कुछ क्षण बाद ही आनी थी।

इसके विपरीत वह स्थिति होती है, जहां हम क्रिया में समवेत सभी भागों को न लेकर उसके एक अंशमात्र को ही ग्रहण करना चाहते हैं। यथा, 'दौड़ना' क्रिया में शरीर की गतिमत्ता, हाथों का उठा या मुड़ा होना, आगे झुकना, तेज़ सांस लेना, कदमों का उठना-गिरना, आदि सभी कुछ समवेत होता है। पर सामान्यत: इस क्रिया के प्रयोग पर हम कदमों में तेज़ी से उठने गिरने की ही बात लेते-समझते हैं। कई प्रयोगों में, इसके विपरीत, यह होता है कि किसी विशेष भाग या क्रियांश का तो अभिप्राय नहीं रहता, पर सबका समवेत और सामान्य रूप अवश्य अभिधेय रहता है। 'सोना' क्रिया में लेटना, आंख बन्द करना, हल्की सांस लेना या खुर्राटे भरना, चादर ओढ़ना, आदि सभी क्रियाएं अंश रूप में सम्मिलित हैं। पर, उनमें से कोई एक अंश सबका प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। इसीलिए सबका मिला-जुला रूप ही 'सोना' के रूप में सामने आता है। इन विविध भागों में से किसी एक के अनुपस्थित रहने पर भी सबसे मिल-जुलकर सामान्य रूप ग्रहण करने वाली इस सामान्य भावदशा को ही हम 'सोना' कह देते हैं। भर्तृहरि के शब्दों में :

क्वचित्क्रिया व्यक्तिभागैरुपकारे प्रवर्त्तते ।
सामान्यभाग एवास्याः क्वचिदर्थस्य साधकः ।। वा० २.४५९ ।

इस भाग-सामान्यता के कारण ही भर्तृहरि 'क्रिया' को 'जाति' कहते हैं : **'प्राप्त-क्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते'**[1]। क्रियासमुद्देश के श्लोक २० से २४ तक अनेक रूपों में—**'जातिमन्ये क्रियामाहुः'**,[2] **'जातिः सैव क्रिया स्मृता'**,[3] **'बुद्धिं तज्जातिम्'**,[4] आदि द्वारा—क्रिया के जातिरूप या उसकी सामान्य सत्ता की ओर अनेक रूप में भर्तृहरि इंगित करते हैं। इसी भागाश्रित सामूहिकता के विषय में वे फिर कहते हैं :

---

१. वा० ३. १. ३५ ।
२. वा० ३. ८. २१ ।
३. वा० ३. ८. २२ ।
४. वा० ३. ८.२५ ।

यथा च भागाः पचतेरुदकासेचनादयः ।
उदकासेचनादीनां ज्ञेया भागास्तथापरे ।। वा० ३.८.६ ।।
सामान्यभूता सा पूर्वं भागशः प्रविभज्यते ।
ततो व्यापाररूपेण साध्येव व्यवतिष्ठते ।। वा० ३.८.३८ ।।
इन्द्रियैरन्यथाप्राप्तौ भेदांशोपनिपातिभिः ।
अलातचक्रवद् रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते ।। वा० ३.८.८ ।।

अर्थात्, 'जब क्रिया 'पकाना' है, तब उदक-आसेचन, स्थाली-पाचन, आदि उसके भाग हैं। पर, जब 'उदक-आसेचन' ही 'क्रिया' बन जाती है, तब उसके भागों के रूप में अन्य अंश प्रमुख हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक भागों में बटी हुई क्रिया ही सबके समवेत-सामान्य रूप से अपना रूप ग्रहण करती है। वह सामान्य रूप ही साध्य हो जाता है। यदि हम इन भागों को 'क्रिया' कहना आरम्भ कर दें, तब यह हमारी भ्रान्ति होगी। 'अग्निवर्षी फिरकी' या 'अलातचक्र' में पूर्णता क्रिया की आवृत्ति और तीव्रता में है। पर, हम उसकी गति के एक अंश को 'चक्र' कह कर किसी प्रयोजन को नहीं पा सकते।' इसीलिए क्रिया की सामूहिक वृत्ति को घोषित करते हुए भर्तृहरि ने कहा कि "क्रिया भाग-समूह का नाम है। वह समूह हर क्रिया में भिन्न-भिन्न भागों का हो सकता है। यह भेद मूलतः काल-भेद पर ही आधारित रहता है" :

समूहः स तथाभूतः प्रतिभेदंसमूहिषु ।
समाप्यते ततो भेदे कालभेदस्य सम्भवः ।। वा० ३.८.५ ।।

और, "इसके अवयव या भाग गौण होते हैं। उनके समूह से ही क्रमजन्मा क्रियाओं का जन्म होता है। किन्तु, बुद्धि में हम उसे अभेद रूप में 'एक' समझ कर 'क्रिया' कह देते हैं" :

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।। वा० ३.८.४ ।।

७.८ भाव क्या है ?

पीछे पतंजलि द्वारा कथित 'भाव' की तीन व्याख्याएं दी गई हैं : **'भवनं भावः, भवतीति भावः, भाव्यते इति भावः'**[1]। तीनों ही परिभाषाएं जिस अर्थ को इंगित करती हैं, उसे नितान्त उसी रूप में 'भाव' नहीं कह सकते, जिस रूप में छह भावविकारों की गणना की गई है। इससे अधिक उचित यह कथन होगा कि

---

१. यही अध्याय अनु० ७.४।

'छह भाव-विकार स्वतः भाव न होकर, अन्ततः 'भाव' के विकारमात्र ही हैं : उनकी विविध दशाएं मात्र'। भाव और क्रिया में अन्तर समझाते हुए भर्तृहरि कहते हैं :

कालानुपाति यद् रूपं तदस्तीति प्रतीयते ।

परितस्तु परिच्छिन्नं भाव इत्येव कथ्यते ॥ वा० ३.८.१२ ॥

अर्थात्, 'काल के साथ सीमित-सा प्रतीत होने वाला रूप 'अस्ति' द्वारा क्रिया के रूप में ज्ञात होता है। पर, वही रूप चारों ओर से कालहीन सा लगता हुआ 'भाव' कहलाता है।'

इसकी व्याख्या में हेलाराज कहते हैं : '**तदेवमाख्यातानियतकालाऽस्ति-क्रिया प्रतीयते । सैव च सत्ता नामपदात् सिद्धतया प्रतीयते भाव इति । अपूर्वा-परो हि भावः शब्दशक्त्यनुरोधात् तिङन्तेनासादितपूर्वापरोऽभिधीयते पचतीति । कृता तु सिद्धरूपः पाक इति ।**' अर्थात्, 'आख्यात का तिङन्त रूप काल की सूचना देने के कारण 'अस्ति' आदि क्रियाओं से सूचित होता है। 'तिङ्' आदि का विभाग है ही कालानुपाती ! 'सत्ता' रूप में वही बात, नामपद के रूप में, 'भाव' कहलाने लगती है। 'भाव' के रूप में स्थित होने पर उसमें क्रम या पूर्वापर की बात नहीं रहती। किन्तु, तिङ्-प्रत्ययों का योग इस पूर्वापर-भावना को उसमें समाहित कर देता है। इसके विपरीत कृत्-प्रत्ययों का योग सिद्धावस्था के सूचक 'पाक' आदि संज्ञारूपों को जन्म देता है।'

इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि 'भाव' रूप में या उसके अर्थ में 'धातु' ही रह सकती है, आख्यातरूप या तिङन्तरूप 'क्रिया' नहीं। '**भावप्रधानमाख्यातम्**' का अर्थ भी यही बैठता है कि 'जहां धातु का अपना अर्थ ही मुख्य है (यथा, 'भू' का भवनं, भवति, भाव्यते, आदि में)' तथा जब उसमें काल का अनुबन्ध समवेत नहीं होता, उस स्थिति को ही, 'भाव' कहते हैं।' उस स्थिति में धातु ही रह सकती है, आख्यात नहीं। धातु का मूल अर्थ ही 'भाव' है। उस मूल अर्थ को वह न करने वाला और उसकी प्रधानता से युक्त रूप ही 'आख्यात' (तिङन्त) कहलाता है। इसी बात को भर्तृहरि कहते हैं :

भाव एव हि धात्वर्थ इत्यविच्छिन्न आगमः ॥ वा० ३.८.२४ ॥

प्रत्यस्तरूपां भावेषु क्रियेति प्रतिजानते ॥ वा० ३.८.२५ ॥

जायमानान्न जन्मान्यद् विनाशेऽप्यपदार्थता ।

अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते ॥ वा० ३.८.२८ ॥

अर्थात्, 'धातु का मूल अर्थ ही भाव होता है। इन मूल भावों में ही

'क्रिया' छिपी रहती है। भावविकारों के व्यर्थ के बाह्यभेद को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि छहों विकारों में एक ही 'सत्ता' विद्यमान रहती है। सब कुछ मिट जाने पर भी यह 'भाव' विद्यमान रहता है।'

स्पष्ट है कि पतंजलि द्वारा कथित 'भाव' की तीनों परिभाषाएं इसी में समा जाती हैं।

७.९ 'स्थिति' से अन्तर

विविध भावविकारों की चर्चा करते हुए, पतंजलि ने एक प्रश्न उठाया है: **'सर्वथा 'स्थित' इत्यत्र धातुसंज्ञा न प्राप्नोति। बाह्यो ह्येतेभ्यस्तिष्ठतिः। एवं तर्हि क्रियायाः क्रिया निर्वर्त्तिका भवति। द्रव्यं द्रव्यस्य निवर्त्तकं भवति।... स्थित इत्युक्ते वर्धतेश्चापक्षीयतेश्च निवृत्तिर्भवति**[1]।' अर्थात्, "'स्थिति' तो भाव है नहीं, क्योंकि वह इन छह भावविकारों में नहीं है। अतः किसी द्रव्य को 'स्थित' कहने से क्रिया की प्रतीति न होगी।... पर होता यह है कि जब हम 'स्थितः' के द्वारा किसी अवस्थाविशेष की सूचना देते हैं, तब 'वर्द्धते', 'अपक्षीयते', आदि की स्थिति नहीं रहती।...इस प्रकार जब दो या चार क्रियाओं के प्रयोग की सम्भावना को कोई अन्य प्रयोग मिटा देता है, तब ऐसे उस प्रयोग को 'क्रिया' ही कहते हैं। अर्थात्' 'क्रिया' किसी वाक्य में एक ही रह सकती है, अन्य प्रयोग 'क्रिया' नहीं कहला सकते।"

स्थिति की बात को भर्तृहरि इस प्रकार समझाते हैं:

> **ताभ्यां सर्वप्रवृत्तीनामभेदेनोपसंग्रहः।**
> **जन्मैवाश्रितसारूप्यं स्थितिरित्यभिधीयते ॥ वा० ३.८.२७ ॥**

अर्थात्, 'जन्म और विनाश का व्यवहार लौकिक दृष्टि से ही उचित कहा जा सकता हैं। अन्यथा, ये दोनों ही कल्पित स्थितियां मात्र हैं, सत्य नहीं।' 'स्थिति' को, जन्म से मिलती-जुलती होने के कारण, उसी के समरूप रखा जा सकता है। पर, 'जन्म' एक कल्पित भाव है, जो 'आविर्भाव' का अपर पर्याय माना गया है।[2] अतः 'स्थिति' भी एक कल्पित दशा या 'भावविकार' ही है, जो जन्म के अधिक अनुरूप है। जब हम 'भाव' कहते हैं, तब उससे, आविर्भाव-तिरोभाव ही नहीं, बल्कि छहों भाव-विकारों का ग्रहण हो जाता है। पर, 'स्थिति' के द्वारा केवल एक ही—जन्मसदृश—भाव का संकेत होता है। इसीलिए यास्क से लेकर भर्तृहरि तक

---

१. महा० १. ३- १. १।

२. वा० ३. ८. २६, २९।

सबने ही क्रियारूपों या आख्यातों को 'भावप्रधान' घोषित किया[1]।

७.१० क्रियावचनो धातु

तब प्रश्न उठता है, पतंजलि ने **'क्रियावचनो धातुः'** क्यों कहा[2] ? जब 'भाव' शब्द सत्ता या मूलभावना को सूचित करने वाला शब्द है, तब उसे क्रिया के तुल्य कैसे माना जा सकता है ?

यहां आरम्भ में ही यह संकेत दे देना अभीष्ट होगा कि जिस प्रकार 'भू' धातु का भाववाचक रूप, कृदन्त 'घञ्' के द्वारा', 'भाव' के रूप में सिद्ध हुआ है, उसी प्रकार 'क्रिया' शब्द का उद्‌गम भी 'कृ' धातु में कृदन्त के योग द्वारा ही हुआ है। अर्थात्, प्रकृति-प्रत्यय की दृष्टि से 'भाव' और 'क्रिया' दोनों ही शब्द कृदन्त रूप हैं : 'भू सत्तायाम्' और 'कृ करणे' के अर्थों में। अतः उन दोनों के मूल अर्थों में भी वही मूलार्थगत अन्तर विद्यमान है। पतंजलि इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में कहते हैं : 'भाव' को उन्होंने 'भवति' के द्वारा कहा है, और 'क्रिया' को वे 'करोति' के द्वारा स्पष्ट करते हैं। उनके शब्दों में :

"का पुनः क्रिया ? ईहा। का पुनरीहा ? चेष्टा। का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः। कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पचादय इति। यदेषां करोतिना समानाधिकरणम्। किं करोति ? पचति। किं करिष्यति ? पक्ष्यति।"[3]

अर्थात्, "क्रिया नाम है इच्छा का। इच्छा को ही चेष्टा भी कह सकते हैं। और, चेष्टा का अर्थ है 'व्यापार'। 'पकाना' आदि को 'क्रियावचन' इसलिए कहते हैं कि इसका सम्बन्ध क्रिया से है। 'क्या करता है ?' का उत्तर 'पकाता है', एवं 'क्या करेगा ?' का उत्तर 'पकाएगा' इत्यादि होता है।"

स्पष्ट है कि इस व्याख्या में पतंजलि 'धातु' की एक दूसरी दृष्टि से व्याख्या कर रहे हैं। दोनों व्याख्याओं में अन्तर्विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। पहली के अनुसार धातु के प्रयुक्त या तिङन्त रूप जिस स्थिति का आभास देते हैं, कर्त्ता द्वारा किए जाने के कारण या उस द्वारा कृत होने के कारण, उसे 'क्रियावचन' कहते हैं। दूसरी के अनुसार धातु से अपनी ही भावना प्रधानतः अभिहित होने के कारण उसे 'भावप्रधान' कहा गया है। पर, इससे भी सरल व्याख्या वह है, जिसके द्वारा 'भाव' को '**भवति**' से और 'क्रिया' को '**करोति**' से समझाया जाता है। इसे हम संक्षेप में कह सकते हैं : **'भवतीति भावः, करोतीति क्रिया।'**

---

१. तुल० कौण्ड भट्ट, वै० भू० सा०, धात्वर्थनिर्णय, का० २।

२. महा० १. ३. १. १, वा० ४।

३. वही, वा० ४ की व्याख्या।

पर, आगे चलकर पतंजलि इन दोनों में भी समन्वय का प्रयास करते हैं। कारण यह है कि कुछ क्रियाएं ऐसी हैं, जिनसे 'किं करोति' का उत्तर नहीं मिलता। इसलिए पतंजति को कहना पड़ा : **'अथ यद्येव क्रियावचनो धातुरित्येष पक्षोऽथापि भाववचनो धातुः**[1]।' यहां पतंजलि एक शंका उठाते हैं : 'इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति की भी सम्भावना हो सकती है— **'अस्ति'** की। 'है' के रूप में उत्तर न तो **'भवति'** के योग में मिलता है, न **'करोति'** के योग में। पर, 'क्रिया' फिर भी 'अस्ति' है, क्योंकि 'क्रिया' की परिभाषा में 'काल' को प्रमुख लक्षण माना गया है। वह लक्षण **'भवति'** में भी है, **'करोति'** में भी : 'भाव' में भी और 'क्रिया' में भी। 'अस्ति' में काल का संयोग तो है ही; भले ही वह वर्त्तमान काल का ही हो। अतः क्रिया के वर्ग में वह भी आती ही है, भले ही उसका ग्रहण 'भवति' और 'करोति' के अन्तर्गत न होता हो। पतंजलि के शब्दों में : **"स्थित इत्युक्ते वर्धतेश्चापक्षीयतेश्च निवृत्तिर्भवति। अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः काला व्यज्यन्ते। अस्त्यादिभिश्च भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः काला व्यज्यन्ते। अथवा नान्यत्पृष्टेनान्यदाख्येयम्। तेन न भविष्यति किं करोति, अस्तीति**[2]।" अर्थात्, "'स्थितिः' स्वयं क्रिया का द्योतक है। 'अस्ति', उसी वर्ग में—स्थिति के वर्ग में—आता है। (स्वपिति आदि की गणना भी इसी वर्ग में होती है।) ऐसे प्रयोगों से काल की सूचना भी मिलती है। यह क्रिया का मुख्यलक्षण है। अतः ऐसे शब्द 'करोति' या 'भवति' की पकड़ में आते हैं या नहीं ?, यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।"

७.११ वास्तविक समस्या और उत्तर

यहां हमने देखा कि धातु की परिभाषा दो रूप में की गई है। उसे 'भाववचन' और 'क्रियावचन' साथ-साथ ही कहा गया है। इन दोनों का सम्बन्ध क्रमशः **'भू'** और **'कृ'** धातुओं से है। परन्तु, भर्तृहरि और हेलाराज यहां **'सत्त्ववचनो धातुः'** की ओर ध्यान दिलाकर कहते हैं कि यद्यपि भाव और सत्त्व में अन्तर नहीं है, फिर भी सत्ता और सत्त्व की स्थिति पूर्वोक्त दोनों ही शब्दों से भिन्न है। जब 'क्रिया' को 'सत्ता' का ही अपर पर्याय घोषित कर दिया गया, तब इतना कहने में कठिनाई क्या शेष रह जाती है कि हम धातु को 'सत्त्ववचन' भी स्वीकार कर लें। इसका अभिप्राय **'सत्त्वभावस्तु यद्यन्यः स**

---

१. वही।
२. वही।

घञादिनिबन्धनः[1]" जैसे उद्धरणों से स्पष्ट हो सकेगा ।

'सत्त्व' की व्युत्पत्ति **'अस्'** धातु से है। अतः इसे या सत्ता को भी क्रिया और भाव के समकक्ष मानने का अर्थ होगा, तीन स्थितियों और तीन ही मूल धातुओं को स्वीकार करना। ये धातुएं और स्थितियां हैं : **अस्ति** (अस्), **भवति** (भू), और **करोति** (कृ)। यह अचानक संयोग की बात नहीं है कि संस्कृत, हिन्दी, और तत्सम भारोपीय भाषाओं में अस्, भू और कृ की समानार्थक धातुओं को ही मूल भाव या सहायक धातु (सहायक क्रिया) के रूप में स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ :

संस्कृत में :—एधामास (अस्), एधाम्बभूव (भू), एधांचक्रे (कृ), आदि में।

हिन्दी में :—खाता हूं (है), खा रहा होता है (होता), और खाया करता हैं (करता है), के रूप में।

अंग्रेज़ी में :—हैव डन (हैव), हैव बीन डूइंग (बी), और 'डज़् हि गो' (डू), आदि में।

सहायक धातुओं की यह धारणा संस्कृत में **'कृभ्वस्तियोग'** कहलाती है। स्पष्ट है कि संस्कृत वैयाकरण इस तथ्य के प्रति पूरी तरह जागरूक थे। 'लुट्' लकार भी संस्कृत में इसी आधार पर 'लकार' रूप में सिद्ध माना गया है, क्योंकि उसमें भी प्रत्यक्षतः कृदन्त रूप के साथ 'अस्' का प्रयोग सहायक रूप में हुआ दीखता है।

७.१२ सार्वनामिका क्रिया

इन्हीं सत्यों को भर्तृहरि अधिक स्पष्टता के साथ कहते हैं। क्रिया के प्रसंग में उनके वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है : "सत्ता ही सब क्रियाभेदों, व्यापारभेदों, या भावभेदों में समवायी या सर्वरूपा होकर स्थित है। सामान्यतः उसे ही 'क्रिया' कह दिया जाता है। उसी का एक रूप 'साध्य' है, दूसरा 'सिद्ध'। एक को तिङ् के योग के कारण 'आख्यात' कह दिया जाता है, और दूसरे को घञादि कृदन्तों के योग से 'सत्त्वभाव' कह दिया जाता है। पर, साध्य-साधन (सिद्ध) का विभाग शास्त्रीय परिकल्पनामात्र है। व्यावहारिक रूप में न इसकी उपयोगिता है और न सार्थकता। जितना ही महत्त्व और कियारूपता 'साध्य-भाव' (तिङन्त रूप) को उपलभ्य है, उतना ही 'सत्त्वभाव' (कृदन्तरूप) को भी

---

१. वा० ३. ८. ४८।

है[1]।" आगे चलकर भर्तृहरि 'पक्तिः' और 'पचति' की मूलगत एकता को स्पष्ट घोषित करते हैं। वा० ३.८.१२ की टीका में हेलाराज सम्भवतः भर्तृहरि की ही एक लुप्तकारिका उद्धृत करते हैं :

अभिन्नां चैव भिन्नां च प्राहुः कृभ्वस्तयः क्रियाम्।
एकानेकविशेषस्था यथाहुः सार्वनामिकाः।।

अर्थात्, 'अन्य धातु के रूप के साथ मिलकर, उससे अभिन्न, अथवा स्वतन्त्रावस्था में सर्वथा भिन्न अर्थ को वहन करने वाली, कृ, भू, और अस् धातुएं विविध दशाओं में विविध अर्थों को धारण करती हुई 'सर्वनाम क्रिया' या 'सर्वक्रिया' जैसा रूप धारण कर लेती हैं।' येस्पर्सन ने तो मज़ाक में कहा था : 'तब तो प्रोनाउन् के अनुकरण पर प्रो-वर्ब, प्रोएड्-वर्ब, प्रोएड्जैक्टिव्, आदि की भी कल्पना करनी पड़ेगी।' पर, भर्तृहरि ने कितनी संजीदगी से 'सार्वनामिका क्रिया' की सत्ता को स्वीकार कर लिया है। और, यह बात येस्पर्सन से लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व की है।

७.१३ धातु और क्रिया

यहां तक के प्रकरण में यद्यपि क्रिया और धातु शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है, पर उन्हें अधिकांशतः समान अर्थों में ही प्रयोग किया गया है। परन्तु, प्रश्न यह है कि यदि 'जाति' अथवा 'सामान्य' किसी क्रियारूप में से केवल 'धात्वर्थ' का ही कथन करते हैं, तब क्रिया और धातु में क्या अन्तर है ?

धात्वर्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि का निम्न वक्तव्य विचारणीय है :

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।। वा० ३.१.३४।।
भाव एव हि धात्वर्थ इत्यविच्छिन्न आगमः।। वा० ३.८.२४।।

और, पतंजलि कहते हैं : **'धातुरेव क्रियामाहेति। प्रकृत्यर्थोऽन्यश्चान्यश्च प्रत्ययार्थः स एव। प्रत्ययार्थोऽन्यश्चान्यश्च भवति, प्रकृत्यर्थः स एव।[2]"**

इसका अर्थ हुआ कि जिसे हम भाव कहते हैं, वही धातु का अर्थ है। प्रयोगावस्था में प्रकृति के अर्थ से शेषार्थ को सामान्यतः प्रत्ययार्थ मान लिया जाता है। यहाँ 'प्रकृति' का अर्थ 'धातु' से है। 'भाव' धातु की भी प्रकृति है। सामान्य क्रियारूपों में प्रकृति 'धातु' को ही कहा जाएगा। उसका अर्थ कितना है और शेष प्रत्यय का कितना, इसका निश्चय कैसे किया जाए ? इस प्रश्न का उत्तर पतंजलि स्वयं देते हैं :

---

१. वा० ३-८-२३, २४, ३६, ४६, ४७, ५३, ६३-४, आदि।
२. महा० पा० १.३.१, वा०६; तुल०—वैया० भू० सा०, धात्वर्थनिर्णय।

"कथं पुनर्ज्ञायतेऽयं प्रकृत्यर्थोऽयं प्रत्ययार्थ इति। अन्वयाच्च व्यतिरेकाच्च। कोऽसावन्वयो व्यतिरेको वा ? इह पचतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते। पच्शब्दश्चकारान्तोऽतिशब्दश्च प्रत्ययः। अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते; विक्लित्तिः कर्तृत्वमेकत्वं च। पठतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। पच्शब्दो हीयते, पठशब्द उपजायते, अतिशब्दोऽन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। विक्लित्तिर्हीयते, पठिक्रियोपजायते, कर्तृत्वमेकत्वं चान्वयी। तन्मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थो योऽर्थो हीयते, यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयी' (म० १.३.१.१ वा० ६ की व्याख्या)।

अर्थात्, 'प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ पृथक् से पहचानने की विधि क्या है ? अन्वय और व्यतिरेक से इसे जाना जाता है। 'पचति' शब्द कहने पर 'पच्' और 'अति' के रूप में दो शब्द-भाग, एवं 'पकाना' तथा 'एकत्व और कर्तृत्व' के रूप में अर्थ के दो भाग, पाए जाते हैं। 'पठति' कहने पर 'पच्' के स्थान पर 'पठ्' के आने से 'पकाना' अर्थ और 'पच्' शब्द कम होकर 'पठ्' शब्द और 'पढ़ना' अर्थ अधिक आजाते हैं। इस पर भी, 'अति' का अंश और कर्तृत्व और एकत्व का अर्थ यहां भी अनुकृत हुआ है। इससे पता चला कि जो अर्थ छूट गया, वह छूटे हुए शब्दांश का अर्थ था, और जो उभयत्र समान है वह शेष शब्दांश का ही अर्थ है।' इसमें बदलने वाली वस्तु ही 'धातु' या प्रकृति कहलाती है; सर्वत्र एकसा अनुकृत होने से प्रत्यय 'अन्वयी' है। प्रकृति के रूपान्तरण या परिवर्त्तन से ही अर्थ में या क्रिया में तत्त्वतः अन्तर आता है।'

'धातु' और 'धात्वर्थ' के इस प्रसंग को समझने के बाद यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जिन शब्दरूपों को हम **'आख्यात'** या **'क्रिया'** कहते हैं, वे धातु और प्रत्यय के समवेत रूप हैं। उनमें 'धात्वर्थ' से अधिक भी कुछ है। मूल **'धात्वर्थ'** को ही **'भाववचन'** या **'क्रियावचन'** कहा गया है। इससे शेष अर्थ को ही **'प्रत्ययार्थ'** कहा जाता है। इस प्रत्ययार्थ से हमें **काल, वचन, संख्या, व्यक्ति सम्बन्ध,** आदि की सूचना मिलती है (तु०, वै० भू० सार की कारिका २)। इस प्रकार 'क्रियारूप' या 'आख्यात' केवल 'धात्वर्थ की सूचना न देकर बहुत कुछ ऐसी सूचना देता है, जिससे मूल धात्वर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं होता। पर, इस सब को समवेत रूप में व्यवहारतः 'क्रिया' और 'क्रियार्थ' कह देते हैं।

७.१४ भट्टोजी और कौण्ड भट्ट

भट्टोजि दीक्षित ने 'वाक्यपदीय' का अनुसरण करते हुए अपने 'शब्द-

कौस्तुभ' में इस पर पर्याप्त विचार किया है। उसे ही समवेत और समर्थ रूप में कौण्डभट्ट ने अपने 'वैयाकरण भूषण' और 'वैयाकरणभूषणसार' के 'धात्वर्थनिर्णय' के प्रसंग में अधिक स्पष्ट किया है। 'सार' की दूसरी कारिका उनके विवेचन का ग्राधार है। इसके ग्रनुसार किसी भी क्रिया रूप में :—

(i) **फल या भावना 'धातु का ग्रर्थ' (धात्वर्थ) कहे जा सकते हैं;**

(ii) **'तिङ्' या प्रत्ययों का ग्रर्थ विशेषक या कर्तृकर्म-पुरुष-कालादि की फलव्यतिरिक्त सूचना देता है।**

और, (iii) **'धातु' और 'तिङ्' के योग से जो क्रियारूप बनता है, उससे सूचित ग्रर्थ को 'व्यापार' कहते हैं।**

इसके बाद की कारिकाग्रों में वे इतना और स्पष्ट करते हैं कि 'क्रिया' का मूल ग्राधार 'कृञ्' धातु या 'करण' (करना) के ग्रर्थ पर है। यह 'कृञोऽर्थः' 'धातु' में रहता है, 'तिङ्' में, ग्रथवा 'क्रियारूप' में? इसकी विस्तृत विवेचना के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'कृञ्' का ग्रर्थ 'धात्वंश' में ही रहता है; यद्यपि उसकी ग्रभिव्यक्ति 'क्रियारूप' या 'ग्राख्यातरूप' से ही सम्भव हो पाती है।

७.१५ भर्तृहरि : क्रिया

भाषा की इस प्रधान समस्या के ग्राते ही भर्तृहरि की मान्यता का प्रश्न ग्रा जाता है। उन्होंने इस प्रश्न पर वैज्ञानिक सूक्ष्मता से विचार किया है और 'क्रिया', 'धातु' और 'ग्राख्यात' के ग्रन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पाणिनि के **'उपसर्गाः क्रियायोगे'**[1] और **'क्रियार्थायां क्रियायाम्'**[2] में ग्राए 'क्रिया' के प्रयोग और पतंजलि के **'क्रियावचनो धातुः'** में उसके प्रयोग से वे परिचित होकर भी सन्तुष्ट नहीं है। उन्हें 'धातु' का ग्रन्वय-व्यतिरेकजन्य रूप पूरी तरह पता है, और वे पाणिनि के **'ग्रर्थवदधातु'**[3] में ग्राए 'धातु' के महत्त्व से भी भलीभांति परिचित हैं। फिर, पाणिनि के 'तिङ्' और 'ग्राख्यात' प्रयोगों की व्यावहारिक उपयोगिता का भी उन्हें ज्ञान है। पर, वे इनके कार्यों के विविक्त निश्चय को महत्त्व देते हैं।

---

१. पा० १. ४. ४६।

२. पा० ३. ४. १०।

३. पा० १. २. ४५।

'धातु' को उन्होंने स्पष्ट ही ग्राख्यात, क्रियारूप, या तिङन्त से पृथक् माना है। उदाहरणार्थ— **'तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च'**,[1] **'भाव एव हि धात्वर्थः'**,[2] **'धात्वादीनां विशुद्धोऽर्थः'**,[3] ग्रादि में वे स्पष्टतः 'धातु' को कल्पित मूल-रूप मात्र मान रहे हैं। साथ ही वे, इसे व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी भी नहीं मानते। भले ही समझने-समझाने में उसकी उपयोगिता ग्रन्वय-व्यतिरेक द्वारा स्वीकार कर ली जाए।

'ग्राख्यात' ग्रौर 'क्रिया' को वे निश्चित रूप से विवेच्य स्थितियां मानते हैं। 'तिङ्' या 'धातु-प्रत्यय' के जुड़ने के बाद जो रूप सामने ग्राता है, उसे व्याकरण की सामान्य दृष्टि में 'तिङन्त' रूप कह दिया जाता है। ग्रंग्रेज़ी व्याकरण में इसे ही 'वर्बफार्म' (Verbform) कह दिया जाता है। वस्तुतः 'वर्ब' ग्रौर 'वर्बफार्म' में कोई ग्रन्तर नहीं है। इसी का संस्कृत पर्याय 'तिङन्त' कहा जा सकता है। 'तिङन्त' नाम रूपात्मक है, ग्रौर 'ग्राख्यात' नाम सार्थक। दोनों एक ही रूप को इंगित करते हैं। भर्तृहरि इसे 'ग्राख्यात' ही कहते हैं। ऐसा कहते हुए उन्हें पूरी तरह यह ध्यान है कि 'ग्राख्यात' एक वाक्य में एकाधिक भी प्रयुक्त हो सकते हैं।[4] वे यह भी जानते हैं कि उनमें से वाक्यार्थ की दृष्टि से प्रधानता किसी एक को ही प्राप्त होती है।[5] उन्हें यह भी ज्ञात है कि प्रत्यक्ष दीखने वाले ग्राख्यात या तिङन्त रूप का उपयोग कृदन्त या विशेषण शब्दों की जगह भी हो सकता है[6]।

एक ही तिङन्त को प्रधानता क्यों प्राप्त होती है? इस बात को जान लेना ग्रावश्यक है। 'वाक् की इकाई' की चर्चा में हमने ग्रन्यत्र लिखा है कि वाक्य की एकता कार्य की एकता पर निर्भर करती है।[7] वाक्य की कल्पना ही कार्य की एकता से जन्म लेती है। कार्य की इस एकता की सूचना ही उस वाक्य में प्रयुक्त क्रियापद ग्रथवा क्रियाभावना से मिलती है। वस्तुतः क्रियापद के रूप में कोई पद प्रयुक्त हो या न हो, ग्रथवा ऐसा शब्द एक हो या उससे ग्रधिक, मूलतः वह उस कार्य या प्रयोजन की सूचना देता है, जिसे हम उस वाक्य की 'मूल प्रेरणा' कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, स्वयं क्रियापद की उपस्थिति वाक्य की एकता के लिए उतनी ग्रनिवार्य नहीं है, जितनी कि भावनारूप क्रिया की। इस क्रिया की सूचना पदरूप में मिले या न मिले, ग्रथवा एक पद से मिले या दूसरे से,

---

१. वा० ३. १. ३४।
२. वा० ३. ८. २४।
३. वा० २. २१०।
४. वा० २. ४४४, ४४६।
५. वा० ३. ८. १५।
६. वा० ३. ८. ५२।
७. लेखक, भाषा० वाक्य०, पृ० ८०-८३ एवं २०३-६ तक।

इसकी उपस्थिति से ही वाक्य की एकता की भावना जन्म लेती है। प्रत्ययों का रूप और महत्त्व गौण है। चीनी भाषा में तिङ् जैसे धातुसंयोगी प्रत्यय नहीं होते। फिर भी क्रिया की अभिव्यक्ति वहां भी होती ही है। क्रिया के मुख्य उपादान काल, पुरुष, संख्या, आदि की सूचना वहां भी मिल ही जाती है। भर्तृहरि 'चरितक्रिय' अथवा 'चरितक्रियापद' वाक्यों की चर्चा करते हैं[1]। ऐसे स्थलों पर क्रियापदों का प्रयोग न होने पर भी प्रसंग, अध्याहार, आदि से उनकी सूचना मिल ही जाती है।

७.१६ क्रियैक्य : संख्यासीमा

वस्तुत: सारा वाक्य—या वक्तव्य—इस 'क्रिया' पर ही निर्भर करता है। 'राम पढ़ता है' और 'वह अपने परिवार का जीवन-स्तर ऊंचा उठाने के लिए दिनरात पढ़ रहा है' में क्रमश: 'पढ़ता है' और 'पढ़ रहा है' क्रियापद हैं। 'राम' और 'वह' पदों से व्यक्त क्रिया के कर्त्ता हैं। दूसरे वाक्य में, 'अपने परिवार का जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए दिनरात' शब्द न भी होते, तब भी वाक्य स्वत: पूर्ण था। पर, इनके होने पर भी वह पूर्ण ही है। 'पढ़ता है' क्रिया का योग अनेक कर्त्ताओं के साथ होने पर भी, सर्वत्र 'क्रिया' (पढ़ता है) एक ही रहती है; केवल कर्त्ता ही बदलता है।

ऐसी क्रियाओं की संख्या असीमित हो सकती है। उनकी संख्यासीमा मानव की प्रगति और उसकी सामर्थ्य-सीमा के संकोच और विस्तार पर निर्भर करती है। क्रिया का निष्पादक 'कर्त्ता' कहलाता है। क्रिया कर्त्ता का 'साध्य' कही जा सकती है। एक ही कर्त्ता अनेक क्रियाएं कर सकता है, और करता भी है। जैसे, राम नहाता भी है, कपड़े भी पहनता है, और पाठशाला भी जाता है। क्रियाओं की भिन्नता और संख्या इससे भी अधिक हो सकती है। इनमें से कई क्रियाएं एक-दूसरे के साथ-साथ होती भी प्रतीत होती हैं। नहाना, कपड़े पहनना, जाना, आदि उक्त क्रियाएं एक ही व्यक्ति क्रमश: साथ-साथ ही कर सकता है। ऊपर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई भी क्रिया स्वत: एकाकी और अन्य क्रियाओं से अछूती और अमिश्रित नहीं रह सकती। क्रियाओं में भाग या अंश की उपस्थिति की बात भी पहले कही जा चुकी है। जिस तरह इन विविध अंशों के योग से एक क्रिया बनती है, उसी तरह विविध क्रियास्थितियों में भी एक ही स्थिति मुख्य और शेष गौण रहती हैं।

---

१. वा० २. ३२६, आदि।

इन सब उदाहरणों का प्रयोजन यह समझाना है कि व्यक्ति कभी भी एक ही **निश्चित और विशिष्ट** क्रिया नहीं करता। वह एक **क्रियापुंज** के रूप में ही किसी क्रिया का निष्पादन करता है। पर, साथ ही यह भी स्पष्ट करना अभीष्ट है कि वही व्यक्ति कालान्तर में इस प्रकार के दो या चार क्रियापुंज भी साथ-साथ सम्पादित कर सकता है। ऊपर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ये क्रियापुंज ही विशिष्ट क्रियाओं के रूप में सामने आते हैं। इस प्रकार, एक ही कर्त्ता कई क्रियाओं को सम्पादित कर सकता है।

प्रश्न यह है कि क्या ऐसे कर्त्ता द्वारा सम्पन्न की जाने वाली विशिष्ट क्रिया एक ही हो सकती है, या स्वल्प अन्तर से की जाने वाली कई अन्य क्रियाएं भी उसके द्वारा एकसाथ सम्पादित सी कही जा सकती हैं ? उदाहरणार्थ, 'राम खाता है, हाथ धोता है, कपड़े पहनता है और जाता है' में राम' के साथ इन अनेक क्रियाओं की सम्भावना उचित है या नहीं ? निश्चय ही यह स्थिति असम्भव नहीं है। इसे इसी तरह व्यक्त भी किया जाता है।

पर, अधिक विवेचन करने पर हम पाएंगे कि ये सब क्रियाएं एक साथ या युगपत् नहीं हो रही होतीं। ऐसी क्रियाएं, जिन्हें कर्त्ता एक साथ करता दीखता है, किसी न किसी प्रकार पूर्वापर क्रम से जुड़ी रहती हैं। इन्हें जिस क्रम से कहा गया है, उसी क्रम से सम्पादित भी किया गया है। यदि पलट कर हम इस प्रकार कहना चाहें कि 'राम जाता है, खाता है, पहनता है और हाथ धोता है', तब पहले कहे वाक्य से इस वाक्य का अर्थ सर्वथा भिन्न हो जाता है। अब यह पहले से पृथक् और भिन्न वाक्य तो हो ही गया, साथ ही इसका उद्देश्य भी भिन्न हो गया। मूलतः इन्हीं क्रियाओं के रहने पर भी एक और सर्वथा नया वाक्य सामने आता है : 'राम हाथ धोता है, खाता है, जाता है, और कपड़े पहनता है।'

७.१७ प्रमुख प्रश्न

स्पष्टतः इन तीनों वाक्यों में क्रियाएं प्रत्यक्ष में एक समान रहने पर भी इनसे भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। पहले वाक्य में राम के 'जाने' की भावना प्रधान रहती है, दूसरे में 'हाथ धोने की', और तीसरे में 'कपड़े पहनने' की। तीनों वाक्यों में तथाकथित क्रियाएं एक समान रहने पर भी तीनों का का प्रयोजन स्पष्टतः भिन्न-भिन्न रहा है। यहीं से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच ये क्रियाएं अनेक और समान हैं ? और, क्या वस्तुतः ये 'क्रियाएं' हैं ? यह भी, कि क्या उनकी अभिव्यक्ति का एकमात्र उपाय यही है ?

७.१८ वस्तुस्थिति : अनेकता नहीं

इन वाक्यों में सबसे पूर्व यह बात हमारे सामने आती है कि प्रत्यक्षत: इन सभी वाक्यों में एक ही सी दीखने वाली क्रियाएं विद्यमान हैं। अर्थात्, कर्त्ता को प्रत्यक्षत: तीनों स्थितियों में एक सी ही क्रियाएं करनी पड़ती हैं। फिर भी सब वाक्यों में इनका क्रम बदला हुआ है। वास्तविकता यह है कि यह परिवर्त्तित क्रम ही सारी स्थिति को बदल डालता है। इस 'क्रम' के द्वारा ही श्रोता कर्त्ता द्वारा निष्पादन के महत्त्व को समझ सकता है। श्रोता समझ जाता है कि पहले वाक्य में कर्त्ता ने पूर्वापर भाव से भिन्न क्रियाएं की थीं, और अन्यों में अन्य क्रम से। वह यह भी स्पष्ट पहचान लेता है कि प्रथम में कर्त्ता की उपलब्धि कुछ भिन्न रही थी, जबकि दूसरे और तीसरे में क्रमश: उससे कुछ और भिन्न रही थी। प्रमुख प्रभाव श्रोता के मन पर इस उपलब्धि का ही पड़ता है। अन्य क्रियाएं इस 'उपलब्धि' या 'क्रिया' के निष्पादन में ही सहायक होती हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि तीनों जगह उपलब्धियां भिन्न होने से, क्रियाओं की 'प्रमुखता' और 'सहायकता' (गौणता) में तीनों जगह अन्तर है। यद्यपि किसी वाक्यविशेष में निष्पादित होने वाली क्रिया के चरणों या प्रयोगों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, तब भी यह तो निश्चित है कि उन सभी प्रयोगों में से प्रधानता या 'फलसम्पन्नता' किसी एक को ही प्राप्त होती है। शेष सब क्रियाएं सहायक या 'गौण' ही कहलाती हैं। उन्हें हम 'तदाश्रित' या 'प्रधानक्रियाश्रित' भी कह सकते हैं: इन्हें हम 'पूर्वक्रम' भी कह सकते हैं; इसलिए कि मुख्य प्रभाव में सहायता प्रदान करने के कारण वे प्रधान क्रिया से पूर्व ही घटित होती हैं।

७.१९ क्रिया : स्वातन्त्र्य

यह भी यहीं से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्षत: पृथक्-पृथक् दीखने वाली ये क्रियाएं स्वतन्त्र नहीं हैं। 'आकार' में प्रधान क्रियापद के समान होते हुए भी ये कार्य या प्रयोजन की दृष्टि से उससे सर्वथा भिन्न हैं। आकार की दृष्टि से इन्हें क्रियापद कहा जा सकता है, पर प्रयोजन की दृष्टि से 'क्रिया' वही कहलाएगी, जो वाक्य के फल की सूचना देगी। अत: फलनिष्पादन की सूचना न देने वाली क्रियापदराशि को 'क्रिया' नहीं कहा जा सकेगा। सामान्य क्रियापदों को ही संस्कृत में 'आख्यात' या 'तिङन्त' कह दिया जाता है। अंग्रेज़ी व्याकरण में इन्हें ही 'वर्ब या वर्बफार्म' कहते हैं। पर, जिस प्रकार 'खाया जाता है' और 'वुड हैव बीन' (would have been) आदि में भिन्न क्रियापदों के समुच्चय से भी एक ही प्रभाव

या क्रिया की सृष्टि होती है, उसी प्रकार पूर्वोक्त वाक्यों में प्रयुक्त क्रियापद भिन्न होकर भी एक ही संयुक्त प्रभाव की, प्रधान क्रिया के रूप में, सृष्टि करते हैं। प्राय: ऐसा प्रभाव अन्तिम क्रियापद से ही संभव होता है। भाषाभेद से यह स्थिति भिन्न भी होती है। पर, इस सत्य में भाषाभेद से भी कोई अन्तर नहीं आता कि किसी वाक्य में 'क्रिया' उसे ही कहते हैं, जो वाक्य के फल या प्रभाव का कथन करती है। इस दृष्टि से यह भी सिद्ध हुआ कि महज़ 'तिङन्त', 'क्रियारूप' या प्रत्ययसंयोग ही किसी पद को 'क्रिया' कहलाने का अधिकारी नहीं बना देता। बल्कि, क्रिया होने के लिए आवश्यक और अनिवार्य शर्त समस्त वाक्य की परिणामभावना या फलभावना को माना जाना चाहिए।

७.२० तीसरा प्रश्न

यह 'अभिव्यक्ति' और उसके 'माध्यम' से सम्बन्ध रखता है। यहां तक हमने उन पद-स्थितियों की चर्चा की है, जहां प्रमुख क्रियापद और प्रयुक्त आख्यातपदों में आकारगत अन्तर विद्यमान नहीं होता। परन्तु, हम पहले स्पष्ट कर आए हैं कि 'कृदन्तों' में से अनेक प्रत्यय ऐसे हैं, जो तिङन्तों के स्थान पर प्रयुक्त होकर कालादि की सूचना भी प्रदान करते हैं। कालादि की इस सूचना में पूर्वापर क्रम की इस भावना को कदाचित् 'कृत्' प्रत्यय अधिक पूर्णता के साथ सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ, ऊपर कहे वाक्य को ही कृदन्त प्रयोग के साथ इस प्रकार कहा जा सकता है: 'राम खाकर, हाथ धोकर और कपड़े पहनकर जाता है'। यहां 'जाता है' के अतिरिक्त सभी तथाकथित क्रियापदों के साथ कृदन्त 'कर' या 'करके' प्रत्यय जुड़ा हुआ है, जो संस्कृत के 'त्वा' का समानस्थानीय होकर भी वस्तुतः 'कृत्वा' का समानार्थक और स्थानीय है। अंग्रेज़ी में 'आफ्टर' (after) जैसे प्रेपोज़िशन के द्वारा यही कार्य किया जाता है। इससे यह सूचना स्पष्टत: मिल जाती है कि मुख्य क्रियापद से सूचित कार्य की अपेक्षा अन्य सभी कार्य पहले निष्पन्न हो चुके हैं। इस में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि 'कर' या 'त्वा' से युक्त यहां तीन शब्द हैं। उनमें से किसे प्रथम और किसे परवर्त्ती क्रिया का द्योतक माना जाए ? इसका उत्तर 'उच्चारणक्रम के अनुसार' के रूप में दिया जा सकता है। अर्थात्, जिस क्रम से इन क्रियापदों को उच्चारण किया जाता है, उसी क्रम से इनका घटनाक्रम भी समझा जाता है। दूसरे शब्दों में, ये कृदन्त प्रत्यय मुख्य क्रिया की अपेक्षा तुलनात्मक स्थिति को ही नहीं बताते, बल्कि कृदन्त शब्दों में पारस्परिक क्रम को भी ये सूचित करते हैं। स्पष्ट है कि इनके द्वारा भी किसी 'क्रिया' की सूचना तो मिलती ही है, भले ही वह भूतकालिक हो या भविष्यत्का-

लिक। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वाक्य में 'कर्त्ता की साधना' से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये 'क्रियाएं' मुख्य क्रिया के निष्पादन या फलागम में सहायक-मात्र होती हैं। स्वत: ये 'साध्य' न होने से 'क्रिया' नहीं कही जा सकतीं।

इससे यह भ्रम भी न हो जाना चाहिए कि मुख्य क्रिया के लिए 'कृदन्त' रूपों का प्रयोग नहीं हो सकता। यहां उक्त विवेचन का अभिप्राय केवल यह बताना था कि क्रियारूपों में पूर्वापर क्रम को बताने की बात 'कृदन्त' के द्वारा भी सिद्ध हो सकती है। 'कृदन्तों' में भी ऐसे शब्दरूप हैं, जिनके द्वारा मुख्य क्रिया की सूचना मिल सकती है। गत:, कृतम्, आदि संस्कृत में, और गया, किया, आदि हिन्दी में, ऐसे ही कृदन्त रूप हैं, जो सामान्य क्रियारूपों की तरह ही काल आदि की सूचना देते हैं, और मुख्य क्रिया को द्योतित करते हैं। पर, इनमें 'तिङन्त' क्रिया-रूपों से यह भिन्नता है कि इनके साथ लिंगादि का योग रहता है। इन्हें 'तिङन्तों' से भिन्न सिद्ध करने वाली दूसरी विशेषता है : इनमें 'पुरुष' तत्त्व का अभाव। इस कारण इन रूपों को 'क्रियारूप' कहकर भी 'आख्यात' का नाम नहीं दिया जा सकता।

७.२१ कृदन्त की स्थिति

संस्कृत एवं भारोपीय आर्यभाषाओं में कृदन्तों की स्थिति 'क्रिया' और 'संज्ञा' के बीच की मानी गई है। इसका कारण सम्भवत: यही है कि वे क्रिया के रूप में प्रयुक्त होकर भी 'तिङन्त' या 'आख्यात' नहीं कहे जा सकते। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ी और हिन्दी में बहुत से कृदन्त प्रयोगों को सामान्य 'तिङन्त' रूपों से अभिन्न स्वीकार कर लिया गया है। 'गया, खाया, (हिन्दी), वैंण्ट, आस्कड, फ्लडड् (अंग्रेज़ी)', आदि में क्रमश: 'आ', 'ड' 'ट' आदि प्रत्यय मूल संस्कृत 'क्त' (कृदन्त) के समरूप ही हैं। इनका मूल तथाकथित भारोपीय भाषा से ही आया होगा। इन्हें हिन्दी और अंग्रेज़ी में क्रमश: सामान्य क्रियारूप ही स्वीकार कर लिया गया है। पर, 'गया है', 'गया था', आदि प्रयोगों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम हिन्दी में अभी तक भी ये रूप कृदन्त के रूप ही व्यवहार में आते हैं, और उसी रूप में स्वीकार भी किये जाने चाहिएं। अन्य भाषाओं में भी इससे मिलती-जुलती स्थिति संभव हो सकती है। संस्कृत और कुछ अन्य भाषाओं में 'तिङन्त' और 'कृदन्त' का भेद इतना स्पष्ट है कि 'कृदन्त' के बाद लगने वाले 'सुप्' या संज्ञा-प्रत्ययों के कारण इस सब शब्दराशि को 'सुबन्त' के वर्ग में रख दिया जाता है। बहुत से कृदन्त रूप संस्कृत में ऐसे भी हैं, जिन्हें अव्यय के वर्ग में गिना जाता है; क्योंकि इनका एक ही अविकृत रूप प्रयुक्त मिलता है। इस सत्य पर विचार हम पहले कर आए हैं।

'कर्त्तुम्' के रूप में जिस क्रियारूप को संस्कृत में 'अव्यय' माना जा चुका है, वैदिक में उसी के विवध रूप 'कर्त्तवै', 'कर्त्तवे', 'कर्त्तोः', आदि के रूप में देखने को मिलते हैं। 'क्रियार्था किया[१]' के लिए प्रयोग होने पर भी तथाकथित 'तुमुन्' के प्रयोगों की यह भिन्नता, उसे 'अव्यय' से भिन्न किसी कोटि में ही रखती है। पाणिनि अव्यय और आख्यात से भिन्न ऐसी शब्दराशि को ही प्रातिपदिक के वर्ग में रखते हैं।[२] बल्कि, उनका 'प्रातिपदिक' नाम सामान्य 'संज्ञा' से होने वाले भ्रम की संभावना को भी दूर कर देता है।

७.२२ वास्तविकता और भर्तृहरि

इस सब विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि क्रिया एक वाक्य में एक ही हो सकती है; फिर वह चाहे तिङ्-सदृश प्रत्ययों से युक्त हो, कृदन्त प्रत्ययों से, या फिर अप्रत्यय ही प्रयुक्त हो। क्रिया के अतिरिक्त प्रयुक्त अन्य धातुरूपों को 'आख्यात' नाम देना ही उचित है, यदि वे मुख्य फल की प्राप्ति की सूचना नहीं देते। केवल आख्यात या तिङन्त होने के कारण ही उन्हें 'क्रिया' कहना अनुचित है। इस सम्बन्ध में हम भर्तृहरि के निष्कर्षों को निम्न रूपमें देख सकते हैं :

(क) सामान्यतः 'क्रिया' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा किसी सत्य की साध्यावस्था वर्णित की जाती है। इस साध्यावस्था की पूर्णता या अपूर्णता का वर्णन वहां मूलतः अभिप्रेत नहीं होता। मुख्य होती है, 'क्रमशः सम्पन्नता की भावना[3]'।

(ख) यह क्रिया कई चरणों या खण्डों के समूह से निष्पन्न होती है। ये 'क्रियांश' स्वतः गौण होते हैं। एक दूसरे से उत्तरोत्तर होने पर भी इनमें परस्पर अभेद-बुद्धि जग जाती है। यही बुद्धि 'क्रिया' है[४]।

(ग) एक क्रिया में हम जिन्हें 'भाग' या 'अंश' मानते हैं, उनके भी 'क्रियारूप' ग्रहण करने पर उतने ही अन्तर्वर्त्ती अन्य भाग उनमें भी स्पष्ट हो जाते हैं[५]।

(घ) तिङन्त रूप अनेक होने पर भी वाक्य में एक ही क्रिया प्रधान रह सकती है। 'क्रिया' कहते ही उसे हैं, जिसका फल बाद में परिपाक को प्राप्त होता है : अनन्तर=अन्तरहित हो कर।[६] जिन तिङन्त

---

१. वा० ३. ४. १०।
२. वा० १. २. ४५।
३. वा० ३. ८. २१।
४. वा० ३. ८. ४।
५. वा० ३. ८. ६।
६. वा० ३. ८. १५।

पदों से वाक्य की 'फलभावना' स्पष्ट न होती हो, उन्हें 'आख्यात' या 'क्रियापद' कहा जा सकता है, 'क्रिया' नहीं।

(ङ) कुछ लोग विशिष्ट क्रियाभागों में स्थित या उपलभ्य सामान्य सत्ता या जाति को ही 'क्रिया' मानते हैं। व्यष्टि या विशिष्ट रूप में उसका निष्पादन अभीष्ट नहीं रहता। पर जातिरूप में वही साध्य प्रतीत होती है।[1]

(च) सामान्यतः साध्यता के इस अर्थ को कहने वाले शब्दरूप को 'आख्यात' कहते हैं।[2]

(छ) क्रिया अविभाज्यतः एक ही होती है। पहले इसकी प्रतीति खण्डशः होती है, पर अन्ततः यह उपलब्धि समग्र और एक ही 'साध्य सत्ता' के रूप में होती है।[3]

(ज) एक ही धातु 'साध्यावस्था' में तिङादि प्रत्ययों से युक्त होकर 'क्रिया' बन जाती है, जबकि वही 'सिद्धावस्था' को प्राप्त होकर अन्य कृदन्त प्रत्ययों से युक्त होती हुई 'सत्त्वभाव' की वाचक बन जाती है।[4]

७.२३ सामान्य निष्कर्ष

भर्तृहरि के क्रियासम्बन्धी उन निष्कर्षों को, जो सभी विश्वभाषाओं पर समान रूप से लागू हो सकते हैं, इस प्रकार कहा जा सकता है :

(क) वाक्य की एकता 'फल की एकता' पर निर्भर करती है। यह एकता 'क्रिया' द्वारा व्यक्त की जाती है।

(ख) साध्यावस्था का ही नाम 'क्रिया' है। वाक्य में इस साध्यावस्था या क्रिया के सूचक पद को ही 'क्रिया' कह दिया जाता है। यह अवस्था 'क्रम' पर निर्भर होती है।

(ग) साध्यावस्था को जब कई पद सूचित करते हों, तब भी उनमें से 'फल' या 'कार्य' की भावना किसी एक के साथ ही जुड़ी होती है। ऐसे पद को ही 'क्रिया' कहते हैं।

(घ) उसी वाक्य में प्रयुक्त इससे मिलते-जुलते अर्थ या आकार वाले

---

१. वा० ३. ८. २१।
२. वा० ३. ८. ३०।
३. वा० ३. ८. ३८।
४. वा० ३. ८. ४८।

पदों को आख्यात, तिङन्त, आदि कह सकते हैं, 'क्रिया' नहीं।

(ङ) सभी क्रियापद कालसापेक्ष होते हैं। इसी लिए 'फल' को अनन्तर और बाद में होने वाला माना गया है।

(च) कोई भी क्रिया अनेक व्यक्तिभागों से मिलकर 'एक' बनती है। वे 'भाग' अवसन्तरथा में स्वतः भी 'क्रिया' के रूप में पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। तब उनमें भी अन्य 'भाग' स्पष्ट हो जाएंगे।

(छ) इस प्रकार 'क्रिया' को एक दृष्टि से 'समूह में अभेदबुद्धि' कहा जा सकता है। इसीलिए उसे, 'व्यक्ति' या 'विशेष' न कहकर, 'जाति' या 'सामान्य' कहा गया है।

७.२४ कृदन्त शब्द

हम स्पष्ट कर आए हैं कि 'क्रिया' की अभिव्यक्ति दो प्रकार के शब्दों द्वारा की जा सकती है: **आख्यात और कृदन्त** शब्दों के द्वारा। उक्त प्रकरण में 'आख्यात' और 'कृदन्त' की सापेक्ष स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है। यहां इस कथन की विवेचना सावसर ही होगी कि 'कृदन्त शब्द संज्ञारूप होकर भी मूलतः 'क्रियाशब्द' ही कहे जा सकते हैं'। इस विवेचन से पूर्व निम्न सत्यों को स्मरण रखना उचित होगा :

(क) जर्मन भाषा में क्रिया शब्दों को 'त्साइट वर्ट' (कालशब्द) कहते हैं।

(ख) भर्तृहरि ने क्रिया के मुख्य लक्षण के रूप में काल, क्रम, और साध्यता को स्वीकार किया है।

(ग) मीमांसा ने द्रव्यशब्दों से अतिरिक्त शब्दराशि को 'कर्मशब्द' के रूप में माना है।

(घ) अंग्रेजी में क्रिया का सही अनुवाद 'एक्शन' है, 'वर्ब' नहीं। 'वर्ब' का समानार्थक 'आख्यात' या 'तिङन्त' हो सकता है। इसे ही गार्डिनर 'वर्बफार्म' कहते हैं। अतः इन्हें पर्याय नहीं कहा जा सकता।

इन सत्यों पर विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि 'क्रियाशब्द' होने के लिए किसी विशेष आकार का बन्धन आवश्यक नहीं माना जाना चाहिए। उसकी तीन अनिवार्य शर्त्तें हैं : काल, क्रम और साध्यता। वार्रो ने कृदन्त (पार्टिसिपल) शब्दों को लिंग और काल से युक्त माना है। जर्मन वैयाकरणों के अनुकरण पर 'काल' को ही यदि 'क्रियाशब्दों' का एकमात्र आधार माना जाए, तब कृदन्त शब्द भी निर्विरोध रूपसे 'क्रिया' ही कहलाएंगे। उधर, वार्रो क्रियाशब्दों

की परिभाषा लिंगरहित और कालसहित शब्दों के रूप में मानते हैं। स्पष्ट है कि आख्यात और कृदन्त के भेद को वे 'वर्ब' और 'पार्टिसिपल' पर विचार के समय नहीं भूले हैं। इस पर भी वे संस्कृत वैयाकरणों की भांति इस सत्य को पा गए हैं कि अन्ततः दोनों इस बात में समान हैं कि उनसे काल-सूचना अवश्य उपलब्ध होती है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के मतों को जान लेना अधिक उपयोगी रहेगा। ये इस प्रकार हैं:

(क) कृदन्त धातुरूपों को 'आख्यात' नाम नहीं दिया जा सकता। ये रूप साध्यावस्था की सूचना न देकर सिद्धावस्था की सूचना देते हैं। ये कारकादि सम्बन्ध से युक्त होते हैं। यदि इन्हें सिद्धावस्था में भी 'आख्यात' का विषय माना जाए, तब इनसे 'साधन' का योग असम्भव हो जाए। अतः इस सिद्ध रूप को 'आख्यात' का कार्य नहीं माना जा सकता। 'आख्यात' के कार्य 'लकार' के स्थान पर होते हैं, कर्तृकर्मादि के अर्थ में नहीं।[1]

(ख) किसी प्रयोगावस्था में एक शब्द एक ही अर्थ या प्रयोजन से प्रयुक्त होता है। उसे दो स्वभावों या धर्मों से युक्त स्वीकार करना उचित नहीं। फिर, जो शब्द सिद्धावस्था का सूचक माना गया है, उसे 'साध्यावस्था' का सूचक कैसे माना जा सकता है[2] ?

(ग) 'पचति' को 'पक्तिं करोति' या 'पचिक्रियां करोति' के रूप में विभक्त करके कहने का अभिप्राय यह नहीं कि 'क्रिया' को 'साध्य और 'सिद्ध' में द्विधा विभक्त सिद्ध किया जाए। सत्त्वभाव के कारण सिद्धावस्था में साधनों या कारकों का संयोग होता है। साधन-साध्य के रूप में यह विभाग वास्तविकता से रहित केवल शास्त्रक्रीड़ा का ही विषय हो सकता है[3]।

(घ) यदि उक्त विभाग को स्वीकार कर लिया जाए, तब यही स्थिति कृदन्तरूपों के साथ भी स्वीकार करनी पड़ेगी। एक ही भाव साध्यावस्था में आख्यात रूप या धातुरूप में रहता है, जबकि उसी भाव का सिद्धावस्था या 'सत्त्वभाव' का रूप कृत् प्रत्ययों से संयुक्त हो जाता है। यही उसके 'नामत्व' का आधार है[4]।

(ङ) सिद्धावस्था में साधन-योग का प्रसंग आते ही 'संख्या और आवृत्ति' का प्रश्न भी उपस्थित होता है। कृदन्त शब्द साध्यांश से युक्त होने पर भी संख्या

---

१. वा० ३. ८. ४३-४।

२. वा० ३. ८. ४५।

३. वा० ३. ८. ४६।

४. वा० ३. ८. ४७-८।

या वचन से युक्त रहते हैं। 'सिद्धावस्था' से संयोग के कारण आई यह बात, वैसे भी धातु की प्रकृति के विरुद्ध नहीं है[1]।

(च) इसलिए इस सम्बन्ध में अन्तिम सत्य यही कहा जा सकता है कि जहां भी साध्यावस्था होगी, वहां उसे 'क्रिया' कहा जाएगा; जहाँ सिद्धावस्था होगी वहाँ उसे साध्य न होने से क्रिया नहीं कहा जाएगा। यही नहीं, कृदन्तों में परिगणित लकारार्थ, कृत्य, क्त, खलर्थ, आदि प्रत्यय भी साध्य के सूचक होते है। उस स्थिति में वे भी क्रियार्थक ही होते हैं; यद्यपि आकारतः वे कृदन्त शब्दों की सामान्य प्रकृति से अभिन्न ही रहते हैं[2]।

७.२५ सार

इस प्रकार उनकी दृष्टि में : कृदन्त सिद्धावस्था के सूचक होते हैं। इसीलिए,

—उनके साथ विभक्तिवचन का योग रहता है,
—उनमें साध्यता का अंश रहता अवश्य है, पर अविभक्त होकर ही,
—सिद्धांश की उपस्थिति और नामप्रत्ययों का योग भी उनमें 'क्रियार्थ (धात्वर्थ)' को गौण या महत्त्वहीन नहीं होने देता; इसीलिए उनमें किसी सीमा तक कालसूचकता मानी जा सकती है,
—वे एकान्ततः साध्यावस्था या सिद्धावस्था के सूचक नहीं है,
—भावप्रधान होकर भी उनमें सत्त्वभाव रहता ही है,
—और, सिद्धावस्था की सूचना के लिए उनमें संख्या, आवृत्ति, आदि का योग भी रहता है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कृदन्त शब्द भावना की दृष्टि से 'क्रिया' से मिलते-जुलते हैं, तथापि सिद्धावस्था की दृष्टि से सामान्यतः उन्हें 'सत्त्वशब्दों' में ही गृहीत करना अभीष्ट एवं उचित है। क्रियावस्था या भावावस्था के सूचक निष्ठा, शतृशानचादि, कुछ प्रत्यय इस वर्ग के भी कहे जा सकते हैं, पर सामान्यतः कृदन्त शब्द साधनयुक्त और सिद्धावस्था के सूचक ही माने जाते हैं। अन्य भाषाओं के तत्सम प्रत्ययों की गणना हम पूर्व ही कर आए हैं।

---

१. वा० ३. ८. ४१।
२. वा० ३. ८. ५३।

सर्वत्र इनकी यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है कि इनके साथ कालसंकेत जुड़ा होने पर भी इनसे तिङन्तरूपों की भाँति सदा निश्चित कालसूचना की उपलब्धि नहीं होती। 'क्त' भूतार्थद्योतक है, 'तृन्, तृच्', आदि भविष्यद्योतक हैं, 'क्त्वा' भी भूतार्थद्योतक है; पर इनके प्रयोग अन्यथा भी देखे जासकते हैं। अन्य भी अनेक प्रत्यय ऐसे हैं, जो मूलार्थवृत्ति होने से कालसूचन तो करते हैं, किन्तु उनसे काल-विभाजन की स्पष्टता सामने नहीं आती। 'साध्यावस्था' का संकेत तो उनसे लाक्षणिक ही ठहरता है। संख्यादि की विवक्षा के कारण भी उन्हें 'सत्त्वशब्दों' में ही परिगणित करना अधिक उचित है। 'आख्यातों' में उनका ग्रहण किया ही नहीं जा सकता।

७.२५.१ चेतावनी

कहीं-कहीं इन शब्दों का प्रयोग अव्यय के रूपमें भी होता दीखता है। पर यह स्थिति आकृति तक ही सीमित है। अर्थभावना के समय इन शब्दों द्वारा जिस कालसूचनादि की अभिव्यक्ति होती है, उसके कारण इन्हें केवल 'अव्यय' नहीं मान बैठना चाहिए। 'पार्टिसिपल' को भी इसीलिए अव्यय मानना उचित नहीं। हम आगे चलकर देखेंगे कि 'अव्यय' कोटि इससे सर्वथा भिन्न है।

७.२६ येस्पर्सन का मत

यहां येस्पर्सन के एक तर्क की चर्चा किए बिना इस प्रसंग का उपसंहार उचित न होगा। हम ऊपर देख आए हैं कि 'धातु' को महाभाष्य में **'क्रियावचन'** और **'भाववचन'** कहा गया है। अंग्रेजी में हम इन्हें क्रमशः 'एक्शन-डिनोटिंग (Action denting)' और 'एग्ज़िस्टेंस डिनोटिंग (Existence denoting)' कह सकते हैं। पर, वर्गीकरण के समय पाणिनि के अनुकरण पर कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि ने कृ-भू-अस् को सहायक अथवा आधारी धातु मानते हुए, अकथित रूप में तीन रूप स्वीकार किए हैं : **'भाववचन'** ('भू सत्तायाम्' से), **सत्तावचन** ('अस् भुवि' से), और **क्रियावचन** ('कृञ् करणे से')।

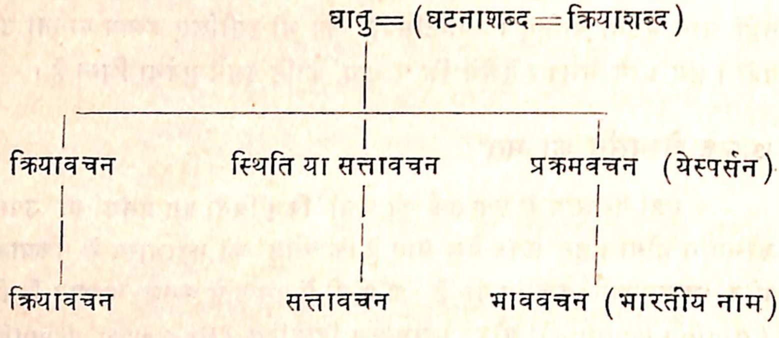
येस्पर्सन भी धातुओं का विभाजन **त्रिधा** ही करते हैं। **प्रथमतः** वे स्वीट[1] के अनुकरण पर धातुशब्दों को सामान्यतः 'घटनाशब्द' (Phenomenon words) कहते हैं। बाद में वे इन्हें तीन वर्गों में बांटते हैं। ये तीन वर्ग हैं : **क्रियावचन** (Action denoting), **प्रक्रमवचन** (Process denoting) और

१. स्वीट, ए न्यू इंगलिश ग्रामर, पार्ट्स ऑफ़ स्पीच।

स्थिति या सत्तावचन (Condition denoting)[1]। इस विभाजन में पूर्वोक्त भारतीय विभाजन से इतना ही अन्तर है कि **भाववचन** की जगह यहां '**प्रक्रमवचन**' को गिना गया है। भारतीय मान्यता से इस **प्रक्रम** दशा का एक और साम्य है: **षड्भावविकारों** की तुलना में यह अकेला प्रकार प्रतिनिधि बन जाता है। वैसे, भारतीय दृष्टि इस प्रकार के किसी अलग प्रकार या वचन को मान्यता नहीं देती, क्योंकि उसके अनुसार प्रक्रिया या क्रम की भावना, धातु के एक वर्ग से सम्बद्ध न होकर, क्रियामात्र की आधारभूता है। क्रिया की स्थिति ही इस क्रमभावना पर आश्रित है। इस दृष्टि से **भावसूचक और क्रमसूचक** का एक ही अर्थ और महत्त्व ठहरता है।

यही बात धातु को 'घटनाशब्द' कहने के विषय में कही जा सकती है। 'साध्यावस्था' इस दशा का अधिक उपयुक्त नाम है। भर्तृहरि फल को 'अनन्तर' कहकर इसी बात को पुष्ट करते हैं।

७.१४.१ येस्पर्सन और भारतीय दृष्टि : क्रिया शब्दों का विभागचित्र



७. २७ क्रिया और लिंग—

कुछ भाषाओं में क्रियारूपों में लिंग का सम्बन्ध भी पहचाना गया है। हिन्दी, उर्दू, आदि की यही स्थिति है। अनेक भाषाविदों ने हिन्दी में यह प्रवृत्ति उर्दू से आई हुई मानी है। यहां हम हिन्दी-सम्बन्धी इस मान्यता पर अपना विचार अवश्य व्यक्त करना चाहेंगे, ताकि इस प्रकार के अन्य भ्रमों से भी बचने की राह मिल सके।

हिन्दी पर यह प्रभाव उर्दू से बिल्कुल नहीं आया है। बल्कि उर्दू भी,

---

१. येस्पर्सन, दि फिला० ग्रा०, पृ० ८६। क्रियावचन : खाता है, जाता है, ।आदि प्रक्रम वचन : बढ़ता है, घटता है, आदि। सत्तावचन : सोता है; लेटा है, आदि।

भारतीय जन-मनसे ही जन्म लेने के कारण, हिन्दी की भांति इस विषय में संस्कृत से पूरी तरह प्रभावित है। हिन्दी में क्रियारूपों का उस रूप में प्रचलन नहीं है, जैसा संस्कृत में है। अन्य कई परवर्त्ती भारतीय भाषाओं ने संस्कृत से 'तिङन्त' क्रियारूपों को भी लिया। पर, हिन्दी ने अधिकांशतः 'कृदन्त' रूपों को ही लिया है[1]। कृदन्तों के विषय में संस्कृत में भी यह परम्परा अपना महत्त्व ग्रहण कर गई थी। कृ-भू-अस् के रूपमें जिन तीन सहायक धातुओं की चर्चा ऊपर हुई है, उनका प्रचलन हिन्दी में भी अनुकृत हुआ है। किन्तु इनके अतिरिक्त हिन्दी के प्रायः सभी तथाकथित क्रिया-रूप कृदन्तों से ही आगत हैं। करता है, खाता है, जाता है, आदि में स्पष्टतः 'जाता, करता, खाता,' आदि रूप 'है' से पृथक् हैं। इनका अन्यत्र भी अविकृत रूप में ही प्रयोग होता है : जाता था, जाता हुआ, आदि में। इन्हें हम संस्कृत के 'शतृ' का अवशिष्ट रूप कह सकते हैं। यही स्थिति गया, पढ़ा, आदि के भी साथ है। इन सभी में लिंगयोग स्पष्ट है : जाती, करती, खाती, गई, पढ़ी, आदि। 'है' संस्कृत के 'अस्ति' का अवशेष माना गया है। उसमें लिंगयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। पर 'था' और 'गा' में लिंगयोग की उपस्थिति पाई जाती है : करती थी, करेगी, आदि में। स्पष्ट है कि 'था' और 'गा' का उद्गम भी या तो किन्हीं कृदन्त रूपों से ही माना जाना चाहिए, अथवा इन्हें भाषाविज्ञान के 'अनुकरण' सिद्धान्त से प्रभावित मानना पड़ेगा। इस प्रकार हिन्दी की शुद्ध तिङन्त क्रिया का रूप 'है' ही बैठता है, जिसके अन्य रूप 'हैं, हो, हों, हूं, हुआ, हुए', आदि ठहरते हैं।

इस प्रकार एक सत्य सार्वत्रिक रूप में हमारे सामने आता है : लिंग-चिन्हों का सम्बन्ध क्रियारूपों से, या क्रिया के अर्थ से, किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है।

कृदन्त शब्दराशि मूलतः 'नाम-प्रकृति' की है, यह बात कही जा चुकी है। इसलिए लिंगयोग का अर्थ उसी परम्परा के अनुसरण से है। इन शब्दरूपों में लिंगप्रयोग कर्त्ता के लिंग की सूचना देने भर के लिए होता है। **एकवचन और बहुवचन** की सूचना सामान्य आख्यातों में भी रहती है; यद्यपि इस सूचना का सम्बन्ध भी कर्त्ता के एकत्व और बहुत्व से ही होता है।[2] 'पुरुष' का सम्बन्ध भी कर्त्ता के सम्बन्ध में सूचना देने के लिए ही होता है। पर कर्त्ता के सम्बन्ध में वह जो सूचना प्रदान करता है, वह क्रिया के साथ सार्वत्रिक रूप में उपलब्ध हो यह

---

१. श्री किशोरीदास बाजपेयी, कनखल, भी हिन्दी के क्रियाशब्दों की उत्पत्ति 'कृदन्त' रूपों से ही मानते हैं।

२. इसी अध्याय के ७.१३, १४, १५ में यह बात बलपूर्वक कही जा चुकी है।

अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष, बचन, और लिंग में से केवल लिंग ही ऐसा है, जिसका योग केवल कृदन्तों के साथ ही होता है, आख्यातरूपों के साथ नहीं। क्रिया से मुख्य सूचना काल, क्रमवत्ता और साध्यता की अपेक्षित होती है। और, इन सूचनाओं का सम्बन्ध किसी भी प्रकार कर्त्ता से नहीं होता। कर्तृत्व की सूचना नाम शब्दों के द्वारा ही मिलती है; क्योंकि क्रिया का कर्तृत्व उन्हीं में रहता है।

७.२७.१ भेद अनुचित

अत: यह समस्या केवल 'लिंग' के साथ ही नहीं है कि कृदन्तों में उसका योग कर्त्तादि कारकों के लिंग की सूचनाभर के लिए होता है; बल्कि वचन और पुरुष के साथ भी यह समस्या उसी रूप में सम्बद्ध है। और जब ऐसी बात है, तब क्रिया और कृदन्त में केवल लिंगयोग के आधार पर भेद करना उचित नहीं कहा जा सकता। अत: उक्त विवेचन के आधार पर यह स्वीकर करना उचित ही होगा कि कृदन्त रूप 'आख्यात' या सामान्य 'तिङन्त' से आकारत: भले ही भिन्न हों, उनके द्वारा 'क्रिया' की अभिव्यक्ति होने में कोई बाधा नहीं होती। 'क्रिया' के काल, क्रम और साध्यता के मुख्य तीनों लक्षण यदि उनसे व्यक्त हो जाते हैं, तब कारक और लिंग का योग होने पर भी उन्हें 'क्रियास्थानीय' कहा जा सकेगा। और यदि वे इन शर्तों को पूरा नहीं करते, तब उन्हें 'क्रिया' का स्थानीय नहीं कहा जा सकेगा। इस दृष्टि से केवल कुछ ही कृदन्तरूप क्रियास्थानीय ठहरते हैं।

---

१. तुलनीय, येस्प०, दि फिला० ग्रा०, पृ० ८७।

पदभेद : शेष शब्दराशि

८.१ पदराशि

'नाम' और 'क्रिया' पर विचार करने के बाद, और सर्वनाम एवं विशेषण को 'नाम' का ही भेद स्वीकार करने के बाद, शेष शब्दराशि पर भी विचार सावसर ही होगा। भारतीय व्याकरण में इस राशि को समग्रतः 'अव्यय', और व्यक्तिशः निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय और अव्यय, नाम से कहा जाता है। आधुनिक पाश्चात्य वैयाकरणों का एक दल इन्हें क्रियाविशेषण, आदि-निपात, उपसर्ग, विभक्त्यर्थक कर्मप्रवचनीय (Prepositions) और समुच्च-बोधक निपातों (Conjunctions) के रूप में गिनता है। पाणिनि ने इस राशि को समग्रतः 'अव्यय' नाम दिया है, जबकि येस्पर्सन इसे ही समग्रतः पार्टिकल' नाम देते हैं। इसी आधार पर हमने इस प्रबन्ध में इन दोनों संज्ञाओं को समानार्थक माना है। येस्पर्सन इस वर्ग में केवल चार उपवर्गों का ही परिगणन करते हैं: क्रियाविशेषण (एड्वर्ब), कर्मप्रवचनीय (प्रेपोजिशन), समुच्चयबोधक और विस्मयादिबोधक। भारतीय दृष्टि के अनुकूल उनकी अपनी विशेषता यह है कि उन्होंने आदिनिपातों को अव्ययों के सामान्य वर्ग से निकालकर उन्हें सर्वनाम के वर्ग में रखा है। भारतीय दृष्टि के अनुकूल ही उन्होंने प्रत्ययों के भी तीन वर्ग किए हैं: आदिप्रत्यय (उपसर्ग और आगम सहित), मध्य प्रत्यय (मध्य आगम सहित), और अन्त्य प्रत्यय (विभक्तिवचनार्थक प्रत्यय सहित)।[1] उदाहरणों के द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है कि उपसर्गों की स्थिति भी प्रत्ययों के समान ही है, भिन्न नहीं।

८.२ उपसर्ग : प्रत्यय से भिन्न

येस्पर्सन के इस विभाग का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने यूरोपीय भाषाओं पर, विशेष कर आंग्ल भाषा पर, अधिक दृष्टि दी है। यूरोपीय भाषाओं

---

१. येस्पर्सन इन्हें क्रमशः Prefix, Infix और Suffix के नाम से कहते हैं।

से निकलने वाले निष्कर्षों को वे 'आंग्ल भाषा' पर न घटता पाकर उन्हें बदल देते हैं। उदाहरणार्थ, 'रिएक्शन, प्रिफ़र, पर्फेक्ट', आदि में वे रि, प्रि, पॅर, आदि को केवल मूल उद्गम के कारण ही 'उपसर्ग' मानते हैं। कार्य की दृष्टि से उन्हें वे मूल-शब्द या धातु से अविभाज्य ही मानते हैं। क्योंकि, ऐसे विभाग में किसी स्पष्टार्थ की सूचना विभागों द्वारा मिलनी असम्भव हो जाती है।[1] संस्कृत में भी 'संग्राम' आदि शब्दों और नामधातुओं में यही स्थिति स्वीकार की गई है।[2] वैसे जर्मन भाषा के वैयाकरणों ने भी उपसर्ग की दो स्थितियां स्वीकार की हैं: वियोज्य और अवियोज्य।[3] इन्हें क्रमशः 'सबल' और 'बलहीन' भी कहा गया हैं।[4]

इन सब स्थितियों में एक सत्य से तो येस्पर्सन भी इनकार नहीं कर सकते कि इन सभी प्रयोगों में उपसर्ग या तथाकथित 'उपसर्ग' सदा धातु या क्रियामूल के संयोग में ही आया है, तथा वह सदा धातु से पहले भी आया है। क्रियामूल (धातु) के साथ और उससे पूर्व आने का एकमात्र कारण यह है कि 'धातु' सर्वत्र मूलार्थवाहक होती है। उपसर्ग के संयोग से उस अर्थ में सबलता, न्यूनता, विशिष्टता, आदि कई स्थितियों की सम्भावना मानी जाती है।[5] क्रिया या धातु के अतिरिक्त सार्थक शब्दराशि को 'प्रातिपदिक' या 'नाम' के रूप में स्वीकार किया गया है।[6] उनका प्रयोग भी अन्वर्थक तभी होता है, जब वे 'धातु' जैसी किसी प्रकृति से युक्त हों। अन्यथा, उनका अस्तित्व संकेतनात्मक ही होता है। ऐसे प्रयोगों में उपसर्ग के अस्तित्व या अनस्तित्व से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, 'गज' और 'प्रगज' में अन्तर तब तक निरुद्देश्य ही माना जाएगा, जब तक कि 'गज' धातु के रूप में कोई मूलार्थ या धातु 'गज' शब्द के निर्माण में हेतु न माना जाए। पर 'गम', 'कृ', आदि धातुओं से प्रगम, प्रकर, आदि का विशिष्टार्थ में प्रयोग सम्भव ही है। अतः पाणिनि का यह नियम प्रायः निरपवाद ही ठहरता है कि अर्थविभेदक या अर्थविशेषक के रूप में 'उपसर्गों' का योग सदा

---

१. दि फ़िला० ग्रा०, पृ० ४३।

२. वा० २. १८३।

३. इनके नाम क्रमशः 'फ़ोर्सिल्बे बिटौंट' और 'फोर्सिल्बे उन्बिटौंट' स्वीकार किए गए हैं। इनको ये नाम उपसर्गों की सबलता-निर्बलता पर आधारित उनकी सामर्थ्य के कारण दिये गए हैं।

४. सबल-निर्बल क्रियाओं के जर्मन नाम हैं क्रमशः : 'फेर्ब ट्रेन्बार', और 'फेर्ब उणट्रेन्बार'। (देखें, 'डॉयच् स्प्राख़्लेहरे०' पृ० १७.)।

५. लेखक, भाषा० वाक्य०, पृ० १३६-१३८।

६. पा० १. २. ४५।

क्रिया के साथ या उनके आदि में ही होता है।[1] उपसर्ग और 'प्रिफिक्स' नामकरण इस आधार पर पड़ा है कि इनका प्रयोग उन-उन भाषाओं में सदा आदि में ही होता है। जर्मन नाम 'फोर्सिल्बे' भी इसी बात को आधार मान कर पड़ा है।

८.२१ उपसर्ग या आदिप्रत्यय

प्रश्न यह है कि जहां इस प्रकार का अन्तर नहीं आता, या जहां इस संयोग के कारण उपसर्ग और क्रिया का विभेद करना अयुक्त जंचता है, वहां इन तथाकथित शब्दरूपों को 'उपसर्ग' माना जाए, या येस्पर्सन की भाँति उन्हें 'प्रत्यय' स्वीकार किया जाए ? इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्ययों का प्रयोग भी अर्थ में यत्किंचित् परिवर्तन लाने के लिए ही होता है; यद्यपि यह परिवर्तन उपसर्ग से आने वाले परिवर्तन की अपेक्षा भिन्न होता है। विश्वभाषाओं के सर्वेक्षण से यह भी पता चलता है कि इन प्रत्ययों का प्रयोग आदि, मध्य, या अन्त में से किसी स्थान पर भी हो सकता है। परन्तु, प्रश्न यही है कि क्या प्रत्येक आदिप्रत्यय को 'उपसर्ग' से अभिन्न स्वीकार किया जा सकता है ? स्मरण रहे कि पाणिनि प्र, परा, आदि को उपसर्ग और 'बहुच्' आदि को आदिप्रत्यय मानते हैं।

८.३ प्रत्यय की स्थिति

प्रत्ययों के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्यय विभक्ति-तद्धित-आदि के रूप में एक निश्चित अर्थ को लेकर चलते हैं। अफ्रीकी भाषाओं के आदि प्रत्यय और तुर्की आदि भाषाओं के मध्य प्रत्यय निश्चयही विभक्तिवचनादि की सूचना मुख्य रूप से देते हैं। संस्कृत और भारोपीय भाषाओं में प्राय: अन्त्य प्रत्ययों की प्रधानता मिलती है। यह भी स्मरणीय है कि जिन भाषाओं में आदिप्रत्ययों की या मध्य प्रत्ययों की बहुलता होती है, उनमें अन्त्य प्रत्ययों का प्रयोग प्राय: शून्य ही होता है। प्रत्ययों में प्रयोग की प्रधान स्थिति प्राय: हर भाषा या भाषावर्ग में निश्चित सी होती है; यद्यपि इस स्थिति में सापवाद अन्तर मिलते ही हैं। पर, यह भी सत्य है कि एक ही शब्द में आदि, मध्य, और अन्त्य प्रत्ययों का संयोग बहुलता से या समान प्रचुरता से पाया जाना सम्भव नहीं है। येस्पर्सन के युक्तिक्रम के अनुसार 'प्रभरण' में आदि प्रत्यय 'प्र', मध्य प्रत्यय 'अ', और अन्त्य प्रत्यय 'न' या 'ण' स्वीकार करना होगा।[2] 'प्रकीर्णन' में यह स्थिति और

---

१. पा० १. ४. ५६।

२. उनमें से 'प्र' का Prefix, 'अ' को Infix, और 'न' या 'अन' को Suffix मानना होगा।

भी स्पष्ट हो जाती है। इसमें 'प्र', 'न' और 'अन' को क्रमशः आदि, मध्य और अन्त्य प्रत्ययों के रूप में माना जा सकता है। ऐसे उदाहरण सहस्रशः ढूंढे जा सकते हैं। केवल इसलिए कि इनका स्थान आदि, मध्य, या अन्त में है, तथा इन्हें मूल धातु या शब्द का अंग नहीं कहा जा सकता, इन तीनों को 'प्रत्यय' की सामान्य कोटि में रख देना उचित नहीं कहा जा सकता। यह अद्भुत सत्य है कि हम आदि, मध्य, या अन्त में आने वाले इन धातुभिन्न अंशों को भाषाभेद से अलग-अलग प्रकृति का, और इसीलिए अलग-अलग वर्ग का, पाते हैं। आदि-स्थानीय अंश कभी मध्य या अन्त में उसी भाषा में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते। यही बात अन्य स्थानीय अंशों के विषय में भी है। भाषाभेद से इन सब के स्वरूप और प्रयोजन में परस्पर भिन्नता होती है।

८.४ भारोपीय भाषाओं में अन्तर

इसके अतिरिक्त भारोपीय भाषाओं का अध्ययन एक और सत्य सामने लाता है। इङ्, अन्, शन्, (अंग्रे०), रे, तो (इता०), उङ्, एन् (जर्मन), अन, अक, सु, भ्यः (संस्कृत), तथा इसी प्रकार के अन्य अन्त्यप्रत्यय किन्हीं निश्चितार्थों और स्थितियों की सूचना देने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में इस प्रकार की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही पाणिनि ने 'प्रत्ययः' और 'परश्च' के सूत्र कहे थे[1] और साथ ही प्रत्ययों को अर्थवत् भी स्वीकार किया था।[2] किन्तु, इन्हीं भाषाओं में प्र, परा, अप, प्रि, पैरा, पर, अम्, कॉन्, आदि पूर्वस्थित वर्ण-ध्वनियों को, 'प्रत्यय' जैसा निश्चत अर्थ न होने पर भी, पहले से विद्यमान मूलार्थ में कुछ न कुछ संशोधक स्वीकार किया जाता है। मूलार्थ में संशोधन की यह सामर्थ्य प्रत्यय में स्वीकार नहीं की गई है। उनमें कुछ 'अधिकार्थता' की सी सामर्थ्य स्वीकार की गई है। मूलार्थ में यह संशोधन भी किसी निश्चित प्रवृत्ति का नहीं होता। कदाचित् इसी अनिश्चितार्थकता के आधार पर इन्हें 'निपात' नाम दिया गया था[3]। पर 'मूलार्थ' (धातु) से सम्बन्ध के कारण और अन्यत्र अनुपलब्धि के कारण इन्हें प्रत्ययादि की अपेक्षा जो वैशिट्य प्राप्त है, उसके कारण इन्हें निपातों से भी अलग वर्ग के रूप में गिना जाना अनिवार्य था। संस्कृत में इनकी विशेष स्थिति के कारण इन्हें 'उपसर्ग' नाम दिया गया।[4]

---

१. क्रमशः पा० ३. १. १, २।

२. पा० १. २. ४५।

३. नि० १. १. ३ एवं १. २. १।

४. पा० ३. १. २, एवं नि० १. १. ४।

अंग्रेजी का 'प्रिफिक्स' नाम जर्मन नाम 'फोर्सिल्बे' की नकल तो नहीं कहा जा सकता, पर इसकी प्रेरणा वहीं से है, यद्यपि वह नाम भी अनेक मार्गों से होकर संस्कृत व्याकरण की ही देन कहा जा सकता है। उसका अर्थ भी लगभग वही है। यह अनिवार्य नहीं है कि सभी विश्वभाषाओं में उपसर्गों की स्थिति विद्यमान हो ही, या वह इसी रूप में हो। इसीलिए इसे एक निश्चित कोटि का पदभेद नहीं माना जा सकता। 'चत्वारि पदजातानि' की कल्पना इस व्यापक आधार पर ठीक नहीं बैठती। हां इन्हें उपवर्ग मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। जिन भी भाषाओं में इनकी उपलब्धि एक या दूसरे रूप में होती है, वहां इनकी चर्चा इस वर्ग के रूप में की जा सकती है।

८.५ मध्य-प्रत्यय

मध्य प्रत्यय की स्थिति भारोपीय भाषाओं में भिन्न है। वहां हम नियमित और अनियमित दोनों प्रकार की स्थितियां पाते हैं। उन दोनों ही अवस्थाओं में इन ध्वनियों का सर्वत्र कोई निश्चित अर्थ तो नहीं होता, पर चीनी निपातों की भांति ये भी स्थिति-भिन्नता की सूचना अवश्य देते हैं। संस्कृत व्याकरण में मध्य प्रत्यय को 'आगम' या और 'विकरण' के रूप में स्वीकार किया गया है। मध्य प्रत्यय के सम्बन्ध में यह स्थिति पाणिनि के सूत्र 'परश्च' से बेमेल दिखाई देती है। पर, सत्य यह है कि जैसा हम पहले बता आए हैं, प्रत्यय यहां भी मूल या धातु के बाद ही आया है; अन्तर इतना ही है कि उस प्रत्यय के बाद भी सुप्-तिङ् प्रत्यय आजाते हैं। पर, यह बात भी वहीं स्पष्ट की जाचुकी है कि पाणिनि सुप्-तिङ् की गणना सामान्य प्रत्ययों के नीचे नहीं करते। अतः यदि सुप्-तिङ् की बात को छोड़कर देखा जाए, तो जिन्हें हम मध्य प्रत्यय के रूप में जानते हैं वे वस्तुतः पाणिनि के 'परश्च' नियम के अन्तर्वर्त्ती ही सिद्ध होते हैं। आगमों की स्थिति इससे भिन्न है। उनमें दो प्रकार की कोटियां आती हैं। एक कोटि में वे 'आगम' हैं, जो प्रत्यय के उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं : यथा, संस्कृत के आदि-आगम अ, आ, एवं जर्मन का 'गे' आदि। ये आगम भूतकाल की सूचना मुख्यतः देते है, और इसी हेतु से आदि में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार धातुभिन्न अर्थ की सूचना देने के कारण इन्हें 'प्रत्यय' ही कहना अधिक उपयुक्त है। पाणिनि ने इन्हें 'आगम' कहते हुए[1] सामान्य नियम का अनुकरण ही किया है, जिसके अनुसार प्रत्यय का स्थान परवर्त्ती ही हो सकता है। परन्तु, दूसरी कोटि के आगम वे हैं,

१. पा० ६. ४. ७१, ७२।

जो उच्चारण सौकर्य के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसे आगमों की स्थिति निश्चय ही मध्य या अन्त में रह सकती है। मध्यागम प्रायः संयुक्ताक्षरों बीच के में आता है, या किंचित् रूपभिन्नता (यथा, 'आदत्' और 'आसीत्' में) लाकर अर्थान्तर का संकेत देने के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु, यह स्थिति तुर्की भाषा और सामी भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूपसे पाई जाती है। सामी भाषाओं में तो मध्य स्वरागम के कारण अर्थ में अन्तर आता है। अतः ऐसे अर्थविभेदक आगम को 'प्रत्यय' नाम देने में, या उस प्रकार का स्वीकार करने में, कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर, तुर्की आदि में नियमित रूप में मध्य प्रत्यय आते हैं; यद्यपि दुराग्रह के रूप में उन प्रत्ययों को भी 'अन्त्य' सिद्ध किया जा सकता है।

८.६ वर्ग-भिन्नता

इसलिए यह तो स्पष्ट है कि एक ही भाषा में आने वाली इन भिन्न-भिन्न स्थानीय ध्वनियों को एक ही वर्ग का मानकर उन्हें एक ही नाम देना उचित नहीं कहा जा सकता। न ही उन्हें 'प्रिफिक्स', 'इन्फिक्स' और 'सफिक्स' नाम देकर ही समस्या का हल किया जा सकता है। क्योंकि, इन नामों से उनकी स्थानभिन्नता का परिज्ञान तो होता है, पर उनकी प्रयोजनभिन्नता का तनिक भी आभास नहीं मिलता। ये नाम इस भ्रम को उत्पन्न करते हैं कि स्थानभिन्नता के अतिरिक्त इन तीनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। इन्हें हम क्रमशः पूर्वसंयोजी, मध्य-संयोजी और अन्त्यसंयोजी के रूप में भी कह सकते हैं। इनका महत्त्व न केवल 'संयोग' के कारण है, और न केवल 'स्थान' के कारण। केवल भारोपीय ही नहीं, बल्कि सभी भाषाओं में इनकी उपस्थिति के साथ-साथ इनकी प्रयोजनभिन्नता भी स्पष्ट देखी जा सकती है। जहां ये इस रूप में उपस्थित नहीं, वहां की बात पृथक् है। इसलिए यदि एक ही भाषा में इनकी उपस्थिति विद्यमान होगी, तो इन तीनों के पृथक् महत्त्व को देखते हुए प्रयोजनभिन्नता के अनुसार तीन वर्ग बनाने अधिक उचित रहेंगे; भले ही स्थान की शर्त वहाँ पूरी न हो। समस्त भारोपीय परिवार की दृष्टि से ये तीन वर्ग क्रमशः **उपसर्ग**, **आगम और प्रत्यय** के रूप में कहे जा सकते हैं। भाषा भेद की दृष्टि से इनके स्थान और क्रम में कुछ अन्तर आ सकता है, पर प्रयोजन की दृष्टि से इनकी पृथक्ता स्वीकार करना ही उचित है।

अतः निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'उपसर्ग' और 'प्रत्यय' भिन्न प्रयोजन और भिन्न रूप से प्रयुक्त होते हैं। भाषाभेद से और परिवारभेद से इनके स्थान या इनके भाव-अभाव की स्थिति भिन्न हो सकती है, किन्तु एक भाषा के आदि-प्रत्यय और किसी दूसरी के आदि-उपसर्ग को तुल्य और समप्रयोजन नहीं

ठहराया जा सकता।

८.७ उपसर्ग की भिन्नता

ऊपर जिन्हें हमने **उपसर्ग** कहा है, उनके विषय में यह भी कहा है कि वे निश्चितार्थक नहीं होते। स्वतन्त्रावस्था में निश्चितार्थक न होने के कारण ही ऐसी ध्वनिवर्गों को यास्क ने 'निपात' नाम दिया है।[१] यह संज्ञा इस वर्ग को इसलिए दी जाती है कि उनका अर्थ स्थान और प्रयोग के अनुसार भिन्न हो सकता है। वस्तुत: उनका अपना अर्थ कुछ होता ही नहीं।[२] परम्परा और प्रयोग से कोई अर्थ स्थिर अवश्य हो जाता है, किन्तु यह भी अनेक प्रकार का हो सकता है। पर यह अनेकविधता सार्वत्रिक नहीं है। यही कारण है कि येस्पर्सन इनकी उपयोगिता और महत्त्व को ठीक से नहीं पहचान पाए। उन्होंने 'प्रिफिक्स' को प्रत्ययों के अंतर्गत ग्रहण किया है। पर, साथ ही वे प्रेपोज़िशन, समुच्चयबोधक, और विस्मयादिबोधक अव्ययों को भिन्न स्थिति का स्वीकार करते हैं। इन तीन परवर्त्ती भेदों के सम्बन्ध में एक सत्य को तो येस्पर्सन भी स्वीकार करते हैं और उसपर बल देते हैं कि इन्हें अलग-अलग वर्ग में रखना भ्रामक और अनुचित है। स्पष्ट है कि यदि वे 'प्रिफिक्स' के नाम से भी भ्रम में न पड़ते, और 'फिक्स' अर्थात् 'संयोग' शब्द की सार्थकता को अधिक महत्त्व न देते, तब वे उस वर्ग को भी उक्त कोटि में ही सम्मिलित कर लेते। यहां यह बात स्मर्तव्य है कि संस्कृत में उपसर्गों' को संयोग' के रूप में देखकर भ्रम में न पड़ना चाहिए। वैदिक में उपसर्ग स्वतन्त्र अवस्था में भी प्रयुक्त मिलते हैं।[३] पर, पाणिनि के 'उपसर्गाः क्रियायोगे[४] की सार्थकता वहाँ भी कायम है। कारण यह कि अर्थवृत्ति में उनका साहचर्य या संयोग 'क्रिया' से ही होता है, अन्यथा अर्थदृष्टि से वे महत्त्वहीन ही ठहरते हैं। यह बात इस सत्य को पुष्ट करेगी कि 'संयोजी' का अर्थ भौतिक रूप में नहीं लेना चाहिए। यदि जर्मन, संस्कृत, आदि भाषाओं की तुलनात्मक स्थिति पर विचार किया जाए, तब हम पाएंगे कि यह उपसर्ग क्रिया से बहुत ढीले रूप में संयुक्त होता है। जर्मन में हम जिन्हें 'वियोजी (वियोज्य) उपसर्ग' मानते हैं, वे इसी सत्य को पुष्ट करते हैं। वियोजी उपसर्गों और धातु के बीच अट् (सं०), गे (जर्मन), आदि आगम

---

१. नि० १. १. २ और १. २. १।

२. नि० १. १. ४।

३. 'आरे देवा द्वेषो'० आदि में।

४. पा० १. ४. ५६।

आ ही जाते हैं।[1] फिर, 'पार्टिकल' या 'अव्यय' को एक अलग वर्ग स्वीकार करते हुए येस्पर्सन भी उसकी रूपपरिवर्तनहीनता को ही एकमात्र और प्रमुख आधार नहीं मानते। इन्हें वे 'इन्वेरियेबल' नाम देते हैं। प्रमुखता वे इनकी प्रयोगस्थिति की भिन्नता और कार्य भिन्नता को देते हैं। अतः इन सबको एक कोटि में रखने का प्रमुख आधार स्थितिभिन्नता में अर्थभिन्नता का होना है।

एक और बात जिसे येस्पर्सन नहीं देख पाए, वह यह है कि जर्मन जैसी भाषा में, संस्कृत और ग्रीक के समान ही, प्रिफिक्स (उपसर्ग) और प्रेपोजिशन (कर्मप्रवचनीय) की स्थिति परस्पर उलझती सी दीखती है। वहां आर्टिकल, एड्वर्ब, और प्रेपोजिशन की रूपात्मक स्थिति उपसर्ग के सदृश ही दिखाई देती है। आन्, अम्, डास्, डेर, इन्, आदि की जर्मन में, तथा प्र, परा, अप, उप, आदि की संस्कृत और ग्रीक में, यही उभयात्मक स्थिति है। कार्यप्रयोजन की दृष्टि से इन्हें समानाकृति होने पर भी अलग वर्गों में विभक्त ही स्वीकार किया गया है। इनके परस्पर मिले हुए (संयुक्त या समस्त) रूपों की उपलब्धि की चर्चा पीछे हो ही चुकी है। केवल अंग्रेजी में पलटी हुई स्थिति के आधार पर एक नये मन्तव्य की स्थापना करना न्याय्य नहीं ठहरता। बल्कि: वहां उस नयी स्थिति में, यदि वह सचमुच नयी स्थिति है, उपसर्गसदृश उन ध्वन्यंशों को मूल शब्द का अंश मानकर, उस भाषाविशेष में, नए धातु रूपों की कल्पना की जा सकती है।

८.८ निपात

फिर इन सबको क्या नाम दिया जाए, जिसमें येस्पर्सन द्वारा परिगणित शब्दराशि और उपसर्गों, या तत्सम सभी शब्दराशियों, का भी समवेश हो जाए? महान् वैयाकरण पाणिनि, उनके पूर्ववर्ती यास्क, एवं उनके अनुयायी कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि, इस सब राशि को 'निपात' नाम देते हैं। यास्क, इन्हें 'उच्चावच अर्थों में निपतित' तो मानते ही हैं, इनके तीन भेदों की भी चर्चा करते हैं। ये तीन भेद हैं: उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक, और पदपूरण। इनमें से पहले दोनों येस्पर्सन के गिनाए भेदों से मिलते हैं, जबकि अन्तिम को संस्कृत एवं कुछ ही अन्य भाषाओं की विशेषता माना जा सकता है। सम्भवतः इनकी आवश्यकता भाषा की संगीतमयता के कारण पड़ती होगी। पर, यास्क की अन्यों से भिन्नता यह है

---

१. भाषा० वा०, पृ० १३७।

२. येस्प०, दि फिला० ग्रा०, पृ० ४२, ८७-९०।

३. नि० १. २. १।

कि 'उपसर्ग' को वे सर्वथा पृथक् वर्ग मानते हैं। उसकी चर्चा वे पृथक् पाद में करते हैं[1]। पाणिनि पहले सब वर्गों को समवेत रूप में 'निपात' नाम देते हैं। बाद में, वे उसके उपवर्ग गिनाने आरम्भ करते हैं[2]। उनका वक्तव्य इस प्रकार है :

(क) यह सम्पूर्ण राशि निपात कहलाती है।[3]

(ख) क्रिया के योग में यही 'उपसर्ग' कहलाते हैं।[4]

(ग) ऐसी ही एक स्थिति में इसे 'गति' नाम भी दिया जाता है।[5]

(घ) इनमें से कुछ स्थितिविशेष में 'कर्मप्रवचनीय' कहलाते हैं।[6]

(ङ.) पर, अन्त में आकारतः अपरिवर्तनीय होने के कारण इन समस्त निपातों को 'अव्यय' नाम दे दिया जाता है।[7]

भर्तृहरि की धारणा उक्त मत से अभिन्न ही है। उनका बल निपात और उपसर्ग के समान 'कर्मप्रवचनीय' को भी महत्त्व देने मात्र पर अधिक है, यद्यपि मूलतः वे सारी पदभेद-कल्पना के ही विरोधी हैं।

८.६ निष्कर्ष

उक्त विवेचन के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अर्थात्मक समानता की दृष्टि से इस सब शब्दराशि को 'निपात', और आकारात्मक अपरिवर्त्तनीयता की दृष्टि से इसे 'अव्यय', नाम दिया जा सकता है। यह बात पहले स्पष्टता से कही जा चुकी है यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि ये सब नाम केवल 'निपात' नाम से अभिहित शब्दराशिमात्र के लिए ही लागू नहीं होते; बल्कि इनमें से प्रत्येक से एक अतिरिक्त शब्दराशि का भी ग्रहण होता है। ऐसी स्थिति में प्रयोजनविशेष की दृष्टि से इस नामावली को अनुपयोगी कहना तो उचित नहीं ठहरता, पर इतना भी निश्चित है कि उन सभी को अलग-अलग वर्गों या पदभेदों के रूप में मान्यता देने से भी समस्या उलझेगी ही। अतः येस्पर्सन और भारयीत विद्वानों के समान्यतः मान्य पथ का अनुकरण ही उचित कहा सकता है।

भर्तृहरि की दृष्टि में इस विषय का उपसंहार इस प्रकार किया जा सकता है[8] :

---

१. नि० १. १. ४ से ४।
२. पा० १. १. ५६ से ५८।
३. पा० १. ४. ५६।
४. पा० १. ४. ६०।
५. पा० १. ४. ८३।
६. पा० १. २. ३७।
७. यही प्रबन्ध, अध्याय—४।
८. इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।

—निपात अनिश्चितार्थक होते हैं, पर वे द्योतक और वाचक भी हो सकते हैं;

—उपसर्ग धातु का सहकारी और विशेष अर्थ का आधायक होता है; यह अर्थ सदा एक सा नहीं होता;

—कर्मप्रवचनीय को उपसर्ग से भिन्न, किन्तु उसी वर्ग की एक अलग, स्थिति प्राप्त है।

उक्त विवेचन के प्रकाश में ही इस पर विचार करना अधिक उचित होगा।

८.१० स्वतन्त्र स्थिति

वेदों में हम आ, अनु, अधि, प्रति, उप, आदि की सत्ता उसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से पाते हैं, जिस प्रकार आ, ई, उ, आदि एकाच् निपातों की। परवर्त्ती संस्कृत में ये ही स्वतन्त्र निपात क्रियाओं के साथ जुड़ने लगे। 'उपसर्ग' संज्ञा और 'क्रियाओं की सहकारिता' की बात इनके साथ पहले से जुड़ी आती थी। पर, पहले की स्वतन्त्र स्थिति अब न रही थी। 'उपसर्ग' रूप में अब उसी अंश को मान्यता मिलने लगी, जिसका क्रिया के साथ संयुक्त प्रयोग हुआ हो। यहां 'क्रिया' का अर्थ 'धातु' से है। परन्तु दूसरी ओर, इनमें से अनेक निपात आकारतः उपसर्गों से अभिन्न रहकर भी, समान रूप से ग्रीक,लातीनी और संस्कृत में स्वतन्त्र रूप में या संज्ञाओं से संयुक्त होकर विभक्त्यर्थों और विशिष्टार्थों की सूचना देने लगे। जहां वे स्वतन्त्र प्रयुक्त हुए, वहाँ उन्हें 'कर्मप्रवचनीय' या 'अव्यय' नाम दिया गया। और जहां उनका प्रयोग समास आदि के रूप में शब्दों से अभिन्न होकर हुआ, उन्हें 'अव्ययीभाव' समास के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। 'अधीते' (क्रियायोग) की भाँति 'अधियज्ञम्' (अव्ययीभाव) का भी प्रयोग होने लगा। 'यज्ञमधि' (कर्मप्रवचनीय) का प्रयोग इसी अर्थ में स्वतन्त्र चलता रहा।

'धातु' या 'क्रिया' से संयुक्त होकर, उपसर्ग रूप में, ये निपात कुछ विशिष्ट और अनिश्चित अर्थ को आहित करते थे। किन्तु, संज्ञाओं के भी साथ संयुक्त या वियुक्त रहकर इन्होंने निश्चित विभक्त्यर्थों को वहन करना आरम्भ कर दिया। हम कह सकते हैं कि ग्रीक और लातीन वंश की परवर्त्ती भाषाओं में जहां ये निपात प्रेपोज़िशनों के रूप में स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण करते गए, वहां संस्कृत में इनकी संज्ञा-संयुक्त स्थिति स्थिर रही। प्राकृत, अपभ्रंश और परवर्त्ती भाषाओं में यह स्थिति अवश्य पलट गई। आज हिन्दी में भी प्रेपोज़िशनों की उपस्थिति स्पष्ट देखी जा सकती है। सत्य यह भी है कि यूरोपीय आर्यभाषा परिवारों में भी संज्ञा, क्रिया

या धातु से संयुक्त रूप में इनका प्रयोग अनेकशः उपलब्ध होता ही है।

इन तथाकथित प्रेपोज़िशनों का जन्म कहां से हुआ है ? यह प्रश्न स्वतः एक स्वतन्त्र विवेच्य विषय बन जाता है। पर, इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन के प्रयोग के पीछे भी, विभक्ति की भांति, मूल-भावना (spaee) 'दिक्' की है।[१] कहाँ से, कहां को, किस ओर, किस ओर से, किस की ओर, आदि अर्थों के सूचक कर्मप्रवचनीयों या प्रेपोज़िशनों में यही 'दिक्' भावना काम करती है। किस को, किस के लिए, किस से, आदि अर्थों के सूचक कर्मप्रवचनीय में भी दिक् की यही भावना सिद्ध की जा सकती है। जर्मन वैयाकरण इस पद्धति पर ही आजकल विभक्तियों की स्थिति भी समझाने लगे हैं। वे तो सामान्य और प्रेरणार्थक क्रियारूपों में भी इसी आधार पर प्रक्रियाभेद समझाने का यत्न करते हैं। से, को, ने, आदि हिन्दी-प्रेपोज़िशनों में भी यही स्थिति विद्यमान है। 'दिक्' की यह भावना संस्कृत के अधि, परि, प्रति, अनु, आ, आदि उन निपातों में भी स्पष्ट होती है, जिनका प्रयोग संज्ञाओं के साथ विभक्ति-स्थानीय के रूप में होता है और जिनके कारण समास की वह स्थिति पैदा होती है, जिसे 'अव्ययीभाव' कहते हैं। वेदों में ये निपात भी अव्यय रूप में स्वतन्त्र ही प्रयुक्त होते थे। वस्तुतः वहां ये क्रिया या संज्ञा के साथ न जुड़कर निपात रूप में पृथक् से ही प्रयुक्त होते थे। यूरोपीय भाषाओं में से अनेक में जिस प्रवृत्ति का अनुकरण हुआ, वह परवर्त्ती थी। उस स्थिति में इन निपातों का प्रयोग क्रियाओं के साथ तो आरम्भ हो गया था, किन्तु विभक्तिस्थानीय रूप में वे संज्ञाओं से पृथक् रहकर ही प्रयुक्त होते थे। 'उपसर्ग-स्थिति' और निपातों की इस दिक्-सूचक विभक्ति-सदृश स्थिति में निपातों की अपनी सत्ता और उनके स्वरूप में तनिक भी अन्तर नहीं आता। हाँ, उनके कार्य और उनसे सूचित अर्थ में दोनों स्थानों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिसे हम प्रेपोज़िशन के रूप में स्वतन्त्र स्थिति कहते हैं, वह 'निपात' की 'कर्मप्रवचनीय' नाम की कोटि से भिन्न नहीं है। इसी कारण पाणिनि ने उसे 'अव्यय' नाम से भी अभिहित करना उचित समझा है। अन्ततः, इस प्रकार के निपातों का रूप अविकारी और अपरिवर्त्ती होता है।

---

२. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (१९५८ संस्करण), दे० शीर्षक 'ग्रामर', उप-शीर्षक 'स्पेस', लेखक येस्पर्सन !

८.११ कर्मप्रवचनीय

पाणिनि और परवर्त्ती वैयाकरणों ने उपसर्गों की तरह काम करने वाले, किन्तु उनसे भिन्न तथा अन्य अर्थ को वहन करने वाले, निपातों के एक अन्य वर्ग को विशिष्ट नाम से अंकित किया है। यह वर्ग 'कर्मप्रवचनीय' कहा गया है। प्रयोग इनका क्रिया के साथ ही होता है, किन्तु प्रत्यक्षतः जिस क्रिया के साथ ये प्रयुक्त होते हैं, उसके अथ में विशेषता लाने का कार्य ये नहीं करते। इनके द्वारा जिस अर्थ का वहन होता है, वह पठित धातु से अन्य किसी धातु का अर्थ होता है। अर्थ विचार के समय यह बात स्पष्ट होती है कि मूलतः कर्मप्रवचनीय भी उपसर्ग रूप में किसी अन्य धातु से ही संयुक्त रहते हैं। किन्तु, अधिक प्रचलन में आने पर संक्षेप और समास की एक अन्तर्वर्त्ती प्रक्रिया के द्वारा इनका सीधा सम्बन्ध अगली क्रिया या धातुरूप से हो जाता है। परिणाम यह कि इनके साथ रहने वाली पहली धातु स्वरूप में अविद्यमान रह कर भी इनके माध्यम से ही अपने अर्थ को वहन करती है। हालांकि पाठक या श्रोता के सामने जो स्थिति होती है, उससे वह यही परिणाम निकाल सकता है कि इस निपात या उपसर्ग के प्रयोग के कारण ही प्रयुक्त धातु के अर्थ में मूल से भिन्न अन्तर आ गया है। इस प्रकार संस्कृत या हिन्दी के 'विलेखन' का अर्थ 'विकृष्य लेखन' के रूप में जब होता है, तब 'वि' का प्रयोग प्रत्यक्षतः 'लिख' के साथ होने पर भी मूलार्थ की दृष्टि से उसका संयोग अदृश्य या अविद्यमान 'कृष्' धातु के साथ ही होता सिद्ध होता है। अंग्रेज़ी के 'एक्सपोज़', 'एक्स्चेंज', आदि में 'एक्स' का, और 'रेज़िस्टेंस', 'रिएक्शन', आदि में 'रि' या 'रे' का, प्रयोग इसी रूप में 'अन्यार्थ' या 'अधिकार्थ' को वहन करने वाला है।

पर, यह विषय अर्थात्मक या भावनात्मक विवेचन का है। जहां तक रूपात्मक व्याकरण का सम्बन्ध है, उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय की स्थिति में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है। इनका स्वरूप और प्रयोग एक समान ही होता है। 'निपातों' को यदि अलग कोटि मानना उचित है, विशेषकर उन्हें जो रूपात्मक दृष्टि से उपरिगणित दोनों कोटियों से भिन्न हैं, तब केवल इसलिए कि रूपात्मक दृष्टि से उनकी स्थिति स्वतन्त्र सी रहती है। अन्यथा, अर्थ की दृष्टि से तो ये सभी वर्ग ही एक समान रूप में 'निपात' के जा सकते हैं। इनका अर्थ स्थान-स्थान पर बदलता रहता है। स्वतन्त्र रहने पर भी ऐसे निपात जब विभक्त्यर्थ को वहन करते हैं, या उनके कारण स्वाभाविक विभक्ति पर प्रभाव पड़ता है, तब उन्हें भी

'कर्मप्रवचनीय' में ही अन्तर्गत मान लिया जाता है।

८.१२ निपात : तीन विविध स्थितियां

अंग्रेज़ी में स्वतन्त्र निपातों की तीन कोटियां उपलब्ध होती हैं : आर्टिकल, प्रेपोज़िशन, और निपात (समुच्चयबोधक, विस्मयादिबोधक, सापेक्षिक, आदि)। इनमें से अन्तिम कोटि को, संस्कृत वैयाकरणों की दृष्टि से, 'निपात' मानना ही ठीक है। 'निपात' होने के कारण ही ये 'अव्यय' भी कहे जाते हैं। 'अव्यय' कहलाने के लिए सार्थकता या निरर्थकता, अथवा एकाच्त्व या अनेकाच्त्व, आदि—की भी अनिवार्य शर्त नहीं है। जहां तक आर्टिकल (या आदिनिपात) का प्रश्न है, अंग्रेज़ी भाषा में उसकी स्थिति के आधार पर सार्वत्रिक रूप से उसके बारे में कोई धारणा बनालेना उचित न होगा। कारण यह कि ग्रीक, ट्यूटानी और लैटिन वर्ग की अन्य सभी यूरोपीय भाषाओं में इन तथाकथित आदिनिपातों का रूपपरिवर्तन वचन विभक्ति आदि के अनुकूल होता है। वस्तुत: वहां ये सर्वनाम से मिलते-जुलते या अभिन्न प्रतीत होते हैं। इसीलिए येस्पर्सन ने उचित रूप में ही इनका समावेश सर्वनामों के वर्ग में किया है, अव्यय में नहीं। उनके अनुसार इनका उनसे इतना ही भेद है कि तथाकथित आदिनिपात का प्रयोग जातिसंज्ञाओं के साथ होता है, जबकि सर्वनाम का प्रयोग व्यक्ति और जाति संज्ञाओं के स्थान पर हुआ करता है। पर सर्वनाम की ही एक प्रायोगिक स्थिति 'विशेषण' या 'निर्देशक' सी भी होती है, जहां वे संज्ञाओं के स्थानीय न रहकर उनके साथ ही ('वह गाय' आदि में) प्रयुक्त होते हैं। इस स्थिति में, ये दोनों इस अर्थ में भिन्न कहे जा सकते हैं कि सर्वनाम का कार्य 'संकेतन' और 'प्रतिनिधित्व' करना होता है, जबकि आदिनिपात का कार्य ऐसा नहीं होता : हां, लिंग, विभक्ति, वचन, आदि की सूचना को इन आदिनिपातों का कार्य अवश्य माना जा सकता है, जो इनके बिना भी उपलब्ध हो सकती है, परन्तु जो इनके द्वारा अधिक स्पष्ट भी हो जाती है। इन तत्त्वों की सूचना देने वाली शब्दराशि 'अव्यय' कैसे कहला सकती है ?

इस विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय वैयाकरणों की उपरिलिखित परिभाषा में तीन पाश्चात्य विभागों में से केवल 'प्रेपोज़िशन' का ही 'निपात में' अन्तर्ग्रहण हो सकता है। 'प्रिफिक्स' या 'उपसर्गों' का परिगणन पाश्चात्य वैयाकरण प्रत्ययों में ही करते हैं। अतः उनके अन्तर्ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता।

८.१३ भारतीय मत

परन्तु, भारतीय वैयाकरणों की दृष्टि में निपातों की निश्चित रूप से तीन कोटियां हैं। कार्यगत दृष्टि से कदाचित् इनके अधिक भेद भी किए जा सकते होंगे, किन्तु अन्ततः इन तीन भेदों में उन सब का अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थ-परिवर्त्तन के कारण इन सबको 'निपात' और रूपात्मक अपरिवर्तन के कारण इन्हें 'अव्यय' कहा जाता है। इन तीनों भेदों की चर्चा ऊपर की ही जा चुकी है। यहां उनका विहगावलोकन और पुन:परिगणन उचित और सावसर ही होगा।

८.१३.१: प्रथम : निपात

वे निपात जो सर्वथा निरर्थक और अनिश्चित हैं, तथा जिनका प्रयोग केवल अर्थाविभेद के सूचन या पदपूरण के लिए होता है। इ, ई, उ, ऊँ, आदि संस्कृत निपात इसी प्रकार के हैं। ये अव्यय हैं।

८.१३.२ द्वितीय : विभक्त्यर्थक स्वतन्त्र निपात

इनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से विभक्तिस्थानीय रूप में वैदिक और प्राकृत आदि में होता रहा है। पर, स्वत: ये अपरिवर्त्ती रूप वाले हैं। अधि, अनु, प्रति, आ, आदि इस प्रकार के निपात हैं। इनका अपना कोई मूलार्थ नहीं होता। न ये उपसर्गों की भांति धातु के अर्थ में ही किसी प्रकार का अन्तर या परिवर्त्तन करते हैं। फिर भी इनका निश्चित विभक्त्यर्थों में प्रयोग होता है।

८.१३.३ तृतीय : अव्यय

यह निपातों की ही वह स्थिति है, जिसमें वे संज्ञाओं के साथ जुड़कर 'अव्ययीभाव' समास का निर्माण करते हैं। समास में सम्मिलित होकर भी ये स्वत: अपरिवर्त्ती रूप के ही रहते हैं। 'अधियज्ञम्' आदि संस्कृत में इसी वर्ग के उदाहरण हैं।

इनमें से द्वितीय और तृतीय श्रेणी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वैदिक में यदि हम 'यज्ञमधि' कह सकते थे, तो यहां 'अधियज्ञं' कह दिया गया है। समास की निश्चित पद्धति में ऐसा होना उचित ही है। इससे अधिक स्वतन्त्र स्थिति पालेने पर भी 'अधि' की अपनी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अपरिवर्त्तन और रूपात्मक अक्षुण्णता की दृष्टि से प्रथम कोटि भी शेष दोनों कोटियों से भिन्न नहीं है। अत: इन्हें निपातों के विशाल वर्ग की तीन विविध

कोटियाँ या स्थितियां मात्र ही कह सकते हैं। विशेषतः परवर्त्ती दोनों को 'प्रेपोज़िशन' भी कहा जा सकता है। ग्रीक प्रेपोज़िशनों और जर्मन प्रेपोज़िशनों से ऐसे उदाहरण गिनाए ही जा चुके हैं। इन दोनों वर्गों को ही 'कर्मप्रवचनीय' कोटि के अन्तर्गत इस दृष्टि से रखा जा सकता है, कि इन सबका विभक्ति-परिवर्त्तन पर समान प्रभाव पड़ता है।

८.१४ कर्मप्रवचनीय और उपसर्ग से तुलना

जर्मन, डच, आदि भाषाओं में यह प्रवृत्ति स्पष्ट देखी जा सकती है कि तथाकथित प्रेपोजिशनों के प्रयोग के बाद भी जातिसंज्ञा और आदिनिपात आदि में विभक्ति का अपना योग रहता ही है। संस्कृत की भांति यह बात वहां भी देखी जा सकती है कि 'प्रेपोज़िशन' के योग में आनेवाली यह विभक्ति वास्तविक नहीं होती। वास्तविक विभक्ति का अभिधान तो प्रेपोजिशन से ही होता है। यह विभक्ति मानो अभिव्यक्ति-शून्यता को बचाने के लिए होती है। लिंग-परिमाण एवं स्वतन्त्र कर्तृत्व के कथन की दृष्टि से प्रथमा का अपना एक निश्चित प्रयोजन है। शब्द या प्रातिपदिक का अपना अर्थ भी इसी से अभिहित होता है। अंग्रेजी नाम 'नौमिनेटिव' या समानार्थ अन्य नाम इसी अभिप्राय के सूचक हैं। किन्तु, अधिकांश निपात-अव्ययों के योग में 'द्वितीया' या 'कर्म कारक' के प्रचलन का कारण यह है कि उसे हर अस्पष्ट स्थान पर बिना कर्मभावना के भी प्रयोग कर लिया जाता है। पाणिनि ने इसे ही 'अनभिहिते' और 'कर्मणि द्वितीयां'[1] के रूप में कहा था। यह नियम भारोपीय मूल की अन्य यूरोपीय भाषाओं पर भी, तथा अंग्रेज़ी पर भी, लागू होता है। ऐसी स्थिति में विभक्त्यर्थ का वहन तो अव्यय या निपात से ही होता है, पर संज्ञा में विभक्तिशून्यता की स्थिति को बचाने के लिए द्वितीया का प्रयोग कर लिया जाता है। यही बात अंग्रेजी आदि में भी है।

ग्रीक भाषा के ऐसे कतिपय मुख्त निपात, कोष्ठकों में संस्कृत समानान्तरों के साथ, इस प्रकार हैं : एइस्-एस् (अधि, उप), अना (उत्), अन्ति (प्रति), अपो (अप), प्रो (प्राक्, प्र), एन् (अधि), सुन् (सह), दिया (तस्), कता (अव, कृते), मेता (स्मात्), उपेर् (उपरि), परा (परा), आम्फ़ि (अभि), पेरि (परि), उपो (उप, अव), प्रोस् (प्र), एपि (अधि); आदि।

ग्रीक वैयाकरणों ने इनका प्रयोग क्रिया से स्वतन्त्र और उससे संयुक्त होकर—दोनों स्थितियों में—होता माना है। इनका विभक्त्यर्थक स्वतन्त्र प्रयोग

१. पा० २. ३. १, २।

संज्ञा के योग में ही होता है। क्रियाओं के साथ संयुक्त हो कर भी इनका प्रभाव संज्ञा की विभक्ति पर ही पड़ता है। इनमें से एस्, अना, अन्ति, प्रो, आदि के साथ संस्कृत की भांति केवल द्वितीया का ही योग रहता है। दिया, कता, मेता, आदि के साथ द्वितीया और पंचमी-षष्ठी का प्रयोग होता है। उपोस्, प्रोस्, एपि, आदि के साथ तीन विभक्तियों—द्वितीया, चतुर्थी, पंचमी-षष्ठी का प्रयोग विहित रहता है। ये नियम संस्कृत व्याकरण से पूर्ण मेल खाते हैं। स्पष्ट ही इनका मूल आदिम भारोपीय भाषा में खोजा जा सकता है। जर्मन आदि के बारे में भी यह बात पहले कही जा चुकी है।

पर, अब तक एक सत्य पर बल नहीं दिया गया है। वह यह कि उपसर्ग और प्रेपोज़िशन मूलतः एक ही वर्ग के हैं। इनकी मूल प्रवृत्ति भी एक ही है। इनके योग में संज्ञा में प्रयुक्त विभक्ति स्वार्थ की वाहक नहीं रह जाती। इस दृष्टि से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि जहां तक व्याकरण-दृष्टि का सम्बन्ध है, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय और निपात (प्रेपोज़िशन) आदि का विभक्तितत्त्व पर एकसा प्रभाव पड़ता है। इसलिए रचनात्मक दृष्टि से उनका महत्त्व एक ही है। हम यह भी कह सकते हैं कि स्वतन्त्र निपातों की ही ये दो स्थितियां हैं, जिनमें से एक का प्रयोग धातु से संयुक्त होकर और दूसरे का संज्ञा से संयुक्त होकर या उससे स्वतन्त्र रूप में सम्बद्ध रहकर, होता है। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि निपात का प्रभाव धातु के अर्थ में परिवर्त्तन या घटाबढ़ी लाने के रूप में अधिक नहीं होता, जबकि उपसर्ग निपात की भांति विभक्ति पर प्रभाव डालने वाला होकर भी धातु के अर्थ में इस प्रकार का परिवर्त्तन लाने में समर्थ होता है। कर्मप्रवचनीय की स्थिति भी इस दृष्टि से 'स्वन्त्रन' 'निपात' के समान है। उसका भी प्रभाव प्रयुक्त धातु के अर्थ में घटाबढ़ी करने के रूप में नहीं पड़ता।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि उपसर्ग निपात की ही विशिष्ट स्थिति है, जो मूलतः निपातों से समवेत होकर भी अर्थसंशोधन की दृष्टि से भाषावैज्ञानिक महत्त्व भी रखती हैं। 'कर्मप्रवचनीय' तो अर्थ-संशोधन भी नहीं करता वह अनुक्त अर्थ का बहन आवश्य करता है। पर उसका प्रभाव विभक्ति की स्थिति पर अवश्य पड़ता है। पर, यह भी स्पष्ट है कि प्रेपोजिशन, निपात, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय, गति, आदि सब मूलतः एक ही वर्ग या कोटि की वस्तुएं हैं, जिसे पार्टिकल या निपात नाम देना अयुक्ति संगत नहीं है।

८.१५ अव्यय : येस्पर्सन

परन्तु, येस्पर्सन ने इन्हें इन्वेरिएबल (Invariable : अपरिवर्ती) कहा है। यह सत्य भी है कि सन्धिदशा को छोड़कर इनमें किसी भी प्रकार का रूपात्मक परिवर्त्तन नहीं आता। यह रूपान्तर भी लिंगवचनविभक्त्यादिजन्य रूपान्तर से सर्वथा भिन्न प्रकृति का होता है। परवर्त्ती की तुलना में इसे 'रूपान्तर' कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

संस्कृत व्याकरण में रूपपरिवर्त्तनहीन शब्दराशि को 'अव्यय' कहते हैं। यह परिभाषा रूपात्मक है। इस रूपात्मक परिभाषा में ही 'निपातों' की अर्थात्मिका कोटि का भी अन्तर्ग्रहण हो जाता है। पर 'अव्यय' नाम से निपातों से अतिरिक्त अन्य भी एक विशिष्ट शब्दराशि का ग्रहण होता है। येस्पर्सन इस शब्दराशि को 'एड्वर्ब' या 'क्रियाविशेषण' कहते हैं। स्पष्ट किया जा चुका है कि 'क्रिया-विशेषण' और 'विशेषण' का अन्तर केवल नाममात्र का ही नहीं है। आपाततः जिसे हम 'विशेषकता' के रूप में एक कार्य समझ लेते हैं, और संज्ञा और क्रिया के आधार पर जिसके विभेदन को हम अनुचित समझ सकते हैं, अधिक विचार करने करने पर हमें संज्ञा और क्रिया की विशेषकता एवं ऐसे 'विशेषणों' की क्रियाविधि और रूपयोजना में भी किंचित् मौलिक अन्तर दिखाई देगा। 'सदृशं त्रिषु लिंगेषु' आदि कारिका में लिंग-विभक्तिवचन में सर्वत्र एकरूपता को 'अव्यय' का जो मुख्य लक्षण माना गया है, पाणिनि भी उतने से ही संतोष कर सकते थे। पर, पाणिनि ने उससे आगे बढ़कर इस रूपपरिवर्त्तनहीन शब्दराशि के भी कुछ अवान्तर भेद किए हैं। यथा कुछ तद्धितान्त, कृदन्त या समास शब्द भी 'अव्यय' कहे जा सकते हैं : केवल रूपपरिवर्त्तनहीनता के कारण।[1] यह अपरिवर्त्तनीयता केवल स्थितिजन्य ही है। अन्यथा, केवल अव्यय कहनेमात्र से ही उनकी अपनी विशिष्ट स्थिति समाप्त नहीं हो जाती, और न ही उन्हें अव्यय की मूल कोटि में गिना ही जा सकता है। मूल कोटि में उन्हीं शब्दों को गिना गया है, जो या तो स्वभाव से अपरिवर्त्ती हैं, या फिर जो हर दृष्टि से एक और स्थिर रूप ग्रहण कर चुके हैं। इन में से परवर्त्ती कोटि में ऐसे शब्द आते हैं, जो कभी रूपसहित थे, पर अब जो अपरि-वर्त्ती रूपवाले बन चुके हैं। एक और वर्ग भी है, जिसे सविभक्तिक या सप्रत्यय नहीं माना जा सकता, पर मूलतः जो एकाच् प्रवृत्ति का है। आः, ओ, हुँ, हे, आदि इसी प्रकार के 'अव्यय' हैं। सम्भव यही दीखता है कि मूलतः इनका प्रयोग भी

१. पा० १. १. ३८-४१।

२. पा० १. १. ३७।

निपातों की भांति निरर्थक या अनिश्चितार्थक ध्वनि के रूप में ही हुआ होगा। पर कालान्तर में ये भी किन्हीं भावविशेषों की अभिव्यक्ति के रूप में स्थिर होते गए। इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः 'अव्यय' और 'निपात' की धारणा समानान्तर और एक ही शब्दराशि के लिए चली होगी। अगर इनमें कुछ अन्तर है ही, तो वह इनके रूपात्मक और अर्थात्मक आधारों का अन्तर है। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है।

८.१६ क्रियाविशेषण

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी शब्दराशि है, जो भावना और रूप की दृष्टि से संज्ञाविशेषणों से मिलती-जुलती है। यह शब्दराशि अर्थवान् भी है और विशेषक वचनों के रूप में भी प्रयुक्त होती है। **उच्चैः, नीचैः, एवं, यथा** (सं०), **वैरी, दैन्** (अं०), **ऐसे, जैसे** (हिन्दी), **सोफुस्, सोक्रोनुस्**, (ग्रीक), आदि शब्द ऐसे हैं, जिनका एक या दूसरे अर्थ में प्रयोग रूढ़ हो चुका है, तथा जिनके रूप को किसी आरम्भिक परिवर्तन के बाद इस अन्तिम रूप में स्थिर हुआ माना जा सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि इनका प्रयोग प्रायः क्रिया की विशेषकता के लिए ही होता है। इनका प्रचलित रूप अवश्य अपरिवर्त्ती कहा जा सकता है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि 'विशेषण' और 'क्रियाविशेषण' का यह रूपात्मक अन्तर उनके द्वारा विशेषित शब्दों की मूल प्रकृति पर अधिक आधारित रहता है। 'विशेषण' शब्द संज्ञाओं के विशेषक होते हैं। अतः जहां संज्ञाओं का सविभक्तिक रूप उपलब्ध होता है, वहां उनका सविभक्तिक पाया जाना भी सम्भव है। जहां संज्ञाएं अविभक्तिक और अप्रत्यय प्रयुक्त हों, वहां निश्चय ही विशेषण भी उसी रूप में प्रयुक्त होंगे। परन्तु 'क्रियाविशेषण' की स्थिति इससे भिन्न है। इस शब्दराशि को सदा क्रिया का ही विशेषक नहीं कहा जा सकता। फिर भी, इतना निश्चित है कि यदि इस शब्दराशि के प्रयोग का प्रभाव किसी शब्द पर पड़ता ही है, या इसका अर्थात्मक सहकार किसी से होता ही है, तो वह क्रिया के साथ ही सम्भव है। अतः इसकी दो ही स्थितियां सम्भव हैं: या यह स्वतन्त्र रहे, या यह क्रिया को विशेषित करे। **प्रथम** स्थिति में यह किसी भी प्रकार 'विशेषण' नहीं कहा जा सकता। संज्ञा या क्रिया से सम्बन्ध न रखने के कारण इसमें लिंगवचनादियोग का अवकाश ही नहीं रहता। **दूसरी** स्थिति में यह क्रिया से सम्बद्ध अवश्य होता है, पर उसके वचनकालादि का इस पर प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः वहां भी यह, 'संज्ञाविशेषण' की भांति प्रत्यक्ष या क्रियागत विशेषता बताने का कार्य न करके, सामान्य क्रियाविधि की विशिष्ट स्थिति या

उसकी विशेषता का इंगित करता है। 'ऊंचा पढ़ता है' या 'ऊंचा पढ़ा' में काल-भेदयुक्त क्रिया होने पर भी 'ऊंचा' की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुत: 'पढ़ना' भी 'ऊंचा' या 'नीचा' नहीं होता, स्वर अवश्य ऊंचा-नीचा होता है। 'वह धीरे चलता है' में 'चलना' 'धीरे' नहीं है, बल्कि धीमी 'गति' है। इसी तरह 'अधिक पढ़ना' का अर्थ 'अधिक समय तक पढ़ने' से है। इस प्रकार अनेक उदा-हरणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि क्रियाविशेषण या अव्यय का सामान्य कार्य उससे भिन्न है, जो कि सामान्यत: उनका माना जाता है।

परन्तु, इतने से ही इन शब्दरूपों को 'संज्ञाविशेषण' भी न मान लेना चाहिए। भाषातात्त्विक विवेचन करने पर हम पाएंगे कि इन अव्ययों की स्थिति 'कर्मप्रवचनीय' के समान ही किसी लुप्त शब्द की भावना को वहन करने की है। मूलत: **यथा, तथा, यदा,** कदा, आदि का प्रचलन **प्रकार, स्थान, समय,** आदि की भावना एवं तद्वाचक मूल शब्दों के साथ हुआ होगा। बाद में, प्रत्ययों द्वारा उन प्रकारसमयादिवाचक शब्दों का स्थान लेने पर, यथादि शब्दों का प्रयोग मूल सर्वनाम और उन शब्दों के प्रतिनिधि (या संक्षेप) के रूप में होने लगा। 'यथा' का अर्थ तब भी 'येन प्रकारेण' के द्वारा ही समझाया गया।

पाणिनि इनकी रचना सर्वनामों से ही सम्भव मानते हैं। यत्, तद्, आदि सर्वनामों से ही प्रत्ययों के संयोग द्वारा वे इनकी रचना मानते हैं[1]। बल्कि वे तो इन प्रत्ययों को मानते भी तद्धित हैं। अर्थात्, उनकी दृष्टि में इन शब्दों का महत्त्व भी उन अव्ययों से भिन्न नहीं है, जिन्हें कृदन्त आदि होने पर भी अव्यय माना गया है।[2] इस प्रकार ये शब्द मूलत: कई शब्दों के संक्षिप्त योग से बने हैं। सभी भाषाओं में ऐसे शब्दों की यही स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। अत: जिन्हें हम सामान्यत: क्रियाविशेषण मान बैठते हैं, वे शब्द मूलत: किन्हीं सर्वनामों से ही आगत रूप होते हैं। उनके साथ कभी के सम्बद्ध शब्द अब लुप्त होकर प्रत्ययों द्वारा स्थानान्तरित हो चुके होते हैं। अत: अर्थकाल में यदि इनके द्वारा क्रिया-विधि सम्बन्धी सूचना मिलने के कारण हम इन्हें क्रियाविशेषण कह दें, तो यह हमारी अपनी सुविधा-दृष्टि है। अन्यथा, अन्य तद्धितान्तों या कृदन्तों से इनका अन्तर और 'अव्ययत्व' इसी बात में है कि ये कालक्रम में रूपपरिवर्त्तनहीन बन चुके हैं। अन्यार्थ को अन्तर्हित करने के कारण ही हमने इनकी तुलना 'कर्म-प्रवचनीय' से की है।

---

१. पा० ५. ३. १ से २५।

२. पा० १. १. ३८।

८.१७ पतंजलि : क्रियाविशेषक शब्द

यही कारण है कि पाणिनि कहीं भी 'क्रियाविशेषण' जैसी संज्ञा को प्रयुक्त नहीं करते। पतंजलि अवश्य 'क्रियाविशेषकाः' के रूप में इसका अन्यत्र प्रयोग करते हैं[1]। ऐसा कहते हुए भी एक शब्दवर्ग के कार्यमात्र का इंगित ही उनका अभिप्राय होता है, किसी विशिष्ट पदभेद की चर्चा करना नहीं। पाणिनि इतना कह कर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि रूपपरिवर्त्तनहीन बन जाने के कारण ही इस शब्दराशि को अन्य रूपपरिवर्त्तहीन शब्दों के समान 'अव्यय' ही मान लेना चाहिए। उनकी दृष्टि में अव्यय का अर्थ है : स्थिर रूप वाला।

८. ८ लिंगादियोग

यहां इस युक्ति पर भी विचार कर लेना अधिक उपयुक्त रहेगा कि क्रिया के शेषक होने के कारण भी इन शब्दों में लिंग और विभक्ति का योग सम्भव नहीं हो सकता। पर यह बात संस्कृत, अंग्रेजी, आदि कुछ ही भाषाओं पर घटती है। हिन्दी, उर्दू, आदि तथाकथित सलिंग क्रियारूप से युक्त भाषाओं में स्थिति भिन्न माननी पड़ेगी : वहां तो क्रिया के साथ लिंग का प्रयोग होने के कारण अव्ययों के साथ भी, यदि वे सत्य ही क्रियाविशेषण हैं तब, लिंगादि-योग मानना ही पड़ेगा। हां, यदि वहां विशेषणमात्र के साथ लिंगयोग के राहित्य की बात सिद्ध करके इनकी लिंगरहितता को सयुक्ति ठहराया जाए, तो बात और है।

वैसे यह बात वहां भी विचार्य है कि क्रियारूप में जो लिंगयोग दिखाई देता है, उसको कहां तक 'क्रिया' का अंश माना जा सकता है ? हम पहले कह आए हैं कि क्रिया के साथ इन भाषाओं में जो लिंगयोग दिखाई देता है, उसका आशय कर्त्ता के ही लिंगद्योतन से है। वस्तुतः यह लिंगयोग 'कृदन्त' रूपों के साथ होता है, जोकि स्वतः 'नाम' के वर्ग में गृहीत होते हैं; 'आख्यात' में नहीं। 'अव्यय' के क्रियासम्बद्ध इस रूप को 'विशेषण' की स्थिति न पाणिनि देते हैं, न भर्तृहरि। पाणिनि विशेषण और विशेष्य के समास के विषय में और अन्यत्र 'विशेषण' को 'क्रियाविशेषण' नहीं मानते, और न ही वे 'विशेष्य' के अन्तर्गत 'क्रिया' को गृहीत करते हैं[2]। भर्तृहरि भी स्पष्ट करते हैं कि अव्यय के 'क्रिया-

---

१. पा० ५. १. १२४ का भाष्य, आदि।

२. पा० २. १. ५७।

प्रधान' होने का यह अर्थ नहीं कि उसका कोई भी सम्बन्ध या योग लिंग अथवा संख्या से है : **'न चैतस्यार्थस्य लिंगसंख्याभ्यामस्ति योग इति'**[1]।

८.१९ अव्यय : सत्य

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि 'क्रियाविशेषण' के रूप में शब्दों की एक स्वतन्त्र कोटि स्वीकार करने से अनेक भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। उन सबका निराकरण केवल तभी हो सकता है, जब हम उन्हें 'अव्यय' या 'विशेषण' के अलग-अलग वर्गों में से यथास्थान मानते हुए चलें। इनमें अधिकांश का समावेश होता ही 'अव्यय' में है। 'क्रियाविशेषण' की तथाकथित रूपहीनता को सूचित करने वाला ऐसा नाम 'अव्यय' ही है। इसीके द्वारा हम इस कोटि का सही वर्गीकरण कर सकेंगे।

८.२० भर्तृहरि का मत

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के निम्न वक्तव्य को व्यापक रूप में देख लेना उचित है : "**अव्यये त्वेतत् निश्चितम्। इह किंचिदव्ययं क्रियाप्रधानं, किंचिद्विभक्त्यर्थप्रधानम्। न चैतस्यार्थस्य लिंगसंख्याभ्यामस्ति योग इति। स्वरादयोऽपि विभक्त्यर्थप्रधानत्वात् असत्त्ववचना एव। खलु विशेषवाचकाः स्वरादयो, द्योतकाश्चादय इति**[2]।" अर्थात्, 'अव्यय दो प्रवृत्ति के होते हैं : क्रियाप्रधान और विभक्त्यर्थप्रधान (इन्हें ही क्रमशः 'एड्वर्ब' और 'प्रेपोज़िशन' कहा जा सकता है)। इनके अर्थ का लिंग और संख्या से योग नहीं हो सकता है। यूं तो, विभक्त्यर्थप्रधान होने से 'स्वर्' आदि अव्ययों को भी 'असत्त्ववचन' कह सकते हैं, किन्तु मूलतः वे विशिष्टवाचक हैं; जबकि 'चादि' निपात द्योतक हैं।' यहां भर्तृहरि ने हमें वह आधार प्रदान किया है, जिसके कारण दोनों को 'अव्यय' नाम देकर भी पाणिनि 'चादि' को 'निपात' नाम देते हैं, और 'स्वरादि' को उस कोटि के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करते। पाणिनि के 'चादयोऽसत्त्वे' की व्याख्या के रूप में भर्तृहरि यह स्पष्ट करते हैं कि 'असत्त्ववाची' होकर भी स्वरादि निपात नहीं हैं। हां, चादि के समान रूप एवं लिंगवचनादि के परिवर्त्तन से हीन होने के कारण वे 'अव्यय' अवश्य हैं।"

---

१. त्रिपदी, पा० १. १. ३७ की व्याख्या में।

२. वही।

८.२० एक अन्य लाभ

इस नाम को स्वीकार करने से एक और लाभ यह होगा कि समुच्चय-बोधक, विस्मयादिबोधक, आदि शब्दों की भी गणना इसी वर्ग में हो जाएगी। वास्तव में इन वर्गों के शब्दों को केवल 'निपात' नाम से भी अभिहित नहीं किया जा सकता। कई बार ऐसे शब्द सार्थक भी हो सकते हैं। पर, विशेष अन्तर यह है कि जहां निपात उच्चावच अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, वहां ऐसे शब्द एक विशिष्ट स्थिति की सूचना देने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। प्रवृत्ति में निपातों से मिलते-जुलते हो कर भी, आकार में कई बार ये समुच्चयबोधकादि निपात सार्थक शब्दों से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इस पर भी, केवल इसी आधार पर इन्हें किसी पृथक् वर्ग रूप में मानना उचित नहीं।

जहां तक समुच्चयबोधक शब्दों का सम्बन्ध है, उन्हें सामान्यत: 'निपात' कहना ही उचित प्रतीत होता है : '**अपिवा कर्मोपसंग्रहार्थे**' (निरुक्त)। किन्तु, उन में भी बहुत से 'सार्थक ध्वनिसमूह' के रूप में प्रतीत होते हैं। अत: उन्हें भी केवल 'निपात' कहने से काम नहीं चल सकता : **एवं**, **तथा**, आदि ऐसे ही रूप हैं। इनका मुख्य प्रयोजन समुच्चय होने के कारण, इन्हें 'क्रियाविशेषण' जैसा पृथक् नाम भी नहीं दिया जा सकता।

८.२२ परिणाम

इस प्रकार इन सभी प्रकार के शब्दभेदों पर विचार करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इन्हें स्थूल रूप में 'अव्यय' या तत्सम नाम देना ही उचित है। यदि इन्हें **निपात, कर्मप्रवचनीय, उपसर्ग, गति, क्रियाविशेषण**, आदि विविध नाम देते हैं, तब समस्या सुलझने के स्थान पर उलझती ही जाएगी। क्योंकि उस दशा में संज्ञाओं के भी संख्यावाचक गुणवाचक, भाववचक, प्राणिवाचक, द्रव्यवाचक, क्रियावाचक, आदि भेदों को पृथक्-पृथक् मान्यता देनी पड़ेगी। यह हम पहले ही स्पष्ट कर आए हैं कि रूपात्मक और अर्थात्मक दृष्टि से पाणिनि इन्हें केवल 'नाम' के रूप में ही मानते हैं, और उसी में 'सर्वनाम' और 'विशेषण' तक का अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार रूपपरिवर्त्तनहीन शब्दों को भी निपातादि वर्गों में भले ही बांटा जाए, किन्तु व्याकरणात्मक अथवा रूपात्मक दृष्टि से उन्हें एक ही वर्ग में रखना उचित होगा। जहां '**क्रियाविशेषण**' में भी रूपान्तरण सम्भव हो, उसे सामान्य 'विशेषण' से अभिन्न ही मानना होगा। रूपान्तरण से हीन समस्त शब्दराशि को **अव्यय** मानना ही उचित है।

८.२३ पाणिनीय विभाजन

पदभेद की पाणिनीय योजना का प्रधानतम आधार ही रूपात्मक प्रतीत होता है। 'प्रातिपदिक' की परिभाषा में वे अर्थवत्ता को आधार मनाते हुए भी अंततः रूपात्मक (सुबन्त रूप में) परिवर्त्तनीयता को ही आधार मानते हैं। यही नहीं, 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' का विभाग भी केवल रूपात्मक आधार पर ही किया गया। 'नाम' और 'सर्वनाम' के भेद का मुख्य अन्तर प्रत्यय-सम्बन्धी ही है। 'प्रत्यय' की परिभाषा में वे उसे भी रूपात्मक आधार पर ही पृथक् करते हैं। 'प्रत्यय' का 'परत्व' स्वीकार करने के बाद अर्थवत् शब्दराशि में से दो ही अन्य विभाग शेष रह जाते हैं, जिनका अपना सम्बन्ध इन 'अर्थवत्' प्रत्ययों से ही होता है। ये हैं : **प्रातिपादिक और धातु**। प्रत्यय के द्वारा ही इन में रूपपरिवर्तन सम्भव होता है।

परन्तु, एक ऐसी भी शब्दराशि है, जो न तो इनकी तरह अर्थवत् है, और न ही जिसके साथ प्रत्यय जैसी किसी इकाई का संयोग होता है। उनमें से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा किसी प्रातिपदिक या धातु का पृथक्करण भी असम्भव है। इस शब्दराशि के तथाकथित अर्थ 'उच्चावच' भी हो सकते हैं और स्थिर भी। किन्तु रूपात्मक दृष्टि से इस सम्पूर्ण शब्दराशि की प्रकृति एक है। इसी आधार पर पाणिनि ने स्वरादि अव्ययों और 'चादि' निपातों को एक ही वर्ग में रखना उचित समझा, और उन्हें **'अव्यय'** संज्ञा दी।[1] इस वर्गीकरण का आधार मुख्यतः और मूलतः रूपात्मक ही है। इसके विपरीत 'निपात' नाम अर्थ की उच्चावचता को आधार बनाकर रखा गया है। वैसे 'निपात' का शाब्दिक अर्थ—'निपतन्ति'—वाक्यप्रयोग में उनकी स्थानात्मक या प्रयोगात्मक अनिश्चिति का भी परिचायक कहा जा सकता है।

इसी आधार पर हमने येस्पर्सन के 'पार्टिकल' का अनुवाद 'अव्यय' किया है, 'निपात' नहीं। उनके और पाणिनि एवं भर्तृहरि के युक्तिक्रम में यत्किंचित् भी अन्तर नहीं है। हां, पाणिनीय दृष्ट से येस्पर्सन की यह बात अवश्य ही आपत्तिजनक और असत्य है कि उपसर्ग और प्रेपोजिशन आदि को, 'अव्यय' वर्ग में न रखकर, 'प्रत्यय' के वर्ग में रखा जाए। परन्तु, दूसरी ओर, येस्पर्सन को यह श्रेय मिलना ही चाहिए कि पाश्चात्य वैयाकरणों की प्रचलित मान्यताओं का विरोध करके भी उन्होंने 'क्रियाविशेषण' को 'अव्ययवर्ग में' ही अन्तर्गृहीत किया है। यह बात उन्हें संस्कृत वैयाकरणों की परम्परा में ही सिद्ध करती है।

उक्त विवेचन के आधार पर समस्त पदराशि के तीन ही विभाग सम्भव हैं : **नाम, आख्यात, अव्यय**।

८.२३ विश्वभाषाएं : पाणिनीय वर्गीकरण

उक्त विवेचन में बार-बार रूपात्मक गठन की बात आई है। यह इस कारण कि जितनी भी भाषाओं के उदाहरण लिए गए हैं, वे मूलत: एक ही परिवार—भारोपीय परिवार—की हैं। उस परिवार की भाषाओं में प्रत्ययसंयोग और तज्जन्य रूपान्तरण की बात निश्चित ही है। विश्वभाषाओं के कई अन्य परिवारों में भी प्रत्ययसंयोग होता ही है। वहां भी यह वर्गीकरण किसी न किसी रूप में लागू होता है। किन्तु, जिन भाषाओं में रूपपरिवर्त्तन या प्रत्ययसंयोग होता ही नहीं, ऐसी—एकाक्षर परिवार की या तत्सदृश अन्य—भाषाओं में रूपात्मक भेद पर आधारित यह वर्गीकरण लागू होना असम्भव दीखता है।

पर, यहीं पाणिनीय दृष्टि का एक अन्य पहलू भी सामने आता है : अर्थवान् और तद्भिन्न शब्दों के विभाजन का। चीनी आदि एकाक्षर भाषाओं में भी नामशब्द और क्रियापद 'अर्थवान्' कोटि में ही आते हैं। इनके अतिरिक्त शेष शब्दराशि वहां भी अनिश्चितार्थक ही है। अत: उसे 'अर्थवान् से भिन्न' ही कहा जाएगा। इस शब्दराशि को पाणिनीय भाषा में 'अव्यय' कहा जाएगा। 'अव्यय' का मूल अर्थ है—'अगतिक'। जिन शब्दों के अर्थ का अन्यत्र वहन या संयोग न हो सके, वे अर्थ की दृष्टि से 'अगतिक' ही रहेंगे, तथा साथ ही प्रातिपदिक और धातु से भिन्न भी रहेंगे। अत: ऐसी सम्पूर्ण शब्दराशि को, जो निश्चितार्थ से हीन है और जो किसी रूप-पद्धति का अनुकरण नहीं करती, हम 'अव्यय' ही कहेंगे। येस्पर्सन का 'पार्टिकल' नाम भी ऐसा है।

अत: विश्वभाषाओं के प्रसंग में तीन ही पदभेद मानने उचित हैं : नाम, आख्यात और अव्यय।

---

१. पा० १. १. ३७।

दिक् या स्पेस

६.१ दिक् और काल : दो चित् शक्तियां

द्रव्य के एकत्व-नानात्व[1], देश[2], काल और क्रम[3] से सम्बद्ध सभी अंशों का सम्बन्ध भर्तृहरि ने 'दिक्' से ही माना है। उन्होंने साधन, क्रिया और काल के साथ और उनके समकक्ष ही 'दिक्' को भी द्रव्य की एक शक्ति ही स्वीकार किया है।[4] दिक् और काल को वे द्रव्यमात्र का धर्म तो मानते ही हैं, पर इन्हें ही वे क्रमशः द्रव्य और क्रिया का मुख्य आधार भी स्वीकार करते हैं। सत्य यह भी है कि इन दोनों शक्तियों को वे परस्पर अविच्छेद्य और अविभेद्य भी स्वीकार करते हैं। वे तो इन्हें 'चेतनामात्र' की दो मुख्य शक्तियां स्वीकार करते हैं।[5] इनकी अपेक्षा क्रिया और साधन इसलिए गौण हैं, क्योंकि उनके जन्म में भी ये ही दो शक्तियां मूलभूता होती हैं। भर्तृहरि की यह मान्यता उन्हींके 'नीतिशतक' के प्रथम श्लोक में इस प्रकार व्यक्त हुई है : **दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये** (नीति १)। इसी बात को 'वाक्यपदीय में' वे इस प्रकार कहते हैं :

चैतन्यवत्स्थिता लोके दिक्कालपरिकल्पना ॥ वा० ३.६.१८ ॥

अर्थात्, दिक् और काल की सामर्थ्य, चेतना के समान ही, व्यापक और सर्वप्रभावी है। उसका मार्ग अप्रतिरुद्ध है।

६.२ दिक् : परिभाषाएं

(१) 'शब्दकल्पद्रुम' और 'वाचस्पत्यम्' में 'दिक्' की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है : **दिशति आकाशं ददाति**। 'आकाश' का अर्थ 'स्पेस' या 'अन्तराल' है। जिसके द्वारा स्थान और अन्तराल की स्थिति निश्चित होती है, या उनकी सत्ता जिसपर आधारित होती है, उस तत्त्व को 'दिक्'

---

१. वा० ३. ६. २५-२८।
२. वा० ३. ६. ६-१०।
३. वा० ३. ६. ४, २२।
४. वा० ३. ६. १।
५. वा० ३. ६. १८।

कहते हैं।

(२) 'वैशेषिक' दर्शन में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :

इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिंगम् ॥ वै० सू० २.२.१० ॥

अर्थात् 'यहां से यह' आदि सूचना जिस तत्त्व या लिंग से उपलब्ध होती है, उसे दिक् का लिंग मानते हैं।

(३) 'शब्दकल्पद्रुम' में एक अन्य व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है :

कृत्वैवमवधिं तस्मादिदं पूर्वं च पश्चिमम्।
इति देशो निदिश्येत, यया सा दिगिति स्मृता ॥

अर्थात्, 'पहले एक स्थान को सीमा या बिन्दु के रूप में स्वीकार करके, बाद में 'इससे यह पूर्व में है और यह पश्चिम में' आदि के रूप में देश या उसकी स्थिति की सूचना दी जाती है। यह सूचना जिस शक्ति के माध्यम से दी जाती है, उसे 'दिक्' कहते हैं।'

(४) भर्तृहरि 'दिक्' की परिभाषा करते हुए कहते हैं :

व्यतिरेकस्य यो हेतुरवधिप्रतिपाद्ययोः।
ऋज्वित्येव यतोऽन्येन विना बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥
कर्मणो जातिभेदानामभिव्यक्तिर्यदाश्रया।
सा स्वैरुपाधिभिर्भिन्ना शक्तिर्दिगिति कथ्यते ॥ वा० ३.६. २,३ ॥

अर्थात्, 'सीमा और सीमित वस्तु को भिन्न रूप में पहचानने, अर्थात् अमुक पदार्थ से यह पश्चिम में है या पूर्व में, आदि पहचानने की सामर्थ्य जिस शक्ति से आती है, जिसके बिना हम हर वस्तु को निर्भाग, सीधा और एक मान बैठते हैं, और जिसके कारण विविध कर्मों की सामूहिक या पृथक् अभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है, एवं जो अपनी ही उपाधियों के कारण 'बँटी सी' रहती है, उस शक्ति को 'दिक्' कहते हैं'।

स्पष्ट है कि भर्तृहरि की परिभाषा अन्य सब परिभाषाओं से अधिक व्यापक है। पर, इसपर बिचार करने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि भर्तृहरि 'देश' और 'दिक्' में भिन्नता मानते हैं। उन्हें वे क्रमशः 'वस्तु' और 'शक्ति' का स्थानीय मानते हैं। इस बात की अधिक विवेचना आगे होगी। पाणिनि के सूत्र **'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ।'** (पा० १.२८) की व्याख्या में वे कहते हैं : **"अयं परिहारः, आरभ्यमाणे दिङ्नामन्यन्तराल इत्येतस्मिन्नुपपद्यते। यदा तु प्रत्याख्यायते दिक्समाससहयोगयोश्चान्तरालप्रधानाभिधानादिति, तदा न संभवत्ययं परिहार इति"** (म० त्रि० १.१.५.२८)।

अर्थात् 'दिक्' को वे अन्तराल से सम्बद्ध और अन्तराल का प्रधानाभिधान स्वीकार करते हैं।

(५) येस्पर्सन ने 'स्पेस' की, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में, 'ग्रामर' शीर्षक के अन्तर्गत जो चर्चा की है, उससे उसे 'दिक्' का ही रूपान्तर कहा जा सकता है। वस्तुतः 'आकाश', 'अन्तराल' और 'दिक्' को भर्तृहरि किंचत् स्पष्टतर और भिन्नतर अर्थों में प्रयोग करते हैं। 'आकाश' 'अन्तराल' को कहते हैं, जो निर्भाग और क्रमहीन होता हैं।[1] 'दिक्' आकाश की ही अवधि और सीमा का नाम है।[2] अर्थात् 'आकाश' के किसी सीमित या विभक्त प्रदेश को ही 'दिक्' के नाम से स्मरण किया जाता है।[3] 'अन्तराल' वह शून्य या दूरी है, जो किन्हीं दो बिन्दुओं—दिशाकोणों—के बीच रहती है। परन्तु इसी शून्यता के अखण्डित और असीमित रूप को ही 'आकाश' कहा जाता है। 'दिक्' इसी की प्रकल्पित सीमा या विभाजन है।[4]

६.३ दिक् के लक्षण या गुण

विविध मतों के अनुसार 'दिकृ के लक्षण और गुण निम्न प्रकार ठहरते हैं।

६.३.१ प्रथम

वै० सू० के वचन **'कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्'** पर टिप्पणी करते हुए 'शब्दकल्पद्रुम' का टीकाकार लिखता है : **'न्यायमते दिशां सर्वगतत्वं परममहत्त्वपरिमाणम्, दूरान्तिकादिधीहेतुत्वम् नित्यत्वमेकत्वेऽपि उपाधिभेदात् प्राच्यादिव्यपदेशभाक्त्वम्'**। अर्थात्, निस्सीमता, दूर-पासबुद्धि, नित्यता, एकत्व, और उपाधिभेद से प्राची आदि में विभागप्रतीति, आदि 'दिक्' के मुख्य लक्षण हैं।

६.३.२ द्वितीय

दिक् के गुणों को 'भाषा-परिच्छेद' में इस प्रकार गिनाया गया है : **'संख्या, परिमितिः, पृथक्त्वम्, संयोगः, विभागः।'**

इन दोनों वक्तव्यों पर विचार करने से पता चलता है कि :

(क) काल, आकाश और आत्मा (चेतना) के सदृश ही 'दिक्' भी मूलतः सर्वगत और सर्वद्रव्यस्थित है। इसे सर्वत्र व्यापक कहना अधिक

---

१. वा० ३. ६. १४।
२. वा० ३. ६. २।
३. वा० ३. ६. १३।
४. वा० ३. ६. १३, १४।

उचित होगा। कोई भी स्थल—परमाणु तक—इससे रिक्त नहीं है। इसकी यह व्यापकता सर्वाधिक (परम) और वर्धमान (महत्) है।

(ख) इसका दूसरा गुण है : दूर पास आदि की भावना का मूल होना।
(ग) 'दिक्' नित्य है।
(घ) एक होकर भी प्राची-प्रतीची आदि के भेद से भिन्न है।
(ङ) 'संख्या' का मूल कारण यही है।
(च) द्रव्य के परिमाण और सीमा इस पर ही आधारित हैं।
(छ) प्रत्येक द्रव्य के व्यक्तित्व, या उसकी 'पृथक्ता', का कारण यही 'दिक्' है।
(ज) संयोग-विभाग की प्रक्रिया का परिचालन भी इससे ही होता है।

९.३.३ तृतीय

भर्तृहरि ने 'त्रिपदी टीका' और 'वाक्यपदीय' में इन गुणों के अतिरिक्त **साधन** (कारक) का मूलहेतु भी इसी 'दिक्' को—इसकी सत्ता को—माना है। 'दिक्समुद्देश' में वे कहते हैं कि वस्तुमात्र का एकत्व और नानात्व इसी 'दिक्' के के भेदाभेद पर निर्भर करता है।[1] इसी 'दिक्' कारण मूर्त्त पदार्थों में पर-अपर की बुद्धि जगती है। यह बुद्धि देशभेद पर आधारित रहती है।[2] उधर, 'साधन-समुद्देश' में वे कहते हैं : 'बुद्धि में 'एक' के रूप में गृहीत होने वाले द्रव्यों को ही जब वक्ता भेद-बुद्धि से पृथक्-पृथक् रूप से विभाजित करता है, तब उसे 'अपाय' (एक विशेष साधन) कहते हैं[3]'। आगे चलकर वे और भी स्पष्ट करते हैं : 'साधन एक ही शक्ति के विभिन्न भाग हैं, जिन्हें वक्ता अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप बांट लेता है'।[4]

९.३.४ चतुर्थ

अन्य जर्मन एवं पाश्चात्य वैयाकरणों की भांति येस्पर्सन तो 'स्पेस' को कारक-कल्पना का मूल कारण मानते ही हैं। उनका 'स्पेस' भर्तृहरि के 'दिक्' का एकांशीभूत पर्याय है।

---

१. वा० ३. ६. २८।
२. वा० ३. ६. ४।
३. वा० ३. ७. ४।
४. वा० ३. ७. ६, ७।

६.३.५ पंचम

पाणिनि भी अपाय[1], अभिप्रयाण[2], और अधिकरण[3], आदि के रूप में दिक् से सम्बद्ध विविध गतियों को कारकों या साधनों के रूपमें स्वीकार करते हैं।

६.३.६ षष्ठ

भर्तृहरि 'दिक्' द्वारा जिन बातों को सम्भव, या दिक् के गुण के रूप में, स्वीकार करते हैं, वे इस प्रकार हैं : देश-भेद (व्यवस्था), क्रम-भेद (व्यवस्था), संयोग-विभाग, अवधिकल्पता, भागकल्पना, भेद-कल्पना (परापरत्व), अविच्छिन्नता, एकत्व, और स्वोपाधिभिन्नत्व। हम इन सब पर एक-एक करके बढ़ेंगे।

६.४ व्यवस्था

ऊपर देशभेद और क्रमभेद से 'व्यवस्था' को दो प्रकार का बताया गया है। पा०१.१.३४ में पाणिनि ने **'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्'** की एक शर्त लगाई है। 'व्यवस्था' के इस प्रतिबन्ध को पूरा करने पर ही पूर्व, उत्तर, दक्षिण, आदि शब्द 'सर्वनाम' संज्ञा ग्रहण कर सकते हैं। यह 'व्यवस्था' क्या है : 'एक बिन्दु या स्थल को 'अवधि' मान कर उससे पहले या पीछे की स्थिति, अन्तराल, या क्षण को वर्णित करना।'[4] सामान्यतः हम उत्तर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, आदि से दिशा-भिन्नता की बात लेते हैं। वहां 'पूर्व' का अर्थ किसी एक निश्चित बिन्दु के पूर्व या अभिमुख स्थित 'देशभाग' या 'आकाशभाग' से होता है (वा०३.६.५-७ से तुल०)। परन्तु अनिवार्य नहीं कि यह 'अवधि-बिन्दु' किसी स्थान का ही हो। काल या क्षणकी भी एक निश्चित अवधि होती है। उसे आधार मानकर यह पूर्वापर-विभाग हम वहां भी पा ही लेते हैं। उस विभाग को ही सामान्यतः 'क्रम' कह देते हैं (वा० ३.६.४)। इस प्रकार 'व्यवस्था' दोनों ही स्थितियों में एक प्रवृत्ति की ही रहती है। अतः पाणिनि ने जब पूर्व, पर, आदि को 'सर्वनाम' कहा, तब उनके केवल दिशा-वाचक होने के कारण ही ऐसा नहीं कहा; बल्कि दिशा और काल दोनों की व्यवस्था बताने वाले उभयात्मक शब्दों के रूप में उन्हें इस नाम

---

१. पा० १. ४. २४।

२. पा० १. ४. ३२।

३. पा० १. ४. ४५।

४. 'शब्दकल्पद्रुम' में 'दिक्' के प्रसंग में उल्लिखित श्लोक : 'कृत्वैवमवधिं' इत्यादि। तुल० वा० ३. ६. २ से।

से पुकारा गया (पा० १.१.३४)।

इसका एक कारण भी है : जब हम पूर्व, पश्चिम, आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब वह प्रयोग किन्हीं निश्चित दिशाओं को ही सदा ध्यान में रखकर नहीं करते (दिग्व्यवस्था न विद्यते—वा० ३.६.६)। वैशेषिक दर्शन में प्राची-प्रतीची-आदि की परिभाषा में 'सूर्य निकलने' आदि की बात प्रधान है।[1] इसी आधार पर अन्य दिशाओं की भी परिभाषा निश्चित की गई है।[2] परन्तु व्यक्ति अपने 'मुख' को अवधि मानकर दाएं हाथ, बाएं हाथ, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, आदि दिशाओं अथवा देशभेदों को भिन्न-भिन्न नाम दे बैठता है। एक स्थिति में उसका मुख एक ओर है। हो सकता है, दूसरी स्थिति में उसका मुख दूसरी ओर हो। उस स्थिति में उसके लिए दिशाओं का क्रम पलट जाएगा।[3]

इतना ही नहीं, हम जिन्हें पूर्व देश, उत्तर प्रदेश, दक्षिणापथ, पश्चिम, आदि कहते हैं, दिशासूचक होने के स्थान पर वे केवल 'संज्ञा' मात्र रह जाते हैं[4]। उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा 'पूर्व' आदि कहा जाता है। दक्षिण से पूर्व में आने के लिए किंचित् उत्तर में आना अनिवार्य ही होता है; पर कहने वाला सदा 'मैं पूर्व जा रहा हूं' ही कहेगा। 'पूर्व देश' का वासी उत्तर प्रदेश में आते हुए 'पश्चिम' की ओर आता है, फिर भी वह अपने गन्तव्य स्थल को 'उत्तर प्रदेश' ही कहता है। फिर यह स्थिति अत्यन्त अनवस्थित भी है।[5] हमारे लिए जो देश पश्चिम में है, ईरान के लिए वही पूर्व में है। जापान के लिए स्थिति इससे सर्वथा विपरीत होगी[6]। यही बात 'काल' के लिए भी स्पष्ट है। 'क्रम' की स्थिति भी अनवस्थित ही रहती है।[7]

इसीलिए, भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा : **दिशो व्यवस्था देशानां, दिग्व्यवस्था न विद्यते**[8]। अर्थात्, 'देशों की व्यवस्था की सूचना, उनका पूर्वापरत्व, या उनकी विशिष्ट स्थिति, दिशावाचक शब्दों से अवश्य ज्ञात हो जाती है, किन्तु इन संकेतक शब्दों को निश्चित रूप में किन्हीं दिशाओं की संज्ञाओं के रूप में रूढ़ नहीं किया जा सकता। या, इस प्रकार कह सकते हैं कि इन दिशाओं की अपनी 'निश्चित व्यवस्था' कोई नहीं हैं।

वैशेषिक भाष्य में इस प्रकार कहा गया है : "**दिशस्तु अनियतपरधर्मोप-संक्रामकतयैव सिद्धत्वान्नातिप्रसंगः। एवं च क्रियोपनायकात् कालात्संयोगोप-**

---

१. वै० सू०, २. २. १३।
२. वही, २. २. १४ से १७।
३. वा० ३. ६. ८।
४. वा० ३. ६. ६।
५. वही, ३. ६. १।
६. वा० ३. ६. ६।
७. वा० ३. ६. ४।
८. वा० ३. ६. ६।

नायिका दिक् पृथगेव। किं चास्मात्पूर्वमिदमस्माद्दक्षिणमिदं···इत्येते प्रत्यया 'इत इदमितीत्यनेन' संगृहीताः। एतेषां प्रत्ययानां निमित्तान्तरासम्भवात्। किंच नियतोपाध्युन्नायकः कालः, अनियतोपाध्युन्नायिका दिक्।'

इस वक्तव्य में काल और दिक् को परस्पर दो बातों में भिन्न बताया गया है। **प्रथम** यह कि काल 'क्रिया' का उपनायक है और दिक् 'संयोग' की उपनायिका है। **द्वितीय** यह कि काल और दिक् यद्यपि इस दृष्टि से समान हैं कि दोनों ही एक अवधि को मान कर उसमें और प्रतिपाद्य में अन्तर बताते हैं, और इसे 'यह यहां से दक्षिण दिशा में है' या 'यह इससे पूर्व का है', इत्यादि द्वारा प्रकट किया जाता है, इस पर भी दोनों में अन्तर यह है कि 'काल' एक निश्चित सीमा को आवरण के रूप में लेकर चलता है, जबकि 'दिक्' का आवरण किंचित् अनिश्चित सीमा का है। काल और दिक् के इस अन्तर को स्वीकार करना सबको ही अभीष्ट होगा। किन्तु, इस पर भी, इसमें जिस सर्वोत्कृष्ट तथ्य को स्वीकार किया गया है, वह यह कि काल और दिक् इस अर्थ में समान हैं कि उनसे अवधि और प्रतिपाद्य की दूरी या अन्तर की सूचना मिलती है। यही कारण है कि बहुधा अनेक भाषाओं में हम इनके लिए समानार्थक शब्दों का प्रचलन पाते हैं। संस्कृत के पूर्व, उत्तर, अधर, आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इनसे केवल 'दिक्' या केवल 'काल' की सूचना ही नहीं मिलती, बल्कि दोनों की ही सूचना मिलती है। भर्तृहरि इसे और स्पष्ट करके कहते हैं :

परापरत्वे मूर्तानां देशभेदनिबन्धने।
तत एव प्रकल्पेते क्रमरूपे तु कालतः॥ वा० ३.६.४॥

अर्थात्, 'जिस तरह देशों का परापरत्व दिक् से सूचित होता है, उसी तरह क्रम रूप में 'परापरत्व' की सूचना काल से मिलती है। शब्द एक होते हुए भी दो अर्थों में, 'परापरत्व' की एक ही भावना को लिए हुए, प्रयुक्त होता है।'

हेलाराज इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं : **'देशस्यापि पूर्वापरत्वं दिङ्निर्मितमिति नास्ति दिक्कालयोर्लिगसंकर इत्याशयः'** (उक्त श्लोक पर टिप्पणी)। दिक् और काल से इस प्रकार उपलब्ध परस्पर अविरोधी सूचना को ही 'व्यवस्था' कहा गया है। इसीलिए जब पाणिनि **'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्'** कहते हैं, तब उसका अर्थ होता है 'पूर्वा' नक्षत्र या इसी प्रकार की अन्य संज्ञाओं से 'दिक्' और 'काल' सूचक पूर्व, अपर, अधर, आदि व्यवस्थासूचक शब्दों की भिन्न प्रवृत्ति की ओर इंगित करना। 'पूर्वा' शब्द दिशा के लिए, क्रम के लिए, और नक्षत्र के लिए प्रयुक्त होता है। पर, व्यवस्था के अर्थ में वह पहले दो प्रसंगों में ही है, तीसरे में नहीं।

६.४.१ शक्ति

व्यवस्था के अतिरिक्त, काल और दिक् की यह एकता और समानता एक अन्य दृष्टि से भी उचित ठहरती है। इन दोनों को ही 'द्रव्य की शक्तियाँ' कहा गया है। भर्तृहरि **'शक्तिरूपे पदार्थानाम्'** के द्वारा इन दोनों के अतिरिक्त क्रिया और साधन को भी शक्ति मानते हैं[1]। अवधि और प्रतिपाद्य में व्यतिरेक के हेतु को 'दिक्' कहते हुए, वे उसे **'शक्तिर्दिगिति कथ्यते'** के द्वारा 'शक्ति' ही कहते हैं[2]। हेलाराज इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं: **'कार्यकल्प्यत्वे च सदैव पदार्थोपाधितया प्रतीतेः स्वतन्त्रद्रव्यरूपता नास्ति दिशः। नहि पृथिव्यादिवद् दिगुपलक्ष्यते। अत एव कालोऽपि शक्तिरिति कथ्यते'** (वा० ३.६.३)।

जो वस्तु स्वतन्त्र नहीं, वह द्रव्य नहीं हो सकती। द्रव्याश्रित अभिव्यक्ति के कारण वह तदाश्रित ही हो सकती है। पर, विविध अभिव्यंजनासामर्थ्य के कारण 'दिक्' और 'काल' को शक्ति ही कहा गया है।

६.५ एकता और अखण्डता

'काल' और 'दिक्' की एक और विशेषता यह है कि ये दोनों भी 'चिन्मात्रा' और 'चैतन्य' की भाँति नित्य, शाश्वत और एक हैं। भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' और 'वाक्यपदीय' के प्रथम श्लोकों में यह बात समान रूप में कही है। आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर दी गई है। यह बात वैशेषिक दर्शन से भी पुष्ट होती है। भर्तृहरि जिसे **'स्वोपाधिभिन्न'** शक्ति कहते हैं, उसे ही वैशेषिक की भाषा में हेलाराज इस प्रकार समझाते हैं:

'दिङ्लिंगाविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चैका दिगिति काणादाः। एकापि च दिङ् नियतोपाधिप्रकल्पितनानात्वा दशधा व्यवह्रियते।···तस्माद् भावत एका दिक्। कार्यवैचित्र्यं तु सहकारिभेदादित्येवमुक्तम्[3]।'

भर्तृहरि इसे और स्पष्ट रूप में कहते हैं:

> **सर्वत्र तस्य कार्यस्य दर्शनाद् विभुरिष्यते।**
> **विभुत्वमेतदेवाहुरन्यः कार्यवतां विधिः॥** वा० ३.६.१७॥
> **तस्यास्तु शक्तेः पूर्वादिभेदो भावान्तराश्रयः।**
> **भिन्ना दिक् तेन भेदेन भेदायैवोपकल्पते॥** वा० ३.६.२०॥

अर्थात्, 'दिक् विभु है और चैतन्य की तरह व्याप्त है। उसीके ये भेद हैं,

---

१. व० ३. ६. १

२. वा० ३. ६. ३।

३. वा० ३. ६. ३ की टीका में।

जिन्हें पूर्व, पश्चिम, आदि कहते हैं। शक्ति के रूप में एक होकर भी इन्हीं भेदों के कारण दिक् खण्ड-खण्ड हो जाती है।'

काल की एकता और अखण्डता की बात तो वे अनेकत्र करते हैं। यह बात हम 'काल-प्रकरण' में अधिक स्पष्टता से कहेंगे।

९.५.१ भिन्नता सप्रयोजन

यह भेद सप्रयोजन है, इसीलिए यह कल्पित भी है। जिस आकाश को खण्ड-खण्ड कल्पित करके भिन्न-भिन्न दिशाओं या देशभागों की कल्पना की जाती है, वह आकाश स्वतः एक और अखण्ड है। वह स्वयं ही दिक् है। उसके विभाग, व्यवहार की सुविधा के लिए, कल्पित किए जाते हैं :

आकाशस्य प्रदशेन भागैश्चान्यैः पृथक् पृथक्।
सा संयोगविभागानामुपाधित्वाय कल्पते ॥ वा० ३.६.५ ॥

व्यवहार की यह सुविधा किसी देश या भाग को अन्य देशों या भागों से पृथक् करके समझाने की भावना से उत्पन्न होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि सुविधा के ये नाम 'दिक्' नामक एक और अखण्ड शक्ति के अपने स्थिर विभाग हैं। वस्तुतः ये सभी नाम सापेक्षिक हैं, जो किन्हीं निश्चित दिक्-भागों या देश भागों पर रूढ़ नहीं हो सकते। इनका व्यवहार बदलती परिस्थितियों के अनुसार होता रहता है।

९.६ दिक्-कल्पना के आधार : सूर्य से व्यवस्था

दिक्-कल्पना को हम 'दिशा-विभाजन' कहें तो अधिक उचित होगा। अखण्ड दिक् के भेदों की कल्पना का सर्वप्रथम आधार सूर्य है। विश्व-भर में यह सबसे स्थूल आधार माना गया है। वैशेषिक दर्शन में यही बात कही गई है : '**आदित्यसम्प्रयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची।**[1]' वा० ३.६.२ की टीका में हेलाराज इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं : '**सवितुरहरहरादौ येन प्रकल्पितदिक्प्रदेशेन संयोगोऽभूद्, भवति, भविष्यति वा, तस्मादादित्यसम्प्रयोगात्प्राचीति व्यपदेशः। प्रागंचत इत्यतः कृत्वा। मूर्तिपरिच्छिन्नेन ह्यादित्यमण्डलेन यः संयोगः स परिमितदेशव्यापी।**' अर्थात्, 'सूर्य जिस दिशा के सामने चलता है उसे 'प्राची', जिसे पीछे छोड़ता चलता है उसे 'दक्षिण', जिसे बिना छोड़े आगे बढ़ता है उसे 'उत्तर', और अस्तकाल में जिसमें वह उल्टी दिशा में

---

१. वै० सू० २. २. १३।

चला जाता है, उसे 'प्रतीची' आदि कहते हैं।'

यह विभाजन विश्व-भर में इसी तरह और इसी आधार पर प्रचलित है। युक्तिक्रम और उसकी वैज्ञानिकता में अन्तर अवश्य हो सकता है।

६.७ मुख से व्यवस्था

इसी विभाजन से मिलता-जुलता एक अन्य विभाजन भी है। अन्तर यह है कि सूर्य को केन्द्र मान कर भी वहाँ व्यक्ति के खड़े होने की स्थिति को प्रधान आधार बनाया गया है। सूर्य की ओर मुख करके, उदय वेला में, खड़ा होने पर, सामने की दिशा 'प्राची', पीठ की 'प्रतीची', आदि के क्रम से अभिहित होती है। पर, यह विभाग इतना दोषपूर्ण है कि अस्तकाल में सूर्य की ओर मुख करके खड़ा होने पर सारी व्यवस्था ही पलट जाती है। सूर्य के उदय या अस्त पर आधारित व्यवस्था कदाचित् ठीक भी कही जा सकती है। पर, मुख पर, अथवा वाम-दक्षिण हस्त पर, आधारित यह व्यवस्था तो अत्यन्त भ्रमावह हो सकती है। भर्तृहरि के अनुसार,

स्वांगाद् व्यवस्था या लोके न तस्यां नियता दिशः।
प्रत्यङ्मुखस्य यत्पश्चात् पुरस्तात्तद्विपर्यये ।। वा० ३.६.८ ।।

६.८ अवधि से आरम्भ

दिग्भेद की इस बात को आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। काल और दिक् दोनों का प्रयोजन किसी मान्य अवधि के पार्श्वभागों, या प्रतिपाद्य से अवधि के अन्तर, की सूचना देना है। पहले दोनों भेदों से यहाँ यह अन्तर है कि भेदक बिन्दु यहां सूर्य या मुख को न मान कर 'अवधि' या 'बिन्दु' को मान लिया गया है। यह बात भी सामान्य 'दिशा' या किसी भी सामान्य वस्तु के भागों के विषय में समान रूप से घटित हो सकती है। 'इसके पूर्व में' या 'इससे पूर्व' का प्रयोग, केवल दिशा के लिए न होकर, किसी भी वस्तु के विषय में हो सकता है :

'अवधित्वेन वाऽपेक्षायोगे दिग्लक्षणो विधिः।
पूर्वमस्येति षष्ठ्येव दृष्टा धर्मान्तराश्रये ।। वा० ३.६.२१ ।।

६.९ अन्य दिक्-भेद

दिशाओं के दशों भेदों को तीन मुख्य उपविभागों में बाँट कर इस प्रकार कहा जा सकता है :

(क) चार मुख्य दिशाएं,

(ख) चार अन्तराल,

(ग) ऊर्ध्व और अधर अन्तराल।

परन्तु, इन दिशाओं का सम्बन्ध केवल आकाश, देश, या दिक् मात्र से मान बैठना भी उचित नहीं है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आदि नाम इसी प्रकार के हैं। पर, यह स्थिति किसी भी पदार्थ के व्यक्तित्व के साथ घटती है। जितनी भी दिशाओं में हम आकाश, स्पेस, या दिक् को विभक्त कल्पित करते हैं, उतनी ही दिशाओं या स्थान-भागों में हम किसी भी पदार्थ को, या उसके पृष्ठ को, विभाजित कर सकते हैं। सामान्य वस्तु की बात तो जाने ही दें, परमाणु तक की दिशाएं निश्चित की जाती हैं। उनके सारे पृष्ठ को दिशा-भेद के अनुसार बाँटने का ही दिग्भेद के रूप में यह परिणाम है। इस विभाजन से प्राप्त संख्या भी भिन्न-भिन्न हो सकती है। 'पर्वत' का दिक्-विभाग यदि ढालों-उठानों या अन्धकारित-प्रकाशित भागों के आधार पर उचित ठहरता है, तो अविभाज्य परमाणु का विभाजन भी दिग्विभाजन की इस कल्पना के द्वारा ही सम्भव हो पाता है :

छायाभाभ्यां नगादीनां भागभेदः प्रकल्पते।
अतद्धर्मस्वभावेषु भागभेदो न कल्पते॥ वा० ३.६.१२॥
परमाणोरभागस्य दिशा भागो विधीयते।
भागप्रकल्पनाशक्तिं प्रथमां तां प्रचक्षते॥ वा० ३.६.१३॥

सामान्यतः किसी भी वस्तु को 'प्रदेशों' या 'भागों' से युक्त नहीं कहा जाना चाहिए। क्योंकि, मूलतः सम्पूर्णता होने पर ही कोई वस्तु 'पूर्ण' कहलाती है। फिर भी हम देखते हैं कि अक्रम, निर्भाग और अनुपाधि भावों और द्रव्यों को भी विभक्त मान लिया जाता है; यह उनके संसर्गी रूप के कारण ही। इस विषय में भाव, परमाणु या घट की स्थिति तुल्य ही है। भर्तृहरि के शब्दों में :

अदेशाश्चाप्यभागाश्च निष्क्रमा निरुपाश्रयाः।
भावाः, संसर्गिरूपात्तु शक्तिभेदः प्रकल्पते॥ वा० ३.३.१४॥

९.१० देशों से सम्बन्ध

आकाश के प्रदेशों के अतिरिक्त भूमि या देश के भागों को भी दिशासूचक नामों के आधार पर विभक्त कर दिया जाता है। हर देश के भागों में से पूर्व देश, पश्चिम प्रदेश, उत्तरापथ, दक्षिणापथ, आदि या इन जैसे अन्य नाम कल्पित किए जा सकते हैं। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि देश के ये भाग इन संज्ञाओं से युक्त होने के बाद केवल दिशा-सम्बन्ध के कारण ही इन नामों से स्मरण नहीं किए

जाते, बल्कि दिशा-सम्बन्ध के अभाव में भी उन्हें इन्हीं नामों से स्मरण किया जाता है। जिस देश का नाम पूर्व देश है, वह दक्षिणा पथवासियों द्वारा भी इसी नाम से पुकारा जाता है, भले ही उनके लिए वह उत्तर में हो। इसी प्रकार 'पूर्वदेश' के वासियों में लिए 'उत्तरापथ' भले ही पश्चिम में हो, वे उसे उसी नाम से पुकारेंगे। यह बात हम पहले भी कह आए हैं।

देखने में यह विभाजन और एतज्जन्य नामकरण अनुचित लगता है। भर्तृहरि इसमें औचित्य का आधार रूढ़ि को बताते हैं। पर, यहीं पर वे एक और महत्त्व की बात भी कह जाते हैं : 'यह रूढ़ि भी किसी अन्य की अपेक्षा में ही जन्म लेती है। इसीलिए, रूढ़ि की दृष्टि से दिङ्नियम की उपेक्षा करके इन नामों का व्यवहार अनुचित नहीं कहा जा सकता' :

देशव्यवस्थानियमो दिक्षु न व्यवतिष्ठते ।
रूढमप्यपरत्वेन पूर्वमित्यभिधीयते ॥ वा० ३.६.९ ॥

९.११ भाग-कल्पना

जिस प्रकार आकाश, दिक्, स्पेस, आदि के अविच्छिन्न और एक रहने पर भी उनके भेद कल्पित किए गए हैं, और जिस प्रकार किसी एक देश के अखण्ड होने पर भी उस देश के भाग दिशाभेद के आधार पर कल्पित कर लिए जाते हैं, उसी प्रकार एक विशेष आयतन और परिमाण वाले द्रव्य के भी अनेक भाग कल्पित कर लिए जाते हैं। वस्तु की **पूर्णता** उसकी अखण्डता और अभागिता में होती है। किंतु, दिशाभेद अभिप्रेत होने पर, या न होने पर भी, जब हम उसी वस्तु के प्रत्येक अंश को देखना या उसपर विचार करना चाहते हैं, तब उसी के सामान्य खण्डों या भागों की कल्पना जागती है। व्यावहारिक दृष्टि से भी हम किसी पदार्थ को बांट सकते हैं। पर, उस अवस्था में वह वस्तु खण्डित होगी, 'पूर्ण' नहीं। अतः भाग-कल्पना का मूल आधार वस्तुओं की खण्डनीयता या अखण्डनीयता के वैज्ञानिक या दार्शनिक सिद्धान्तों पर उतना नहीं है, जितना उस वस्तु के दिशाभेद की सूचना पर आधारित है।

हम प्रायः कहते हैं : 'यह इसका उपरिपृष्ठ है, यह इसका तलपृष्ठ है, या यह दक्षिण भाग है,' आदि। इनमें **उपरि, तल** और **दक्षिण**, आदि शब्द मूलतः दिशा की सूचना पर ही आश्रित हैं। पर इसी आधार पर हम ऊपरी भाग, तल भाग, दायां भाग, आदि भी कह देते हैं। 'भाग' की सूचना के लिए किसी वस्तु का खण्डशः कर्त्तन या विभाजन आवश्यक नहीं हो जाता। कर्त्तन के बाद बने भागों में भी तो वही दिक्-कल्पना और भाग-कल्पना जाग सकती है। इसलिए, अविभक्त

हो या विभक्त, किसी भी एक वस्तु में अनेकता अथवा सभागिता की कल्पना इसी दिक्-कल्पना के कारण जागा करती है :

निर्भागात्मकता तुल्या परमाणोर्घटस्य च ।

भागः शक्त्यन्तरन्तत्र परिमाणं च यत्तयोः ।। वा० ३.६.१५ ।।

वस्तुतः दिक्-भेद की यह सूचना, या पूर्व-पश्चिम-आदि की भेदबुद्धि, हर भाव या वस्तु में छिपी रहती है। जिससे पूर्व या प्रथम की सूचना उपलब्ध हो, या जिससे इस प्रकार का विनिश्चय हो, उसी दिशा को 'पूर्व' कहते हैं। सूर्य निकलने के कारण हम एक विशेष दिशा को 'पूर्व' कहते हैं। पर यह क्रम अन्य प्रकार से भी लागू हो सकता है। मुख्य प्रश्न समझ या बुद्धि का है। जहाँ पूर्वपरक यह बुद्धि न होने पर भी हम 'पूर्व' कहते हैं, वहाँ वस्तुतः रूढ़ संज्ञामात्र का ही व्यवहार कर रहे होते हैं। वहां दिक् के कथन से हमारा विशेष प्रयोजन नहीं होता। भर्तृहरि के शब्दों में :

प्रत्ययस्तरूपा भावेषु दिक्पूर्वेत्यभिधीयते ।

पूर्वबुद्धिर्यतो दिक् सा, समाख्यामात्रमन्यथा ।। वा० ३.६.७ ।।

पर, इस भाग-कल्पना का यह भी अर्थ नहीं कि हम प्रत्येक वस्तु को स्वभावतः विभाज्य या विभक्त समझ बैठें। इसे अभेद में ही भेद-कल्पना की स्थिति माननी चाहिए :

यतः प्रकल्पते भेदोऽभेदस्तत्रापि दृश्यते ।

अदृष्टोपरतिं भेदमतो युक्ततरं विदुः ।। वा० ३.६.१६ ।।

६.१२ एकत्व : नानात्व

इसी भाग-कल्पना पर ही आधारित है **एकत्व** और **नानात्व** की कल्पना। दिक् का कार्य है आच्छादन या अवधि के रूप में किसी वस्तु का सीमा-निर्माण। यह सीमा ही 'व्यक्ति' का निर्माण करती है। इसे हम 'अभिव्यक्ति की सीमा' या 'अभिव्यक्ति का आश्रय' भी कह सकते हैं। यह अभिव्यक्ति 'दिक्' के कारण ही सम्भव हो पाती है। भर्तृहरि के शब्द हैं : **कर्मणो जातिभेदानामभिव्यक्तिर्यदाश्रया** (वा० ३-६-३)।

सामान्यतः किसी भी द्रव्य का जाति रूप ही आपाततः सामने आता है, क्योंकि द्रव्य के कर्मों का सामान्य रूप जातिरूप ही होता है। किन्तु, ससीम रूप में उन पर विचार करने पर हम उनके व्यक्ति रूप को अधिक उभरता पाते हैं। यह सब दिक्-परिकल्पना के ही कारण। दिक् स्वयं अपनी उपाधियों के ही कारण

विभक्त होता है[1]। इससे आवेष्टित वस्तु भी एक-दूसरे से पृथक् अपने निजी व्यक्तित्व से युक्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में, कह सकते हैं कि जिस प्रकार दिक् आन्तरिक रूप में एक होकर भी बाह्य धर्म के कारण ही विभक्त दिखाई देती है, उसी प्रकार जातिधर्म के कारण एक जाति की वस्तुओं के मूलतः एक होने पर भी बाह्याकार और व्यक्तित्व के कारण उन्हें पृथक्-पृथक् समझा जाता है। परन्तु जिस प्रकार दिशा का यह बाह्य और आभ्यन्तर भेद भ्रामक है, उसी प्रकार वस्तु के व्यष्टि आकार भिन्न-भिन्न दीखने पर भी वह मूलतः एक ही रहती है :

अन्तःकरणधर्मो वा बहिरेवं प्रकाशते ।
अस्यां त्वन्तर्बहिर्भावः प्रक्रियायां न विद्यते ॥ वा० ३.६.२३ ॥

'इसीलिए काल, दिक्, आदि शक्तियों के एक या नाना होने की कल्पनाओं को अवास्तविक समझ कर सत्य को दृष्टि से ओझल न करना चाहिए। लोक में एक और अनेक की कल्पना निरे सत्य या वास्तविकता पर आधारित नहीं है। लोक सदा असंदिग्ध भावों या वस्तुओं में सांकेतिक व्यवहारबुद्धि के कारण ही कुछ धारणाएं और मान्यताएं निश्चित कर लेता है। इन संकेतों की वास्तविकता को समझ कर ही लोकधारणा का अनुमान किया जा सकता है।' भर्तृहरि कहते हैं :

एकत्वमासां शक्तीनां नानात्वं वेति कल्पने ।
अवस्तुपतिते ज्ञात्वा सत्यतो न परामृशेत् ॥ वा० ३.६.२४ ॥
विकल्पातीततत्त्वेषु संकेतोपनिबन्धनाः ।
भावेषु व्यवहारा ये लोकस्तत्रानुगम्यते ॥ वा० ३.६.२५ ॥

एकत्व तथा नानात्व की यह बात निराधार नहीं है। चरम सत्य भले ही यह हो कि सत्ता या भाव एक और अखण्ड है, अथवा यह कि जातिरूप होने के कारण एक समान रूप और रचना वाले पदार्थ मूलतः एक ही होते हैं, परन्तु लोकदृष्टि में जिस वस्तु का 'एकत्व' कल्पित होता है, उसकी नानात्व-कल्पना भी अनिवार्य हो जाती है। यह बात एक अंश तक सही भी है। द्रव्यों के आकारवान् होने के कारण उनमें एकत्व-नानात्व की बुद्धि उचित ठहरती है। पर दिक्, काल, आदि शक्तियों में यह भेदबुद्धि इसलिए उचित नहीं ठहरती कि वे आकृतिहीन हैं। 'शक्ति' एक भावात्मक सत्ता है, द्रव्यात्मक नहीं। इसलिए एक-अनेक की लौकिक बुद्धि दिक्, काल, आदि के विषय में सत्य नहीं ठहरती। जिन्हें हम

---

१. वा० ३.६.३।

काल या दस दिशा आदि कहते हैं, अन्ततः वे एक ही महासत्ता के कल्पित और अवास्तविक अंश हैं :

नैकत्वमस्ति नानात्वं विनैकत्वेन नेतरत् ।
परमार्थे तयोरेवं भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ।। वा० ३.३:२६ ।।
न शक्तीनां तथा भेदो यथा शक्तिमतां स्थितिः ।
न च लौकिकमेकत्वं तासामात्मसु विद्यते ।। वा० ३.६.२७ ।।

अर्थात् ये दो व्यावहारिक और 'सापेक्ष मान्यताएं हैं। अगर हम 'एकत्व' की कल्पना न करें, तो 'नानात्व' की मान्यता का प्रश्न भी नहीं उठता। एक के बिना दूसरे की स्थिति ही सम्भव नहीं है। इससे बढ़कर, संख्या का सारा आधार ही व्यक्ति या एकत्व पर है। यदि एकत्व नहीं, तब दो या अनेक की भी कल्पना सम्भव नहीं। उस कल्पना की सार्थकता इसी सापेक्षता में है। एक-एक मिल कर ही 'अनेक' बनते हैं। 'अनेक' की उपस्थिति मानते ही 'एक' की सत्ता को मानना अनिवार्य हो जाता है।' भर्तृहरि के शब्दों में :

नैकत्वं व्यवतिष्ठेत नानात्वं चेन्न कल्पयेत् ।
नानात्वं चावहीयेत यद्येकत्वं न कल्पयेत् ।। वा० ३.६.२८ ।।

इसे हम 'व्यावृत्ति' और 'आवृत्ति' का भेद भी कह सकते हैं। एकत्व है व्यावृत्ति में स्थितिः और अनेकत्व की स्थिति 'आवृत्ति' में है।

९.१३ अनेक क्या है ?

यहां भर्तृहरि के कथन से एक भ्रम हो सकता है : वे कदाचित् 'बहुत्व' की कल्पना उन्हीं वस्तुओं में व्यावहारिक दृष्टि से उचित मानते हैं, जो मूलतः एक ही जाति या भाव की होती हैं। उनकी दृष्टि में जैसे विविध जाति की वस्तुओं के मिलने से बहुत्व-कल्पना जाग ही नहीं सकती : '**तासामात्मसु विद्यते**' (वा० ३.६.२७) में 'आत्मा' की बात लाकर वे इसी वस्तुगत एकत्व पर बल देना चाहते हैं। पर, उनका यह बल आपाततः भ्रमावह ज्ञात होता है। कारण यह कि लोक में घोड़ा, बिल्ली, सूअर, मनुष्य, आदि **विविध** जीवों को भी 'अनेक प्राणी' या 'सब जीव' के रूप में कह दिया जाता है। 'सब मनुष्य' के द्वारा पुरुष, स्त्री, बालक, नपुंसक, आदि सभी का ग्रहण हो जाता है। 'सब भारतीय' कहते ही हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, आदि सभी का समावेश हो जाता है। स्पष्टतः ये सब भिन्न 'जाति' और 'आत्मा' के प्रतीत होते हैं। तब क्या भर्तृहरि का कथन

---

१. वा० ३.११.२४ ।

भ्रामक है ? नहीं। भर्तृहरि का यह कथन सत्य है कि जिस जाति या आत्मा की एकत्व कल्पना की गई है, उसी के नानात्व की कल्पना भी सम्भव है। जिसमें 'एकत्व' की कल्पना नहीं जागी, उसमें नानात्व की कल्पना भी कैसे जाग सकती है ? ऊपर के उदाहरणों में हमने घोड़ा, बिल्ली, आदि को 'अनेक प्राणी' कहा है। उन्हें हमने 'अनेक घोड़े या बिल्लियां' नहीं कहा। 'घोड़ा' और 'बिल्ली' उन अनेक व्यक्तियों या प्राणियों में से एक ही जाति के प्राणियों को ही सूचित कर सकते हैं। पर 'अनेक प्राणी' के रूप में हमारे पास एक ऐसा आधार है, जो उन सब में समान है, और जिसके द्वारा उन सब का अभिधान हो सकता है। भिन्न आकार और व्यक्तित्व की वस्तुओं में भी समानता और जातीयता के इसी आधार को 'आत्मा' कहते हैं।[1] घोड़ा-बिल्ली आदि की जातीय समानता या आत्मिक एकता इस 'प्राणी' शब्द के द्वारा सिद्ध हो जाती है।[2] 'आदमी', 'मनुष्य', भारतीय आदि सभी जातिवाचक शब्द इसी भावना के कारण समान जातीयता या आत्मा को खोज लेने के संकेतमात्र हैं।[3] यही आत्मा 'जाति है।[4] इस आत्मा की खोज के बाद ही 'एकत्व' या 'व्यक्तित्व' का आधार मिल जाता है। तब भिन्न आकार और गुण के होने पर भी वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति या द्रव्य एक ही जाति के भिन्न-भिन्न रूप बनकर सामने आते हैं। एक ही रूप या जाति के इन विविध व्यक्ति-अंशों को ही 'एक' या 'अनेक' कहकर पुकारा जाता है।[5]

९.१४ देश और स्थान की सूचना : येस्पर्सन

येस्पर्सन ने और आधुनिक वैयाकरणों ने विभक्तियों और प्रेपोजिशनों की नई व्याख्या की है। उनके अनुसार प्रेपोजिशनों का प्रयोग प्राय: दिक् की भावना को लेकर होता है। इसे वे 'स्पेस' नाम देते हैं। टु (to), फ्रॉम (from), इन (in), ऑन (an), ऐट (at), आदि का अर्थ इसी 'दिक्' तत्व पर आधारित है। अब यह बात किसी शब्द द्वारा कही जाए या किसी अन्य रूप में, इसकी अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में होनी आवश्यक ही है।

स्पेस की इस स्वीकृति के सम्मुख कर्त्ता, कर्म, करण, आदि की पाणिनीय परिभाषाओं की अब तक की गई व्याख्याएं पुरानी सी लगती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कर्त्ता, कर्म, आदि के विभाग स्थायी हैं, और ये किसी भी दशा में पलट नहीं सकते। पर, रूप-निर्वचन या 'डिक्लैंशन' की पद्धति स्पष्ट कर देती है

---

१. वा ३. ११. १३।
२. इसी प्रबन्ध के पृ० २०८ पर।
३. वा० ३. १. २१, २२।
४. वा० ३. १. ३४।
५. वा० ३. ११. २८।

कि भाषा के वेत्ता आरम्भ से शब्द की मूल एकता को स्वीकार करके, उसकी विविध स्थितियों (पोज़िशन्स) के आधार पर, या क्रिया के साथ उसके विविध सम्बन्धों को मान कर, उन विविध प्रायोगिक रूपों का प्रयोग करते रहे हैं।

९.१५ भर्तृहरि का मत

भर्तृहरि इस सत्य को वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं। कर्तृत्व की भावना सर्वत्र एक और अखण्ड है। केवल व्यापारभेद या क्रियासम्बन्ध की भिन्नता के कारण ही कर्म, करण, आदि विविध स्थितियां उत्पन्न होती हैं। कर्मकरणादि कर्त्ता द्वारा ही नियोजित होते हैं। अतः उनके उस रूप में प्रयोग के बाद भी 'कर्तृत्व' की मूल भावना कमज़ोर नहीं पड़ती। भर्तृहरि के शब्दों में :

निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते।
षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत्प्रवृत्तेर्निबन्धनम् ॥ वा० ३. ७. ३७ ॥
निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसंभवः ॥ वा० ३. ७. १८ ॥
तथा कर्तृनियुक्तेषु सर्वेष्वेवार्थकारिषु ।
कर्तृत्वं करणादित्वैरुत्तरं न विरुध्यते ॥ वा० ३. ७. २३ ॥

कर्त्ता की शक्ति में करणादि की उपस्थिति से विरोध क्यों नहीं आता ? भर्तृहरि इस प्रश्न का भी उत्तर देते हैं : आश्रयभेद के कारण। यदि कर्ता स्वाश्रय में स्थित होकर कर्म करता है, तब एक स्थिति होती है। पर यदि वह अन्य आश्रय में स्थित होकर या उसके द्वारा कर्म करता है, तब स्थिति में अन्तर आ जाता है। उनके शब्दों में :

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे ।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥ वा० ३. ७. १ ॥

अर्थात्, 'साधन या कारक उस सामर्थ्य को कहते हैं, जो स्वाश्रय या आश्रयान्तर में रहकर क्रिया की अभिनिष्पत्ति में समर्थ होती है। यह सामर्थ्य द्रव्य की होती है।' दूसरे शब्दों में, कारक का प्रयोग इसलिए करना पड़ता है कि क्रिया के निष्पादन में भाग लेने वाले विविध द्रव्य या व्यक्ति कर्त्ता से भिन्न आश्रय, या उसके स्वाश्रय, में स्थित होते हैं। आश्रय की यह भिन्नता 'दिक्' के अन्तर के बिना सम्भव नहीं हो सकती। इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि कारक का प्रयोग बुद्धि की अवस्था पर आश्रित है। प्रस्तुत या अप्रस्तुत अर्थ-रूपों में बुद्धि द्वारा भेदों को प्रकल्पित करके ही हम विविध कारकों का व्यवहार करते हैं :

साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः ।
सन्नसत्त्वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते ।। वा० ३. ७. ३ ।।

फिर, 'साधन या कारक के लिए यह 'व्यतिरेक' (पृथक्ता या दूरी) और 'आश्रयान्तर' अनिवार्य हो जाता है। दूरी या पृथक्ता की उपस्थिति ही कारक-प्रयोग का हेतु है' :

स तेभ्यो व्यतिरिक्तो वा तेषामात्मैव वा तथा ।
व्यतिरिक्तमुपाश्रित्य साधनत्वेन कल्प्यते ।। वा० ३. ७. १५।।

इस प्रकार भेद, व्यतिरेक और आश्रयान्तर के रूप में जिन तीन बातों की उपस्थिति साधन या कारक के प्रयोग में अनिवार्य है, वे तीनों 'दिक्' के ही गुण ठहरते हैं। इस प्रकार भिन्नता, पृथक्ता और दूरी केवल 'दिक्' द्वारा ही सूचित होती है। पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह सब निश्चय कर्त्ता के साथ उन द्रव्यों के सम्बन्ध, और क्रिया के निष्पादन में उनके योगदान, पर निर्भर करता है। इस प्रकार 'दिक्' का योगदान 'साधन' या कारक के निश्चय में बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

६.१६ पाणिनि : नई व्याख्या

यह बात पाणिनि की परिभाषाओं में भी स्पष्ट हो जाती है। सम्प्रदान की परिभाषा वे करते हैं : कर्म के माध्यम से जिसकी ओर अभिप्रयाण हो।[1] अर्थात्, कर्म भी यहां 'सम्प्रदान' के लिए एक 'माध्यम' या 'द्वार' बनकर रह जाता है। 'अपादान' की परिभाषा में 'अपाय' का अर्थ शब्दशः 'अप-अय = दूर गति' है।[2] इसी प्रकार 'की ओर', 'के लिए', 'से' और 'वहां से' के द्वारा गन्तव्य स्थान की, या किसी स्थान से दूरी की, सूचना मिलती है। 'कर्त्ता का ईप्सिततम' कहकर पाणिनि ने 'कर्म' की कर्त्ता और क्रिया से सर्वाधिक निकटता बताई थी।[3] भर्तृहरि उसके 'प्राप्यादि' भेद गिनाकर उसकी ओर कर्त्ता की एकान्त व्यग्रता और क्रिया का एकान्त प्रयोजन सिद्ध कर देते हैं।[4] एकान्त प्रयोजन 'सर्वाधिक निकट' और 'गम्य' होने से 'को' या 'की ओर' आदि के रूप में 'अभिमुख' की भावना से प्रयुक्त होता है :

प्रधानकर्म कथितं यत्क्रियायाः प्रयोजकम् ।
तत्सिद्धये क्रियायुक्तमन्यत्वकथितं स्मृतम् ।। वा० ३.७.७१ ।।

---

१. पा० १. ४. ३२।
२. पा० १. ४. २४।
३. पा० १. ४. ४९।
४. वा० ३. ७. ४५।

अर्थात्, प्रधान कर्म का क्रिया से निकटतर योग अत्यावश्यक है। अन्यथा, वह अकथित और अप्रधान कर्म ही रहेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्पेस' का जो अर्थ 'कार्य की दिशा' के रूप में लिया गया है, वह केवल उतने तक ही सीमित नहीं है। कार्य के निष्पादन में 'कारक' योगदान देते हैं। उनका यह योगदान केवल 'क्रिया की ओर गति' से ही पूर्णतः और निश्चित रूप में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। बल्कि, इस के लिए 'दिक्' के अन्य मौलिक कार्यों—भिन्नता, दूरी, पृथक्ता, आदि—की उपस्थिति और सूचना भी उतनी ही आवश्यक हो जाती है। इसीलिए, साधन और दिक् को भर्तृहरि द्रव्यमात्र की दो तुल्यबल शक्तियां मानते है, जो परस्पर आधारित और सम्बद्ध रहकर कार्य करती हैं। द्रव्य की यही कार्यशक्ति उसका 'कर्तृत्व' कहलाती है।

९.१४ उपसंहार :

इस प्रकार 'दिक्' पर विचार करते हुए जिन बातों पर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है, वे हैं :

(क) दिशावाचक शब्द।

(ख) क्रम और व्यवस्था (स्थान और काल से सम्बद्ध) के बोधक शब्द।

(ग) दिक् द्वारा व्यक्तिभेद।

(घ) दिक् द्वारा कारकभेद।

(ङ) दिक् की विविध अभिव्यक्तियां।

और, (च) प्रत्येक द्रव्यशब्द के साथ दिक् का सम्बन्ध।

यह बात पाश्चात्य धारणा की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है। इस प्रसंग में वहां केवल प्रेपोजिशन और कारक की स्थिति पर ही विचार किया जाता हैं। भर्तृहरि इसका दायरा बहुत विशाल कर देते हैं। 'दिक्' द्रव्य की सबसे बड़ी और मौलिक शक्ति बन जाती है। 'साधन' का आधार तो उसपर है ही; व्यक्तित्व, संख्या और वचन का आधार भी उस पर ही निर्भर करता है।

संख्या और वचन

१०.१ विचारणीय विषय

'नाम' और 'दिक्' पर विचार के प्रसंग में हम 'संख्या' की चर्चा भी विविध रूप में कर आए हैं। 'नाम' के प्रसंग में 'संख्यावाचक शब्दों' पर पर्याप्त विचार हुआ है। यहां हमें 'संख्या' के एक दूसरे पक्ष पर विचार करना है। इस प्रकरण में हमारे मूल विचारणीय विषय होंगे :

(क) संख्या-कल्पना का मूल आधार,
(ख) संख्या और एकत्व का आधार,
(ग) एकत्व और अनेकत्व का सम्बन्ध,
(घ) 'दस' और उसके बाद,
और, (ङ) वचन।

आगे इन्हीं समस्याओं पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

१०.२ संख्या-कल्पना का मूल आधार

'दिक्' पर विचार के प्रसंग में हम स्पष्ट कर आए हैं कि 'परापरत्व' और 'पूर्वापरत्व' का भेद 'दिक्' की मूल कल्पना पर ही आधारित है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि संख्याकल्पना का आधार 'परापरत्व' की भावना पर है, तब दूसरे शब्दों में उसका अर्थ यह हो जाता है कि दिक् पर विचार किए बिना संख्या पर भी विचार नहीं हो सकता। इस वक्तव्य पर अधिक विचार आवश्यक है।

ऊपर की पंक्तियों में 'दिक्' को 'व्यक्तित्वभेद' का सबसे बड़ा कारण बताया गया है। 'दिक्' की परिसीमा ही एकसी आकृति और एकसे गुण की सत्ता को अलग-अलग शरीर तक सीमित कर देती है। इन पृथक्-पृथक् शरीरों को ही हम 'एक' के रूप में संख्यापरक नाम दे बैठते हैं। इसके साथ ही यह भी बताया जा चुका है कि एकत्व और नानात्व की कल्पना का मूलाधार भी 'दिक्' पर ही है।

संख्या पर विचार के प्रसंग में भर्तृहरि इन्हीं सत्यों को फिर से दोहराते हैं :

> भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिबन्धनः ।। वा० ३.११.१ ।।
> भेदहेतुत्वमाश्रित्य संख्येति व्यपदिश्यते ।। वा० ३.११.२ ।।
> भेदाभेदव्यतीतेषु भेदाभेदाविधायिनीम् ।। वा० ३.११.१२ ।।
> परत्वे चापरत्वे च भेदे तुल्या श्रुतिर्यथा ।
> संख्याशब्दाभिधेयत्वं भेदहेतोस्तथा गुणे ।। वा० ३.११.४ ।।

अर्थात्, 'संख्या का मूल आधार भेद-अभेद का विभाग ही है। भेदहेतु के कारण ही किसी संख्या की सत्ता का प्रश्न उठता है। यह संख्या ही उन द्रव्यों में भी भेदबुद्धि को जगा देती है, जो सामान्यतः भेद-अभेद से परे माने और समझे जाते हैं। 'गुण' और 'संख्या' का महत्त्व और 'पद' इस दृष्टि से एकसा है कि दोनों ही पर-अपर की बुद्धि को समान रूप में जगाते हैं'।

इन सभी उद्धरणों में पर-अपरकी जिस बात पर अत्यधिक बल दिया गया है, उसे ही भर्तृहरि बार-बार 'दिक्' के धर्म के रूप में गिनाते हैं। अन्तर यही है कि 'गुण' **प्रकर्ष** के द्वारा भेदबुद्धि जगाते हैं, जबकि 'दिक्' **व्यतिरेक** के द्वारा भेद और परापरत्व को स्पष्ट करती है। इस 'दिक्' के द्वारा ही भाग-कल्पना, पार्श्व-कल्पना, अपेक्षा, योग, आदि की स्थिति स्पष्ट होती है।

'एकत्व' का जन्म 'दिक्' द्वारा जनित इसी भेदाभेद या परापरबुद्धि के कारण होता है। पर, एकत्व की बात मानते ही 'नानात्व' की स्थिति भी स्वीकार करनी पड़ती है।[2] इसी बात को इस प्रकार भी कहा है :

> द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः ।।
> विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति सम्भवः ।। वा० ३.११.१५ ।।

अर्थात्, 'द्वित्व' आदि की कल्पना का आरम्भिक और एकमात्र आधार है एकत्व-कल्पना। एकत्व सिद्ध होने पर ही अन्य संख्याओं का अस्तित्व सम्भव हो सकता है।'

१०.३ संख्या और एकत्व :

यहीं पर एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाता है : संख्या और एकत्व के सम्बन्ध का। इस सम्बन्ध में इसी श्लोक को एक निश्चित सिद्धान्त का स्थापक

---

१. वा० ३. ६. २-४, १६, २०।
२. वा० ३. ६. २८।

कहा जा सकता है। वह सिद्धान्त है: 'एकत्व या 'एक' संख्या के बिना अन्य संख्याओं का जन्म ही नहीं हो सकता।' इस सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करना अधिक आवश्यक है।

कहा गया है कि एक और अनेक की भेदबुद्धि को जन्म देने वाली 'दिक्-कल्पना' ही है। पर, इसके साथ ही यह भी स्मर्तव्य है कि यह भेदबुद्धि की मान्यता इसलिए भी आवश्यक हो जाती है कि लोक इसी का व्यवहार करता है। जिस तरह 'दिक्' अवधि और प्रतिपाद्य के व्यतिरेक का हेतु है, उसी तरह संख्या का जन्म एक को दूसरे से पृथक् और भिन्न रूपमें देखने की बुद्धि से होता है। यह भेदबुद्धि केवल लौकिक ही नहीं कही जा सकती। इसका शास्त्रीय आधार भी है। बल्कि, सत्य यह है कि परम्परागत आगमरूपा भेदबुद्धि शास्त्र में भी पूरी मान्यता ग्रहण करती है। भर्तृहरि के शब्दों में :

> **विकल्पातीततत्त्वेषु संकेतोपनिबन्धनाः।**
> **भावेषु व्यवहारा ये लोकस्तत्रानुगम्यते ॥** वा० ३.६.२५ ॥
> **भेदेन तु समाख्यानं यल्लोकोऽयनुवर्त्तते।**
> **आगमाच्छास्त्रसदृशो व्यवहारः स वर्ण्यते ॥** वा० ३.११.९ ॥

अर्थात्, 'संदेहरहित भावों में भी जो मात्र सांकेतिक व्यवहार निवास करते हैं, सामान्यतः लोक उनका ही अनुगमन करता है। शास्त्र उसी लोकबुद्धि का विश्लेषण करता है। भेदपूर्वक कथन की यह प्रवृत्ति लोक-आगम और शास्त्रपद्धति में समान रूप में ही पाई जाती है।'

लोक-व्यवहार की इस सत्यता को स्वीकार करके ही भर्तृहरि को यह कहना पड़ा :

> **संख्यावान् सत्वभूतोऽर्थः सर्व एवाभिधीयते ॥** वा० ३.११.१ ॥

अर्थात्, 'जिस प्रकार दिक् और गुण 'द्रव्य' में ही अन्तर्हित रहते हैं, और उसीके आवरण में प्रकट होते हैं, उसी प्रकार संख्या भी सामान्यतः द्रव्य में ही अंतर्भूत होती है।' पर गुणादि के प्रसंग में वह स्वतः गुण में स्थित न होकर द्रव्य के ही आश्रय में रह सकती है। उसकी स्थिति क्रिया के योग में भी ऐसी ही होती है। देखने में, गुण की भाँति, क्रिया भी वचन और संख्या की अभिव्यक्ति करती है। किन्तु वास्तव में यह 'वचन', क्रिया का न होकर, द्रव्य का ही होता है। भर्तृहरि के शब्दों में :

> **समवेता परिच्छेद्ये क्वचिदन्यत्र सा स्थिता।**
> **प्रकल्पयति भावानां संख्याभेदं तथात्मनः ॥** वा० ३.११.३ ॥

यह बात स्वीकार करते ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अनेक भाषाओं में विशेषण, क्रिया, आदि शब्दों में एकवचनादि के होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि सभी भाषाओं में संख्या का सम्बन्ध मूलतः द्रव्य से ही होता है। इसकी अभिव्यक्ति स्वतन्त्र शब्द से भी की जा सकती है, और द्रव्यवाचिका संज्ञा में वचनयोग के माध्यम से भी! अथवा, क्रिया और विशेषण शब्दों के माध्यम से भी संख्यात्मिका अभिव्यक्ति दी जा सकती है। उद्देश्य इस अभिव्यक्ति का यह बताना मात्र है कि द्रव्य या कर्त्तादि की संख्या कितनी है। संख्या का यह आभास देने के लिए ही वचनादियोग से या संख्याकथन से यह अभिव्यक्ति एक स्थान पर या अनेक के योग में दी जाती है। अभिप्राय यह कि यह संख्या स्वतन्त्र दीखने पर भी, स्वतन्त्र न होकर, अस्वतन्त्र और पराश्रित ही होती है। लोक स्वयं ही इसे कभी द्रव्य से अलग करके शुद्ध संख्या के रूप में, और कभी संख्या-सूचक शब्दों के रूप में, प्रयोग करता है :

अस्वतन्त्रे स्वतन्त्रत्वं परधर्मो यथा गुणे।
अभेद्ये भेद्यभावोऽपि द्रव्यधर्मस्तथा गुणे॥
स्वबुद्ध्या तमपोद्धृत्य लोकोऽप्यागममाश्रितः।
स्वधर्मादन्यधर्मेण व्याचष्टे प्रतिपत्तये॥ वा० ३.११.५, ६॥

पर अन्ततः है यह 'अपोद्धार-बुद्धि' ही। संख्या स्वभावतः द्रव्याश्रित है। अतः उसे स्वतन्त्र रूप में वर्णित करना न उचित है, और न न्याय्य।

द्रव्याश्रित होने पर भी यह संख्या उसी प्रकार 'एकत्व' पर आश्रित है, जिस प्रकार द्रव्य की अन्य विविध शक्तियां मूलतः 'एक' और 'अभिन्न' द्रव्य या द्रव्यत्व पर ही आश्रित होती हैं। केवल सत्ताओं के बँट जाने पर ही हम मूलतः अभिन्न द्रव्य को भिन्न-भिन्न रूप में देखने लगते हैं। उसी प्रकार, भिन्न-भिन्न व्यवित भेदों में बंट जाने पर, या उन्हें व्यवित रूप में अलग-अलग रूप में देखने पर, मूलतः एक ही द्रव्य भिन्न-भिन्न 'एकों' या 'इकाइयों' के रूप में सामने आता है। इन इकाइयों में से प्रत्येक स्वतन्त्र और भिन्न भी होती है, किन्तु एक दूसरे से अभिन्न और अस्वतन्त्र भी। भिन्न और स्वतन्त्र इसलिए कि लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से इकाई का अलग-अलग अस्तित्व और व्यक्तित्व प्रतीत होता है। और अस्वतन्त्र या अभिन्न इसलिए कि उन भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले आकारों या द्रव्यों में अन्ततः इतनी समानता होती है कि उन्हें एक दूसरे से भिन्न या स्वतन्त्र कहना भ्रामक प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में, जिस प्रकार केवल दिक्-भेद के कारण ही हम किसी द्रव्य के आकार को भिन्न-भिन्न आकृतियों या द्रव्यों

में बंटा हुआ पाते हैं, उसी प्रकार आत्मिक दृष्टि से उन आकारों के एक होने पर भी, दिग्भेद से उनके भिन्न होने के कारण, उन्हें हम स्वतन्त्र न मानकर 'अनेक' मान लेते हैं।

इस प्रकार, जिसे हम 'संख्या' कहते है, उसका जन्म वास्तव में एक से ही होता है। 'एक' न हो तो 'दो' या उससे अधिक को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। और जब किसी वस्तु को 'एक' कह दिया, तब स्वभावतः उसी तरह की या उसी जाति की अन्य वस्तुओं को गिनाने के लिए 'द्वितीय', 'तृतीय', आदि कहना न्याय्य और उचित ही ठहरता है :

द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः।
विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति संभवः॥ वा० ३.११.१५॥
एकत्वे बुद्धिसहिते निमित्तं द्वित्वजन्मनि।
एकत्वाभ्यां समुत्पन्नमेवं वा तत्प्रतीयते॥ वा० ३.११.१६॥

अर्थात्, 'जिसे हम 'दो' या 'दो द्रव्य' कह रहे हैं, उसे ही 'दो एक' या 'दो इकाइयां' भी कह सकते हैं। यह बात अलग है कि हम 'दो' या 'बहुत' को 'एक' से भिन्न समझकर उसका अलग संख्या के रूप में व्यवहार कर लेते हैं।' हेलाराज इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं : **'इहैकत्वानां जनकत्वेनाश्रीयमाणत्वादाश्रयाणां भेदे तदाश्रितं तज्जन्यं बहुत्वादिभेदेन व्यवह्रियत इत्यर्थः** (वा० ३. ११. १८)। यहां यह बात पूरी तरह समझ लेनी चाहिए कि 'पांच' या 'दस' की संख्या में होने पर भी कोई वस्तु 'एक' या 'अभिन्न' रह सकती है। जाति और दिक् प्रकरणों में हम यह बात पूरी तरह स्पष्ट कर आए हैं कि दो, तीन, बहुत, आदि शब्द मूलतः उन्हीं वस्तुओं के लिए लागू होते हैं, जो एक ही आकृति, प्रकृति, या जाति की हों। संख्या का आधार किसी एक समानता या सामान्य होने पर होता है; फिर भले ही यह साम्य किसी विशिष्ट गुण पर आधारित हो या अन्य किसी बात पर।

यहां हमें येस्पर्सन की एक बात स्मरण हो आई। वे कहते हैं कि 'हम एक बन्दर, एक घोड़ा, और एक कुत्ता, को 'अनेक' नहीं कह सकते, क्योंकि उन सबमें कोई भी जातीयता या समानता खोज पाना असम्भव है।' पर, भर्तृहरि की विचारणा के अनुकूल उन्हें 'अनेक प्राणी' कहा जा सकता है। वे सभी 'प्राणी' होने की दृष्टि से एक और समान हैं। यह बात हम जाति-व्यक्ति संज्ञाओं के तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में पहले ही कह आए हैं।[1] इस दृष्टि से व्यक्तिवाचक संज्ञा या 'प्रॉपर नाउन' का व्यवहार कभी 'बहुत' या 'दो' के लिए नहीं हो सकता। उस

१. वा० ३. ११. १२ : देखें पृष्ठ २०८ पर।

नाम से अभिप्रेत व्यक्ति एक प्रसंग में एक ही हो सकता है। वह नाम किसी भी प्रकार जातिवाचक नहीं हो सकता। यदि अचानक उसी नाम के दो व्यक्ति एक ही प्रसंग में उपस्थित हों, तब भी उन समान दीखने वाले नामों को दो व्यक्तिनामों की भांति ही मानना पड़ेगा। केवल नाम समान होने के कारण ही इन दोनों नामों का एकत्व द्विवचन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यह नाम किसी भी प्रकार जातिवाचक तो कहा ही नहीं जा सकता।

फिर भी, हम देखते हैं कि संस्कृत और ग्रीक आदि के व्याकरणों में उन व्यक्तिसंज्ञाओं के भी द्विवचन और बहुवचन स्वीकार किए गए हैं। आधुनिक वैयाकरण भी व्यक्तिवाचक संज्ञा के साथ 'बहु' का सम्बन्ध जोड़ने लगे हैं। पर, सत्य यह है कि 'दो' या 'बहु' की बात केवल जाति की उपस्थिति में ही उठ सकती है। जब हम 'रामौ, रावणाः, या चर्चिल्स', आदि कहते हैं, तब ऐसा कहने के कई कारण हो सकते हैं। उन सबका आधार एक प्रकार की जातीयता ही होती। हो सकता है, ऐसा कहने का आधार भ्रातृत्व, वंश, गुण, या अन्य कोई ऐसा तथ्य हो, जिससे हम जातीयता या समानता का ऐसा आधार पा सकते हों, और जिस के कारण दो भिन्न-भिन्न नाम या आकार वाले व्यक्ति या द्रव्य भी एक से दीखने लगें। और हम उन्हें उनकी संख्या के आधार पर एक ही नाम से द्विवचन या बहुवचन के प्रयोग द्वारा व्यवहार में पुकार सकें। हां, समुद्र, आकाश, उच्चता, सफेदी, और कालेपन को किसी भी जातीयता या समानता के एक सूत्र में नहीं बांधा जा सकता। हम उन्हें 'अनेक' कहकर किसी एक नाम से नहीं पुकार सकते।

इस प्रकार जातीयता या समान्य की दृष्टि से अभिन्न वस्तुओं में भेदबुद्धि की व्यावहारिक सूचना ही 'संख्याशब्दों' के द्वारा मिलती है। और, यह समानता या जातीयता मूलतः 'एकत्व' पर आधारित होती है। यह 'एकत्व' ही 'द्रव्यत्व' की पहचान का मूलहेतु है :

अतो द्रव्याश्रितां संख्यामाहुः संसर्गवादिनः।
भेदाभेदव्यतीतेषु भेदाभेदविधायिनीम् ॥ वा० ३.११.१२ ॥
आत्मान्तराणां येनात्मा तद्रूप इव लक्ष्यते।
अतद्रूपेण संसर्गात् सा निमित्तसरूपता ॥ वा० ३.११.१३ ॥

इस 'जातीयता' या 'समानता' के इन भिन्न-भिन्न रूपों में मिलने का कारण यह है कि हर पदार्थ में बहुत से गुण या भाव मिले-जुले होते हैं। केवल एक ही भाव के बल पर कोई द्रव्य 'एक' नहीं कहला सकता। जब भिन्न आकार, वंश, धर्म या गुण के व्यक्ति-द्रव्यों में कोई समान भाव या गुण, आधार रूप में, खोज लिया

जाता है, तब उस सामान्य के आधार पर, उन भिन्न-भिन्न व्यक्तिद्रव्यों की मूलगत एकता या एकत्व को स्वीकार करते हुए, उनके समूह या संघात को 'दो', 'बहुत' या 'अनेक' आदि शब्दों द्वारा कह दिया जाता है। इनका अर्थ अन्ततः 'एक और एक (दो),' अथवा 'एक, एक, एक और एक (चार),' आदि के रूप में होता है। इस प्रकार संसृष्ट भावों में भी एक या दूसरे भाव के साम्य के बल पर 'समानता' का आधार खोजा ही जा सकता है :

> यथैवाविषयं ज्ञानं न किंचिदवभासते।
> तथा भावोऽप्यसंसृष्टो न कश्चिदुपलभ्यते ।। वा० ३.११.८ ।।

'गुण' और 'अर्थ-क्रिया' की संसृष्टि के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है :

> संसृष्टेष्वपि निर्भागभूतेष्वर्थक्रिया यथा।
> सत्त्वादिषु च मात्रासु सर्वास्वेवं प्रतीयते ।। वा० ३.११.१४ ।।

वास्तविक प्रयोजन है 'जातीयता' को खोज निकालने का। उस जातीयता के आधार को ही हम 'अभिन्नता' या 'इकाई' मान लेते हैं। बाद में उससे व्यक्ति-भेदों को हम 'दो', 'तीन' या 'बहुत' आदि शब्दों से प्रकट करते हैं। इसीलिए यह कहा गया कि 'संख्या' का आधार 'एकत्व' पर है; और एकत्व का जातीयता या 'साम्य' पर।

१०.४ एकत्व और नानात्व

इस विषय की चर्चा हम 'दिक्' के प्रसंग में कर आए हैं। यहां इन दोनों की सापेक्षिता की चर्चा करना अभिप्रेत नहीं है। वस्तु की आत्मागत या स्वरूपगत एकता होने पर भी किसप्रकार वह नानात्व को ग्रहण करती है, यह बात भी स्पष्ट की ही जा चुकी है। तब यहां अभिप्रेत है एकत्व और नानात्व की भिन्न-भिन्न स्थितियों की चर्चा करना।

१०.४.१ एकत्व

यह मुख्यतः तीन रूपों में हो सकता है : व्यक्तिरूप, प्रतिनिधिरूप और जातिरूप में। व्यक्तिरूप में स्थित एकत्व की स्थिति की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के विषय में इसे विशेष रूप से रूढ़ माना जा सकता है। व्यक्तिवाचक संज्ञा सामान्यतः एक व्यक्ति के लिए रूढ़ होती है। अतः समय, स्थान और घटना में, प्रायः एक संज्ञा का एक व्यक्ति के लिए ही प्रयोग होने से, उसे सामान्यतः एकवचन या एकत्ववाचक ही कहना चाहिए। यह स्थिति तब

भी नहीं बदलती, जब यही संज्ञा एक ही स्थान, घटना और समय में दो व्यक्तियों पर लागू होरही होती है। वहां भी 'द्विवचन' या 'द्वित्व' के द्वारा इसका प्रयोग नहीं हो सकता। गोत्रादिनामों की कल्पना और उनके प्रयोग का विषय यहीं आकर सार्थक होता है। 'राम' दाशरथि **रामचन्द्र** भी हो सकते हैं और जामदग्न्य **परशुराम** भी। नाममात्र के साम्य के कारण 'रामौ' के द्वारा उन दोनों का, और 'रामाः' के द्वारा रोहिणीसुत **बलराम** का भी, समावेश हो सकता है। पर 'दाशरथि राम' आदि का बहुवचन उपहासास्पद ही हो जाएगा। फिर, एकमात्र नामसाम्य भी पूर्ण आधार प्रदान नहीं करता। सजातीयता आदि कुछ अन्य गुण भी होने आवश्यक हैं। तभी साम्य और 'नानात्व' का आधार उचित होगा।

यद्यपि 'प्रतिनिधि' और 'जाति' नितान्त भिन्न नहीं हैं, तथापि प्रथम को परतर का ही एक भेद कहा जा सकता है। फिर, इनमें भी कुछ अन्तर सिद्ध किया जा सकता है। राम, जनक, लक्ष्मण, आदि की तुलना में मनुष्य, घोड़ा, वायु, आदि शब्द जातिवाचक हैं। पर, जब हम 'राम' नाम के व्यक्ति को केवल 'मनुष्य' कहकर सम्बोधित कर रहे होते हैं, या 'मनुष्य' नाम से अभिहित व्यक्ति को जब 'राम' कहकर पुकारते हैं, तब मनुष्य, घोड़ा, आदि संज्ञाएं जातिवाचक होकर भी एक व्यक्तिविशेष के लिए ही प्रयोग हो रही होती हैं। इसलिए ऐसे प्रयोगों में व्यक्तिविशेष के लिए प्रयोग होती हुई ये संज्ञाएं, 'जातिवाचक' रूप में प्रयुक्त न होकर, व्यक्तिवाचक रूप में ही प्रयुक्त होती हैं। इन्हें हम व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रतिनिधि भी कह सकते हैं। यह 'एकत्व' का परिणाम है।

तीसरा है 'जातिरूप'! इस रूप में प्रयुक्त शब्द भी दो रूपों में स्थित हो सकता है: **बहुवचनान्त** रूप में या **एकवचनान्त** रूप में। बहुवचनान्त प्रयोग में निश्चय ही हम किसी समाज, जाति, या समूह के प्रत्येक अंग को प्रत्यक्षतः बहुवचन-प्रयोग के द्वारा स्पष्ट कर रहे होते हैं। किन्तु, उसका दूसरा प्रयोग एकवचनान्त होता है। जाति एक ही होती है। अतः उसका वाचक शब्द भी **एकवचनान्त** ही होना चाहिए। गुणाश्रित होने के कारण ऐसा शब्द सदृश गुणधर्म या आकारवाले हर अंग या व्यक्ति का, एकवचन में रह कर भी, संकेतवाही हो ही जाता है। परन्तु, यहीं पाणिनि बताते हैं कि ऐसा शब्द, एकवचन के अतिरिक्त, बहुवचन में भी ठीक इन्हीं अर्थों और प्रयोगों में प्रयुक्त हो सकता है[1]। उनकी यह धारणा कुछ अन्य शब्दवर्गों के सम्बन्ध में भी सही बैठती है। केवल जातिवाचक

---

१. पा० १. २. ५८।

शब्दों में ही नहीं, पूजार्थक और कुछ अन्य प्रयोगों में भी एकवचन की जगह बहुबचन का प्रयोग होता है[1]। 'वयं ब्रूमः' का प्रयोग एक या दो के लिए भी होता ही है। ठीक इसी रूप में जातिवाचक शब्दों का प्रयोग, जाति के अर्थ में एकवचनात्मक होते हुए भी, बहुवचनात्मक के रूपमें होता है। ऐसा प्रयोग करने पर भी हमारा अभिप्राय वहां कर्त्ता या व्यक्ति की अनेकता या 'बहुत्व' के कथन से नहीं होता। 'मनुष्य को ऐसा नहीं करना चाहिए' या 'मनुष्यों को ऐसा नहीं करना चाहिए' की भावना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जातिकथन की दृष्टि से एकवचन या बहुवचन का प्रयोग वक्ता की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। अधिकतम अन्तर यही कहा जा सकता है कि एकवचनात्मक प्रयोग के द्वारा हम किसी विशिष्ट स्थिति का साधारणीकरण कर देते हैं। अर्थात्, हम बहुत से व्यक्तियों की बात को प्रत्येक और सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू कर देते हैं।

१०.५ दस और संघ-कल्पना

यहां हम आरम्भ में एक बात स्पष्ट कर देना अधिक आवश्यक समझते हैं हम जब 'दस' तक की संख्या को एक संघ या वर्ग मानते है, और उसके बाद की संख्याओं को (एकादश, द्वादश, आदि के रूप में) उसी राशि में एक, दो, तीन आदि के योग द्वारा व्यक्त करते हैं, और इस प्रकार बाद की संख्याओं में भी दस-दस के संघ बनाते चलते हैं, तब उसका अर्थ यह नहीं होता कि गणना की केवलमात्र यही विधि न्यायोचित और विश्व-भर में प्रचलनयोग्य है। ऐसी भाषाएं भी हैं, जहां बीस तक की संख्या के लिए पृथक्-पृथक् शब्द प्रचलित हैं और जहाँ उसके बाद की संख्याओं के लिए फिर से बीस तक गिना जाता है। सभ्यता के विकास के अनुसार भाषाओं की संख्याभिव्यक्ति की सामर्थ्य घटती या बढ़ती रहती है।

इस सबसे यह तो निश्चित है कि हमें गणना की सुविधा के लिए हर नए अवयव या द्रव्य के लिए एक नया संख्याशब्द घड़ने से बचना अत्यधिक आवश्यक है। इस उद्देश्य को पूरा करने का एकमात्र सहज उपाय यह है कि एक न एक मौलिक या आधारभूत संख्या-संघ मान लिया जाए। इसके बाद इसी के अंशों को पुनः अधिगणित करने से गिनती आगे चलती रह सकती है। इस प्रकार केवल इस संघ की अन्तिम स्वीकृत संख्या-संज्ञा के स्थान पर ही उससे दुगुनी-तिगुनी आदि संख्याओं के लिए सर्वथा नए या किंचित् रूपान्तरित संज्ञात्मक

---

१. पा० १. २. ५९ से ६४ तक।

शब्दों की आवश्यकता शेष रह जाती है। बाद में और भी बड़े-बड़े संख्यासंघों के लिए नए शब्द कल्पित किए जा सकते हैं, ताकि पुनरावृत्ति और भ्रम से अधिकाधिक बचा जा सके। गणना की सुविधा के लिए यह संघकल्पना अत्यावश्यक और अनिवार्य है।

१०.६ संघ-सीमा

यह 'संघ' किस संख्या तक सीमित किया जाए ? यही प्रश्न विचारणीय रह जाता है। वैदिक काल से भी बहुत पूर्व ही यह संघ आर्यभाषाओं के भारतीय वर्ग में 'दस' की संख्या के रूप में स्वीकार किया गया था। यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार 'दश' के क्रम में आने वाले वर्गों के नाम हैं : दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, और परार्ध[1]। दश के द्विगुण, त्रिगुण आदि रूपों के लिए 'दो दस', 'तीन दस', 'चार दस' आदि की भावना और उन्हीं के वाचक शब्दों के मेल से प्रायः आधार बनता है। 'विंशति' की रचना 'द्वि' और 'दशत्' से मानी गई है[2]। 'त्रिंशत्' आदि भी इसी क्रम में हैं। अंग्रेज़ी के 'ट्वेण्टी' आदि में संस्कृत के 'दशत्' के भागावशेष 'शत्' की भाँति 'टॆन्' की विकृति 'टीन्' का 'टी' ही शेष है। यह परम्परा केवल वहीं तक रहती स्थिर है, जब तक एक नया वर्ग 'शतम्' के रूप में सामने नहीं आ जाता।

१०.७ दश और दशमलव

यहां विचारणीय बात यह रह जाती है कि पाणिनि ने 'दश' का मूलरूप 'दशत्' स्वीकार करते हुए **दशत्, द्विशत्, त्रिशत्, चत्वारिंशत्**, आदि की जिस परम्परा को स्वीकार किया है, और जिसे **षट्शत्, सप्तशत्**, आदि न कह कर वे षष्+ति, सप्तन्+ति, आदि के रूप में कहते हैं, उसे भी वे 'शतम्' पर ही आकर तोड़ते हैं। उसके बाद के 'सहस्रम्' आदि संघों की गणना में भी हम 'दस' की गुणकता को सर्वत्र अनुकृत नहीं पाते। 'शत' से 'सहस्र' की बात भी उन्होंने 'दश' की गुणकता के कारण स्वीकार नहीं की है। जनप्रयोग में इस स्वतन्त्र संख्या के चल पड़ने का कारण वे कुछ और ही मानते हैं। 'शत' की अपेक्षा में 'सहस्र' को 'बलवत्तर' स्वीकार कर लेने के बाद, वे उसे ही 'मूल' मानकर उसके बाद के गणों में 'शतमूलकता' या 'शतगुणकता' को स्वीकार करते हैं। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से 'सहस्र' का औचित्य इसी बात में है कि उससे 'शत' के बाद

---

१. वा० सं०, यजु० १७.२।
२. वा० ३. ११. १६।

भी दशमूलकता या 'दशमलव' की पद्धति के अस्तित्व की स्वीकृति मिलती है। और, पाणिनि का कमाल तो इसमें है कि उन्होंने भाषावैज्ञानिक की दुरूह कल्पना को अपना कर 'द्विदशत्' आदि की बात सिद्ध करने का यत्न न कर उसे वैयाकरण दृष्टि से 'दशत्' में विद्यमान 'शतिच्' प्रत्यय से बनता हुआ माना है। 'दशत्' में भी 'शतिच्' की कल्पना के बाद उन्हें अगले संघों का निर्माण अत्यन्त सरल प्रतीत होता है।

१०.८ संख्येय और संख्यान संघ

इस सारे प्रकरण की व्याख्या भर्तृहरि और हेलाराज ने वाक्यपदीय में ३.११.१७ से २४ तक की है। वहाँ वे पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि की परिभाषाओं और भावनाओं को समझाते हैं। वे कहते हैं कि दस तक की संख्या किसी सीमा को मानकर नहीं चलती। दस भी 'संख्या' की सीमा नहीं है। यह स्वतः 'द्रव्यसंघ' की सीमा है। वस्तुतः 'संख्येय संघ' और 'संख्यान सघ' में मौलिक भिन्नता रहती भी नहीं। दोनों से एक ही बात अभिप्रेत होती है। फिर भी हम कह सकते हैं कि संख्या का आश्रय इन दोनों ही संघों पर आधारित होता है :

> **एकोऽपि गुणभेदेन संघो भेदं प्रकल्पयेत्।**
> **आश्रयाश्रयिभेदो हि तदाश्रयनिबन्धनः॥ वा० ३.११.१८॥**
> **संख्येयसंघसंख्यानसंघः संख्येति कथ्यते।**
> **विंशत्यादिषु साऽन्यस्य द्रव्यसंघस्य भेदिका॥ वा० ३.११.१९॥**

अर्थात्, 'दस को हम एक पूर्ण संघ के रूप में मान कर चलते हैं। 'नौ' तक की संख्या को ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें द्वित्वादियोग सम्भव नहीं है। नौ का द्विगुण अट्ठारह होता है। अष्टादश, अट्ठारह, एट्टीन, आदि सामान्य शब्द इस बात को बताते हैं कि दोनों मिलकर जिस संघ को बनाते हैं, उसमें एक तो पूर्ण संघ 'दस' है, शेष उससे अधिक बचे हुए व्यक्तिद्रव्य हैं। 'विंशति' आदि कहते ही 'दो संघ' की भावना जगती है। पर, इसे ही प्रायः सामान्यतः 'संख्या' कह देते हैं। इस प्रकार भर्तृहरि और येस्पर्सन इसी धारणा को पुष्ट करते हैं कि 'संख्या मूलतः दस तक ही है।'

१०.९ 'शून्य' का महत्त्व

शून्य को भारतीय चिन्तन में पूर्णता का प्रतीक माना गया है। अपने आप में अभाव का द्योतक होकर भी यह शून्य, अन्य चिह्नों के साथ जुड़ता हुआ,

पूर्णता का प्रतीक बन जाता है। परन्तु, इस युक्ति को केवल भारतीय या अन्य लिपियों के साथ ही सम्बद्ध न कर बैठना चाहिए। यह युक्ति आरम्भ में संख्या-सम्बन्धी दर्शन से जन्म लेती है। तब इसका लिपि में विन्यास हुआ है। जहां तक लिपिचिह्नों का प्रश्न है, यह स्मरण रखना उचित ही होगा कि आरम्भ में भारतीय और रोमन आदि भारोपीय लिपियों में समान रूप से अक्षर चिह्नों का प्रयोग इन 'संघों' के द्योतन के लिए होता था। अन्तर इन संघों की गणना और उनके द्वारा सूचित राशियों में है।

१०.१० संघ और इकाई

भर्तृहरि यह स्पष्ट करते हैं कि 'संघ' का अर्थ पूर्ण इकाई से है: एकः संघः। नौ तक की पहली संख्याएं उसी के अंशों के रूप में गिनी जा सकती हैं। इसे वे 'इक्कीस' के उदारण द्वारा समझाते हैं:

एकविंशतिसंख्यायां संख्यान्तरसरूपयो:
एकस्यां बुद्ध्यनावृत्त्या भागयोरिव कल्पना॥ वा० ३.११.२०॥

अर्थात्, "'इक्कीस' की संख्या में वस्तुत: दो संख्याओं का स्पष्ट योग है, जिनमें से एक तो ऐसे 'संघ' को स्पष्ट कर रही है जिसमें कोई 'अंश' प्रतीत नहीं होता, और दूसरी एक पृथक् और अपूर्ण भाग के रूप में बची रहती है।' 'दशमलव' (Decimal) की प्रख्यात भारतीय देन का जन्म इसी 'संघ' की भावना से हुआ है। इक्कीस को २.१ लिखते हुए हम वस्तुतः ऐसे दो संघों की पूर्णता-अपूर्णता और उनके पारस्परिक मूल्य को ही दिखा रहे होते हैं। पूर्ण संघों की संख्या एक ओर है, जबकि अपूर्णता की द्योतक संख्या अपूर्णता सूचक भागबिन्दु के दूसरी ओर है। अंशांशिभाव की इस कल्पना ने ही गणना या संख्यान की वह ऋजुतम सुविधा संसार को दी, जिसने गणनाव्यापार को एक अत्यधिक चमत्कारी मार्ग पर डाल दिया। इसके लिपि-पक्ष पर हम पहले ही कह आए हैं।

१०.११ दो भाग असम्भव

इस पर भी संख्याकार्यों की दृष्टि से 'इक्कीस' आदि को संख्या ही माना जाता है। वस्तुतः उन वस्तुओं में से हम 'एक' और 'बीस' (दो दस) को अलग-अलग करके न तो देखते हैं, न ऐसा व्यवहार में सम्भव ही है। अंशांशि-कल्पना केवल बौद्धिक वस्तु ही ठहरती है। इसीलिए व्यावहारिक दृष्टि से 'इक्कीस' आदि को 'समूह' न कह कर 'संख्या' कहना ही अधिक उचित ठहरता है।

असंख्यासमुदायत्वात् संख्याकार्यं विधीयते।
समूहत्वे तु तन्न स्यात्, स्वांगादिसमुदायवत् ।। वा० ३.११.२१ ।।

भर्तृहरि का यह कथन उचित भी है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि बीसवां, बीस वार, आदि की भांति इक्कीसवां, इक्कीस वार, आदि शब्दों का प्रयोग होता है। पाणिनि ने भी **एकविंशतिः, एकविंशः, एकविंशतिमयम्, एकविंशतिकृत्वः**, आदि सभी प्रयोगों को उचित ठहराया है; और 'एकविंशति' को 'संख्या' ही माना है[1]।

१०.१२ बीस और दो दस

यहां 'बीस' को 'दो दस' के रूप में कहने के औचित्य पर विचार कर लेना भी अभीष्ट होगा। टू टेन्स, ट्विन् टी (न), और ट्वेन्टी, आदि में एवं 'द्विदश' और 'विंशति' आदि प्रयोगों में परस्पर अन्तर है। यही कारण है कि प्रयोग में हम 'टू टेन्स' या 'दो दस' आदि नहीं कहते। भर्तृहरि उसका सहेतुक विवेचन करते हुए कहते हैं कि जब हम 'दो दस' कहते हैं, तब वस्तुतः दो पृथक् संख्येय-संघों की ओर हमारा इंगित होता है। हमारे सामने उस समय 'दस-दस' वस्तुओं के दो सर्वथा पृथक् 'संघ' विद्यमान होते हैं। इस शब्द का व्यवहार एक ही द्रव्य संघ के लिए नहीं हो सकता। यद्यपि उस स्थिति में 'दो' की भावना महत्त्वहीन हो जाती है, पर 'बीस' कहते ही एक संघ की भावना फिर से जग जाती है। यद्यपि विभागशः इसका निर्माण भी 'दो दश-संघों' से ही माना जाता है। इसीलिए 'दो दस' या 'त्रिदश' आदि शब्दों को 'बीस', 'त्रिंशत्' आदि की तुलना में 'संख्या' या 'संख्यावाचक' शब्द स्वीकार नहीं किया जा सकता। शुद्धतः वे द्रव्यसंघों की ही सूचना देते हैं, किसी एक समूह के द्रव्यों की 'संख्या' की नहीं। इसीलिए 'बीस' आदि की तुलना में 'द्विदश', 'त्रिदश' आदि को 'संज्ञा' कहा जा सकता है, 'संख्या' नहीं। भर्तृहरि के शब्दों में :

संख्येयान्तरतन्त्रासु या संख्यासु प्रवर्त्तते।
आवृत्तिवर्गसंख्येया, तां संख्यां तादृशीं विदुः ।।
न संख्यायां न संख्येये द्वौ दशेत्यस्ति संभवः ।।
भेदाभावान्न संख्यायां विरोधान्न तदाश्रये ।। वा० ३.११.२२, २३ ।।

वस्तुतः 'द्विदश' जैसे शब्द 'दश-वर्ग का द्वित्व' या 'दशौ' जैसी स्थिति

१. पा० अष्टाध्यायी के पंचम अध्याय के प्रथम और द्वितीय पादों के सम्बद्ध स्थल।

की ही सूचना देते हैं; संख्या की दृष्टि से उनका महत्त्व नहीं। वे केवल गण-आवृत्ति के द्योतक हैं :

> संख्यायेते दशद्वगौं द्विदशा इति संख्यया ।
> तद्रूपे वापि संख्येये आवृत्तिः परिगण्यते ।। वा० ३.११.२४ ।।

१०.१३ त्रिदशादि : संज्ञाशब्द

इसीलिए भर्तृहरि ने 'संख्या' के संज्ञात्मक और गणनात्मक महत्त्वों को स्वीकार करते हुए कहा :

> **संख्या नाम न संख्याऽस्ति संज्ञैषेति तथोच्यते ।**
> **रूपं न रूपमित्येवं संज्ञा सा हि सितादिषु ।।**
> **संख्यानजातियोगात्तु संख्या संख्येति कथ्यते ।**
> **रूपत्वजातियोगाच्च रूपे रूपमिति स्मृतम् ।। वा० ३.११.२५, २६ ।।**

अर्थात्, "जिन शब्दों को हम 'संख्या' समझ बैठते हैं, वे वस्तुतः संज्ञाशब्द या संख्या-वाचक संज्ञाशब्द ही कहे जाने चाहिएं। उनमें संख्यात्व का आरोप, या उनका संख्या नामकरण, उनकी संख्यानपरक या गणनापरक वृत्ति के कारण होता है। यदि संख्यान की यह विशेषता उनमें उपस्थित न हो, तब संख्याशब्दों का सामान्य संज्ञाशब्दों से कोई भेद ही नहीं रह जाता।"

और 'त्रिदश' आदि शब्दों में 'संज्ञात्व' के अतिरिक्त है ही क्या ? उनके द्वारा कोई गणना अभीष्ट नहीं होती। वहां संख्याशब्दों का व्यवहार भी किसी विशेषता या संकेत के निदर्शनमात्र के लिए होता है। अतः वे संज्ञाशब्द ही हैं, 'संख्याशब्द' नहीं।

१०.१४ वचन

इन सब चर्चाओं के बाद व्याकरण से सम्बद्ध संख्यासमस्या आती है वचनों की। येस्पर्सन के अनुसार विश्वभाषाओं में विविध रूप में मान्य वचनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

व्यवहार : संख्या	वाक्-प्रयोग : वचन	प्रयोग-सीमा
क. संख्येय :—		
एक	एकवचन	सार्वत्रिक
दो	द्विवचन	सीमित

तीन	त्रिवचन	अतिसीमित
दो से आगे पूर्ण गणना तक (एक से अधिक = अनेक)	बहुवचन	अतिव्यापक
तीन से अधिक (बहु)	,, ,,	कम व्यापक
ख. असंख्येय :		
असंख्य (इन्फ़िनिट)		(बहुवचन)

१०.१५ येस्पर्सन की व्याख्या

येस्पर्सन ने स्पष्ट किया है कि गणना की दो विधियां हैं : एक में 'संख्येय' और 'असंख्येय' के रूप में विभाजन किया जाता है, और दूसरी में संख्येय को ही विविध वर्गों में बाँटा जाता है। यहाँ सख्येय के इस विभाजन के पीछे छिपी इस कठिनाई को समझ लेना चाहिए कि 'वचन' का सम्बन्ध भाषात्मक या वाक्यात्मक अभिव्याक्ति से है। भाषात्मक अभिव्यक्ति की कुछ अपनी समस्याएं हैं, सीमाएं हैं। विश्वभाषाओं में वचनों की संख्या अधिकतम चार या पाँच पहचानी गई है। पर दैनन्दिन व्यवहार में मनुष्य की रुचि भाषा को सरलतम आवरण में अधिकतम अभिव्यंजक बनाने की ओर आरम्भ से ही बढ़ती रही है। परिणाम यह कि सरलता की इस खोज में वचनों और विभक्तियों की संख्या कम से कम होती गई है। इसीलिए येस्पर्सन ने वचनों के जो विभाग दिखाए हैं, वे तीन प्रकार की भाषाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें सबसे मुख्य भाषाएं वे हैं, जिनमें 'एक' और 'अनेक' के विभेद पर ही वचन भेद आधारित है। भारोपीय परिवार की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं में, इन्हीं दो विभाजनों के आधार पर, 'एक वचन' और 'बहुवचन' के रूप में दो वचनों को ही मान्यता मिली है। 'द्विवचन' की बात वहां स्वीकृत नहीं हुई। द्वितीय वर्ग भारोपीय तथा अन्य परिवारों की उन भाषाओं का है, चाहे वे प्राचीन हों या अर्वाचीन, जो अपनी दार्शनिक साहित्यिक या अन्य चेतनाओं के कारण 'दो' के समूह या वर्ग के लिए एक अलग वचन का प्रयोग विहित एवं अनिवार्य मानती हैं। इनकी दृष्टि से 'द्विवचन' इसलिए आवश्यक है कि संसार की कुछ चीज़ें युगल-जोड़ी के रूप में ही सदा उपलब्ध होती हैं। किन्हीं भी दो चीज़ों के लिए द्विवचन का प्रयोग निराधार ही नहीं कर दिया जाता। इस वचन के प्रयोग के लिए यह शर्त प्रायः अनिवार्य सी हो जाती है कि एक ही या एक सी प्रतीत होने वाली वस्तु का 'द्वित्व' या 'दो एकत्व' वाला रूप स्पष्ट हो। या फिर, प्रयुक्त दो वस्तुओं में 'साहचर्य' का भाव हो। 'राम-

लक्ष्मणौ' या 'रामरावणौ' का प्रयोग सम्भव है। 'दाशरथी' रूप भी द्विवचन में सम्भव है। इनमें परस्पर साहचर्य है ही : भले ही सहकारी या विरोधी के रूप में वह हो। पर, इनके अनुकरण पर यदि 'लक्ष्मणार्जुनौ' या 'रामशिशुपालौ' जैसे द्वन्द्वात्मक द्विवचन बनाने लगें, तब उनसे किसी समकालिक और सामंजस्यपूर्ण सूचना की उपलब्धि न हो सकेगी। कदाचित्, इससे भ्रम का सृजन ही अधिक आशंकनीय रहेगा। इसी दृष्टि से इस की जगह 'लक्ष्मणौ' कहना भी भ्रामक प्रतीत होगा।

ऐसे प्रयोगों की व्याख्या 'एकशेष द्वन्द्व' के द्वारा की जाती है। पर, 'द्वन्द्व' की धारणा भी 'साहचर्य' और 'सम्बन्ध' के बल पर ही बढ़ती है। इसे 'जातिपरक द्वित्व' के कारण भी आवश्यक ठहराया जा सकता है। पर, इसका प्रयोग कितना कम था, यह इस बात से ही स्पष्ट है कि सात या आठ विभक्ति वाली संस्कृत जैसी भाषा में इसके कुल तीन ही रूपों से सब जगह काम लिया गया है।[1]

इन दोनों के अतिरिक्त भाषाओं का एक तीसरा वर्ग वह है, जिसमें, 'एक' और 'दो' के समान 'तीन' को भी एक स्वतन्त्र संख्या मानकर, 'त्रिवचन' जैसे वचन की कल्पना की गई है। इन भाषाओं की दृष्टि में 'बहु' का अर्थ 'तीन से अधिक' बैठता है।

१०.१६ 'बहु' के अर्थ : पाणिनि

इस प्रकार विविध भाषावर्गों में 'बहु' का अर्थ भिन्न-भिन्न सिद्ध हुआ : (क) एक से अधिक, (ख) दो से अधिक, (ग) तीन से अधिक। इस सम्बन्ध में पाणिनि ने यद्यपि संस्कृत और वैदिक भाषाओं को दृष्टि में रखकर ही व्याख्या की है, फिर भी वह सभी प्राचीन भारोपीय भाषाओं पर इस लिए लागू हो जाती है कि उनका आविर्भाव एक ही मूल से और एक ही दृष्टि से प्रेरित होकर, कम से कम प्रस्तुत सन्दर्भ में, हुआ है। इन्हें बोलने वाली एक ही विचारधारा वाली एक ही जाति थी। पाणिनि ने इस सम्बन्ध में कुल तीन नियम प्रस्तुत किए हैं :

(क) एक और दो के प्रसंग में क्रमशः 'एकवचन' और 'द्विवचन' का प्रयोग होता है;[2]

(ख) 'बहुत' के अर्थ में 'बहुवचन' का प्रयोग ही विहित है[3];

---

१. यहां अभिप्राय (i) प्रथमा और द्वितीया, (ii) तृतीया, चतुर्थी और पंचमी, एवं (iii) षष्ठी और सप्तमी के 'द्विवचन' में समान रूपों की उपलब्धि से है।

२. पा० १.४.२२।

३. पा० १.४.२१।

और, (ग) जाति तथा अन्य कुछ विशिष्ट स्थितियों में द्विवचन या बहुवचन के स्थान पर 'एकवचन[1]', एकवचन-द्विवचन के स्थान पर बहुवचन[2] एवं बहुवचन के स्थान पर द्विवचन[3], आदि का व्यत्यय हो जाता है।

इन में से सार्वत्रिक होने के कारण पहले दो को ही 'नियम' कहा सकता है। तीसरे को 'अपवाद' कहना ही अधिक उचित है।

१०.१७ दो प्रश्न

इस सम्बन्धमें दो ही बातें विचारणीय रह जाती हैं। प्रथम यह कि द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग किस भावना के बल पर होता है? और दूसरी यह कि उनका अस्तित्व कहां तक वैध है? भर्तृहरि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हैं। 'द्विवचन' के बिषय में उनका कहना है:

एकत्वे बुद्धिसहिते निमित्तं द्वित्वजन्मनि।
एकत्वाभ्यां समुत्पन्नमेवं वा तत्प्रतीयते।। वा० ३.११.२६ ।।
एकत्वसमुदायो वा सापेक्षे वा पृथक्-पृथक्।
एकत्वे द्वित्वमित्येवं तयोर्द्विवचनं भवेत्।। वा० ३.११.१७ ।।

अर्थात्, 'द्विवचन का प्रयोग वस्तु की वैयक्तिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं लाता। वस्तु या द्रव्य स्वतः एक ही रहता है। दो पृथक्-पृथक् 'एकत्व' मिलकर 'द्वित्व' बनाते हैं, या 'द्विवचन' कहने पर भी एकत्व की और पृथक् व्यक्तित्व की भावना बुद्धि से नहीं उतरती।" इस बात को किसी भी रूपमें कहें, भाव यही रहता है: द्विवचन हो या बहुवचन 'द्रव्य' में एकत्व की भावना विद्यमान अवश्य रहती है। इसकी ही व्याख्या हेलाराज करते हैं: तथाहि '**द्विचकयोः** (पा० १.४.२२) **इति द्विवचनं द्वित्वे विधीयमानं द्वित्वस्यैकत्वाभ्यामव्यतिरेकादेकत्वयोरेतत्स्यात्**। अर्थात्, 'द्विवचन' आदि के प्रयोग में मूल भावना दो एकत्वों के अभिधान की ही रहती है'। पाणिनि के इसी (पा० १.४.२२) सूत्र की व्याख्या में भर्तृहरि कहते हैं:

द्व्येकयोरिति निर्देशात् संख्यामात्रेऽपि सम्भवः।
एकादीनां प्रसिद्धा तु संख्येयार्थित्वमुच्यते।। वा० ३.११.३२ ।।

इसकी व्याख्या में हेलाराज कहते हैं: '**संख्यानमात्रे लौकिके प्रयोगे नैषा वृत्तिः।**

---

१. पा० १. २. ६१, ६२।
२. पा० १. २. ५८, ५९।
३. पा० १. २. ६३।

तय हि पदं प्रयुज्यते। विभक्त्यन्तं च पदम्। विभक्तिश्च संख्यां प्रातिपदिकार्थसमवेतामाहेति नियतं तत्र संख्यावधारणम्। शास्त्रे त्वपोद्धारबुद्ध्या संख्यानमात्रवृत्तित्वं वृत्तावसति विभक्तिप्रत्यये काममुत्पद्यत इति'। अर्थात्, 'भले ही एक और दो की शुद्ध संख्या में एकवचन और द्विवचन की बात को संख्या-शब्दों तक भी सीमित रखा जा सकता है, किन्तु लौकिक प्रयोग की वृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वचन का प्रयोग विभक्ति के साथ सहवर्ती रूप में ही होता है। अर्थात्, एकत्व, द्वित्व, बहुत्व, आदि का अभिधान विभक्तिप्रयोग के साथ-साथ ही, बल्कि उसमें ही, अन्तर्गृहीत होता है। शास्त्र में वचन का संख्यामात्र से सम्बन्ध केवल अपोद्धारबुद्धि के बल पर ही माना गया है। दूसरे शब्दों में, 'दो राम' या 'बहुत सारे वन' जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती। 'राम' की दो व्यक्ति-सत्ताएं सिद्ध होने पर ही द्विवचनादि का प्रयोग विहित होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि इन वचनों के संकेत विभक्तिप्रत्ययों के साथ-साथ अथवा उनसे अभिन्न रूप में ही रहते हैं। कह सकते हैं कि प्रत्येक विभक्ति में वचनों की अभिव्यक्ति के लिए विधान रहता ही है। हर वचन के लिए पृथक् प्रत्यय रूप प्रयुक्त होता दीखता है। विभक्तिसम्बन्ध की इसी सार्थकता के कारण पाणिनि ने एक नियम बनाया था, जिसके अनुसार एक ही विभक्ति में विभिन्न सजातीय द्रव्य प्लक्ष, न्यग्रोध, खदिर, आदि में से किसी एक के शेष रहने पर, उसी के बहुवचन द्वारा, सबका उल्लेख किया जाता है (वा० १.२.६४)।

द्वितीय प्रश्न इन वचनों के आस्तित्व की वैधता के सम्बन्ध में है। जहां तक वचन-संख्या की वैधता का प्रश्न है, यह बात भाषा के प्रयोक्ताओं की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। 'भाषा' जातिविशेष की जीवनदृष्टि की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसलिए जातिभेद के अनुरूप वचनभेद की सम्भावना भी स्वीकार करनी चाहिए। जहां तक इनकी सचिह्न अभिव्यक्ति की अनिवार्यता और वैधता का प्रश्न है, इन्हें हम भाषा की प्रकृति पर आश्रित कह सकते हैं। यदि भाषा संयोगात्मक है, तब प्रत्ययचिह्नों के संयोग द्वारा, और यदि भाषा अयोगात्मक या प्रत्ययसंयोगहीन है, तब किन्हीं स्वतन्त्र संख्यावाचक शब्द या अन्य संकेत-शब्दों के द्वारा, इनकी अभिव्यक्ति सम्भव हैं। अत: जहां तक 'वचन' का सम्बन्ध है, संख्या और गणनातत्त्व के वैध और अनिवार्य होने के कारण वचनों की वैधता भी अनिवार्य है। पर, जहाँ तक उनकी 'रूपात्मक अभिव्यक्ति' का प्रश्न है, उसे 'सापेक्ष' कहा जाना ही उचित है।

१०.१८ रूपात्मक संयोग : क्रिया से सम्बन्ध

इस सम्बन्ध में हम चरम तथ्य का उल्लेख अन्यत्र कर आए हैं। 'क्रिया' जिस साधना या प्रक्रम का नाम है, उसके साथ संख्या या 'पुरुष' के संयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी, प्रत्यय-संयोग-प्रधान भाषाओं में 'कर्त्ता'-सम्बन्धी सभी मुख्य सूचनाओं को क्रिया-पद द्वारा ही व्यक्त कर देने की प्रवृत्ति बहुधा पाई जाती है। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ क्रिया के साथ प्रयुक्त वचन का प्रयोग क्रिया की एकता, द्वित्व या बहुलता के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। उसका सम्बन्ध केवल कर्त्ता की 'संख्या' का निर्देशमात्र करना ही होता है। इसलिए, अनिवार्य नहीं कि हर भाषा में हम यही नियम इसी रूप में लागू होता पाएं। चीनी भाषा में क्रिया से संख्या और पुरुष का यह सम्बन्ध ही नहीं समाप्त हो गया है, बल्कि वहाँ काल का बन्धन भी उसके साथ प्रत्ययसंयोग के रूप में अनिवार्य नहीं माना गया है। अतः 'क्रिया' में वचन की उपस्थिति उसी प्रकार अर्थहीन कही जा सकती है, जिस प्रकार विशेषण शब्दों में। पर विशेषण शब्द द्रव्यवाचक, और कभी-कभी द्रव्य-स्थानीय, होने से किसी न किसी रूप में सख्या से सम्बद्ध सिद्ध भी किए जा सकते हैं। किन्तु, क्रिया की अनेकता सिद्ध करने का अर्थ उसकी मूल प्रकृति के विपरीत जाना होगा। 'सब पढ़ते हैं' 'कहने से 'पढ़ना' की अनेक बार आवृत्ति सिद्ध नहीं होती। यह तो कर्त्ता की संख्या की सूचिकामात्र बनकर बहुवचनान्त प्रयुक्त हुई है।

साधन या कारक

११.१ साधन है क्या ?

'दिक्' को साधन और संख्या का सबसे बड़ा उपादान कह आए हैं। संख्या की चर्चा होने के बाद 'साधन' पर चर्चा भी अनिवार्य हो उठती है। भर्तृहरि ने 'साधन-समुद्देश' में इसकी चर्चा अत्यधिक विस्तार से की है। इस प्रसंग में अधिक विचार पर बढ़ने से पूर्व यह अवधेय है कि भर्तृहरि 'दिक्' और 'काल' की भांति 'साधन' को भी द्रव्य की एक स्वतन्त्र शक्ति मानते हैं। अत: यह भी अन्य दोनों की भांति द्रव्याश्रित और पराश्रित ही है। निश्चय ही इन सबकी अभिव्यक्ति 'नाम' अथवा 'क्रियाशब्दों' के साथ मिल कर होती है। 'दिक्' और 'साधन' का मूल सम्बन्ध 'द्रव्य' से ही है। फिर भी, यह स्मर्त्तव्य है कि 'साधनों' का एकमात्र उद्देश्य और प्रयोजन द्रव्य का क्रिया के साथ सम्बन्ध बताना ही है। सामान्यत: हर 'द्रव्य' का क्रिया के साथ सम्बन्ध 'कर्त्ता' के रूप में ही सम्भव स्वीकार किया जाता है। पर यह भी स्वीकार किया जाता है कि एक क्रिया के साथ कर्त्ता के रूप में एक ही द्रव्यशब्द का व्यवहार—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में—होना चाहिए। अत: स्पष्ट है कि एक ही क्रिया से एक ही समय में सम्पर्क में आने वाले द्रव्यों में से प्रत्येक का सम्बन्ध क्रिया के साथ 'कर्त्ता' के रूप में नहीं रह सकता।

एक ही द्रव्यविशेष के साथ यह सम्बन्ध रह सकने के कारण शेष सहयोगी द्रव्यों के साथ क्रिया का सम्बन्ध भिन्न रूप में ही रह सकता है। दूसरे शब्दों में, इन अन्य द्रव्यशब्दों का प्रयोग तो क्रियासम्पादन के उद्देश्य से हो होता है, पर या तो ये क्रिया-सम्पादन में कर्त्ता की सहायता करते हैं, या फिर उनका क्रिया के साथ कर्तृ-भिन्न सम्बन्ध होता है। इन्हें इसी क्रिया-निष्पादन में सहायता देने के कारण 'साधन' कहा गया है। 'कारक' का अर्थ है 'करने वाला' या कराने वाला'। ये दोनों ही बातें 'कर्त्ता' या 'कर्त्ताभिन्न' शब्दों पर समान रूप से लागू होती हैं। ये शब्द जिन द्रव्यों की सूचना देते हैं, वे या तो स्वयं क्रियासम्पादन करते हैं, या उनका प्रयोग क्रियासम्पादन में सहायता पहुँचाता है। इन दृष्टियों

से क्रियासम्पादन में उनका कर्तृत्व भी हो ही जाता है : कर्त्ता के रूप में, या कर्तृ-भिन्न रूप में। 'दिक्' के साथ इनके सम्बन्ध की चर्चा पहले की जा चुकी है। यहां, इनके व्याकरणात्मक स्वरूप और कार्य की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है।

११.२ सामर्थ्य किसकी ?

ऊपर साधन को 'शक्ति' कहा गया है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि ये 'क्रिया के कारक' होते हैं। प्रश्न उठता है कि यदि ये क्रिया के 'कारक' हैं, तो 'शक्ति' किस के ? पीछे हम दिक्-प्रकरण स्पष्ट कर आए हैं कि 'शक्ति' द्रव्य की ही होती है। वैसे तो काल को भी 'शक्ति' कहा गया है[1]; पर उसे क्रिया की 'शक्ति' कहा गया है। पर, साथही, 'काल' को 'क्रिया' का अपर पर्याय और मूलाधार भी स्वीकार किया गया है। उधर, 'साधन' और 'दिक्' की स्थिति ऐसी नहीं है। ये दोनों कभी भी 'द्रव्य' का स्थान नहीं ले सकते। क्रिया की सत्ता काल के बिना शून्य मानी गई है। प्रायोगिक रूप में 'साधन' और 'दिक्' के अभाव में यही स्थिति द्रव्य की भी मानी जानी चाहिए। पर व्यवहारत: इन दोनों को कारक और वचन के पृथक् चिह्नों से सहित भी स्वीकार किया जाता है।

पर, इस से भी बड़ा अन्तर यह है कि 'काल' क्रिया की 'सामर्थ्य' नहीं है। 'क्रिया' का तो सारा अस्तित्व ही उस पर निर्भर करता है। इसके विपरीत 'साधन' द्रव्य की सामर्थ्य है। सामर्थ्य वह इस रूप में है कि उसके द्वारा द्रव्य क्रिया के साथ अपने सम्बन्ध को बदल लेता है। और यह सब होता है, बिना अपना आश्रय और स्वरूप परिवर्त्तित किए। इसी को पतंजलि इस प्रकार कहते हैं : **'द्रव्यं क्रियाभिनिर्वृत्तिं प्रति साधनभावमुपैति'** (पा० ३.१.६७)।

और, 'साधनं वै द्रव्यम्' (पा० ५.३.५५)।

इसे ही भर्तृहरि इस रूप में कहते हैं :

> **स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे ।**
> **क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥** वा० ३.७.१ ॥

दोनों का भाव यह है : 'साधन द्रव्य से अभिन्न और तदाश्रित है। द्रव्य क्रिया के सम्पादन में जो स्थिति अपनाता है, उसे ही 'साधन' कह देते हैं। या, यूं कह सकते हैं कि द्रव्य अपनी स्थिति को बिना छोड़े क्रिया के सम्पादन में अपनी जिस सामर्थ्य द्वारा योगदान देता है, उसे साधन कह देते हैं'।

---

१. वा० १. ३, आदि।

यहां यह अवधेय है कि आपात दृष्टि में द्रव्य को ही साधन कह देना, या साधन को द्रव्य की सामर्थ्य कह देना, परस्पर विरोधी कथन प्रतीत होते हैं। परन्तु, तनिक गहराई में जाने पर यह प्रतीत होगा कि दोनों ही कथन सत्य हैं। जब द्रव्य को ही साधन कह दिया जाता है, तब उसका यह अर्थ होता है कि क्रिया के निष्पादन में द्रव्य जिस तरह भाग लेता है, उससे वह सम्पादन या निष्पत्ति का 'साधन' या 'कारक' की माना जाना चाहिए। और जब हम द्रव्य की सामर्थ्य को 'साधन' कहते हैं, तब वहां उस सत्य को ही तर्क के आधार पर समझा रहे होते हैं। जिस सामर्थ्य के कारण द्रव्य क्रिया की निष्पत्ति या उसके निष्पादन-सम्पादन में 'साधन' बन पाता है, वहां हम उस 'सामर्थ्य' को ही 'साधन' कह देते हैं। भर्तृहरि ने 'सामर्थ्य' का यह नाम इसलिए उपयोगी समझा प्रतीत होता है कि इसके द्वारा 'कारकों' का वास्तविक रूप, महत्त्व और कार्य पूरी तरह स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

११.३ नियत या अनियत

येस्पर्सन और अन्य पाश्चात्य वैयाकरणों ने भी यह सत्य स्वीकार किया है कि विभक्तियों या कारकों का विभाजन और अर्थविभाजन हम कितना ही विश्वस्त और स्थिर होकर करदें, उनके व्यवहार की अनियमितता को तर्क द्वारा यत्र-तत्र स्पष्ट किया ही जा सकता है। **पाणिनि** ने अपने से पूर्व के लौकिक और वैदिक प्रयोगों के विश्लेषण द्वारा यह सत्य पा लिया था कि भले ही लोक प्रयोग में प्रत्येक साधन या कारक के प्रचलन के पीछे एक मुख्य भावना स्थायी सी होती है, पर व्यवहार की बढ़ती के साथ उन्हीं गिने-चुने कारकों से हम जटिल से जटिलतर अभिव्यक्तियां भी देने लग जाते हैं। तब एक विभक्ति का प्रयोग एक कारक में स्थिर नहीं रह जाता। या, यह कहना अधिक उचित होगा कि एक ही कारक का प्रयोग एक ही अर्थ में स्थिर नहीं रह जाता। वहाँ 'कर्म' और 'करण' केवल 'ईप्सिततम' और 'कारकतम' (साधकतम) के रूप में ही प्रयुक्त नहीं होते; 'अनीप्सित' और 'अनभिहित' आदि अन्य अनेक प्रयोग भी 'कर्म' के ही आकार-प्रकार (विभक्ति) में 'द्वितीया' द्वारा व्यक्ति पा लेते हैं। कई बार ये साधन इतने महत्त्वहीन हो जाते हैं कि प्रेपोज़िशनों या निपातों के साथ प्रयुक्त होकर भी स्वार्थ से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं होते। अंग्रेजी प्रयोगों में 'बाई हिम्' और 'ऑफ हिज़ ओन' आदि उदाहरण जर्मन आदि अन्य भारोपीय भाषाओं की भी इसी प्रवृत्ति को सूचित करते हैं।

स्पष्ट है कि 'साधन' क्रियासम्पादन में द्रव्य की सबसे बड़ी सामर्थ्य होने

पर भी अपने स्वरूप में स्थायी, दृढ़ एवं अपरिवर्त्ती आधार का नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इसका प्रयोग और व्यवहार वक्ता की प्रयोगकालीन बुद्धि और मनोदशा पर निर्भर करता है। वक्ता की बुद्धि अर्थरूपों में जिस भी 'भेद' की कल्पना करती है, उसे ही साधन या कारक के रूपमें द्रव्य से समवेत कर देती है :

साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः ।
सन्नसन्वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते ।: वा० ३.७.३ ।।

११.४ बुद्धि पर आधारित कैसे ?

जब हम कहते हैं 'पांचाल सुन्दर हैं' या 'कुरुओं से पांचाल सुन्दर हैं', तब पांचालों की सुन्दरता में दोनों जगह कोई अन्तर नहीं आता। उनकी एकता और सामूहिकता भी बनी रहती है। पर, फिर भी, परवर्त्ती वाक्य द्वारा 'सुन्दरता' का कुछ स्पष्टतर आभास मिल जाता है। इसका कारण यह है कि समूह रूप में 'पांचाल' शब्द दोनों जगह एक-सी और एक द्रव्य की ही अभिव्यक्ति देता है। पर, उत्तरवर्त्ती वाक्य में यह अन्तर आ जाता है कि उन्हीं एकत्वमय 'पांचालों' को 'कुरुओं' से पृथक् करके एक इकाई के रूप में और भी स्पष्ट कर दिया जाता है। इस पृथक्ता के कारण दोनों के 'सौन्दर्य' में भी तुलनात्मक अन्तर आ जाता है। निश्चय ही एक का सौन्दर्य दूसरे से भिन्न होकर व्यक्त होता है। यह 'भेद' या 'वृद्धि' केवल बुद्धिगत चमत्कार ही है; क्योंकि वक्ता के बुद्धिचमत्कार द्वारा ही यह तुलनात्मक और विभेदात्मक वृत्ति प्रवेश कर पाई है। 'पांचाल' और 'कुरु' सामान्यतः एक ही माने जाते हैं। उनमें भेदबुद्धि द्वारा पार्थक्य जगाकर दोनों में से एक को सुन्दर बताने की बात वक्ता की प्रयोगभावना पर ही आश्रित है। यदि वक्ता यह 'पार्थक्य' न भी दिखाए, तब भी 'पांचाल' सुन्दर रहेंगे ही। तब भी वक्ता, 'पांचाल सुन्दर हैं' जैसी सामान्य उक्ति द्वारा, वैसी अभिव्यक्ति दे ही सकेगा। इसे ही 'अपाय' कहते हैं: भेदबुद्धि जगाने वाला। इसे संस्कृत में 'अपादान' कारक और 'पंचमी' विभक्ति द्वारा व्यक्त किया जाता है[1]।

११.४.१ अन्य उदाहरण

बुद्धि पर आश्रित इस विभाजन का दूसरा उदाहरण नाटक आदि में दिया जा सकता है। वहां कंस-कृष्णादि सामने नहीं होते। सामने तो नट ही होते हैं। पर बुद्धि के आरोप द्वारा ही उन्हें 'कंसादि' मानकर उनके प्रति उसी प्रकार

---

१. वा० ३. ७. ४।

से कारक और विभक्ति आदि का प्रयोग करते हैं[1]। यही नहीं; द्रव्य या वस्तु तो एक ही रहती है, फिर भी विविध स्थितियों और प्रयोजनों से प्रेरित वक्ता की बुद्धि हर स्थिति में उनकी शक्ति की भिन्नता का निश्चय करती है। और, तब शक्ति की भिन्नता के उस आधार पर ही वह उसी द्रव्य को 'साधन' की विविधता द्वारा विविध रूप में व्यक्त करती है।[2] कोई भी व्यक्ति-पदार्थ भावी क्रिया के सम्पादन में अपना कोई न कोई भाग अदा करता ही है। उसके इसी भाग को, प्रयुक्त क्रियापद के साथ उसके सम्बन्ध की तुलना में, साधन या कारक द्वारा व्यक्त किया जाता है। पर, यह सब वक्ता की बुद्धिकल्पना पर ही आश्रित रहता है[3]। क्योंकि, उस द्रव्य का क्रियानिष्पादन में क्या स्थान और महत्त्व है, इसका निश्चय वक्ता को ही अपनी बुद्धि द्वारा करना होता है। इससे भी बढ़कर यह सत्य कहा जा सकता है कि क्रिया के प्रति द्रव्य की स्वतन्त्रता (कर्तृत्व) और परतन्त्रता (कर्मत्व) आदि तथा क्रमरूपादि का निश्चय केवल कल्पना का ही विषय होता है। अन्यथा 'भाव' तो स्वतः इन बन्धनों के प्रति अनासक्त से रहते हैं[4]। यह बात जनप्रयोग के मूल में भी प्रतीत होती है। यही कारण है कि जनप्रयोग के प्रथमान्त रूप को 'कारकविहीन' और शुद्ध 'प्रातिपदिकार्थवाचक' के रूप में भी व्याकरण में स्वीकार किया गया है[5]। कर्त्ता के रूप में सकारक प्रयोग प्रथमान्त हो सकता है। किन्तु, कारकविहीन शुद्ध अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए भी इसी रूप को प्रयोग किया जाता है। पाश्चात्य व्याकरण में इस कारक को 'नौमिनेटिव' या तत्सम नाम देने का कारण भी सम्भवतः यही है कि वाक्य में उस द्रव्य की कर्तृ-स्थिति द्योतित करने के अतिरिक्त यह प्रयोग उस द्रव्य के सम्बन्धों में लिंगादि का सामान्य परिचय और सूचना भी देता है।

११.४.२ 'प्रत्यक्ष' का महत्त्व

एक बात और भी बुद्धि-कल्पना के पक्ष में है। 'साधन' या कारक' का निश्चय प्रयोक्ता के ज्ञान या स्थिति-परिचय पर निर्भर करता है। यह ज्ञान 'प्रत्यक्ष' या 'बोध' का विषय है। यह 'प्रत्यक्ष' इन्द्रिय, अर्थ और मन के संनिकर्ष से ही उत्पन्न होता है[6]। जिस भी द्रव्य के सम्बन्ध में, किसी क्रिया-विशेष के

---

१. महा०, पा० ३. १. २६ एवं वा० ३. ७. ५।

२. वा० ३. ७. ६।

३. वा० ३. ७. ७।

४. वा० ३. ७. ८।

५. पा० २. ३. ४६।

६. 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' (न्याय दर्शन)।

प्रसंग में, यह 'प्रत्यक्ष' उपलब्ध हो जाता है, उसे ही साधन द्वारा अभिव्यक्त कर दिया जाता है। इसीलिए 'प्रत्यक्ष' की स्थिति में अन्तर आने के साथ-साथ द्रव्य की साधनरूपता में भी अन्तर आ जाता है[1]। अतः स्पष्ट है कि वक्ता की बुद्धि की ज्ञानात्मक स्थिति और कल्पनाशक्ति पर ही साधन' के निश्चय और प्रयोग का आधार स्थित है।

११.५ साधन और विभक्ति

'साधन' के प्रकारों पर विचार आगे चलकर ही होगा। उससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—साधन और विभक्ति के सम्बन्ध का। इस विषय में भर्तृहरि एक बहुत मौलिक और न्याय्य धारणा प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि 'कारक' या 'साधन' कल्पनाजन्य विषयमात्र हैं। कारकों की सूचना, या प्रायोगिक रूप में उनका व्यवहार, स्वयं किन्हीं कारकशब्दों या तदर्थ शब्दों से सूचित नहीं होते। उनकी सूचना के लिए किन्हीं चिह्नों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। विभाजन-विश्लेषण के बाद ये चिह्न भी दो प्रकार के निश्चित किये गए हैं : विभक्ति-चिह्न एवं अन्य चिह्न[2]। विभक्ति-चिह्नों की उपलब्धि किसी भाषा-विशेष में सार्वत्रिक और समान होती है। संस्कृत में व्याकरणात्मक विश्लेषण के बाद उन्हें 'सात' तक सीमित कर दिया गया है। अन्य भाषाओं में कारकों की संख्या के अनुसार इन विभक्तियों की संख्या में घटा-बढ़ी भी सम्भव है। नपुंसक लिंग में, संस्कृत में, ये विभक्तियां मूलतः 'छह' ही रह जाती हैं।

जहां तक अन्य चिह्नों का प्रश्न है, उन्हें हम दो वर्गों में रख सकते हैं। एक ओर, विभक्त्यर्थक चिह्न हैं, जिन्हें हम 'कृदन्त' और 'प्राग्दिशीय तद्धित[3]' के रूप में पुनः द्विधा विभक्त कह सकते हैं। पाणिनि 'प्राग्दिशीय तद्धित' प्रत्ययों को भी 'विभक्ति' ही मानते हैं। 'कृदन्त' प्रत्ययों में 'तुमुन्' आदि प्रत्यय इसी प्रकार की सूचना देते हैं। दूसरी ओर, 'प्रेपोज़िशन' या 'कर्मप्रवचनीय' आदि द्वारा विघटित 'विभक्ति' की स्थिति है, जिसमें विभक्ति-प्रत्यय अपने द्वारा कथित अर्थ को वहन नहीं करते। पाणिनि ने इस प्रभाव को दोहरे रूप में स्वीकार किया है : एक ओर कर्मप्रवचनीयादि धातु के पद या उपग्रह पर प्रभाव डालते हैं, और दूसरी ओर उनके कारण संज्ञा की विभक्ति पर प्रभाव पड़ता है। इन दोनों प्रभावों का कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न है। हमें यहां दूसरी स्थिति से प्रयोजन है। इस स्थिति में

१. वा० ३. ७. १२।
२. वा० ३. ७. १३।
३. पा० ५. ३. १।

यह विशेषत: अवबेय है कि सामान्यत: प्रयुक्त विभक्तियों से कारकों के जो निश्चित अर्थ समझे जाते हैं, इन प्रयोगों में उन अर्थों या कारकार्थो का आशय लेने पर अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि इनकी प्रयोगावस्था में प्रयुक्त विभक्तिचिह्न कारकों या उनके अर्थों से अपना सम्बन्ध खो बैठते हैं, और इस दृष्टि से कारक-प्रयोग वहां महत्त्वहीन हो जाता है। भर्तृहरि के शब्दों में :

स्वशब्दैरभिधाने तु स धर्मो नाऽभिधीयते।
विभक्त्यादिभिरेवासौ उपकारः प्रतीयते ॥ वा० ३.७.१३ ॥

अर्थात्, 'साधन या कारक एक ऐसा धर्म है, जिसका कथन अपने किसी वाचक शब्द द्वारा नहीं होता। उसे विभक्ति आदि चिह्नों के द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।'

यहां यह शंका की जा सकती है कि अंग्रेज़ी और यूरोपीय भाषाओं के प्रेपोज़िशन और संस्कृत के कर्मप्रवचनीय भी तो विभक्त्यर्थक या कारक-प्रतिनिधि स्वतन्त्र शब्द ही हैं। हिन्दी के ने, से, केलिए, में, आदि भी स्वतन्त्र विभक्त्यर्थ या कारकार्थ शब्द ही गिने जा सकते हैं। तब भर्तृहरि का यह कथन कैसे सत्य हो सकता है कि 'कारकों का अभिधान अपने किन्हीं वाचक और विशिष्ट शब्दों द्वारा नहीं हो सकता ?' उत्तर स्पष्ट है कि भर्तृहरि जिसे **स्वशब्द** कर रहे हैं, वह इस कोटि से भिन्न स्वतन्त्र शब्दराशि है। दूसरे यह कि स्वतन्त्र शब्दों की स्थिति में आते ही उपरिगणित शब्द भी कारकवाची नहीं रह जाते। 'कर्मप्रवचनीय' और 'प्रेपोज़िशन' को यदि स्वतन्त्र शब्द मान ही लिया जाए, तब भी यह स्मरण रखना चाहिए कि उनका महत्त्व और अर्थ 'नाम' और 'आख्यात' के प्रयोग—या उनकी उपस्थिति-भावना—के बिना शून्यवत् रह जाता है। दूसरे शब्दों में, वे 'स्वतन्त्र शब्द' कहे ही नहीं जा सकते।

११.६ साधन-भेद और विभक्ति-संख्या

यहां महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या एक कारक के लिए एक ही विभक्ति का प्रयोग होता है ? और, क्या साधनों और विभक्तियों की संख्या समान ही है ?

इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से सम्पूर्ण विश्वभाषाओं के लिए एक ही नहीं दिया जा सकता। कारण यह है कि सम्बुद्ध व्याकरण वाली भाषाओं में कारकों का सम्बन्ध विभक्तियों के साथ अविच्छेद्य माना गया है। इसीलिए विश्व-

भाषाओं के वैयाकरण विभक्तिरूपों के आधार पर ही कारकों की संख्या भी निश्चित करते हैं। वे उनके माध्यम से सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार की पूर्णता भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार प्रायः सभी यूरोपीय भाषाओं में अधिक से अधिक चार कारक मानने की परम्परा चल पड़ी है। पर पुरानी भाषाओं का अध्ययन करने पर पता चलता है कि भारोपीय परिवार के लिए संस्कृत व्याकरण के छह या आठ कारकों की कल्पना ही अधिक पूर्ण थी। इस कल्पना के अनुसार विभक्तियों की संख्या सात मानी गई थी। पर इससे भी बड़ा सत्य यह है कि कारक और विभक्ति की संख्या को परस्पराश्रित या संतुलित मानना भयावह हो सकता है। उदाहरणार्थ, नपुंसकलिंग में, संस्कृत और प्राचीन यूरोपीय आर्यभाषाओं में, 'कर्त्ता' और 'कर्म' कारक में एक ही विभक्ति का प्रयोग होता था। संख्यावाचक शब्दों में से अनेक में केवल चार या पांच रूपों से ही सम्पूर्ण कारकों का काम चल जाता था। आज भी प्रायः प्राचीन और आधुनिक सभी यूरोपीय भाषाओं में कर्त्ता और करण में, एवं अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण में, क्रमशः एक-एक विभक्ति के द्वारा ही काम चल जाता है। पर, विश्लेषण-विवेचन यह बता देता है कि मूलतः इन सब भाषाओं में कारक और विभक्ति की संख्या कदाचित् समान रखने की प्रवृत्ति रही होगी।

११.७ प्रत्ययहीन भाषाएं

इनकी अपेक्षा उन भाषाओं की स्थिति अधिक विचारणीय हो उठती है, जिनमें प्रत्यय-संयोग इस रूप में उपलब्ध नहीं होता। चीनी, बर्मी, तिब्बती, आदि भाषाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषावर्ग ऐसे हैं, जिनमें विभक्ति-कल्पना को स्थान ही नहीं मिलता। भारोपीय आर्यभाषाओं में से कुछ यूरोपीय भाषाओं में भी पर्याप्त पहले से ही विभक्तिप्रयोग, कारकों के अर्थ में सीमित न रहकर, प्रेपोजिशनों के योग में निर्बल विभक्ति से युक्त होकर व्यवहृत होने लगा था। संस्कृत में भी यह प्रवृत्ति कभी बल पकड़ गई थी। परन्तु उसके अधिकाधिक शास्त्रीय होते जाने के साथ, व्याकरणात्मक सुविधा की दृष्टि से, विभक्ति-प्रयोग ही अधिकाधिक मान्य रहा। परन्तु चीनी, बर्मी, आदि उक्त भाषा-वर्गों में से किसी में तो निपात और प्रत्यय की कल्पना उपस्थित है, और किसी में नहीं। इन भाषाओं में विभक्तियों की वह रूपाश्रित सत्ता प्रायः ही विद्यमान नहीं है, जिसे हम भारोपीय आर्यभाषाओं में खोजने के आदी हो चुके हैं। इन भाषाओं के सम्बन्ध में भी यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि 'साधन' या 'कारक'

विभक्तियों या तत्सूचक चिह्नों के माध्यम से ही प्रकट किए जा सकते हैं? या, उन्हें अन्य किसी रूप में भी प्रकट किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर हम पहले दे आए हैं। विभक्ति-चिह्नों के बिना भी कारकों या साधनों की अभिव्यक्ति सम्भव है। इस प्रसंग में 'निपात' आदि की चर्चा हम पिछले अनुच्छेद में ही कर आए हैं। किसी भाषावर्ग में यह सूचना कितने कारकों या साधनों से दी जाती है, यह बात प्रत्येक भाषा के व्यक्तिगत अध्ययन के बाद ही कही जा सकती है। हर जाति का अपना दर्शन या विचार-प्रकार होता है। अतः जाति की विचार-पद्धति पर ही किसी भाषा का अपना दर्शन आधारित होता है। दृष्टिकोण की भिन्नता होने पर, हो सकता है 'कर्म' और 'सम्बन्ध' का वह अन्तर न रहे, जिसे भारोपीय भाषा-दर्शन सिद्ध मानकर बढ़ा है। हो सकता है वहां कुछ नए कारकों की कल्पना की जाए। इसलिए साधनों की एक निश्चित संख्या, और उनका एक निश्चित विभाजन, मानकर विश्व-भाषाओं पर उस मान्यता को रूढ़ कर बैठना, उचित एवं न्याय्य प्रतीत नहीं होता।

अतः 'साधन' और 'विभक्ति' के संख्यात्मक सम्बन्ध का प्रश्न केवल उन्हीं भाषाओं के विषय में सीमित रह जाता है, जिनमें इन दोनों की उपस्थिति विद्यमान है। भारोपीय भाषावर्ग इसी प्रकार का एक विशाल परिवार है। इसमें भी, संस्कृत ही व्यापक प्रयोग, विशालतम साहित्य और समृद्धतम व्याकरण वाली एक ऐसी भाषा है, जिसकी कारक और विभक्ति-कल्पना अब तक भी पूर्णतम और सुरक्षित रूप में व्यावहारिक अक्षुण्णता बनाए हुए है। अतः हम उसके आधार पर ही इस सम्बन्ध में मूल प्रश्नों पर विचार करेंगे।

११.८ संख्या

सर्वप्रथम हमें कारकों और विभक्तियों की संख्या की बात पर विचारकर लेना चाहिए। हम ऊपर कह आए हैं कि चिह्नविश्लेषण के आधार पर संस्कृत में विभक्तियों की स्थिर और सर्वमान्य संख्या सात ही ठहरती है। 'सम्बोधन' को मिलाकर यह संख्या 'आठ' कह दी जाती है। परन्तु, सम्बोधन को भारतीय और पाश्चात्य वैयाकरण 'प्रथमा' का ही रूपान्तर मात्र मानते हैं। नपुंसक लिंग में इस संख्या के 'छह' रह जाने की बात पहले कही जा चुकी है। कारकों की संख्या, संस्कृत वैयाकरणों ने, सामान्यतः छह, और कुछ ने आठ, मानी है। भर्तृहरि ने इस सारी समस्या को इस सामान्य सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है:

सामान्यं कारकं, तस्य सप्ताद्याः भेदयोनयः।
षट्कर्माख्यादिभेदेन, शेषभेदस्तु सप्तमी ॥ वा० ३.७.४४ ॥

अर्थात्, 'सामान्यतः कारक एक ही है, सात आदि उसी की भेद-योनियां हैं। छह भेद तो कर्मकरणादि के रूप में जाने जाते हैं; सातवां भेद 'शेष' नाम से पृथक् गिन लिया जाता है।' छह और सात की यह बात उलझनभरी सी प्रतीत होती है। इसे ही अधिक स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि के निम्न वक्तव्य को लें :

> नित्याः षट्शक्तयोऽन्येषां भेदाभेदसमन्विताः।
> क्रियासंसिद्धयेऽर्थेषु जातिवत्समवस्थिताः॥
> द्रव्याकारादिभेदेन ताश्चापरिमिता इव।
> दृश्यन्ते, तत्वमासां तु षट्शक्तीर्नातिवर्त्तते॥
> निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते।
> षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत्प्रवृत्तेर्निबन्धनम्॥वा० ३.७.३५-३७॥

अर्थात्, 'प्रयोजन है क्रिया की संसिद्धि। उसकी प्राप्ति के लिए द्रव्य यत्न करता है। यह यत्न छह प्रकार से हो सकता है। हर एक द्रव्य इन छह प्रकारों से यह यत्न कर सकता है। अर्थात्, ये छह प्रकार उस की छह प्रकार के 'कर्तृत्व' की शक्तियां हैं, जो भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। ये शक्तियां द्रव्य और आकारादि के भेद से अनन्त हो सकती हैं। किन्तु अन्ततः इनका परिसीमन मुख्य छह शक्तियों के भीतर ही हो जाता है। और, वास्तव में ये शक्तियां भी छह कहां हैं? मूलतः क्रिया की संसिद्धि में 'कर्तृत्व' के रूप में एक ही शक्ति आवश्यक होती है। इस कर्त्तृत्व का आविर्भाव या अभिव्यंजन ही इन छह भागों या प्रकारों से होता है। ये छह मार्ग निमित्तभेद से ही अपनाने पड़ते हैं। अन्ततः प्रयोजन तो 'कर्तृत्व' द्वारा निष्पादन है।'

११.६ एक ही कर्तृत्व

भर्तृहरि के विश्लेषण की सत्यता इस तर्क से भी सिद्ध हो जाती है कि एक ही द्रव्यशब्द इन सब विविध आकारों और रूपों में प्रसंगवशात् व्यवहृत होता है। एक वाक्य में ये छह प्रयोग निश्चय ही एक ही द्रव्यशब्द के साथ नहीं हो सकते। परन्तु भिन्न-भिन्न व्यवहृत शब्द भी मिल कर अन्ततः एक क्रिया के निष्पादन में अपनी विविध शक्तियों द्वारा सहायता देते हैं। उन सबसे मिलकर एक ही 'कर्तृत्व' निष्पन्न होता है। अतः मुख्य प्रश्न यहां कर्तृत्व की इन भेदयोनियों की संख्या का है। भर्तृहरि इन्हें 'छह' मानते हैं। परन्तु विभक्तिविवेचन में, 'तम्बन्ध कारक' के रूप में, 'षष्ठी' विभक्ति को सातवें कारक का प्रतिनिधि माना गया है। इसे 'शेषभेद' या 'शेष कारक' भी कह सकते हैं। अन्य छह विभागों की

भांति सुतीक्ष्ण न होकर यह भेद अधिक व्यापक और अस्पष्ट माना जा सकता है। पर इस पर भी इसे, छह के साथ संयुक्त रूप में 'सातवां' न मानकर, पृथक् से गिनने का एक प्रयोजन है। कुछ के अनुसार यह 'कर्तृत्व शक्ति' से युक्त है। इसी कारण इसे अन्य कारकों से पृथक् गिनना चाहिए। 'सम्बन्ध : कारकेभ्योऽन्य:' (वा० ३.७.१५६) के द्वारा भर्तृहरि भी यही कहते प्रतीत होते हैं। इसीलिए उन्होंने कर्तृत्व का विभाग 'षोढा' ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हम फिर ही करेंगे; यहाँ पर 'कर्तृत्व' के छह प्रकारों पर पर दृष्टि डाल लेना अवश्य उचित होगा।

११.१० अन्य भेद

कारक के जो छह भेद माने गए हैं, उनमें कर्म, करण, कर्त्ता, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को परिगणित किया है। यह गणना पाणिनि और भर्तृहरि के अनुकरण पर की गई है। पर दोनों ही 'हेतु' के रूप में एक अन्य कारक की भी गणना करते हैं। इस प्रकार इन कारकों की संख्या 'सात' तक जा पहुंचती है। पर, सभी वैयाकरण स्वतन्त्रता की दृष्टि से 'हेतु' और 'कर्त्ता' को एक ही कोटि में रखते हैं। 'हेतु' को कर्त्ता का प्रयोजक माना गया है।[1] पर, उसकी व्याख्या 'कर्त्ता का भी कर्त्ता' के रूप में की गई है। इसे 'मुख्य कर्त्ता' भी कह सकते हैं। इस प्रकार उसे कर्त्ता कारक से, प्रकृति और प्रयोग की दृष्टि से, अभिन्न ही माना गया है और इस प्रकार कारकसंख्या को 'छह' तक ही सीमित किया गया है। यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि 'सम्बोधन' को कोई कारक नहीं माना गया। इसीलिए 'आठ' कारकों की कल्पना निराधार ही ठहरती है। 'सम्बोधन' को कारक न स्वीकार करने का वैज्ञानिक कारण भी भर्तृहरि ही स्पष्ट करते हैं। 'कारक' का सम्बन्ध क्रिया के निष्पादन से है। वाक्य-प्रयुक्त सभी कारक-प्रयोग क्रिया की अभिनिष्पत्ति में योगदान दे रहे होते हैं। दूसरे शब्दों में, वे वाक्यार्थ के अंग बनकर आते हैं। पर, सम्बोधन' का प्रयोग करें या न करें, न तो वह वाक्यार्थ का ही अंग बन पाता है और न ही क्रिया की अभिनिष्पत्ति में उसका कोई योगदान ही रहता है। इसी आधार पर भर्तृहरि इसे कारक-कल्पना से बाहर का मानते हैं। यद्यपि, विभक्ति सम्बन्ध की दृष्टि से उसे भी प्रथमा से सम्बद्ध ही माना गया है। भर्तृहरि के शब्दों में :

सम्बोधनं न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य: आगम:।
उद्देशेन विभक्त्यर्था: वाक्यार्थात् समुपोद्धृता:।। वा० ३.७.१६४।।

---

१. वा० १.४.५५।

११.११ सम्बन्ध में कर्तृत्व—

यहीं पर 'सम्बन्ध कारक' में 'कर्तृत्व' अपिवा 'कारकत्व' के सम्बन्ध में भी भर्तृहरि के मत पर दृष्टिपात उचित ही रहेगा। वे यह स्वीकार करते हैं कि पाणिनि ने षष्ठी शेषे[1]" के द्वारा अन्य कारकों के 'सम्बन्धों' से भिन्न सम्बन्धों को 'शेष' कहकर 'षष्ठी' विभक्ति से सम्बद्ध माना है।[2] इस प्रकार 'षष्ठी विभक्ति' शेष विभक्तयों से बचे सभी प्रयोगों का आश्रयस्थल बन गई है। इसका सम्बन्ध किसी एक कारकविशेष से नहीं है। इसी आधार पर यह कल्पना चल पड़ी कि अन्य कारकों की भांति षष्ठी का सम्बन्ध 'क्रिया' से नहीं होता। क्रिया से सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्धभावना क्योंकि वही रहती है, और वह सम्बन्ध क्योंकि अन्य कारकों से भिन्न ढंग का होता है, इसीलिए कदाचित् उसे 'सम्बन्ध कारक' जैसा सामान्य नाम दे दिया गया। वस्तुतः माना यह जाता है कि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग प्रायः किसी सकारक द्रव्यशब्द से सम्बन्ध बताने के लिए होता है। इस स्थिति को 'सम्बन्ध-शेष' कहना उचित है, 'शेष-सम्बन्ध' नहीं। 'वस्तु का वस्तु से' यह प्रतीयमान सम्बन्ध, क्रियाश्रित न होने से, सामान्य कारक-सम्बन्धों की श्रेणी में गृहीत नहीं होता। इसीलिए 'सम्बन्ध' नाम से इसे अलग ही एक 'कारक' मान लिया गया है।

पर, भर्तृहरि इसे अन्य कारकों में ही—उनकी प्रवृत्ति का ही—स्वीकार करते हैं। उनके मत में आपाततः यह 'कारक' क्रियासम्बन्धहीन एवं अन्य कारकों से सम्बद्ध दिखाई देता है; फिर भी इसका सम्बन्ध क्रिया से अवश्य होता है: भले ही क्रिया प्रयुक्त होती दिखाई दे या न दे। 'पितुः पुत्रः' का वास्तविक अर्थ 'पितुर्जातः पुत्रः' (पिता का जाया बेटा)[3] है। यहां क्रियापद 'जात' के अश्रुत होने पर भी षष्ठीयुक्त 'पितुः' शब्द का प्रयोग वास्तव में इसी क्रियापद के लिए है। उसके व्यवहार में अदृश्य हो जाने पर ही हमने 'पितुः' का सम्बन्ध 'पुत्रः' से मान लिया, और कह दिया कि यहां वास्तव में दो द्रव्यों में सम्बन्ध होने से यह कारक अन्य कारकों से भिन्न है। भर्तृहरि स्पष्ट कहते हैं: 'इसका सम्बन्ध क्रिया से ही होता है, चाहे वह श्रुत हो या अश्रुत।[4]' यह बात पृथक् से विचारणीय है कि इस 'सम्बन्ध' या 'कारक' को क्या नाम दिया जाए?

इस प्रकार सामान्यतः जो सम्बन्ध 'कारक' के रूप में माने जाते हैं, उन-की संख्या 'छह' मानी गई है। परन्तु, हमने स्पष्ट किया है कि 'शेष सम्बन्ध' या

---

१. पा० २. ३. ५०।
२. वा० ३. ७. १५६।
३. वा० ३. ७. १६।
४. वा० ३. ७. १५६।

'सम्बन्धशेष' के रूप में सातवां कारक भी वहीं गृहीत होना चाहिए, जिसकी व्याख्या अनेक स्थलों पर अनेक रूपों की जा सकती है। इस पर भी यह कारक क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण सामान्य कारकों से सर्वथा बहिष्कृत और पृथक्कृत रूप में नहीं समझा जा सकता।

११.१२ विभक्ति और कारक

इतना निश्चित हो जाने पर यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि क्या एक विभक्ति का सम्बन्ध एक ही कारक से होता है? अथवा, क्या एक कारक की अभिव्यक्ति एक ही विभक्ति से हो सकती है? इस सम्बन्ध में पहले सामान्य और प्रचलित धारणा को समझ लेना चाहिए। संस्कृत की सात विभक्तियों का प्रयोग साधारणतः निम्न कारकों में क्रमशः सीमित समझा गया है:

प्रथमा	=कर्त्ता, हेतु, और सम्बोधन	चतुर्थी	=सम्प्रदान
द्वितीया	=कर्म	पंचमी	=अपादान
तृतीया	=करण, कर्त्ता	षष्ठी	=शेष (संबन्ध)

सप्तमी=अधिकरण

इस संकलन पर एक साधारण दृष्टिपात भी सिद्ध कर देगा कि कम से कम प्रथमा और तृतीया के रूप में दो विभक्तियां ऐसी हैं, जिनका प्रयोग एक से अधिक कारकों में होता है। पर, वास्तविक प्रयोगों का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि वाच्यपरिवर्त्तन तथा कई अन्य परिस्थितियों में कारक और विभक्ति का उक्त सम्बन्ध और भी उथल-पुथल हो जाता है। 'कर्म' में प्रथमा और 'सम्प्रदान' में षष्ठी का प्रयोग साधारण बात है। पर, एक ओर, जहां द्वितीया का प्रयोग 'सम्बन्ध कारक' के अर्थ में[1], तथा कर्मप्रवचनीयों के साथ अन्य कारकों में, होता है, वहां कर्म कारक एवं द्वितीया विभक्ति का क्षेत्र होते हुए भी अनेकत्र तृतीया, पंचमी, आदि का प्रयोग होता है।[2] चतुर्थी का सामान्य प्रयोग 'सम्प्रदान कारक' में होता है; किन्तु अन्य भी क्षेत्रों में उसका प्रयोग हो जाता है।[3] यही बात तृतीया[4], पंचमी[5], सप्तमी[6], और षष्ठी[7], आदि अन्य बिभक्तियों के साथ भी देखी जा सकती है। अंग्रेजी तथा अन्य भारोपीय आर्यभाषाओं में भी विभक्तियों की यही स्थिति है। अतः यह तो स्पष्ट है कि विभक्तियों का नाम या सम्बन्ध भले

१. पा० २. ३. ४, ५।
२. वा० २. ३. ६-१२।
३. पा० २. ३. १४-१७।
४. पा० २. ३. ६, १८-२३।
५. पा० २. ३. २४, २८-९।
६. पा० २. ३. १, ३-७।
७. पा० २. ३. २६, ३४, ३८-४०, आदि।

ही किसी एक कारक के साथ जोड़ दिया जाए, पर व्यवहार में उनका प्रयोग व्यामिश्र और अनियमित रूप में ही होता है। इस पर भी यह अवश्य स्वीकार्य है कि प्रधानत: विभक्तियों का प्रयोग किसी विशेष कारक के या कुछ कारकों के प्रयोग के साथ सम्बद्ध हो गया है। कम से कम जनमान्यता में ऐसा अवश्य प्रचलित है। यद्यपि, व्यवहारत: एक विभक्ति के साथ एक कारक के सम्बन्ध की बात अमान्य ही ठहरती है; भले ही सिद्धान्त रूप में कुछ भी कहा जाए।

११.१३ एक कारक : एक विभक्ति

दूसरा प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है, और उक्त प्रश्न से जुड़ा हुआ भी है : क्या एक कारक की अभिव्यक्ति एक ही विभक्ति के माध्यम से सम्भव है ? इस का उत्तर ऊपर के प्रश्न के समाधान में आ ही चुका है। कर्त्ता और कर्म का विभक्ति-व्यत्यय तो हम देख ही चुके हैं। वाच्यपरिवर्तन अथवा अन्य आवश्यकताओं से इन दोनों की स्थायी सी प्रतीत होने वाली अभिव्यक्तियां परिवर्त्तित हो जाती हैं। पर अन्य उदाहरणों से भी यह स्पष्ट है कि विशेष प्रसंगों में या उदाहरणों में एक कारक अपनी स्थायी सी प्रतीत होने वाली विभक्ति से अन्यत्र भी प्रयुक्त हो जाता है। 'शेष' का उदाहरण इस अव्यवस्था को किंचित् व्यवस्थित रूप देने के प्रयास के रूप में लिया जा सकता है। 'कर्म' में किस प्रकार चतुर्थी का प्रयोग होता है, यह 'नम:, स्वाहा,' आदि के योग में स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अत: यह भी स्पष्ट है कि एक कारक के लिए सामान्यत: भले ही एक विभक्ति का प्रयोग हो, पर व्यवहार में अनेकत्र यह नियम टूटता नज़र आता है। इन्हीं आधारों पर यह कहा जा सकता है कि कारकों और विभक्तियों की समानता या असमानता का प्रश्न नहीं उठता। कम से कम ऐसा प्रश्न उठाना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। 'कारक' भाषा-विश्लेषण की एक वैचारिक या दार्शनिक निष्पत्ति है, जबकि भाषा के रचनात्मक विश्लेषण की मौलिक भौतिक उपलब्धि 'विभक्ति' है। इनका सम्बन्ध, बहुत दृढ़ न मानकर, शिथिल सा मानना ही उचित है।

११.१४ साधन-कल्पना और विभाजन

वाक्यार्थ की अभिन्नता मानने वाले भर्तृहरि 'साधनों' के विभाजन को यदि कल्पना और व्यावहारिक सुविधा की बात मानते हैं, तो उनके युक्तिक्रम में

---

१. पा० २. ३. १६।

यह उचित ही है। 'वाक्यार्थ' का मुख्य उद्देश्य है क्रिया की 'अभिनिष्पत्ति' का कथन। वाक्य की एकता का आवश्यक प्रतिबन्ध ही क्रिया या 'एक्शन' की एकता है। क्रिया की इस निष्पत्ति और एकता वाले वाक्य-विभाग को हम 'मुख्य वाक्यान्तर' (मेन क्लॉज़) कह कर अभिव्यक्ति दें, या भर्तृहरि के शब्दों में हम इसे 'निमित्त भाव' के नाम से पुकारें; किसी भी वाक्य का मूलाधार तथा उसमें व्यक्त भावनाओं का केन्द्रीय भाव यही होता है[१]। और, यह भाव एक ही हो सकता है। इस निमित्त भाव के साधन या निष्पादन में जो भी वस्तुएं या बातें भाग लेती हैं, क्रिया के अभिनिष्पादन में योगदान और सामर्थ्य के कारण उन्हें कर्त्ता ही कहा जाना चाहिए[२]। इस प्रकार मूलतः क्रिया की निष्पत्ति में भाग लेने वाले सभी प्रयुक्त-अप्रयुक्त द्रव्य मिलकर 'कर्तृत्व' का सृजन करते हैं[३]। इसीलिए जब भर्तृहरि 'कर्तृत्व' को मूलतः एक शक्ति मानते हैं, और उसे चैतन्य की तरह सर्वत्र एक-सी प्रसृत मानते हैं, तब वे इस विशाल और वैज्ञानिक सत्य की प्रेरणा से परिचालित होते हैं[४]। दार्शनिक दृष्टि से इसे ही वे दूसरे रूप में कहते हैं: "जिस प्रकार द्यौः, भूमि, वायु, आदित्य, सरिता, सागर, दिशाएं, आदि एक ही विशाल तत्त्व या अन्तःकरण के बाह्य अभिव्यक्त रूप हैं, उसी प्रकार कर्तृत्व भी सर्वत्र आन्तरिक रूप में एक है, और उसके प्रतीयमान बाह्य विभाग केवल कालविच्छेद के रूप में पूर्वापरादि क्रम या पृथक्त्व की भावना को ग्रहण कर लेते हैं। प्रयुक्त सब शब्द मिलकर एक ही कर्तृत्व का सृजन करते हैं। उसे ही विभक्त करके देखने पर हम विभक्ति आदि के द्वारा बंटा हुआ पाते हैं। 'कारकत्व' और 'कर्तृत्व' सर्वत्र समान है। फिर भी, हम स्थिति के अनुसार क्रिया-साधन में उनकी एक और अविभक्त साधन-सामर्थ्य को द्रव्यानुसार विभक्त करके देखने का प्रयास करते हैं। इसी स्थिति में छह या सात साधन-भेदों की उपस्थिति या मान्यता का प्रश्न उठता है[५]।"

इस प्रकार भर्तृहरि की दृष्टि में **एकत्व और पृथक्त्व** का आपस में मौलिक विरोध नहीं है। 'दिक्समुद्देश' में भी यह स्पष्ट किया गया है, और वही सत्य यहां दोहराया गया है, कि 'एकत्व और नानात्व (पृथक्त्व) मिलकर ही एक, समग्र और अविकल सत्य बनाते हैं। ये दो सापेक्ष मान्यताएं हैं, जो एक ही तत्त्व या सत्य के प्रति विचार की दो सापेक्ष दृष्टियां हैं[६]।' एकत्व का अर्थ भी है 'भिन्न-भिन्न तत्त्वों में व्याप्त एकता'। और पृथक्त्व' का मूल अस्तित्व किसी

---

१. वा० ३. ७. १४।
२. वा० ३. ७. ३७।
३. वा० ३. ७. २०, २१।
४. वा० ३. ७. ४१।
५. वा० ३. ७. ४१-४४।
६. वा० ३. ७. ३६।

'एकत्व' की उपस्थिति में ही सिद्ध हो सकता है। एक का दूसरे के बिना अस्तित्व ही सम्भव नहीं है[1]।

११.१५ कर्तृत्व के छह विभाग

छह साधनों की चर्चा करते हुए यह कहा जा चुका है कि वे एक कर्तृत्व के ही छह 'विभाग' हैं।[2] हां, यह निश्चित है कि ये विभाग लोकानुमत हैं; क्योंकि लोक शास्त्र और शब्द को ही प्रमाण मानता है[3]। शास्त्र शब्द के रूपविचार में उसकी विविध प्रयोगावस्थाओं का विश्लेषण करता है, और लोक उन्हीं प्रयोगावस्थाओं को 'कर्तृत्व' की विशाल एकता से पृथक् करके, उनकी व्यक्तिगत साधन-सामर्थ्य के अनुसार, उनका विभाजन करता है। यह साधन-सामर्थ्य द्रव्यों में सहज रूप में ही रहती है। किन्तु विशिष्ट क्रिया की निष्पादनवेला में यह विशिष्ट रूप में ही सामने आती है।[4]

एक ही द्रव्य में इन विविध शक्तियों या साधन-सामर्थ्यों की विद्यमानता होना कोई अन्तर्विरोध जैसी स्थिति नहीं है। एक ही द्रव्य में जो विविध शक्तियां रहती हैं, उनकी अभिव्यक्ति कालान्तर में एक-एक करके ही सम्भव होती है[5]। इसीलिए एक ही काल और क्रिया में उनके एकत्र अभिव्यक्त होने से जिस अन्तर्विरोध की सम्भावना हो सकती थी, वह सम्भव नहीं है। सब साधकों का कर्तृत्व मिलकर 'एक' ही होता है। सभी साधक अर्थ-निष्पादन में समान भागीदार हैं। हां, एक काल में या एक काल के प्रसंग में उनकी सह-उपस्थिति उनकी विविध सामर्थ्यों से ही सम्भव हो पाती है। इसीलिए उनमें से एक का कारक या उसकी साधन-सामर्थ्य यदि 'कर्त्ता' है, तो दूसरे की सामर्थ्य करण, कर्म, सम्प्रदान,' आदि के रूप में भिन्न-भिन्न हो सकती है। मुख्य क्रिया से कर्त्ता के रूप में 'एक' के सम्बन्ध का अर्थ है कि वह अन्य द्रव्यों का, उनकी विविध साधन-सामर्थ्यों के माध्यम से, क्रिया के अभिनिष्पादन में प्रवर्त्तन करता है। वैसे सब द्रव्य मिलकर ही उस क्रिया का निष्पादन करते हैं। अतः न तो समवेत कर्तृत्व में और द्रव्य के पृथक् कर्तृत्व में कोई अन्तर है, और न ही एक ही द्रव्य के एक क्रिया-प्रसंग में 'कर्त्ता', और दूसरी के प्रसंग में 'करण', आदि होने में कोई अन्तर्विरोध है।[6] यही बात 'कर्त्ता' और 'हेतु' की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाती है।

---

१. वा० ३. ७. ४०।
२. वा० ३. ७. ३७।
३. वा० ३. ७. ३८।
४. वा० ३. ७. २८।
५ वा० ३. ७. २८।
६. वा० ३. ७. २२, २३।

११.१६ कर्त्ता : कोई भी पद

किसी भी वाक्य में कोई भी 'पद' कर्त्ता बन सकता है। शर्त केवल यही है कि वह स्वतन्त्र और अनाश्रित होना चाहिए[1]। क्रियानिष्पादन में अनाश्रित कारक ही 'कर्त्ता' है। भर्तृहरि इस तथ्य को एक अन्य युक्ति से भी पुष्ट करते हैं : 'एक स्थिति में कर्त्ता की उपस्थिति के कारण जो अन्य उपस्थित द्रव्य पराश्रित होने से शक्तिहीन हो जाते हैं, वे ही अन्य स्थिति में स्वतन्त्र होकर अन्य किसी क्रिया के निष्पादन में कर्त्ता की स्थिति पा लेते हैं' :

गुणक्रियाणां कर्त्तारः कर्त्रा न्यक्कृतशक्तयः।
त्यक्तायामपि सम्पूर्णैः स्वैर्व्यापारैः समन्विताः॥
करणत्वादिभिर्ज्ञाताः क्रियाभेदानुपातिभिः।
स्वातन्त्र्यमुत्तरं लब्ध्वा प्रधाने यान्ति कर्तृताम्॥ वा० ३.७.२०, २१॥

अर्थात्, 'कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य जितने भी कारक किसी वाक्यार्थ में, किसी क्रिया की निष्पत्ति के लिए, प्रयुक्त होते हैं, वस्तुतः वे सभी उस प्रधान क्रिया के निष्पादन में अपने क्षीण कर्तृत्व के द्वारा योगदान देते हैं। उनका कर्तृत्व प्रधान क्रिया में स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रधान क्रिया का कर्त्ता उस वाक्यार्थ में इतना प्रधान होता है कि उसके सम्मुख अन्य कारक उसके आश्रित और अधीन, अथवा उससे नियुक्त से, प्रतीत होते हैं[2]। पर, सत्य यह है कि प्रधान क्रिया के सम्पादक न होकर भी वे उसके सम्पादन में योगदान देते हैं।' उनका यह योगदान अपनी स्वतन्त्र, किन्तु प्रधान क्रिया की दृष्टि से उपेक्षित, क्रियाओं के माध्यम से होता है। इन गौण क्रियाओं को प्रयोग न करके, समन्वित रूप में 'एकार्थीभूत' वाक्यार्थ के अभिधान के लिए मुख्य क्रिया के निष्पादन में दी जाने वाली उनकी सहायता को कर्त्ता के आश्रित से प्रतीत होने वाले अन्य कारकों के माध्यम से प्रकट कर दिया जाता है। कर्तृभिन्न ये कारक, इस प्रकार, समन्वित वाक्यार्थ में कर्त्ता के आश्रित हो जाते हैं, या वैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु, इस स्थिति में भी यह अप्रयुक्त क्रिया इनके आश्रित ही, या इनसे संयुक्त ही, रहती है। इसीलिए, ज्योंही ये कर्त्ता के चंगुल से छूटते हैं, या उनका सम्बन्ध उस वाक्यार्थ की प्रधान क्रिया से टूटता है, तथा अपनी क्रिया के निष्पादन में ज्योंही वे स्वतन्त्र और प्रधान रूप ग्रहण कर

---

१. पा० १. ४.५४, एवं वा० ३. ७. १०१, १०२।

२. तुल०, वा० ३. ७. २३।

लेते हैं, उसी समय वे स्वयं अपनी सहवर्त्ती क्रिया के 'कर्त्ता' बन जाते हैं।'

११.१७ भर्तृहरि : स्पष्टीकरण

यहां भर्तृहरि ने जिस महान् वैज्ञानिक सत्य का उल्लेख किया है, उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। उदाहरण के लिए हम एक वाक्य लेते हैं : 'राम मनोहर को श्याम के लिए घर से लाकर पुस्तक देता है।' देखने में, और शास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि से, यह वाक्य 'एक' है। पर, इसमें से 'राम देता है' भी एक स्वतःपूर्ण वाक्य है। इस छोटे वाक्य में 'राम' कर्त्ता है, और 'देता है' उसकी निष्पन्न क्रिया है। पूर्ववर्त्ती वाक्य में 'मनोहर' को प्रायः 'कर्म' कहते हुए हम यह विचारना भूल जाते हैं कि वह कर्म क्यों है? वास्तव में उसकी स्थिति को 'मनोहर लेता है' के द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। 'श्याम के लिए' के स्थान पर 'श्याम प्राप्त करता है' भी कहा जा सकता है। परन्तु इस तरह के छोटे-छोटे वाक्यों में ही सारी बात पूरी करें, तब 'एक वाक्य' वाली इस बात को कहने में पर्याप्त समय और शब्द लग जाएंगे। प्रयोग में परस्पर-सम्बद्ध इस सारी बात को एक 'सुबद्ध' वाक्य-योजना के द्वारा कह दिया जाता है। ऐसी योजना में 'मनोहर' और 'श्याम' जैसे स्वतन्त्र कर्त्ता भी अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर 'राम' के द्वारा सम्पाद्यमान 'देना' क्रिया में अपनी सामर्थ्य ('लेना' और 'प्राप्त करना') की सहायता भी देते हैं। यह सहायता अपनी-अपनी पृथक् स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र क्रिया के त्याग एवं कर्त्ता की आश्रितता स्वीकार करने के रूप में होती है। राम द्वारा 'देने' की क्रिया तो अब भी श्याम द्वारा 'प्राप्त करने' और मनोहर द्वारा 'लेने' के बिना पूरी नहीं होती। परन्तु वाक्यप्रयोग में उनकी इस सारी स्थिति को 'को' और 'केलिए' आदि जोड़कर, 'कर्त्ता' के अधीन उन्हें बनाते हुए, संक्षिप्त रूप में व्यक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार 'कर्म' और 'सम्प्रदान' वस्तुतः 'कर्तृत्व' के ही रूपान्तर हैं, जहाँ कर्त्ता अपने स्वातन्त्र्य को पराश्रित करके स्वतः एक अन्य कर्त्ता के अधीन स्थिति स्वीकार कर लेता है। यह सरणि प्रत्येक वाक्य की विवेचना में अपनाई जा सकती है। इसमें अवधेय बात यह है कि मुख्य क्रिया के साथ 'कर्तृत्व' का सम्बन्ध सबका एक सा नहीं होता। उसका कर्त्ता तो एक ही होता है। पर कर्म, सम्प्रदान, आदि कारकों वाले द्रव्य अपनी अन्य गौण क्रियाओं द्वारा उस प्रमुख क्रिया के निष्पादन में योगदान देकर अप्रत्यक्ष रूप में उसके साथ भी 'कर्तृ-सम्बन्ध' से युक्त हो जाते हैं : इस प्रकार मुख्य क्रिया के साथ भी उनका 'कर्तृ-सम्बन्ध अप्रतिहत ही रहता है। वैसे यदि ऊपर कहे वाक्य को छोटे वाक्यखण्डों में

बाँटकर देखना ही चाहें, तब निम्न रूप में उसका विभाजन होगा, जिससे कि प्रत्येक भागीदार द्रव्य की कर्तृ-स्थिति स्पष्ट हो सकेगी :

"राम देता है। मनोहर लेता है। श्याम प्राप्त करेगा। पुस्तक है। घर (दूर) है। राम लाता है।"

इन वाक्यखण्डों से सभी की स्वतन्त्र क्रिया से सम्बद्ध कर्तृ-स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पर यह स्थिति केवल रचनात्मक क्षेत्र में ही नहीं है। इन छोटे-छोटे वाक्यों में आने पर अर्थ भी खण्डात्मक या छोटे-छोटे रूप में ही सामने आता है। पर सुसंस्कृत जनरुचि अर्थों की संश्लिष्टता की ओर बढ़ती है। तब अर्थात्मक संश्लेष की वह सीमा आती है, जिसमें ये छोटे अर्थ अपनी पृथक्ता को विलीन कर बृहत् एकता प्राप्त कर लेते हैं। उस बृहत् 'अर्थैक्य' के लिए एक 'वाक्यार्थ' का —और उस कारण बृहत् 'वाक्य' का—सृजन होता है। उस स्थिति में इनमें से प्रथम वाक्य, प्रधान होने के कारण, अपनी मूल क्रिया से सम्बन्ध बनाए रखता है, जोकि अब 'प्रधान क्रिया' बन जाती है। अन्य वाक्य अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर देते हैं और उनके कर्त्ता, अपनी क्रियाओं से प्रत्यक्षतः वियुक्त होकर भी उनकी भावना लिए हुए, कर्त्ता को उस प्रधान क्रिया के सम्पादन में योगदान देते हैं। योगदान की बात इसलिए कही कि वे स्वयं 'देना' क्रिया नहीं करते। उनके इस योगदान और उनके तुलनात्मक मूल्य को ही विविध 'साधनों' या 'कारकों' के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इसीलिए ये कारक उनकी इस परिवर्त्तित और पराश्रयी स्थिति के द्योतक हो जाते हैं।

११·१८ 'हेतु' कारक

पर,' 'हेतु' की स्थिति इन कारकोंसे भिन्न है। 'हेतु' को स्वतः कोई भिन्न कारक नहीं कहाजा सकता। वह 'प्रयोजक' अवश्य है, पर केवल 'कर्त्ता' का ही'[१]। उसका अन्य कारकों से, अथवा उनकी अश्रुत क्रियाओं से, सीधा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। हाँ, उसकी समकक्षता 'करण' के साथ कईबार इसलिए अवश्य की जाती है कि उसकी अभिव्यक्ति भी बहुधा, करण और कर्त्ता के समान ही, 'तृतीया' द्वारा की जाती है। इसी अद्भुत स्थिति के कारण न तो उसे 'कर्त्ता' के अन्तर्गत गिना जाता है, और नही उसे 'करण' के साथ ही एक कहा जा सकता है। इसके विपरीत 'हेतु' को 'कर्त्ता' अवश्य कहा जा सकता है। वह अन्य कर्त्ता को प्रेरित और प्रवृत्त करता है[२]। करण से उसका साम्य केवल रूपात्मक ही हो सकता है, भावात्मक या क्रियायोग की दृष्टि से नहीं। 'करण' क्रियासिद्धि में सहायक

---

१. पा० १. ४. ५५। २. वा० ३. ७. २५।

अवश्य होता है, पर प्रेरक वह किसी प्रकार नहीं होता। 'हेतु' का अर्थ है 'निमित्त'। निमित्त कोई व्यक्ति भी हो सकता है, घटना या बात भी। पर, अन्ततः यह द्रव्य शब्दोंका ही विषय ठहरता है। भर्तृहरि के अनुसार :

> अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते ॥
> द्रव्यादिविषयो हेतुः, कारकं नियतक्रियम्।
> कर्त्ता कर्त्रन्तरापेक्षः क्रियायां हेतुरिष्यते ॥
> क्रियार्थं करणं तस्य दृष्टः प्रतिनिधिस्तथा।
> हेत्वर्था तु क्रिया, तस्मात् न स प्रतिनिधीयते ॥वा० ३.७.२४-२६।

अर्थात्, 'स्वातन्त्र्य कर्त्ता का विषय है। स्वतन्त्र व्यापार में 'निमित्त' कर्त्ता का ही प्रयोजक हो सकता है। उसे ही 'हेतु' कहते हैं। यह 'हेतु' द्रव्यादि से ही सम्बद्ध होता है। सामान्य कारक एक निश्चित क्रिया के प्रति, आश्रित भाव से, अर्पित होते हैं। परन्तु 'हेतु' ऐसा कारक है, जो कर्त्ता होकर भी मुख्य क्रिया के लिए एक अन्य कर्त्ता की अपेक्षा रखता है। क्रिया की दृष्टि से 'हेतु' का प्रतिनिधि 'करण' कहा जा सकता है। परन्तु, क्रिया तो 'हेतु' के उद्देश्य से होती है, या उसके लिए होती है। 'करण' क्रिया के निष्पन्न होने में उपकरण या साधन के रूप में सहायता देता है। इसलिए उसे किसी भी दृष्टि से 'हेतु' का सही प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता।'

फिर 'हेतु' को कारक ही क्यों माना जाए, जब वह क्रिया का साधन ही नहीं है? भर्तृहरि कहते हैं, 'वह प्रत्यक्ष साधन भले ही न हो, पर अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता के द्वारा वह प्रयोजन का 'साधक' बनता ही है। इसी आधार पर कह सकते हैं कि किसी भी क्रिया का प्रयोजन किसी न किसी हेतु की अनुकूलता से अनुगत होता है' :

> प्रातिलोम्यानुकूल्याभ्यां हेतुरर्थस्य साधकम्।
> तादर्थ्यमानुलोम्येन हेतुत्वानुगतं तु तत् ॥वा० ३.७.२७॥

११.१९ निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कारक के रूप में मूलतः 'कर्त्तृत्व भावना' ही सबसे बड़ी शक्ति है। अन्य कारक उसी के परिवर्तित या अभिनिष्पन्न रूप हैं। उनका विभाजन कितने रूप में और कैसे किया जाए, यह किसी भाषा को बोलने वालों की रुचि, परिस्थिति और मनःस्थिति के द्वारा ही निश्चित होता है। अतः, केवल भाषा के 'व्याकरण' से ही नहीं, बल्कि जातीय मानस और इतिहास के अध्ययन से

भी हम कारक जैसे नितान्त व्यावहारिक विभाजन की पृष्ठभूमि समझ को और जान सकेंगे।

आगे की पंक्तियों में हम संस्कृत व्याकरण में परिगणित और यूरोपीय प्राचीन एवं अर्वाचीन व्याकरणों द्वारा खण्डशः या समग्र रूपमें अनुमोदित कारकों की पृष्ठभूमि और प्रयोगिक स्थिति की चर्चा करेंगे, ताकि यह स्पष्ट होसके कि विश्वभाषाओं में भी लगभग यही बँटवारा यत्किंचित् विविधता के साथ पाया जाता है। यह बात अलग है कि इनकी अभिव्यक्ति का साधन भले ही विभक्ति के रूप में हो, निरर्थक निपातादि के रूप में, अथवा कर्मप्रवचनीय या प्रेपोजिशन के रूप में। 'विभक्तियों' की विवेचना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं है। इस विषय में हम भर्तृहरि द्वारा अपनाए कारक-क्रम का ही अनुसरण करेंगे।

१. कर्म कारक

११.२० ईप्सिततम : कर्म

पाणिनि ने हमें कर्म की परिभाषा दी है : **'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'**।[1] अर्थात् कर्त्ता की दृष्टि से जो निकटतम और अभीष्टतम रूप में सम्बद्ध कारक है, उसे 'कर्म' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, कर्त्ता द्वारा निष्पाद्यमान क्रिया का फल जिस द्रव्य को मिलता है, या उसका प्रभाव जिस निकटस्थ द्रव्य पर पड़ता है, उसे **कर्म** कहते हैं। 'कर्म' एक भी हो सकता है, और अनेक भी। 'राम मनोहर को पुस्तक देता है' में 'राम' और 'मनोहर' प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। 'देना' और 'ग्रहण' का सम्बन्ध क्रमशः 'राम' और 'मनोहर' से है। अतः 'देना' क्रिया का सीधा फल 'मनोहर' को मिलने के कारण वह 'कर्म' है। पर 'क्या' का उत्तर 'पुस्तक' है। अतः 'देना' क्रिया का सम्बन्ध 'पुस्तक' से अधिक प्रत्यक्ष है; 'दी जाने वाली वस्तु' पुस्तक जो है। उधर कर्त्ता की दृष्टि से 'इष्टतम' मनोहर है। एक का सम्बन्ध यदि कर्त्ता से इष्टतम के रूप में है, तो दूसरे का सम्बन्ध उसके कर्तृत्व से उसी रूप में है। अतः पारिभाषिक दृष्टि से यहां दोनों ही 'कर्म' कहलाएंगे। पर, विभक्तिप्रयोग में यहां अन्तर आ जाता है। पाणिनि इसे धातु या क्रिया का प्रभाव मानते हैं। चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होने पर भी 'मनोहर' का कारक परिवर्त्तित होकर 'सम्प्रदान' नहीं होजाता। अतः जब पाणिनि कहते हैं कि 'दा' आदि क्रियाओं के योगमें कर्म में भी 'चतुर्थी' होती है, तब वे 'कर्म' की मौलिक स्थिति में सन्देह नहीं कर रहे होते।[2] ऐसी स्थितियों में

---

१. पा० १. ४. ४९।

२. पा० १. ४. ३२ से ३७।

ही आधुनिक वैयाकरणों की वह धारणा सार्थक होती है, जिसके अनुसार 'सम्प्रदान' और 'कर्म' को मूलत: 'कर्म' ही स्वीकार करके उनका अन्तर 'इष्टतम' और 'अप्रत्यक्ष' के आधार पर स्वीकार किया जाता है। 'सम्प्रदान' को वे 'अप्रत्यक्ष कर्म' का ही दूसरा नाम समझते हैं।[1] उक्त उदाहरण से 'राम पुस्तक देता है' में यह अन्तर है कि यहां क्रिया का सम्बन्ध केवल 'पुस्तक' से ही है। क्रिया का निकटतम उद्देश्य होने के कारण उसे ही 'कर्म' कहा जाएगा। दूसरे शब्दों में, क्रिया की निकटता और उसके फल के साथ घनिष्ठता भी 'कर्म' के विनिश्चिय में अधिक सहायक होती है। 'राम मनोहर को देता है' में 'देना' क्रियाका प्रत्यक्ष प्रभाव और सम्बन्ध 'मनोहर' से हो गया है। यह बात अलग है कि इसपर भी संस्कृत, ग्रीक, जर्मन, आदि में इसे 'देना' के योग में 'कर्म-चतुर्थी' के रूप में ही प्रयोग किया जाता है।

११.२१ अनीप्सित और अकथित

यह तो हुई 'ईप्सिततम' की बात: दो द्रव्यों के 'ईप्सिततम' हो उठने पर उसका समाधान! पर, इसके विपरीत वे स्थितियां हैं जहां ईप्सिततम न होने पर भी, बल्कि अनीप्सित होने पर भी, किसी द्रव्यकी स्थितिको 'कर्म' मान लिया जाता है। ऐसी स्थितियों में से दो को पाणिनि **'अनीप्सित'**[2] और **'अकथित'**[3] के रूप में कहते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कई ऐसी स्थितियों की चर्चा की है, जहां सामान्यत: अधिकरण,[4] करण[5] और सम्प्रदान[6] की कोटिमें आने वाले शब्द भी 'कर्म' स्वीकार किए जाते हैं। वास्तव में यह अन्तर 'कर्म' का नहीं है, विविध विभक्तियों के स्थान पर आने वाली द्वितीया विभक्ति के प्रयोग का है। इसके विपरीत, 'अनीप्सित' और 'अकथित'को 'कर्म' के अतिरिक्त और कुछ मानने की संभावना नहीं है।

११.२२ कर्म-भेद

भर्तृहरि ने इन स्थितियों पर पूरी तरह विचार किया है। उनका विश्लेषण भाषावैज्ञानिक है। सबसे पूर्व वे 'ईप्सिततम' के वर्ग को तीन भेदों या उपवर्गों में बांटते हैं। यह कर्म का प्रधान वर्ग है। बाद में, शेष कर्मभेदों को वे चार भेदों के रूप में वर्णित करते हैं। इन परवर्त्ती भेदों में केवल 'अनीप्सित'

---

१. जोन लियोन्स, इण्ट्रोडक्शन टु थ्योरि० ७.४.५ अनुच्छेद।

२. पा० १. ४. ५०।
३. पा० १. ४. ५१।
४. पा० १. ४. ४६।
५. पा० १. ४. ४३।
६. पा० १. ४. ३८।

और 'अकथित' ही नहीं आते, बल्कि शेष सभी प्रकार भी आ जाते हैं। इस विभाजन को हम निम्न तालिका द्वारा देख सकते हैं :

- कर्म
  - ईप्सिततम (तीनभेद)
    - निर्वर्त्य
    - विकार्य
    - प्राप्य
  - अनीप्सित (दो भेद)
    - औदासीन्यप्राप्त
    - कर्त्ता को अनीप्सित
  - अकथित
    - संज्ञान्तर से अकथित (अन्यपूर्वक)
  - अन्यकारकस्थ
    - अधिकरणादिस्थानीय

इनका संक्षिप्त पर्यालोचन आवश्यक और उचित होगा।

११. ईप्सिततम कर्म के भेद

११.२३ निर्वर्त्य और विकार्य

इन दोनों की आवश्यक शर्त है **परिणमन** और **विकृति**। दोनों में स्थूल अन्तर इतना ही है कि **निर्वर्त्य में** जिस मूल या प्रकृति से कोई 'कर्म' सम्पन्न होता है, उसका आश्रय कर्म के साथ समवेत या समरूप में नहीं लिया जाता। **विकार्य** में प्रकृति का आश्रय भी आवश्यक हो जाता है। संस्कृत में दो वाक्य हैं : '**मृदा घटं करोति**' और '**मृदं घटं करोति**'। दोनों ही में 'घटं करोति' वास्तविक 'कर्म' है। पर पहले में 'मृद्' केवल उपकरण या उपादान के रूप में दिखाई गई है। घड़ा और मिट्टी का सम्बन्ध दिखाना वहां अभीष्ट नहीं है[1]। परवर्त्ती उदाहरण में 'मिट्टी' ही 'घड़े' के रूप में 'बदलती' दिखाई गई है।[2] इस प्रकार पहले में मिट्टी से घड़े का **निर्वर्त्तन** हो रहा है, जबकि परतर में घड़ा 'मिट्टी का **विकार**' सिद्ध होता है। ये ही दोनों उदाहरण क्रमशः **निर्वर्त्य** और '**विकार्य**' कर्म के हैं।

११.२४ प्राप्य कर्म

कुछ लोग इन दोनों की व्याख्या दूसरे रूप में भी करते हैं। जो वस्तु

---

१. वा० ३. ७. ४७ ।

२. वा० ३. ७. ४८ ।

पहले विद्यमान नहीं दिखाई देती थी, किन्तु अब जन्म या आविर्भाव के द्वारा प्रकाश में आ गई है, उसे **निर्वर्त्य** कहा जाता है।[1] विकार्य कर्म के दो भेद माने गए हैं : (१) जहां नवनिर्माण में 'प्रकृति' नष्ट हो जाती है (जैसे भस्म बनने पर काष्ठ), और (२) जहां प्रकृति अन्य गुणों को ग्रहण करके रूपान्तरित मात्र हो जाती है[2] (जैसे कुण्डल में सुवर्ण)। इस पर भी यह स्पष्ट है कि इन दोनों ही स्थितियों में क्रिया का विशेष प्रभाव निर्माण पर पड़ता है। 'करोति' किसी रूपान्तरण को सूचित करता है।

परन्तु, अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहां क्रियागत या रचनागत यह परिवर्त्तन दृष्टिगोचर नहीं होता; फिर भी क्रिया का सम्बन्ध ऐसे किसी 'कर्म' से होता ही है, जो कर्त्ता की दृष्टि से 'ईप्सिततम' होता है। **'आदित्यं पश्यति', 'वेदमधीते', 'गोज़ टु द स्कूल', 'रीड्स द बुक्'**, आदि में देखना, पढ़ना, आदि क्रियाएं स्कूल, वेद, आदित्य, आदि **कर्मों** पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। फिर भी, वे **ईप्सिततम** हैं और इसीलिए 'कर्म' संज्ञा से अभिहित होते हैं। ये ही **'प्राप्य कर्म'** हैं। अतः 'प्राप्य कर्म' वह है, जिसपर क्रिया का कोई प्रभाव न पड़ने पर भी वह कर्त्ता का 'ईप्सिततम' रहे।[3]

कुछ लोग **प्राप्य कर्म** की व्याख्या दूसरे ढंग से करते हैं। उनकी दृष्टि में, क्रिया का प्रभाव तो यहां भी पड़ता है, किन्तु उसे हम पूरी तरह, सूक्ष्मता के कारण, समझ नहीं पाते। उदाहरणार्थ, दृष्टि में विष वहन करने वाले या श्वास में विष वहन करने वाले साँपों के विषय में कहा जाता है कि 'वे देखते ही जला डालते हैं' या 'उनकी श्वासक्रिया जला डालती है'। निश्चय ही इसमें **विष** की उत्कटता से **जलने** की सामर्थ्य आती पाई जाती है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि देखने या सांस लेने में आदि से भी प्रभाव पड़ता है। यह बात अलग है कि कहीं यह प्रभाव इतना सूक्ष्म हो कि देखा न जा सके, या अनुभव न हो सके[4]। इसीलिए क्रियासिद्धि में इनका योगदान तीन प्रक्रियाओं द्वारा माना गया है। कहीं यह 'आभास प्राप्ति' के द्वारा होता है। योग्य स्थान और देशप्राप्ति पर ही ऐसा होता है। **अन्यत्र** योग्य स्थान होने पर भी कुहरा या अन्धकार परदा बनकर वस्तु को दृष्टिपथ में आने के रोक देते हैं। ऐसे स्थान पर प्रदीप आदि के द्वारा 'प्रकाशन' या 'अभिव्यक्ति' हो जाती है। तीसरी प्रक्रिया है 'सोढत्व' या 'क्षमता' के द्वारा, जिसमें योग्य स्थान और आवरणहीनता होने पर भी

---

१. वा० ३. ७. ४६। २. वा० ३. ७. ५०। ३. वा० ३. ७. ५१।
४. वा० ३. ७. ५२ एवं उसकी व्याख्या में हेलाराज।

अदृश्यादि शक्ति के कारण कोई वस्तु नहीं दिखाई देती।[1] इस प्रकार इन तीन विविध शक्तियों के द्वारा 'ग्रामं गच्छति' में 'ग्रामं' जैसा पद भी गमन क्रिया की सिद्धि में सहायक हो जाता है। कर्त्ता की 'ईप्सा' या 'समीहा' में आने के कारण 'ग्राम' भी, दृष्टिपथ में आने, स्पष्ट होने एवं गमनसह होने आदि के कारण, 'जाना' क्रिया की पूर्णता में स्वयं साधन रूप में या गौण रूप में सहायक होता है।

११.२५ स्वतन्त्रता और गौणता

भर्तृहरि 'कर्म' की इन मुख्य स्थितियों या भेदों की चर्चा के बाद अपनी एक पूर्वोक्त मान्यता का विश्लेषण करते हैं। हम उनकी इस मान्यता का उल्लेख पहले कर आए हैं। इसके अनुसार वाक्य का प्रत्येक कारक वस्तुतः स्वतः एक स्वतन्त्र कर्त्ता ही होता है। पर किसी अन्य क्रिया के प्रधान हो जाने पर वह आश्रित होकर उसके साधन में योगदान देता है। उसकी गौणता ही उसके कारक-चिह्नों द्वारा व्यक्त होती है। 'गौण' होने पर भी वह अपने पूर्व व्यापारों से मुक्त-सा दिखाई देता है।[2] इसी बात को कर्म के प्रसंग में घटाते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि स्वतन्त्र रूप में 'कर्त्ता' का आचरण करके भी वही द्रव्य दूसरे कर्त्ता के व्यापार में स्वयं को 'कर्म' के रूप में परिवर्त्तित कर लेता है[3]। पर, इसका यह अर्थ नहीं होता कि अन्य कर्त्ता की क्रिया की सिद्धि में सहायक होकर भी वह द्रव्य अपनी क्रिया से सम्बन्ध तोड़ लेता है। उसका यह सम्बन्ध तब भी बना रहता है। 'कर्म' की स्थिति समाप्त होते ही वह फिर अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है। 'कर्मकर्त्ता' की स्थिति कर्मवाच्य आदि में ऐसी ही है।[4] इस प्रकार की स्थितियां संख्या में अनेक हो सकती हैं। भर्तृहरि इस प्रकार की पांच स्थितियों का उल्लेख करते हैं।[5]

१.२ शेष भेद

११.२६ अकथित और अनीप्सित

पूर्वोक्त मुख्य तीन भेदों के अतिरिक्त अन्य भी चार भेद 'कर्म' के गिनाए गए हैं। 'ईप्सिततम' न होने के कारण इन्हें हम उपरिगणित वर्गों में समवेत नहीं कर सकते। इनका एक अलग वर्ग बनाना ही उचित है।[6] दूसरे शब्दों में, कह

---

१. वा० ३. ७. ५३।
२. वा० ३. ७. २०,२१।
३. वा० ३. ७. ५४।
४. वा० ३. ७. ५५, ५६।
५. वा० ३. ७. ५७ से ६०।
६. वा० ३. ७. ६७ से ७०।

सकते हैं कि जिसमें क्रिया के साक्षात् प्रयोजकत्व की भावना हो, उसे 'प्रधान' कर्म कहते हैं; किन्तु जहां यह भावना न हो, पर फिर भी क्रियासिद्धि के लिए उस द्रव्य का साथ-साथ अभिधान हो, उसे 'अकथित' और इसीलिए 'अप्रधान' कह सकते हैं।[१] कालवाचक, दूरीवाचक, आदि शब्दों का प्रयोग इसी भावना से होता है : 'रात भर पढ़ता है', 'मील भर गाता रहा', आदि में 'रातभर' और 'मीलभर' का सम्बन्ध क्रमशः 'जागने' और 'चलने' से है, प्रयुक्त क्रिया 'पढ़ने' और 'गाने' से नहीं। पर 'जागकर' भी व्यक्ति पढ़ता है और 'चलकर' भी गाता है। इसीलिए 'रातभर' आदि को सीधे रूप में 'कर्म' न कहने पर भी, अपनी मूल क्रिया के साथ अप्रत्यक्ष और अनुक्त सम्बन्ध होने के कारण, 'कर्म' के वर्ग में रखना ही उचित है। ऐसी जगह **अकथित** और **अनीप्सित** का भेद मिट जाता है।[२] फिर भी, ये 'कर्म', वाच्यपरिवर्तन की वेला में, सामान्य की भांति ही प्रायः सहायक होते हैं।[३] भर्तृहरि अकर्मक क्रियाओं की व्याख्या भी इसी के द्वारा करते हैं। उनकी दृष्टि में वहां 'ईप्सिततम' कर्म के न होने पर भी 'कर्मत्व' तो होता ही है।[४]

'द्विकर्मक' या 'बहुकर्मक' क्रियाओं से सम्बद्ध कर्मों की स्थिति पर विचार करते हुए भर्तृहरि 'ईप्सिततम' शब्द में 'तमप्' के योग का महत्त्व पूरी तरह समझाते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार 'करण' **साधकतम** को कहते हैं (और एक वाक्य में एक ही क्रिया से सम्बद्ध अनेक 'करण' हो सकते हैं, भले ही वे सभी 'साधकतम' नहीं हो सकते) उसी प्रकार 'कर्म' भी एकाधिक प्रयुक्त हो सकते हैं, यद्यपि उनमें सबका **'ईप्सिततम'** होना आवश्यक नहीं। पर, इससे बड़ा सत्य एक और है कि अनेक 'कर्म' प्रयुक्त होने पर उनमें अतिशायन या प्रकर्ष की भावना नहीं रह सकती; सब की कक्ष्या या 'वर्ग' जो एक है। एक ही धरातल पर स्थित समान बल वाले द्रव्यों में न्यूनाधिक बल का भाव नहीं खोजा जा सकता।[५] हाँ, यह अवश्य है कि उनके एकत्र प्रयोग में यह ढूंढा जा सकता है कि इनमें से सर्वाधिक प्राप्य या प्राप्ति की इच्छा से प्रभावित द्रव्य कौन सा है? उनमें से 'प्राप्ति की अभिलाषा' जिसके ही अधिक निकटम होगी, उसे ही अन्य प्रयुक्त कर्मों से कुछ भिन्न मान लेना होगा।[६] इस अन्तर की आवश्यकता वाच्यपरिवर्त्तन आदि में ही पड़ती है। वहां केवल 'ईप्सिततम' कर्म का ही कारकगत या विभक्तिगत परिवर्त्तन होता है, अन्यों का नहीं।

---

१. वा० ३. ७. ७१।
२. वा० ३. ७. ७०।
३. वा० ३. ७. ६६।
४. वा० ३. ७. ६७, ६६।
५. वा० ३. ७. ७४।
६. वा० ३. ७. ७५।

११.२७ अन्य कारकों के स्थान पर प्रयोग

पहले हम पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट सम्प्रदान, अधिकरण, आदि कारकों के स्थान पर होने वाले कर्म के प्रयोग की बात कह आए हैं। भर्तृहरि ऐसे प्रयोगों को 'अन्यपूर्वक' कहते हैं। 'पासों से खेलता है' के स्थान पर 'पासे खेलता है' का प्रयोग किया ही जाता है।[1] भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यहां 'पासे' शब्द 'जुए' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, या उसका स्थानीय है। पर व्याकरणात्मक दृष्टि से 'पासा' जुआ खेलने का 'साधन' है। अतः उसको 'करण' कारक में प्रयुक्त होना चाहिए था। पर उस का प्रयोग 'कर्म' में भी होता है। यही बात 'अधिकरण'[2] और 'सम्प्रदान'[3] के स्थानीय कर्म-प्रयोगों में भी देखी जा सकती है। पर इन दोनों प्रसंगों में जिन उदाहरणों पर विचार किया गया है, उनमें एक विशेषता है। वहां उपसर्गों का प्रयोग विशिष्ट रूप में हुआ है। हम यह स्पष्टीकरण देना उचित समझते हैं कि 'अभिनिविशते' में 'अभि' का, 'अधिशेते' में 'अधि' का, 'उपतिष्ठते' में 'उप' का, तथा 'अभिक्रुध्यति' या 'अभिद्रुह्यति' में 'अभि' का प्रयोग, 'उपसर्ग' के रूप में न होकर, 'कर्मप्रवचनीय' या 'निपात' के रूप में हुआ है।[4] स्वतन्त्र निपात की स्थिति न ग्रहण कर वे संस्कृत में धातुओं से संपृक्त अवश्य दिखाई देते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन, अनुकारी धातुओं के अर्थ का परिष्कार या संस्कार न होकर, दिशासूचन या अन्य अनुक्त धातुगत अर्थ को व्यक्त करना है। इसी कारण उनका प्रभाव 'कारक' के 'साधनत्व' या उनकी 'शक्ति' पर प्रबल रूप में पड़ा है। दूसरे शब्दों में, कारक की विभक्ति—इन निपातों के प्रयोग के बाद—गौण और महत्त्वहीन रह गई है। वस्तुतः इन स्थितियों में करण, अधिकरण, या सम्प्रदान का प्रयोग 'कर्म' के रूप में नहीं हुआ है, और न ही वे कर्म में रूपान्तरित हो गए हैं। बल्कि उनका प्रयोग 'अकथित' वाली स्थिति में हुआ है।[5]

११.२८ एकता

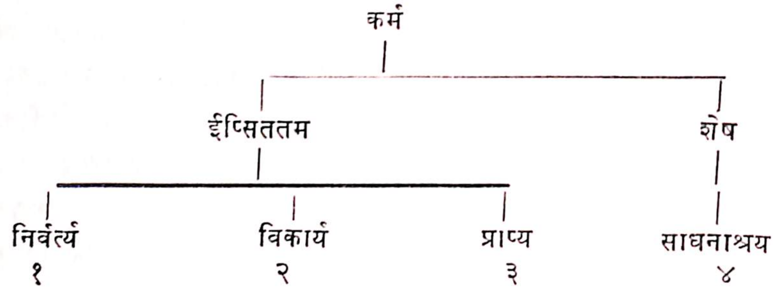
इस दृष्टि से 'अनीप्सित' के दो भेद, एवं 'अकथित' और 'अन्यपूर्वक' समेत चार भेद, भर्तृहरि ने गिनाए हैं। उन्हें वे अन्ततः एक ही कोटि में ले आते हैं। उनकी दृष्टि में चारों का मूल धर्म एक ही है। वास्तव में 'कर्म' की शर्त पूरी न करने पर भी वे कर्म के आकार-प्रकार में ही व्यवहृत हुए हैं। इनका सम्बन्ध कारक के आत्मतत्त्व या उसके 'स्वरूप' से न होकर बाह्याकार से ही

---

१. पा० १. ४. ४३।
२. पा० १. ४. ४६, ४७।
३. पा० १. ४. ३८।
४. वा० ३. ७. ८६।
५. पा० १. ४. ५१ एवं वा० ३. ७. ७०, ७१।

है। यद्यपि यहाँ भी सिद्ध किया जा सकता है—और भर्तृहरि सिद्ध करते भी हैं—कि अन्ततः ये सब भी 'ईप्सा' के विषय या 'ईप्सित' ही ठहरते हैं। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने इन चारों भेदों को **'साधनाश्रय'** के नाम से एक वर्ग में माना है : अर्थात् जो 'कर्म' किसी अन्य कारक की भावना का आश्रय है।[1] इस दृष्टि से वे क्रियासिद्धि में साधनत्व से युक्त 'कर्म' को 'चार' भेदों में ही विभाजित करते हैं : **निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य और साधनाश्रय**। इनमें से पहले तीन को, इससे पूर्व, हम 'ईप्सिततम के भेद' कह आए हैं। और शेष चौथे भेद को हम अकथित, अनीप्सित और अन्यपूर्वक, आदि भेदों के रूप में कह आए हैं। यह चौथा भेद सही रूप में, कारकों का आश्रय न कहा जाकर, 'क्रियासिद्धि की साधना का आश्रय' कहा जाना चाहिए।[2]

इस दृष्टि से कर्म के भेद निम्न प्रकार होंगे :



११.२६ ईप्सा और एकत्व

परन्तु भर्तृहरि इन चारों भेदों को एक कहकर ही नहीं रुक जाते। वे तो आगे बढ़कर सारे कर्मभेदों की मूलगत एकता को खोज निकालते हैं। उनकी दृष्टि में कर्म-कारक का जन-प्रयोग वस्तुतः प्रयोक्ताओं की मानसिक भावना को व्यक्त करता है। इस सम्बन्ध में उनकी युक्ति सरल किन्तु गौरवशालिनी है : 'जिस प्रकार किसी द्रव्य के अहितकर रूप में ज्ञात होने पर भी चापल्य और लोभ व्यक्ति को उस ओर प्रेरित कर ही देता है, उसी प्रकार भय आदि से सदा के लिए मुक्ति पाने की भावना के कारण वह विष आदि को ग्राह्य समझ बैठता है। इस प्रकार जिन्हें हम 'अनीप्सित' कहते हैं, वे भी वस्तुतः 'ईप्सित' ही बनकर 'कर्म' के रूप में प्रयुक्त होते हैं।[3]' अतः 'ईप्सित' और 'अनीप्सित' का भेद व्यर्थाडम्बर या भ्रम-मात्र है।

---

१. वा० ३. ७. ७६।

२. वही, टीका में हेलाराज।

३. वा० ३. ७. ८०, ८७।

११.३० सारांश

इस प्रकार 'कर्म' समग्रत: और मूलत: एक है। फिर भी यदि उसके भेद करने ही हों, तब ये 'चार' या 'सात' ही नहीं, बल्कि इनके भी अन्तर्वर्त्ती अन्य अनेक भेद किए जा सकते हैं।[1] किन्तु अन्तत: कर्म-सामान्यता की दृष्टि से 'कर्म' एक ही है।[2]

२. करण : साधकतम

११.३१ साधकतम

पाणिनि ने 'करण' को 'साधकतम' कहा है।[3] हम ऊपर कह आए हैं कि क्रियासिद्धि में साधक या सहायक होने के कारण सभी कारक 'साधक' (या साधन) कहे जा सकते हैं। वस्तुत: विशेष वाक्य में वे 'साधन' की स्थिति में दिखाई देते हैं, किन्तु मूलत: वहां भी वे अपने-अपने व्यापार द्वारा क्रिया के सम्पादन में साहायता देकर 'साधकत्व' के अपने-अपने दायित्व को पूरा करते ही हैं। तब प्रश्न उठता है : उनमें तर-तम का विभाग कैसे हो सकता है ? और फिर, यदि 'साधकतम' क्रियानिष्पादन में निकटतम या सर्वाधिक समर्थ साधन कहलाता है, तब यह संज्ञा 'कर्त्ता' को मिलनी चाहिए; क्योंकि वही क्रिया के साधन में सबसे अधिक समर्थ होता है।

इन दोनों बातों पर साथ-साथ विचार करना आवश्यक है। यह सत्य है कि क्रिया के साधन में कर्त्ता का सबसे अधिक सीधा और मुख्य हाथ होता है। जहां अन्य कारक या 'साधन' अपनी गौण क्रियाओं के द्वारा मुख्य क्रिया के निष्पादन में सहायता पहुंचाते हैं, वहां कर्त्ता का सम्बन्ध सीधा मुख्य क्रिया से ही होता है। इस पर भी यह सत्य है कि मुख्य क्रिया के साधन में जिन अन्य 'उपकारों' या 'सहकारी क्रियाओं' का भाग होता है, उनकी उपस्थिति का कथन भी उसकी निष्पत्ति में अनिवार्य मानकर ही किया जाता है। कर्त्ता क्रिया को करता अवश्य है, पर उसे कई बातों का सहारा लेना पड़ता है। इन सहारों को ही 'साधन' के रूप में व्यक्त किया जाता है। इनमें आपस में, क्रिया की दृष्टि से, तरतमभाव अवश्य हो सकता है। इस तरतमभाव को कैसे पहचाना जाए ? इसका उत्तर

---

१. वा० ३. ७. ८६।
२. वा० ३. ७. ७८।
३. पा० १. ४. ४२।

भर्तृहरि देते हैं : क्रिया की निष्पत्ति में भाग सभी साधन लेते हैं, और सामर्थ्य भी सभी द्रव्यों की काम आती है, किन्तु जिस द्रव्य या साधन के प्रयोग के तत्काल बाद ही क्रिया का निष्पादन हो जाए उसे ही 'साधकतम' कहा जाना चाहिए। यही साधन 'करण' कहा जाता है; क्योंकि उस के प्रयोग के बाद ही क्रिया की परि-निष्पत्ति सम्भव होपाती है।[1]

इस बात को अधिक स्पष्ट करके वे फिर कहते हैं : अन्य कारक अपनी स्वतन्त्र अवस्था में जिस क्रिया से सम्बद्ध रहते हैं, उससे मुख्य क्रिया का साधन, या उसमें सहायता, एकदम निकट से सम्भव नहीं हो पाती। कर्त्ता भी क्रिया की सिद्धि में रत अवश्य होता है, किन्तु उसका भी क्रिया की निष्पत्ति में योगदान 'दूर' का ही होता है। वह अन्य साधनों के आश्रय से ही क्रिया में प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत 'करण' ही एक ऐसा साधन है, जो किसी भी अन्य कारक (साधन) और क्रिया (सिद्धि) के बीच व्यवधान बनकर आता है। अर्थात्, वह अन्य किसी भी कारक की अपेक्षा क्रियासिद्धि में निकट से और घनिष्ठ रूपसे सहायक हो जाता है।[2]

११·३२ विवक्षा पर आधारित

'स्थाल्यां पच्यते' प्रयोग अधिक सार्थक लगता है, क्योंकि वास्तव में पकाया तो आग या ईंधन से जाना है। स्थाली पाचन क्रिया में आधारमात्र होती है। पर, फिर भी प्रयोग में 'स्याल्या पच्यते' के द्वारा 'स्थाली' को 'करण' में प्रयुक्त किया जाता है। इसका भी औचित्य ठहराया जा सकता है। ऐसे स्थान पर न तो वक्ता आग की बात कहना चाहता है और न ईंधन की; बल्कि उसका उद्देश्य यह बताना हो जाता है कि चावल या दाल किसी अन्य पात्र की अपेक्षा स्थाली में पकाए जा रहे हैं। कदाचित् इस कारण कि उससे पाचन अधिक सुविधापूर्वक हो जाता है। इस प्रकार उस पात्र का चावल पकाने में उपयोग सहायक हो जाता है, और वह अन्य किसी भी साधन की अपेक्षा अधिक मुख्य और निकटतम हो उठता है।[3]

पर बात इतने पर ही नहीं समाप्त होती। हम एक अन्य स्थिति का भी सामना करते हैं। 'देवदत्त तलवार से काटता है', 'तलवार तीक्ष्णधार से काटती है', 'धार अपनी तीक्ष्णता से काटती है', आदि में 'क्रिया' तो एक ही रही है, पर 'करण' की स्थिति क्रमशः 'पलटती' गई है। पहले 'करण' 'तलवार' थी, फिर 'धार' बनी, और तब 'तीक्ष्णता' की बारी आई। यही नहीं; इन वाक्यों में 'कर्त्ता' भी पलटता

१. वा० ३. ७. ९०।
२. वा० ३. ७. ९४,९५।
३. वा० ३. ७. ९१।

गया है : पहले 'देवदत्त' कर्त्ता था, फिर 'तलवार' कर्त्ता बनी, तब 'धार' का क्रम आया ।[1] शंका की जा सकती है कि जब काटने का साधन ही 'असि' है, तब उसका 'करणत्व' 'कर्तृत्व' में कैसे बदल सकता है ? इसका उत्तर यही है कि यह सब विवक्षा या वक्तुरिच्छा पर निर्भर है। जहां पर वक्ता जिसका कर्तृत्व या करणत्व कहना चाहता है, वहीं वह वैसा साधन प्रयोग कर लेता है। इसका एक समाधान भर्तृहरि यह भी प्रस्तुत करते हैं कि क्रिया की 'अवधि' में अन्तर आने से स्थितिभिन्नता उत्पन्न हो जाती है। तब धर्म और धर्मी में कहीं एक रूप में, तो कहीं दूसरे रूप में, भेदकथन अभीष्ट हो जाता है। इसीलिए 'करण' की विवक्षा भी बदलती रहती है।[2]

११.३३ करण का प्रकर्ष क्यों ?

पर यह स्मरण रखना चाहिए कि करण का यह प्रकर्ष अन्य साधनों या कारकों की अपेक्षा में होता है। प्रकर्ष या 'तमभाव' की इस बात को भर्तृहरि अत्यन्त सीधे-सादे ढंग से समझाते हैं। जितने भी साधन या कारक प्रधान क्रिया की सिद्धि में सहायक होने के नाते से प्रयुक्त होते हैं, उनमें से 'करण' ही एक मात्र ऐसा है, जिसके संस्कार और विनियोग को पुनः-पुनः करने की आवश्यकता रहती है।[3] 'तलवार से काटता है' में तलवार में तीक्ष्णता का आधान एवं स्वयं 'काटना' क्रिया बार-बार करने से ही सम्भव और पूर्ण हो पाते हैं। पुनः-पुनः शक्त्याधान की यह बात अन्य कारकों के साथ लागू नहीं होती। इसी दृष्टि से क्रिया के साधन में 'करण' का महत्त्व अन्य कारकों की अपेक्षा अधिक माना गया है।

दूसरी बात, भर्तृहरि ने 'उसके बाद ही क्रियासिद्धि' की कही है। इसे हम पहले समझा आए हैं। फिर भी, इतना कथ्य शेष है कि 'करण' के व्यापार के अनन्तर, या उसके प्रयोग के तुरन्त बाद, ही क्रियासिद्धि की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से भी 'तलवार' या 'तीक्ष्णता' आदि का 'काटने' में बड़ा हाथ है; देवदत्तादि के योग की अपेक्षा भी बड़ा। इस प्रकार 'करण' का ही प्रकर्ष ठहरता है।

११.३४ प्रकर्ष किससे ?

यह प्रकर्ष अन्य 'कारकों' की तुलना में होता है, अन्य 'करणों की' तुलना में नहीं ! यहां यह स्पष्ट कर देना कदाचित् अभीष्ट होगा कि जिस प्रकार 'कर्म' एकसे अधिक संख्या में प्रयोग हो सकते हैं, उसी प्रकार 'करण' का प्रयोग

---

१. वा० ६. ७. ९६।
२. वा० ३. ७. १००।
३. वा० ३. ७. ९२।

भी एकाधिक संख्या में सम्भव है। जहां दो या अधिक 'करणों' का प्रयोग प्राप्त हो, वहां यह पूछा जा सकता है कि 'साधकतम' किसे माना जाए? और यह भी कहा जा सकता है कि यदि उनमें से कोई 'साधकतम' है ही, तब उसका ही 'करण' कारक में प्रयोग होना उचित है; अन्यों का नहीं। भर्तृहरि का उत्तर इस विषय में स्पष्ट है :

स्वकक्ष्यासु प्रकर्षश्च करणस्य न विद्यते।
आश्रितातिशयत्वं तु परतस्तत्र लक्षणम्॥ वा० ३. ७. ९३॥

अर्थात्, 'यदि एकाधिक करणों का प्रयोग हो, तब उनमें आपसी प्रकर्ष जताने के लिए तर-तम-भाव की बात नहीं होती। उनमें आपस में कमी या अधिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह कमी या अधिकता केवल अन्य साधनों की तुलना में सम्पन्नता के विषय में ही उठती है। यूं, सभी करण **साधकतम** ही माने जाने चाहिएं।'

११.३५ साधकत्व और निकटता

ऊपर साधकतम का अर्थ 'निकटतम' भी किया गया है। पर, भर्तृहरि इस प्रयोग के खतरे से भी परिचित हैं। कोई भी यह आपत्ति उठा सकता है कि 'वह धनाभाव से पीड़ित है' या 'वह धनाभाव से युक्त है' में किसी वस्तु का संनिधान नहीं है, फिर भी वहां **पीड़ित** और **युक्त** का प्रयोग किया गया है। यह बात देखने में परस्पर विरोधी और अनुचित भी लगती है। 'धनाभाव' जैसी अदृश्य और अभावात्मक वस्तु को 'साधकतम' के रूप में प्रयोग किया गया है। इसीलिए भर्तृहरि को स्पष्ट करना पड़ा कि 'साधकतम' होने के लिए 'सन्निधान' या 'भौतिक निकटता' अनिवार्य शर्त नहीं है। 'साधकतम' की स्थिति 'असंनिधान' अर्थात् 'निकटता के अभाव' में भी हो सकती है। साधकता क्रिया के प्रति होती है, और क्रियासिद्धि निकटता या उसके अभाव में भी होकर रहती है।[1] इस लिए 'निकटतम' का अर्थ, भौतिक दृष्टि से न करके, प्रभाव की दृष्टि से करना अधिक उचित रहेगा। '**स्तोकेन मुक्तः**' में भी यही स्थिति है। विवक्षाभेद के कारण ही उसे '**स्तोकान्मुक्तः**' के रूप में भी कह दिया जाता है।

११.३६ सारांश

इस प्रकार 'करण', स्वतन्त्र स्थिति में कर्त्ता होने पर भी, वाक्यार्थ में कर्त्ता के अधीन या उसके द्वारा नियुक्त वैसा ही एक 'साधन' है, जिस प्रकार के अन्य साधन। अन्तर यही है कि क्रिया के साधन में, अन्य कारकों की अपेक्षा, उसका

१. वा० ३. ७. ९८, ९९।

हाथ प्रत्यक्षतम और निकटतम रहता है। उसके कार्य के बाद ही क्रिया की सिद्धि होती है। उसकी 'सहितता-रहितता' या 'संनिधि-असंनिधि' से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

संक्षेप-सूत्र : कर्म कर्त्ता को 'ईप्सिततम' था, यह 'करण' क्रिया का 'साधकतम' है।

३. कर्त्ता : स्वतन्त्र

११.३७ कर्त्ता : स्वतन्त्रता

पाणिनि ने कर्त्ता को स्वतन्त्र कहा है।[१] इस स्वातन्त्र्य की व्याख्या महाभाष्यकार और वार्तिककार ने कई प्रकार से की है। सामान्य क्रियाप्रयोग में अन्य कारकों के राहित्य में भी जो कारक क्रिया का साधन स्वतः करता है, प्रधानतः उसे ही कर्त्ता स्वीकार किया जाता है। परन्तु 'कर्त्ता' होने की सामर्थ्य वाक्य-प्रयुक्त सभी शब्दों में, चाहे वे किसी भी कारक में प्रयुक्त हुए हों, मानी गई है। हां, उनका यह कर्तृत्व अवश्य ही उनकी अपनी-अपनी क्रिया के प्रति होता है। उदाहरणार्थ, 'राम तीव्र गति से गांव जाता है' में 'राम' इसलिए 'कर्त्ता' है कि वह 'जाना' क्रिया का निष्पादन तब भी करता है जब 'तेज़ी से' और 'गांव' शब्दों का प्रयोग न भी किया जाए। 'गांव जाया जाता है' में 'गांव' कर्त्ता का पद पा लेता है। तब वहां केवल कर्मवाच्य की परिवर्तित स्थिति नहीं रह जाती। इन दोनों स्थितियों में अन्तर यह है कि पहले उदाहरण में 'राम' कर्त्ता था और 'गांव' कर्म ! दूसरे उदाहरण में, 'गांव' स्वयं ही कर्त्ता का स्थान ग्रहण कर लेता है। वहां उसकी कर्मस्थिति समाप्त हो जाती है।

'कर्मवाच्य' की स्थिति इस परवर्त्ती उदाहरण से इस दृष्टि से भिन्न है कि वहां मूल 'कर्त्ता' कारक-परिवर्तन के द्वारा 'करण' के रूप में, या तृतीया विभक्ति के माध्यम से, अभिव्यक्ति पाता है। तब कर्म कर्त्ता का स्थान ग्रहण करता दीखता है, या उसकी विभक्ति को अपनाता दीखता है। पर, क्योंकि किसी न किसी वेश में यहां मूल कर्त्ता विद्यमान रहता है, अतः कर्त्ता और कर्म की विभक्ति बदलने पर भी उनकी कारक-सत्ता में अन्तर नहीं आता।

११.३८ स्वातन्त्र्य : कारण

भर्तृहरि 'कर्त्ता' की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कुछ भाषावैज्ञानिक सत्य

---

१. पा० १. ४. ५४।

उद्घाटित करते हैं। इन्हें कर्त्ता के स्वातन्त्र्य की युक्तियां भी कह सकते हैं। उनके अनुसार, अन्य कारकों के रूप में प्रयुक्त होकर किसी अन्य कर्त्ता से शक्तिलाभ करने से पहले, और इस प्रकार उसकी तुलना में निम्न स्थिति प्राप्त करने से पहले, कर्त्ता की स्वतन्त्रता निम्न कारणों से सिद्ध होती है :

(क) तब तक क्रिया में प्रवृत्ति उसके अपने अधीन होती है,

(ख) अन्य कोई कर्त्ता उस क्रिया को नहीं कर रहा होता,

(ग) अन्य सब कारकों का प्रतिनिधि प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु कर्त्ता का प्रतिनिधि प्रयुक्त नहीं होता; क्योंकि ऐसा करते ही उस वाक्य का मूलाधार ही पलट जाता है,

(घ) अन्य कारकों से रहित होकर भी कर्त्ता कारक का क्रिया के साथ, 'रामो गच्छति, ग्रामो गम्यते' आदि की भांति, प्रयोग होता है,

(ङ) 'कर्त्ता' क्रिया का 'साधकतम' नहीं है; पर दूर रह कर भी वह क्रिया-सिद्धि या उसके उपकार में समर्थ होता है।

ये पांचो बातें वाक्य में प्रयुक्त सभी कारकशब्दों के साथ घटित हो सकती हैं : पर, उनकी 'स्वतन्त्र' स्थिति में ही। इन स्थितियों में 'स्वतन्त्र' या अपराधीन होने के कारण ही उसे, स्थितिविशेष में, 'कर्त्ता' कहा जाता है।[1]

११.३६ धर्म : शब्द का या वस्तु का ?

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्ता की कोई ऐसी विशिष्ट स्थिति नहीं है, जो किसी वस्तुविशेष में रूढ़ होती हो। किसी शब्द द्वारा अभिहित कोई वस्तु भिन्न कारकप्रयोग के साथ भिन्न रूप ग्रहण नहीं कर लेती। उसका रूप, परिमाण, आदि अपरिवर्त्तित ही रहते हैं। हां, उसका विशेष क्रिया के साथ सम्बन्धमात्र पलट जाता है। इस 'सम्बन्ध' को बताने के ही भाषात्मक साधन 'कारक' माने गए हैं। 'कर्त्ता' उन्हीं कारकों में से एक है। क्योंकि ये कारक वस्तुतः उच्चार्यमाण शब्द के साथ अभिन्न होकर ही अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं, अतः इनकी स्थिति केवल विवक्षा या 'अभिव्यक्ति की इच्छा' के समय में ही सम्भव होती है। हम किसी वस्तु का किसी क्रिया के निष्पादन-प्रसंग में कैसे उल्लेख करना चाहते हैं, यह बात कथन के समय की हमारी इच्छा या मनःस्थिति पर निर्भर करती है। इसलिए कर्त्ता जैसी स्वतन्त्र प्रतीयमान स्थिति भी, वस्तु को नहीं, उसके धर्मविशेष को बताने वाली रह जाती है। इसीलिए वह वस्तु के वाचक या अभिधायी 'शब्द' का विषय है, न कि वस्तु का।[2] यह बात विशेष अवधेय है कि

---

१. वा० ३. ७. १०१, १०२। २. वा० ३. ७. १०३।

इस सत्य को स्वीकार करते ही एक वस्तु की विविध स्थितियों की सम्भावना तुरन्त स्पष्ट हो जाती है। किसी प्रसंग में वह वस्तु 'कर्त्ता' की स्थिति में रहती है, और कहीं वह 'कर्म' या 'करण' आदि की स्थिति में रहती है।[1] यह सब बात बुद्धि की अवस्था और उसकी कल्पनासामर्थ्य पर निर्भर करती है। 'राम देता है' और 'श्याम लेता है' कहने पर 'राम' और 'श्याम' दोनों कर्त्ता की स्थिति में हैं; क्योंकि दोनों का सम्बन्ध अपनी-अपनी क्रिया के साथ स्वतन्त्र निष्पादन का है। पर 'राम श्याम को देता है' में 'राम' कर्त्ता और 'श्याम' कर्म हो गया है। हालांकि, सत्य यह है कि पहले दोनों वाक्यों के संयुक्त अर्थ में और इस परवर्त्ती वाक्य के अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं। एक ही भावना का ग्रहण दोनों स्थितियों में होता है। फिर भी, उभयत्र अभिव्यक्ति में अन्तर है। यह सब बुद्धि की अवस्था और विवक्षा पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, कारकों का प्रयोग बुद्ध्यवस्थाश्रित या विवक्षाश्रित ही है। अन्यथा सभी वाक्यों को सरलतम और एक समान रूप में केवल कर्त्ता और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है।

११.४० कर्तृत्व क्या है ?

'स्वतन्त्रः कर्त्ता'[2] से यह स्पष्ट नहीं होता कि कर्त्ता का 'कर्तृत्व' क्या है ? क्रिया के निष्पादन में वह अन्य कारकों की सहायता के बिना ही समर्थ होता है; यह बात हम सत्य स्वीकार कर चुके हैं। पर, क्रिया के निष्पादन का अर्थ जाने बिना उसकी सामर्थ्य भी स्पष्ट नहीं होगी।

११.४०.१ सत्-असत्

भर्तृहरि यह जानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति को 'असत्' स्वीकार करना केवल बुद्धि-विलास ही है। सम्बन्धसमुद्देश, क्रियासमुद्देश, और काल-समुद्देश में वे बार-बार यह स्पष्ट करते हैं कि असत् (अभाव) से सत् (भाव) की उत्पत्ति, अथवा सत् की असत् में परिणति, सम्भव नहीं है। फिर भी, यह वक्ता की बुद्धि का चमत्कारविशेष, या उसकी मान्यताविशेष ही है, जिसके अनुसार हम यह समझते या अभिव्यक्त करते हैं कि 'अमुक कार्य हुआ' का सम्बन्ध किसी अपूर्व या अविद्यमान स्थिति का 'जन्म' होने से है। इस स्थिति में 'कर्त्ता' को जन्म का कारण भी मान लिया जाता है। वास्तव में असत् की यह

१. वा० ३. ७. १०४।
२. पा० १. ४. ५४।

निष्पत्तिपूर्व या अभिव्यक्तिपूर्व की स्थिति उस स्थिति से अभिन्न ही है, जिसे हम सत् कहते हैं।[1] 'सत्' उस एक ही स्थिति को वैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाता है, 'असत्' उसे ही व्यावहारिक बुद्धि से कह दिया जाता है।

११.४०.२ कार्य की स्थितियां

भर्तृहरि इन दोनों स्थितियों को क्रमश: कारण और कार्य की स्थिति कहते हैं। 'कारण' उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति है: उससे ही 'सत्' स्थिति का आविर्भाव होता है। 'कार्य' उस स्थिति को कहा गया है, जो निष्पत्ति या उत्पत्ति के बाद परिणामरूप में सामने आती है, और जिसे हम 'सत्' कह देते हैं। पर यह स्थिति भी अन्तत: परिवर्त्ती और व्यावहारिकमात्र ही है। एक स्थिति में जो वस्तु कारणरूप है, वही दूसरी स्थिति में कार्यरूप में सामने आती है। 'कार्य' की स्थिति में आने के बाद वह 'कारण' जैसी अपनी पूर्वस्थिति को छोड़ देती है। अब वह 'कार्य' कहलाने लगती हैं।[2] इस रूपान्तर को ही हम 'जन्म' कह देते हैं। यहां 'कारण' से 'कार्य' का जन्म होता दीखता है। 'सांप ने कुण्डली बनाई' में कुण्डली सांप की ही है: उससे भिन्न नहीं। तो भी कहा ऐसे गया है, जैसे नई वस्तु सामने आई हो।[3]

११.४०.३ प्रयोजिका : जाति

'जाति' सामान्य लक्षणों की अभिव्यक्ति को कहते हैं। भर्तृहरि प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या में यह स्पष्ट करते हैं कि जाति सामान्यता और समग्रता की वह स्थिति है, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए विविध 'कारणों' को प्रयोग करती है।[4] ये विविध कारण नित्य भी हो सकते हैं, और अनित्य भी। जाति इन्हीं कारणों के द्वारा बार-बार व्यक्त हो पाती है।[5] वस्तुत: अभिव्यक्त होने वाले वस्तु या द्रव्य अपने व्यक्तिरूप की अपेक्षा जातिरूप को ही स्पष्ट करते हैं।[6] परन्तु जाति को समग्र मानने का अर्थ यह नहीं कि उसका जन्म या उसकी अभिव्यक्ति भी समग्र कारणों से ही सम्भव हो पाती है। सत्य यह है कि जब हम विशिष्ट चिन्हों के आधार पर किसी व्यक्ति के जन्म की चर्चा कर रहे होते हैं, तब उस व्यक्ति के रूप में भी जाति ही उभर कर सामने आती है:

---

१. वा० ३. ७. १०५।
२. वा० ३. ७. १०६।
३. वा० ३. ७. १०७।
४. वा० ३. १. २५।
५. वा० ३. १. २६।
६. वा० ३. १. २६।

विभक्तयोर्निर्यत्क्वापि कारणेभ्यः प्रवर्त्तते।
सा जातिर्व्यक्तरूपेण तस्यापि व्यवतिष्ठते।। वा० ३.७.१०८।।

वास्तव में, जिस प्रकार विविध व्यक्त व्यापारों के द्वारा भी एक ही क्रियात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार 'कार्य' और 'कारण' के पीछे भी एक अभिन्नता छिपी है :

यथा तदर्थैर्व्यापारैः क्रियात्मा व्यपदिश्यते।
अभेदग्रहणादेव कार्यकारणयोः क्रमः ।। वा० ३.७.११३ ।।

यह अभिन्नता ही **जाति** या सामान्य कहलाती है । इसे ही **सत्ता** भी कह सकते हैं ।

११.४१ प्रकृति और विकृति

यहां यह भी विचारना आवश्यक है कि जिसे हम 'क्रिया का जन्म' कहते हैं, उसमें क्या सचमुच कोई 'विकार' होता है, जो प्रकृति से परिवर्त्तित या भिन्न रूप में हमारे सामने आता है, या प्रकृति स्वयं ही 'जन्म' की 'कर्त्ता' बनी रहती है? प्रकृति और विकृति में से 'जन्म' का कारण कौन है, इसका निश्चय लिंगों या चिन्हों के दर्शन से ही हो सकता है। यह 'दर्शन' प्रत्येक ग्रहीता या प्रतिपत्ता के साथ भिन्न होता है; कारण उसकी बुद्धि की अवस्था की भिन्नता होती है।[1] उदाहरण हम 'स्वर्ण' और 'कुण्डल' का ले सकते हैं। क्या 'कुण्डल' बनने में स्वर्ण का विकार हुआ, या स्वर्ण 'स्वर्ण' ही रहा? स्पष्ट है कि उत्तर दोनों रूपों में दिया जा सकता है। प्रकृति 'जाति' है :- इस दृष्टि से कुण्डल में भी स्वर्ण विद्यमान है। इसीलिए वह 'प्रकृति' से ही जन्म लेता माना जाएगा। दूसरी ओर, कुण्डल की स्थिति पाते ही पहले रूप से उसमें अन्तर आ गया है : वह अब एक विशिष्ट प्रक्रिया में से गुज़र कर एक विशिष्ट आकार का बन गया है। इसलिए हम उसे 'विकृति' से उपजा भी मान सकते हैं।[2]

११.४२ विकार का धातु पर प्रभाव

'ब्राह्मणाः संघो भवति' या **'ब्राह्मणाः संघीभवन्ति'** में अन्तर स्पष्ट है। **'संघो भवति'** में **'भवति'** क्रियापद की अनुरूपता **'संघः'** के साथ है। अर्थात्, वहां कर्त्ता 'संघ' कहा जाना चाहिए। किन्तु, **'संघीभवन्ति'** क्रियापद का सम्बन्ध

१. वा० ३. ७. ११४।
२. वा० ३. ७. ११५।

'ब्राह्मणाः' से होने के कारण वह तदनुरूप वचन-लिंग वाला हो गया है। **'संघी-भवन्ति'** में मूल क्रियापद **'भवन्ति'** ही है, पर समास वृत्ति ने 'संघ' नामपद और 'भवन्ति' क्रियापद को रूपान्तरण की स्थिति में एक कर दिया है। इसीलिए **'संघी-भवन्ति'** पद अब एक क्रियापद के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रथम स्थिति में 'भवति' के पूर्ण क्रियापद होने से **'संघो भवति'** मिलकर जिस सूचना को देता था, उसे ही अब **'संघीभवन्ति'** का एक और **संयुक्तपद** सूचित करता है। पर 'संघ' के रूप में कौन बदल रहा है? 'ब्राह्मण' व्यक्ति है। अनेक ब्राह्मणों से मिल कर 'संघ' का निर्माण होता है। इसलिए यहां प्रकृति 'ब्राह्मण' और विकृति 'संघ' को मानना चाहिए। पर प्रथम उदाहरण में क्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध 'संघ' से है, जबकि दूसरे में उसका सम्बन्ध **'ब्राह्मणाः'** से है। इसी कारण इन दोनों प्रसंगों में से प्रथम में 'संघ' कर्त्ता ठहरता है, और द्वितीय में **'ब्राह्मणाः'**। और इसका कारण यह है कि येही दोनों क्रिया की दृष्टि से स्वतन्त्र हैं।[1]

'वह तुम बनता है' या 'तुम वह बनते हो' में 'वह' और 'तुम' का प्रयोग अपने पुरुष और वचनादि के अनुकूल न होकर सामान्य रूप में ही हुआ है। यहां एक सत्य का कथनमात्र हुआ है। यहां 'प्रथम पुरुष' या 'मध्यम पुरुष' जैसी बात उठाना अभीष्ट नहीं। क्योंकि सामान्य सत्य के कथन में 'प्रथम पुरुष' का ही प्रयोग होता है, महज़ इसीलिए उसका प्रयोग यहां भी वैध है।[2] इसे ही हम **प्राकृत** प्रयोग कह सकते हैं।

इन दोनों पूर्वोक्त उदाहरणों में हमने एक परिवर्त्तमान स्थिति की चर्चा की है। इस स्थिति में हम पाते हैं कि एक वस्तु दूसरी में परिवर्तित होती दीख रही है। इसे ही संस्कृत में 'च्वि', 'क्विप्', आदि प्रत्ययों की कल्पना द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह 'जन्म' के सदृश व्यक्त और निश्चित स्थिति न होकर एक मध्यावस्था है, जिसे हम 'जायमान' आदि द्वारा भी कह सकते हैं। इस स्थिति में 'वस्तु' अपने स्वभाव को पूरी तरह नहीं छोड़ती। इस मिली-जुली सी भावना को ही 'जायमान' आदि कह दिया जाता है:

> **पूर्वस्मात्प्रच्युता धर्मादप्राप्ता चोत्तरं पदम्।**
> **तदन्तराले भेदानामाश्रयाज्जन्म कथ्यते॥** वा० ३.१.३९॥
> **पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम्।**
> **सम्मूर्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते॥** वा० ३.७.११८॥

---

१. वा० ३. ७. ११६।

२. वा० ३. ७. ११७।

इसमें द्रव्यों की विविध शक्तियां परस्पर उलझती प्रतीत होती हैं। इसीलिए इसमें दोनों ही—परिवर्त्तमान और परिवर्त्तित—कर्त्ता की स्थिति में रहते हैं; यद्यपि इसमें भी पुरुष और वचन का निर्णय किसी एक प्राकृत सत्य पर ही आधारित रहता है।

११.४२.१ भिन्न स्थिति

पर एक स्थिति इससे भिन्न भी है। '**त्वमन्यो भवसि**' में प्रकृति '**त्वम्**' है, '**अन्यः**' नहीं। इसलिए क्रियापद में '**अन्यः**' के अनुकूल परिवर्त्तन नहीं हुआ[१]। किन्तु, इससे भी भिन्न स्थिति वह है, जहां '**अहं त्वं सम्पद्यसे**' कहा जाता है। यहां क्रिया में 'त्वम्' के अनुकूल पुरुष और वचन का परिवर्तन इसलिए हुआ है कि वास्तविक कर्त्ता 'त्वम्' ही है। इसका निर्णय उसकी व्यापार-वृत्ति एवं सार्थकता के कारण हुआ है।[२]

११.४३ वास्तविक सत्य

इस सब विवेचन से दो ही सत्य सामने आते हैं। **प्रथम** यह कि समस्त साधनों को दो भागों में बांटा जा सकता है : **प्रयोजक** और **प्रयोज्य**। ऐसा मुख्य क्रिया के कर्तृत्व की दृष्टि से किया जाता है। **दूसरा** यह कि 'प्रयोज्य' हो या 'प्रयोजक' दोनों ही अपनी-अपनी साध्य क्रिया के कर्त्ता के रूप में स्थित होते हैं। कर्तृत्व की यह स्थिति उन दोनों को इसलिए प्राप्त होती है कि वे दोनों ही अपनी-अपनी साध्य क्रिया के प्रसंग में स्वतन्त्र होते हैं।[३] यह तो प्रयोग की सुविधा है कि उन्हें साधन के रूप में, कर्त्ता के 'अधीन' की भांति, व्यवहृत किया जाता है।[४] यह सब प्रवृत्ति किसी न किसी निमित्त के कारण होती है।[५]

११.४४ विभक्ति-प्रयोग

इसकी अभिव्यक्ति के लिए सामान्य प्रयोग—कर्तृवाच्य—में प्रथमा या 'नौमिनेटिव' विभक्ति का प्रयोग होता है। भावात्मक प्रयोग या 'कर्मवाच्य' में (अथवा 'भाववाच्य' में भी) तृतीया विभक्ति या इन्स्ट्रूमैण्टल प्रेपोज़िशन से युक्त विभक्ति का प्रयोग होता है। हिन्दी में भी 'प्रथमा' और 'तृतीया' का सामान्य प्रयोग सार्वत्रिक है। यह आश्चर्य की बात है कि पाणिनि कहीं भी 'कर्त्ता' के लिए प्रथमा का विधान नहीं करते। तब क्या कर्त्ता का प्रथमागत प्रयोग अविहित अथवा अनुचित है?

---

१. वा० ३. ७. १२१।
२. वा० ३. ७. ११९।
३. वा० ३. ७. १२२।
४. वा० ३. ७. १२३।
५. वा० ३. ७. १२४।

इस प्रश्न का उत्तर सीधे रूप में नहीं मिलता। पर, कारक के रूप में कर्त्ता में 'तृतीया' को बताने के बाद पाणिनि यह आवश्यकता अनुभव करते प्रतीत नहीं होते कि 'प्रथमा' का 'कर्त्ता' में व्यवहार वैध सिद्ध करें ही। कारण यह है कि 'प्रथमा' का मूलतः प्रयोग, उनकी दृष्टि में, कर्त्ता के द्योतन के लिए नहीं होता। उसका प्रयोग मूलतः जिन बातों की सूचना के लिए होता है, उन्हें 'प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण, आदि के कथनमात्र' के रूप में पाणिनि ने गिनाया है।[1] भर्तृहरि भी यही बात दोहराते हैं : **'तत्रार्थवत्त्वात् प्रथमा संज्ञाशब्दात् विधीयते'**।[2] वास्तविकता यह है कि कर्तृ-कारक में 'प्रथमा' के प्रयोग मात्र से ही यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसका कारक भी 'कर्त्ता' ही है। प्रथमा का अपना 'कारक' कोई भी नहीं है। उसका प्रयोग बिना कारक के भी होता है, यह बात किसी एक कारक के साथ उसे संनद्ध करके नहीं कही जा सकती। फिर यह भी स्मर्तव्य है कि कर्त्ता कारक ही संज्ञाशब्दों की अपनी स्वतन्त्र स्थिति और उनके अर्थ आदि की सूचना दे सकता है। इस कारण अर्थादि की सूचना देने वाले प्रयोग को ही कर्त्ता कारक का वाहक भी समझा जा सकता है। पर क्योंकि प्रातिपदिकार्थादि की सूचना के लिए कोई अन्य विभक्ति प्रयुक्त नहीं होती, इसलिए कर्त्ता का कहना यहां उतना आवश्यक नहीं था जितना उन तथ्यों का। फिर, यह तथ्य और भी अवधेय है कि व्याकरणात्मक दृष्टि से 'स्वतन्त्र' का अर्थ यह भी है कि क्रिया के प्रयोग के बिना भी वह शब्द के अर्थ को पूरी तरह वहन कर सकता है। पर क्योंकि वाक्य प्रयोग में ऐसे शब्द का कोई मूल्य नहीं रहता, इसलिए वाक्य-प्रयोग की दृष्टि से 'कर्त्ता' ही प्रथमान्त स्थिति में एकमात्र ऐसा कारक बैठता है, जिसके द्वारा लिंग, प्रातिपादिकार्थ, परिमाण, वचन, आदि का अभिज्ञान होता है। क्रिया के साथ प्रयोग से ही विभक्तियों की, वाक्प्रयोग की अनिवार्यता के कारण, सार्थकता है; और 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' की स्थिति में ही वह सम्भव है। इस प्रकार दोनों तरह से 'प्रातिपदिकार्थादि' की सूचिका विभक्ति प्रथमा ही 'कर्त्ता' की सामान्य विभक्ति ठहरती है; क्योंकि उसका उक्त प्रयोजन उसके 'कर्तृत्व' की स्थिति में ही पूरा हो सकता है। कर्त्ता के प्रसंग में 'तृतीया' का उल्लेख उस विशिष्ट स्थिति की सूचना देने के लिए है, जिसमें उसे 'करण' की विभक्ति प्राप्त होने पर भी उसका कर्तृत्व पृथक् सूचित किया जाता है।

---

१. पा० २. ३. ४६।

२. वा० १. ६७।

४. हेतु : प्रयोजक

११.४५ भर्तृहरि के निष्कर्ष

कर्त्ता से स्वतन्त्र एवं पृथक् अस्तित्व रखने वाले, पर फिर भी कर्त्ता से अभिन्न दीखने वाले, 'हेतु' की कारक रूप में तुलनात्मक चर्चा पहले की जाचुकी है। अधिक विस्तार में न जाकर इस संबंध में भर्तृहरि के निष्कर्षों को संक्षेप में देख लेना अधिक उचित रहेगा। ये निष्कर्ष निम्न हैं :

(क) मुख्य क्रिया की दृष्टि से अन्य सब कारकों का प्रयोजक कर्त्ता होता है। परन्तु उसी दृष्टि से उसका भी प्रयोजक 'हेतु' होता है।[1]

(ख) वस्तुत: वह कर्त्ता की ही एक स्थिति है। स्थितिविशेष में उसी का दूसरा नाम 'हेतु' है।[2]

(ग) 'हेतु' कर्त्ता की वह स्थिति है, जहां एक अन्य भी कर्त्ता उपस्थित होता है। 'कर्त्ता' की उपस्थिति में अन्य 'कर्त्ता' की सत्ता उसके प्रयोजक या 'हेतु' के रूप में ही होती है।[3]

(घ) इस प्रकार 'हेतु' का मुख्य आधार 'द्रव्य' पर है।[4]

(ङ) क्रिया की दृष्टि से 'करण' और 'हेतु' की सत्ता इसलिए समान है कि दोनों की विभक्ति एक है।[5]

(च) 'हेतु' कर्त्ता के अनुकूल या प्रतिकूल रहकर क्रिया या अर्थ का साधन करता है।[6]

(छ) यदि 'हेतु' को ही 'कर्त्ता' बना कर व्यक्त किया जाए, तब 'हेतुमत्' क्रिया का प्रयोग 'णिजन्त' होता है।[7] **'रामः अध्याययति पुत्रम्'** का अर्थ 'राम पुत्र को पढ़वाता है' होता है। राम, स्वयं पढ़ाने वाला न होकर, किसी अन्य को पढ़ाने में प्रवृत्त अथवा प्रेरित करता है। इस तरह वह पढ़ाने वाले अध्यापक का **प्रेरक है**। फिर भी, 'पढ़वाना' क्रिया का, क्रियासिद्धि की दृष्टि से, कर्त्ता वही है। वास्तव में 'हेतु' के अनुकूल ही यहां, सामान्य 'पढ़ाना' क्रिया, 'पढ़वाना' में रूपान्तरित हो गई है।

अत: यह भी प्रायोगिक स्थितिमात्र ही है।

---

१. वा० ३. ७. १२८, एवं पा० १. ४. ५५।
२. वा० ३. ७. १२५।
३. वा० ३. ७. २५।
४. वही।
५. वा० ३. ७. २६।
६. वा० ३. ७. २७।
७. पा० ३. १. २६।

५. सम्प्रदान

११.४६ भर्तृहरि के प्रतिबन्ध

'कर्म' को ईप्सिततम इसलिए कहा गया है कि वह 'कर्त्ता' को अभीष्टतम है, और क्रिया से निकटतम सम्बद्ध है। पर यह कर्म भी किसी अन्य की ओर उन्मुख या किसी अन्य के लिए अर्पित हो सकता है। कर्म के माध्यम से ईप्सित, या कर्म द्वारा ईप्सित, इस कारक को ही 'सम्प्रदान' कहा जाता है: '**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्**[1]।' भर्तृहरि इसके साथ कुछ अन्य प्रतिबन्ध भी जोड़ देते हैं। ये निम्न हैं:

(क) इसका संबंध कर्त्ता से छूटता नहीं है, या कर्त्ता इसकी उपस्थिति में भी महत्त्वहीन नहीं होता।

(ख) इसमें त्याग, उत्सर्ग या दान जैसी भावनाएं विद्यमान रहती हैं।

(ग) कर्म को ईप्सित यह इस रूप में रहता है कि या तो यह कर्म का प्रेरक होता है, या यह उसे अनुमति देने वाला होता है।[2]

११.४७ सम्प्रदान और दान

इन प्रतिबन्धों पर विचार करने से पहले कुछ अन्य सत्यों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। ग्रीक और लातीनी व्याकरण में इसी कारक को 'दातीव' या तत्सम नामों से कहा गया है। अंग्रेजी में यही 'डेटिव' कहा जाता है। पर इन सब का संबन्ध 'दा' धातु से है, जिसका अर्थ 'देना' है। आधुनिक इतालवी भाषा में इसके तुल्य धातु है—'दारे' (Dare)='देना'। यहां इस कथन का अभिप्राय यह नहीं हैं कि संस्कृत व्याकरण का प्रभाव ग्रीक आदि के व्याकरण पर, या इसके प्रतिलोम रूप में, बताया जाए। बल्कि इस कथन से उस तुलनात्मक दृष्टि को स्पष्ट करनामात्र अभिप्रेत है, जिसके अनुसार ये सभी व्याकरण 'सम्प्रदान' का सम्बद्ध 'देने' से मानते हैं। यह 'देना' तभी सम्भव है, जब कर्त्ता द्वारा स्वयं की जा रही क्रिया के प्राप्तकर्त्ता का उल्लेख अभीष्ट हो। फल पानेवाला व्यक्ति भी हो सकता है, या कोई 'क्रियार्थ क्रिया' भी हो सकती है। हम इस बात पर बाद में प्रकाश डालेंगे। पर यहां इतना तो स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में 'कर्त्ता' और 'सम्प्रदान' का सम्बन्ध रहता ही है। कम से कम कर्त्ता के 'निराकरण' की आवश्यकता उत्पन्न नहीं हो सकती। तभी कर्त्ता क्रिया द्वारा—

---

१. पा० १. ४. ३२।

२. वा० ३. ७. १२६।

कर्म के माध्यम से— सम्प्रदान तक (कर्मफल लेकर) पहुंचता है।

११.४८ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप

यहां पर आधुनिक वैयाकरणों की उस मूल धारणा पर पुनः ध्यान देना होगा, जिसके अनुसार 'कर्म' के दो रूप माने गए हैं: **प्रत्यक्ष या तात्कालिक और अप्रत्यक्ष या दूरतर।**[1] तात्कालिक कर्म को वे 'द्वितीया' विभक्ति(Accusative Case) का विषय और दूरतर कर्म को 'चतुर्थी' विभक्ति (Dative Case) या तदर्थ प्रेपोजिशनों का विषय मानते हैं। यह बात पूरी तरह समझनी आवश्यक है। पाणिनि ने 'कर्म' को कर्त्ता का ईप्सिततम कहा है, जबकि सम्प्रदान को वे **'कर्म के माध्यम से ईप्सितमात्र'** मानते हैं। पर, इनमें से एक का कर्त्ता से प्रत्यक्ष या तात्कालिक संबन्ध है, जबकि दूसरे का अप्रत्यक्ष और दूरतर है। अतः आधुनिक वैयाकरणों की कल्पना पाणिनीय कल्पना से बहुत भिन्न नहीं है।

११.४९ त्याग की भावना

भर्तृहरि ने सम्प्रदान को **'त्यागांग'** कहकर 'कर्म' से उसकी स्थिति भिन्न दिखाई है। उसे त्यागांग कहने का वास्तविक अभिप्राय यही है कि उस स्थिति को स्पष्ट किया जा सके, जिसमें 'कर्त्ता' द्वारा सम्पाद्यमान क्रिया न तो स्वतः उद्देश्य रहती है और न वह किसी विशिष्ट उद्देश्य से संबद्ध रहती है। यथा 'राम सोता है' और 'राम पुस्तक पढ़ता है' में से प्रथम में 'सोना' स्वयं उद्देश्य है; जबकि द्वितीय में 'पढ़ना' क्रिया 'पुस्तक' के साथ संबद्ध है, और इसीलिए वहां 'पुस्तक' उद्देश्य है। इसे हम 'कर्म' कहते हैं। पहले उदाहरणों में क्रियापद का अस्तित्व 'कर्म' को स्वयं में अन्तर्हित किए हुए है। दूसरे में, 'कर्म' की सत्ता क्रियापद से स्वतंत्र और उस से संवद्ध है। पहली स्थिति को हम **अकर्मक** और दूसरी को **सकर्मक** कह कर अभिहित करते हैं।

११.५० दोनों में अन्तर

पर इन दोनों उदाहरणों में स्पष्ट है कि 'कर्त्ता' स्वयं क्रिया में रत है, और उसे स्वयं फलप्राप्ति के लिए पूरा श्रम और योगदान करना पड़ रहा है। किन्तु 'सम्प्रदान' के आते ही स्थिति भिन्न हो जाती है। 'राम ब्राह्मणों को अन्न देता है' में 'दान क्रिया' स्वतः अभिहित है। यहां अन्तर यह है कि 'देने' का

---

१. इसी अध्याय का अनुच्छेद ११. २०।

तात्कालिक संबन्ध 'अन्न' से है, क्योंकि वह दिया जा रहा है। 'ब्राह्मणों को देता है' का अर्थ यह नहीं है कि 'ब्राह्मण दिए जा रहे हैं।' कर्म की एक पहचान भाववाचक प्रयोग द्वारा भी हो जाती है। कर्त्ता का स्थान या उसके प्रत्यय-चिह्न 'कर्म' ग्रहण कर लेता है, 'सम्प्रदान' नहीं। यहां स्थिति उल्टी है : 'राम' दे रहा है, 'अन्न' दिया जा रहा है, और 'ब्राह्मण' को उपलब्धि हो रही है। अर्थात्, राम द्वारा अन्नदान 'त्याग' की क्रिया है। इसके द्वारा ब्राह्मण को उपलब्धि हो रही है। इस प्रकार राम द्वारा की जाने वाली क्रिया की पूर्ण निष्पत्ति में योगदान तो ब्राह्मणों का भी है हीं, और राम ही उनके इस योगदान का आधार भी है। इस पर भी न तो 'दान' क्रिया में ब्राह्मणों का कोई भाग है, और न राम से उनका प्रत्यक्ष संबन्ध है। वे तो अन्न को ग्रहण करने वाले या उसके पात्र हैं। इस प्रकार उनका सम्बन्ध कथित या अकथित 'कर्म' (अन्नादि) के माध्यम से ही हो सकता है। फिर यह सम्बन्ध चाहे क्रिया से हो, या कर्त्ता से। 'कर्त्ता के त्यागांग' का अभिप्राय यहां यही है कि वह जिस क्रिया का सम्पादन करता है, उसका उद्देश्य गन्तव्य या प्राप्ति की दृष्टि से कोई अन्य वस्तु या व्यक्ति हो जाता है। एक का 'त्याग' दूसरे की 'प्राप्ति' का कारण बनता है। 'त्याग' और 'प्राप्ति' यहां एक दूसरे के पूरक हो उठते हैं[1]।

११.५१ प्रेरणा और अनुमति

'कर्म' सामान्य कर्त्ता का 'ईप्सिततम' और 'क्रिया' से 'निकटतम सम्बद्ध' माना गया है। किन्तु उसके भाव या अभाव में जब कोई क्रिया किसी विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित या अनुमत होकर सम्पन्न होती है, या होने लगती है, तब भी प्रेरणा और अनुमति के उस स्रोत, अथवा उस विशिष्ट उद्देश्य, को **सम्प्रदान** कहते हैं। 'सम्प्रदान' की यह स्थिति 'तुमुन्नर्थक' या 'क्रियार्थक' रूप में होती है। 'तुमुन्' का उद्देश्य या प्रेरणास्रोत यत्न के रूप में ही होता है। 'वह उत्तीर्ण होने के लिए यत्न करता है' में 'उत्तीर्ण होना' लक्ष्य है, जो यत्न करने की प्रेरणा देता है। यही बात अनुमति के विषय में भी हो सकती है। वस्तुतः पाणिनि इसे ही 'क्रियार्था क्रिया' की स्थिति मानते हैं : **'तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'**।[2]

क्रियार्था क्रिया से मिलती-जुलती स्थिति वहां भी उत्पन्न होती है, जहां दो या अधिक क्रियाएं विद्यमान हों, और उनमें से परवर्त्ती क्रिया पूर्वतर क्रिया के प्रति प्रवृत्त हो।[3] वस्तुतः प्रेरणा न होने पर भी स्थिति तत्सम ही है।

---

१. वा० ३. ७. १३५।
२. पा० ३. ३. १०।
३. वा० ३. ७. १३१ (क)।

११.५२ कर्म भी सम्प्रदान

पाणिनि ने कुछ सूत्रों के द्वारा यह बात स्पष्ट की है कि सामान्यतः जहां कर्म का प्रयोग होना चाहिए, वहां भी जन-प्रयोग सम्प्रदान को ही मान्यता देता है।[1] कुछ सूत्रों के द्वारा उन्होंने इससे उल्टी स्थिति की भी चर्चा की है।[2] भर्तृ-हरि इन स्थितियों का वैज्ञानिक विवेचन करते हैं। उनका यह विवेचन वास्त-विकता और जन-प्रवृत्ति दोनों का ध्यान रखकर हुआ है। इस सारे विवेचन का सार इस प्रकार दिया जा सकता है[3] :

(क) कर्म और सम्प्रदान के बीच अनेकत्र विभेदक रेखा खींच पाना असम्भव है।

(ख) तुमुन्नर्थक के साथ कर्म सदा स्वरूप में ही स्थिर रहता है, भले ही वह दृश्य हो या अदृश्य।

(ग) कर्म में चतुर्थी विभक्ति के प्रयोगमात्र से ही 'सम्प्रदान' नहीं बन जाता; वह तब भी 'कर्म' रहता है।

(घ) दोनों संज्ञाएं इतनी उलझी हुई नहीं हैं कि उन्हें एक-दूसरे का स्थानीय कहा जा सके।

(ङ) सम्प्रदान का प्रयोग शेष सम्बन्ध में, या षष्ठी का प्रयोग सम्प्रदाना-धिकार में, व्यतिकीर्ण मिलता है। अर्थात् यह भी 'कर्म' की भांति अन्य पूर्वक हो जाता है।

ये स्थितियां विश्व भाषाओं में समान रूप से भले ही न मिलें, पर इनसे यह सत्य तो सिद्ध हो ही जाता है कि 'सम्प्रदान' को भी वक्ता की इच्छा पर आधारित कारक ही माना जा सकता है। वक्ता चाहे तो एक ही से दीखने वाले दो भिन्न प्रयोग कर सकता है, जो भावना में एक होकर भी सूक्ष्मता में एक-दूसरे से भिन्न सिद्ध किए जा सकते हैं।

६. अपादान

११.५३ परिभाषा

पाणिनि ने 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' कहा है।[4] वे 'अपादान' का वास्तविक आधार मानते हैं 'अपाय' को। 'अपाय' का अर्थ विघ्न और विनाश भी हो सकता है। किन्तु, अप+अय के रूप में 'अपाय' का शाब्दिक अर्थ दूरगमन या

१. पा० १. ४. ३२ से ३६, ४४।
२. पा० १. ४. ३७ से ४१।
३. वा० ३. ७. १३० से १३५।
४. पा० १. ४. २४।

दूरीभाव सिद्ध होता है। इसे हम 'विश्लेष' भी कह सकते हैं। 'उपाय' इससे विपरीत स्थिति है। उसमें 'सहभाव' और 'निकटता' की बात रहती है। इस 'अपाय' में विलगाव और दूरी का भाव प्रधान रहता है।

'ध्रुवम्' को लेकर बहुत खींचतान हुई है। भर्तृहरि को भी इसका औचित्य सिद्ध करने में पर्याप्त श्रम करना पड़ा है[1]। यदि पाणिनि की परिभाषाओं की पद्धति पर चलकर इस सूत्र का विच्छेद किया जाए, तब इसका स्वरूप इस प्रकार ठहरता है: **'अपाये अपादानं ध्रुवम्'**। अर्थात्, 'अपाय' की स्थिति होने पर अपादान कारक का प्रयोग निश्चित और स्थिर है। प्रश्न है 'अपाय किसका किससे ?' इस तथा अन्य कई प्रश्नों का मूल परिभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्हीं दो वस्तुओं में परस्पर दूरी या विश्लेष का भाव वक्तव्य बनते ही 'अपादान' निश्चित रूप से प्रयोज्य बन जाता है।

संस्कृत के आंग्ल वैयाकरणों ने इसे 'एब्लेटिव्' नाम से पुकारा है। वहां भी पृथक्ता और विलगाव के इसी सत्य का आश्रय उन्होंने लिया है। वस्तुतः यूरोपीय भाषाओं में षष्ठी और पंचमी विभक्ति का रूप हर तरह से एक ही है। मूलत: संस्कृत प्रत्ययों में भी 'अस्' (ङसि, ङस्) के रूप में ऐसा ही माना गया है। पर फिर भी बहुवचनादि में वहां भेद स्पष्ट है। यूरोपीय भाषाओं में तो इन दोनों का रूप ही एक मान लिया गया है। 'जेनिटिव' (genitive) के रूप में वहां एक ही कारक का प्रयोग, कम से कम एक ही विभक्ति के रूप में, अवश्य ही किया जाता है। हिन्दी में यह स्थिति तृतीया और पंचमी विभक्तियों, अथवा करण और अपादान कारकों, के बीच दिखाई देती है। अंग्रेज़ी में दूरी का भाव 'फ्रॉम' (from) जैसे निपात के प्रयोग से पूरी तरह व्यक्त हो जाता है। हिन्दी में 'दूरी' का यह बोध, शब्दाश्रित न होकर भावनाश्रित है। अत: आवश्यक बात 'दूरी का बोध' है, अन्य कुछ नहीं।

११.५४ तीन भेद

भर्तृहरि ने इस अपादान की तीन प्रयोग-स्थितियों का उल्लेख किया है[2]। सबसे मुख्य भेद या प्रधान स्थिति वे उस प्रयोग को मानते हैं, जो पाणिनीय परिभाषा के मूल अर्थ में सही रूप में व्यवहृत हुआ है। इसे वे 'निर्दिष्टविषय अपादान' नाम देते हैं। इसी का उदाहरण 'महाभाष्य' में **'वृक्षात् पर्णं पतति'** के रूप में दिया गया है। दूसरी स्थिति को वे 'उपात्तविषय अपादान' कहते हैं। पंचम्यन्त प्रयुक्त वस्तु से दूर होने वाली वस्तु का उल्लेख न होने की बात यहां

१. वा० ३. ७. १३७-६। २. वा० ३. ७. १३६।

उतनी प्रधान नहीं है, जितनी कि इस प्रयोग से भ्रम होने की आशंका मुख्य है। 'महाभाष्य' में एक उदाहरण दिया गया है : '**बलाहकात् विद्योतते**'। यदि हम इसे अधिक स्पष्ट करके कहें, तो यह होगा : '**बलाहकात् विद्योतते विद्युत्**'। बात तब भी उतनी स्पष्ट नहीं हुई। 'क्रिया' का सम्बन्ध अपादानयुक्त द्रव्य से सिद्ध नहीं होता। '**वृक्षात् पर्ण पतति**' में 'पतन' में 'पर्ण' का भाग स्पष्ट है। किन्तु '**विद्योतते**' का वैसा ही सम्बन्ध 'बलाहकात्' से नहीं है। 'पर्ण' वृक्ष का दृश्यमान स्पष्ट अंग है। अलग होकर ही वह 'गिरता' है। पर चमकती हुई बिजली स्वतः बादलों के अन्दर रहकर चमकती दिखाई देती है। अतः वहां सामान्यतः '**अधि-करण**' जैसी स्थिति उचित प्रतीत होती है। पर वैज्ञानिक सत्य यह भी है कि बादल के उपादानों में अथवा उसी में अन्तर्हित शक्ति के रूप में बिजली भी एक घटक या अंग बनकर उपस्थित है। जब वह चमकती है, तब वह आविर्भूत होकर ही सामने आती है। इस क्रिया में उसका बादलों में से निकलना या प्रकट होना अनिवार्य है। अतः वास्तविक प्रयोग '**बलाहकात् विद्युत् विद्योतते**' न होकर '**बलाहकात् निःसृत्य विद्युत् विद्योतते**' होना चाहिए। अतः सत्य यह है कि '**बलाहकात्**' में पंचमी या अपादान का योग इसी लुप्तपद 'निःसृत्य' के कारण आया है, न कि किसी अन्य कारण। अब इस 'निःसृत्य' का प्रत्यक्ष प्रयोग न होने के कारण, इस प्रकार के अपादान-प्रयोग को 'अनुमानाश्रित' अथवा 'उपात्तविषय' कहा जाएगा। यह नया नाम इसलिए सार्थक है, क्योंकि यहां शब्द के अविद्यमान होने पर भी उसका विषय विचार का आधार बना है। उसी पर यह प्रयोग टिका है। प्रयोगवेला में अभीष्ट क्रिया मुख्य क्रिया से भिन्न और अप्रयुक्त रही है। यदि यहां वह प्रयुक्त होती, तब इसे, 'उपात्तविषय' न कहकर, 'निर्दिष्टविषय' कहना ही उचित एवं न्याय्य ठहरता।

तीसरा भेद इन दोनों से भिन्न प्रकृति का है। उसमें दो बातें हो सकती हैं : **तुलना** और **क्रियाप्रयोग** की अपेक्षा। इस भेद का उदाहरण महाभाष्य में '**मथुरा पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतरा**' के रूप में दिया गया है[1]। इसमें क्रिया-प्रयोग तो अपेक्षित है ही, पर तुलना भी स्पष्टतर है। इसे 'क्रियाहीन प्रयोग' कहकर पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। अंग्रेज़ी में इसे 'दैन्' (अपेक्षा) से प्रकट किया जाता है। तुलना में एक वस्तु 'हीन' और दूसरी 'अधिक' होती है। दोनों की यह भिन्नता या विलगाव ही तर-तम-भाव द्वारा व्यक्त किया जाता है। अतः इसे भी 'अपादान' में ही ग्रहण करना, एवं अन्य उक्त दोनों भेदों से इस भेद की

---

१. इन उदाहरणों के लिए देखें, म० १. ४. ३. २४ और वा० ३. ७. १४३, १४४।

पृथक्ता मानना, अनिवार्य ही है। भर्तृहरि के शब्दों में :

> **निर्दिष्टविषयं किंचिद् उपात्तविषयं तथा।**
> **अपेक्षितक्रियं चेति, त्रिधाऽपादानमुच्यते** ।। वा० ३.७.१३६ ।।

अर्थात्, ये तीन भेद हैं : **निर्दिष्ट-विषय, उपात्त-विषय,** और **अपेक्षित-क्रिय।**

११.५५ अवधि और ध्रुवत्व

अलगाव की इस भावना के लिए 'दिक्' और 'काल' प्रकरणों में उल्लिखित **'अवधि'** की मान्यता और अनुभूति आवश्यक और अनिवार्य हो जाती है। प्रश्न यह है कि 'अपादान' के प्रसंग में 'अवधि' किसे माना जाए ? दूरी की भावना आते ही 'दो पदार्थों' की तुलनात्मक उपस्थिति आवश्यक हो जाती है, भले ही वे वर्णित हों या न हों। जब किसी क्रिया के साथ दो द्रव्यों का सम्बन्ध दीखता है, पर उनमें से एक उससे प्रत्यक्ष सम्बद्ध है, तब स्वभावत: दूसरे द्रव्य से ही उसके 'अपाय' आदि का प्रश्न उठ सकता है। अत: ऐसे प्रसंगों में 'अवधि' दूसरे द्रव्य को ही कहेंगे, और उसी में **'अपादान'** की स्थिति स्वीकार करेंगे। **'वृक्षात्पतति पत्रम्'** में 'गिरना' क्रिया में 'पत्ता' भाग ले रहा है, वृक्ष नहीं ! वहां से अलग होकर, या उसकी उपस्थिति में, कोई वस्तु गिर अवश्य रही है। वह वृक्ष उस दूसरी वस्तु की अपेक्षा स्थिर भी है। अत: उसे ही 'अवधि' स्वीकार किया गया है। यही बात **'ग्रामादागत:, अश्वात्पतित:'**, आदि में भी देखी जा सकती है।[1]

ऐसे उदाहरणों से ही यह भ्रम हो जाता है कि कदाचित् अवधिकर वस्तु का 'स्थिर' और 'अविचलित' होना अनिवार्य है। ऐसी शंका करने वाले 'ध्रुव' का अर्थ 'कूटस्थ और अविचाली' करते हैं।[2] उनकी दृष्टि में 'ध्रुव' का अर्थ 'निश्चित' नहीं हो सकता। इसीलिए शंका करने वाले उनके सम्मुख **'धावतोऽश्वात् पतति'** जैसे उदाहरण देकर 'ध्रुव' को 'जड़' या 'गतिहीन' कहने का औचित्य पूछना चाहते हैं। वास्तव में समस्या **गतिमयता** और **गतिहीनता** की नहीं है। जिसे हम 'गमन' कहते हैं, वही दूसरे अर्थ में 'भ्रमण' (आवर्त्तन) का भाव वहन करता है। 'अवधि' भी एक प्रसंग में गतिहीन हो सकती है, दूसरे में गतिशील। **'अश्वात्पतति'** और **'धावतोऽश्वात्पतति'** में यही अन्तर है। वास्तविकता यह है कि अवधि की निश्चितता ही अपादान की आवश्यक शर्त है। यह

---

१. महा०, १. ४. ३. २४। २. वही।

निश्चितता ही 'ध्रुवता' कहलाती है। यदि 'ध्रुव' का अर्थ गतिहीन मान भी लिया जाए, तब भी यह परिभाषा सापेक्षिक रूप में सत्य ही सिद्ध होगी।

प्रयोग चाहे **'अश्वात्पतति'** हो या **'धावतोऽश्वात्पतति'**, दोनों अवस्थाओं में 'पतति' का प्रभाव 'अश्व' पर सीधा नहीं पड़ता। हां, गिरने वाला अवश्य अश्व से अलग होकर नीचे गिर रहा है। अतः जहां तक गिरना क्रिया का सम्बन्ध है, अश्व चाहे गतिशील हो या गतिहीन, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। गिरने वाले व्यक्ति या द्रव्य की तुलना में वह स्थिर, निश्चित और क्रियाहीन ही है। उसका प्रधान क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए भर्तृहरि इस परिणाम पर पहुंचे हैं: "जिस प्रकार स्थिति और संयोगी के भेद से 'गमन' ही 'भ्रमण' (आवर्त्तन) बन जाता है, उसी प्रकार 'अवधि' के अर्थ में 'गतिहीन' और 'गतिशील' का भेद भी मिट जाता है। जिसे हम सामान्यतः 'ध्रुव' या 'अध्रुव' का अन्तर मानते हैं, वहां पर वह अन्तर समाप्त होकर 'ध्रुवता' ही शेष रहती है।[1] पाणिनि ने द्रव्य को 'ध्रुव' नहीं कहा है। 'ध्रुव' कहने का उनका प्रयोजन 'अपाय' के रूप में होने वाली क्रिया या स्थिति की ध्रुवता' से है। अर्थात्, द्रव्य का गतिहीन होना आवश्यक एवं वांछनीय नहीं है। स्वयं 'अपाय' का 'ध्रुव' होना, 'अपादान' की दृष्टि से, अनिवार्य शर्त है।"[2]

११.५६ एकांगिता : विशिष्ट स्थितियां

इस ध्रुवता की भी कई विशिष्ट स्थितियां हो सकती हैं। सबसे पहले यह देख लेना उचित है कि जहां प्रत्यक्षतः एकांगी क्रिया का प्रयोग होने पर भी 'अपाय' का विषय स्वयं चलायमान या धावमान है, वहां 'ध्रुवता' किस अर्थ में ग्रहण की जाए? **'धावतोऽश्वात्पतति देवदत्तः'** में अश्व दौड़ रहा है। उसकी तुलना में उसपर बैठा देवदत्त स्थिर है। परन्तु यहां 'दौड़ना' न तो क्रिया-रूप में वर्णित है, न वैसा अभीष्ट ही है। यहां क्रिया है **'पतति'**। इस क्रिया की दृष्टि से गतिमान् है **देवदत्त**; जबकि अश्व का 'गिरना' क्रिया में कोई भाग नहीं है। हां, वह **अवधि** बनकर अवश्य स्थित है, क्योंकि उस पर बैठा हुआ देवदत्त ही गिर रहा है। इस प्रकार वह उससे अलग या दूर हो रहा है। अतः गिरना क्रिया की दृष्टि से 'देवदत्त' की अपेक्षा, दौड़ता होने पर भी, 'घोड़ा' स्थिर है; क्योंकि देवदत्त तो गिर रहा है। और यह कथन अभीष्ट भी है,—अब चाहे घोड़ा वहां खड़ा रहे या दौड़ जाए, देवदत्त 'गिरना' क्रिया के कारण घोड़े

१. वा० ३. ७. १३७।
२. वा० ३. ७. १३८।

से अलग हो गया है। यही यहां प्रधान वक्तव्य है। अतः देवदत्त के गिरने की क्रिया में घोड़े की चंचलता या उसकी ध्रुवता से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ने वाला। पर, फिर भी, क्योंकि देवदत्त घोड़े से अब अलग होकर आ रहा है, अतः घोड़ा 'स्थिर अवधि' या 'ध्रुव अवधि' ही माना जाना चाहिए।

इसलिए यह पहली स्थिति **एकांगी क्रिया** की स्थिति कहला सकती है। इसमें एक ही द्रव्य मुख्य क्रिया का साधक या कर्त्ता होता है। उस क्रिया की दृष्टि से दूसरा अवयव या द्रव्य 'निष्क्रिय' या 'तटस्थ' होता है।

११.५७ उभयांगिता

इससे भिन्न स्थिति है : **'मेषान्मेषोऽपसर्पति'** में ! प्रथम आभास में ऐसा प्रतीत होता है कि एक मेष स्थिर या अचल खड़ा है, और दूसरा दूर भागता जा रहा है। पर, वास्तविकता यह है कि दोनों ही मेष एक-दूसरे से परे हट रहे हैं। इससे भिन्न स्थिति एक और है : **'मेषौ अपसर्पतः'** में ! यहाँ यह प्रतीत होता है कि पहली स्थिति से अभिन्न रूप में ही दोनों मेष एक दूसरे से परे हटते जा रहे हैं। पर, इन दोनों में अन्तर है। पहली स्थिति में कर्त्ता एकवचनान्त है, और एक है। भ्रम का भी यही कारण है। वहां दोनों मेषों के एक-दूसरे से परे हटने पर भी एक को अवधि और एक को कर्त्ता स्वीकार किया गया है। 'अवधि'-रूप मेष 'ध्रुव' या 'अचल' नहीं है; वह भी चल ही रहा है। पर, वह उन दोनों में से कौनसा है, यह बात अभी स्थिर या निश्चित नहीं है। दोनों में से कोई एक 'अवधि' रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जिसे ही हम अवधि स्वीकार करेंगे, वही अपादान के द्वारा स्वीकृत होगा, क्योंकि उससे ही 'अपाय' की सम्भावना होगी। फिर चाहे अवधि रूप में स्वीकृत यह मेष स्वतः भी अपसर्पण क्रिया में रत हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब दोनों मेष एक-दूसरे से परे हट रहे होते हैं, तब 'दोनों हट रहे हैं' कहने की अपेक्षा 'एक दूसरे से दूर हट रहा है' कहना अधिक उचित रहता है।

इसका कारण है। जब हम 'दोनों हट रहे हैं' या **'मेषौ अपसर्पतः'** कहते हैं, तब दोनों भागीदारों की क्रिया एकसाथ और एक ही या विरोधी दिशा में घटित होती प्रतीत होती है। जब तक किसी अवधि का उल्लेख न हो, दोनों के हटने की निश्चित दिशा का सही अनुमान नहीं हो सकता। **'पर्वतान्मेषौ अपसर्पतः'** में वे दोनों पर्वत से दूरतर हटते जा रहे हैं। वस्तुतः वहां दो कर्त्ता और दो क्रियाएं हैं। कर्त्ता भी सजातीय है, क्रिया भी एक सी है; साथ ही वह घट भी साथ-साथ ही, अर्थात् समकाल और समस्थान पर ही, रही है। वे दोनों हटकर

एक वस्तु से ही दूर जा रहे हैं। इस प्रकार 'अपाय' एक अवधि से है। इसके अतिरिक्त इनके दिक्काल एक हैं, क्रिया एक है, और जाति भी एक है। जब ऐसा है, तब कर्त्ता और क्रिया को द्विवचन में प्रयोग करते ही दोनों मेषों की क्रियाओं का एकत्र समन्वय हो गया।

स्पष्ट है कि इस उदाहरण में अवधि 'पर्वत' या अन्य कोई ऐसी वस्तु है, मेष नहीं। इसीलिए दोनों मेषों को एक वर्ग में रखते हुए कठिनाई नहीं हुई। पर, पहले उदाहरण में उन दोनों मेषों के अतिरिक्त कोई तीसरी वस्तु अवधि रूप में न थी। इसीलिए वहां प्रश्न था 'हटना किससे ?' इसका उत्तर भी तभी मिल सकता है, जब दोनों द्रव्यों—मेषों—में से किसी एक को अवधि मानकर बढ़ा जाए। यह अवधि उन दोनों में से कोई भी बन सकता है। जो भी अवधि माना जाएगा, दूसरा मेष उससे ही दूर हटता स्वीकार किया जाएगा। और, जब एक मेष दूसरे मेष से दूर हट रहा है, तब भले ही दोनों 'चल' या 'हिल' रहे हों, गति की दृष्टि से उनमें से एक ही 'हटना' क्रिया का कर्त्ता कहा जाएगा। पर 'पर्वत' वाले उदाहरण में अवधि क्योंकि हटने वालों से भिन्न होकर स्थित है, इसलिए वहां दोनों ही मेष कर्त्ता हैं। उनकी क्रिया, एक ही होने के कारण, एक ही शब्द से व्यक्त हुई है। किन्तु, 'द्विवचन' का योग उस शब्द को दो द्रव्यों से सम्बद्ध दो क्रियाओं का प्रतिनिधि बना देता है।

इस तरह एक से दीखने पर भी ये दोनों उदाहरण दो स्थितियों को स्पष्ट करते हैं: एक में क्रिया उभयात्मक होने पर भी एक से सम्बद्ध मानी जाती है, क्योंकि 'अवधि' उक्त दोनों में से ही एक को मान लिया जाता है[1]। और दूसरे में, क्रिया है ही उभयात्मक प्रयुक्त; क्योंकि यहां अवधि स्पष्टतः इन दोनों कर्त्ताओं से भिन्न और दूर की वस्तु है[2]। इनमें से पहले को **एकक्रिय उभयांगिता** और दूसरे को **द्विक्रिय उभयांगिता** कह सकते हैं।

११.५८ अवधि और अपाय

'यदि अवधि का कथन न हो, या ऐसा अभीष्ट न हो, तब 'अपाय' भी सम्भव नहीं होता[3]'—भर्तृहरि का यह कथन आपाततः कुछ अटपटा सा लगता है। पर है यह बात एकदम सटीक। भर्तृहरि इसे तीन उदाहरणों के द्वारा समझाते हैं। यहां यह अवधेय होगा कि एक से प्रतीत होनेवाले कथन भी सूक्ष्म विचार

---

१. वा० ३. ७. १४०, १४१।

२. वा० ३. ७. १४२।

३. वा० ३. ७. १४३।

के प्रसंग में कितने महत्त्वपूर्ण और कितने सान्तर हो जाते हैं!

११.५८.१ प्रथम उदाहरण

'वृक्षात् पर्णं पतति' और 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में यदि शुद्धाशुद्ध या औचित्यविवेचन का प्रश्न उठे, तब संस्कृत के अधिकांश अभ्यासी प्रथम प्रयोग को 'उचित' और दूसरे को 'अनुचित' ठहराएंगे। किन्तु कुछ ऐसे भी होंगे, जो इन्हें 'व्यामिश्र प्रयोग' या 'अन्यपूर्वक' की कोटि में डालकर एकार्थक ही सिद्ध करना चाहेंगे। परन्तु, सत्य यह है कि इन दोनों का अर्थ और अभिधेय एक-दूसरे से नितान्त भिन्न है। पहले प्रयोग का अर्थ है 'वृक्ष से पत्ता गिर रहा है', जबकि दूसरे का अर्थ है 'वृक्ष का पत्ता गिर रहा है'। इनमें से प्रथम का उद्देश्य वह स्थान या अवधि बताना है, जहाँ से पत्ता गिर रहा है। दूसरे का उद्देश्य यह बताना है कि पत्ते का वृक्ष से क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार प्रथम उदाहरण 'अवधि-सूचन' के लिए दिया गया है, जबकि दूसरे का प्रयोग 'सम्बन्ध-कथन' के लिये हुआ है। यही कारण है, उन दोनों की कारकभिन्नता और विभक्ति-भिन्नता का[1]।

११.५९ अवधि : द्वितीय उदाहरण

'बलाहकात् विद्योतते', 'बलाहके विद्योतते' और 'बलाहको विद्योतते' में मूलार्थ एक ही है—'बिजली चमक रही है'। परन्तु पहले प्रयोग में इसमें 'अपादान' द्वारा, दूसरे में 'अधिकरण' द्वारा, और तीसरे में 'कर्त्ता' की स्थिति द्वारा एक ही भावना को अभिव्यक्ति दी गई है। इनमें से प्रथम' और द्वितीय द्वारा 'बादल' और 'विद्युत्' का परस्पर सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। तीसरे प्रयोग में, प्रथम दोनों प्रयोगों में स्थित मूल अंगांगिभाव मिटाकर, 'अंगी' को ही 'अंग' का स्थान दे दिया गया है। प्रश्न श्रोता पर प्रभाव का है: श्रोता इसे किस रूप में ग्रहण करता है? जब हम 'अपादान' का प्रयोग 'बलाहक' के लिए करते हैं, तब विद्युत् को बादल से पृथक् कहना ही हमें अभीष्ट नहीं होता, बल्कि बादल से उसका दूर हटकर चमकना अथवा उसकी चमक को बादल से दूर होकर आभासित होते बताना भी अभीष्ट होता है। स्पष्ट है कि यहां अंगांगिभाव होते हुए भी 'अंग' की 'अंगी' से दूरी या अपाय बताना अभीष्ट है। अतः बादल 'अवधि' हैं, और इसलिए 'अपाय' के विषय हैं। पंचमी के प्रयोग का यही रहस्य है।

---

१. वा० ३. ७. १४२।

'बलाहके विद्योतते' में दूरी या 'अपाय' बताना बिल्कुल अभीष्ट नहीं है। बल्कि यहाँ तो विद्युत् को बादलों के बीच ही चमकता हुआ बताया गया है। बादल और बिजली का 'अंगांगिभाव सम्बन्ध' होने पर भी यहाँ उनका 'आधाराधेय सम्बन्ध' बताना ही अभीष्ट है। प्रथम कथन दोनों तत्त्वों की पृथक्ता और भिन्नता पर बल देता था, जबकि इस कथन में दोनों की सह-स्थिति, या केवल स्थितिमात्र, की चर्चा की गई है। 'आधाराधेय' के द्वारा **भिन्नता** की भावना किसी सीमा तक यहां भी अभिप्रेत है।

किन्तु तीसरा प्रयोग इन दोनों भिन्नतासूचक प्रयोगों से भिन्न है। इसमें 'विद्युत्' और 'बादल' को एक ही समझकर केवल 'बादल' को चमकता बताया गया है। यह प्रयोग उनकी 'अभिन्नता' की प्रच्छन्न भावना या स्वीकृति पर आधारित है। इसमें **भिन्नता, आधार,** या **अवधि** में से किसी का भी कथन अभीष्ट नहीं है। इसकी अपेक्षा यहां उन दोनों की सहवर्त्तिता या **अभिन्नता** का कथन ही अभीष्ट है। वास्तव में तीनों में, 'बिजली चमकती है' का समान अभिधान होने पर भी, 'बिजली' और 'बादल' के सम्बन्धों और बादल द्वारा चमकने की क्रिया में योगदान में बड़ा भारी अन्तर है। इसी कारण ये तीन प्रयोग-भेद सामने आते हैं।

इस सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है कि 'बादल' और 'बिजली' का तीन प्रकार का सम्बन्ध-वर्णन ही यदि उद्देश्य हो, तब बादल और बिजली के अपरिवर्त्तित रहने पर वह भी एक ही कारक द्वारा, या एक ही काल में, व्यक्त कर दिया जाना चाहिए। इसका उत्तर भर्तृहरि बहुत ही संक्षिप्त देते हैं: 'तीनों धर्म एकसाथ एक द्रव्य में रहने पर भी एक ही क्षण में अभिधेय नहीं कहे जा सकते। कम से कम उन्हें एक ही प्रयोग से सूचित नहीं किया जा सकता[1]'। और, यह बात सत्य है भी। तीन भिन्न कारक ही तीन भिन्न स्थितियों का कथन करने में समर्थ हो सकते हैं।

११.६० अवधि : तृतीय उदाहरण

तीसरा उदाहरण एक व्यामिश्र सी स्थिति का है। **'धनुषा विध्यति'** में 'धनुष' की स्थिति **'दण्डेन हतः'** में प्रयुक्त 'दण्डेन' प्रयोग की स्थिति से भिन्न है। वहां 'दण्ड' प्रत्यक्ष ही 'साधकतम' है। उसके बिना 'हतः' वाली बात पूरी हो ही नहीं सकती। 'दण्ड' स्वयं क्रिया का 'साधन' बनकर प्रयुक्त हो रहा है। इसके विपरीत यहां 'धनुष' स्वयं बींध नहीं रहा है। उसे 'साधन' या

---

१. वा० ३. ७, १४४।

'साधकतम' में से किसी भी रूप में नहीं कहा जा सकता। 'साधन' या 'साधकतम' का क्रिया-निष्पादन में योगदान ही आवश्यक नहीं होता, बल्कि उसका सह-अस्तित्व भी प्रायः अनिवार्य सा प्रतीत होता है। यहां 'बींधना' क्रिया को 'शर या बाण' सम्पादित करता है, 'धनुष' नहीं ! हां, धनुष से 'शर' अवश्य छोड़ा जाता है। इस दृष्टि से यहां 'अवधि' और 'अपाय' की बात महत्त्वपूर्ण हो जाती है। धनुष ही यहां 'अवधि' है : शर का 'अपाय' उससे ही होता है। अतः प्रत्यक्षतः 'धनुष' का प्रयोग **'अपादान'** कारक में ही होना चाहिए।

फिर भी जन प्रयोग में 'बन्दूक से मारा' जैसे प्रयोग 'करण' कारक के योग में दिखाई ही देते हैं। यद्यपि सत्य यह है कि 'मारने' का साधन 'बन्दूक' नहीं 'गोली' होती है। वस्तुतः 'शर' को 'धनुष' से नितान्त अलग किया भी नहीं जा सकता। जब तक धनुष की डोरी और धनुष स्वयं भाग नहीं लेते, शर में गति नहीं आ सकती। इसलिए शर की गति धनुष की गति के बिना असम्भव और अनस्तित्वमय हो जाती है। दोनों का अभिन्न सम्बन्ध होने से ही 'शरासन' आदि नाम 'धनुष' के पड़ते हैं। अतः बींधना क्रिया का सम्पादन जिस शर के द्वारा होता है, उसे प्रेरित करने या प्रवृत्त करने में धनुष ही उपकरण या 'करण' होता है। और फिर 'बींधना' क्रिया से यह कथन असंगत बैठता है कि 'बाण धनुष से अलग होकर बींधता है।' यहाँ मुख्य बात बींधने की है। इसे 'बाण' सम्पादित करता है या क्रियाशील धनुष ? सूक्ष्म विवेचन पर यह बात विविध उत्तर ला सकती है। पर, स्थूल रूप में ये दोनों वक्तव्य एक ही अभिप्राय के हैं। भाषा में प्रयोग इसी स्थूल दृष्टि के माध्यम से छनकर आते हैं।

११.६१ करण में अपादान

अतः ऐसे प्रयोगों में एक ही उत्तर तर्कसंगत ठहरता है : 'यहाँ करणत्व के भीतर ही 'अपाय' या 'अपादानत्व' छिपा हुआ है। दोनों की इस सहवर्त्तिता में यहां करण के द्वारा ही अपादान का भी अभिधान हो रहा है'।[1] भर्तृहरि इस वैज्ञानिक सत्य को कहने के बाद एक मूल सत्य की ओर फिर से ध्यान खींचते हैं : साधनभूता एक ही शक्ति विविध रूपों में स्थित रहती है। वस्तुतः वे तो सारी साधन-कल्पना का ही विवक्षा पर आधारित मानते हैं। यही कारण है कि वे 'करण' और 'अपादान' को—दोनों को—'निमित्त' के अन्तर्गत ही मानकर इन्हें दो विविधतामय संज्ञामात्र मानते हैं। 'शक्ति' एक होकर भी 'करण' और

---

१. वा० ३. ७. १४५।

'अपादान' के रूप में द्विधा-विभक्त होकर स्थित है।[1] एक ही शब्द में द्विधा प्रयोग एकत्र सम्भव नहीं है, न ही वांछित है। इस आधार पर **'धनुषः विध्यति' और 'धनुषा विध्यति'** में कोई अन्तर नहीं है। इससे भी आगे बढ़कर वे कहते हैं कि 'अपाय' की बात को हर जगह—अन्य अपादानसदृश प्रयोगों में भी—खींचतान कर सिद्ध करने का यत्न नहीं करना चाहिए। वस्तुतः वे अपादान के विषय न होने पर भी उस रूप में प्रयोग किये जाते हैं। अपादान के अन्तर्गत उनका ग्रहण या उल्लेख तो अबुधजनों को समझाने के लिए हुआ है।[2]

११.६२ निष्कर्ष

इस प्रकार अपादान कारक का प्रयोग भी मूलतः बुद्ध्याश्रित ही है। अवधि से अपाय (दूरगमन) की भावना मुख्य होते हुए भी इसका प्रयोग कुछ अन्य अर्थों में किया जाता है। पाणिनि ने ऐसी अर्थ-स्थितियों की चर्चा, संस्कृत-प्रयोगों की दृष्टि से, सात सूत्रों में की है[3]। निश्चय ही इन विशेष स्थितियों में 'अवधि' की भावना विद्यमान नहीं है। 'तुलना' भी उतनी अधिक नहीं है। फिर भी, इनमें **अपादान** का प्रयोग वैध रूप में प्रचलित है ही। वैचारिक रूप से इन प्रयोगों में से भी कुछ में 'अवधि' की कल्पना केवल कुछ अंशों तक ही तर्क-संगत ठहराई जा सकती है। 'दिक्' और 'काल' की दृष्टि से इस कारक को 'कर्म का विपर्यय' कहा जा सकता है। इसका अस्तित्व—वस्तुतः 'अवधि' का अस्तित्व (व्यवस्था के प्रसंग में)—दिक् और काल पर सर्वाधिक आश्रित कहा जा सकता है।[4] 'दिशा' पर आधारित विभाजन की बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है।

७. अधिकरण

११.६३ परिभाषा

पाणिनि ने 'अधिकरण' को 'आधार' का अपर पर्याय माना है।[5] वे इन प्रश्नों के विस्तार में नहीं गए कि 'आधार' किसका और कैसा ? महाभाष्यकार और वार्त्तिककार ने इस सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाओं का उत्तर देने का यत्न किया है। उन सब वक्तव्यों पर विचार करने पर कुछ बातें स्पष्ट होकर सामने आती हैं। **प्रथम** यह कि कारक का सारा प्रकरण ही क्रिया पर आधारित होता

---

१. वा० ३. ७. १४६।
२. वा० ३. ७. १४७।
३. पा० १. ४. २५ से ३१।
४. वा० ३. ६. ४; ३. ७. ४।
५. पा० १. ४. ४५।

है । अतः सर्वाधिक प्रमुख पद, वाक्य में, 'क्रिया' ही माना जाना चाहिए । तो क्या आधार 'क्रिया' को ही माना जाए, और उसे ही 'अधिकरण' कह दिया जाए ! **द्वितीय** यह कि कारकों में से ही यदि किसी कारक को अधिकरण कहना है, तब **कर्म** या **कर्त्ता** में से किसी एक को कहना चाहिए । कारण यह कि क्रिया या तो कर्त्ता में स्थित होती है, या वह कर्म पर आधारित होती है । उसका आधार इन दो पर ही होने से इन्हीं दोनों में से किसी एक को 'अधिकरण' संज्ञा प्राप्त होनी चाहिए ।[१] इस सबका विवेचन हेलाराज ने भी इन्हीं कारिकाओं की अपनी टीका में भली प्रकार किया है ।

भर्तृहरि इस सब से परिचित थे । इसीलिए वे ऐसी परिभाषा ढूंढना चाहते थे, जो सर्वथा निर्दोष हो । यही कारण है कि उन्होंने 'आधार' को व्यापकतम रूप देना चाहा । केवल क्रिया का आधार तो कर्त्ता या कर्म भी हो सकते हैं, किन्तु ऐसा आधार जो कर्त्ता और कर्म सहित क्रिया को धारण करे, उन दोनों से भिन्न कोई अन्य कारक ही हो सकता है । अतः भर्तृहरि ने उस 'आधार' को 'अधिकरण कारक' का नाम देना चाहा, जो कर्त्ता और कर्म सहित क्रिया का या उसके निष्पादन का **आधार** बन सके । इसे उन्होंने **'कर्तृकर्मव्यवहितम्'** के रूप में कहा है ।[२]

पर एक प्रतिबन्ध भी उन्होंने इस परिभाषा पर लगा दिया है : यह अधिकरण उक्त तीनों का **धारण**, प्रत्यक्ष या साक्षात् न करके, अप्रत्यक्ष या असाक्षात् रूपमें ही करता है । अर्थात्, धारण करने जैसी कोई शाब्दिक अनुकृति वहां होती नहीं दिखाई देती । प्रत्युत वहां आधार के अप्रत्यक्ष होने का अर्थ है क्रिया, कर्त्ता और कर्म को व्यवहारिक आधार-भूमि प्रदान करना । 'मन में विचार उठते हैं', 'ब्रह्म में मन स्थिर किया जाता है', इत्यादि प्रयोगों में मन, ब्रह्म आदि अदृश्य आधार भी स्वीकार किये ही जाते हैं ।

११.६४ कारक के रूप में

पर 'कारक' के रूप में अधिकरण की पृथक् सत्ता स्वीकार करने से पहले उसकी एक अनिवार्य योग्यता पर विचार करना अत्यावश्यक है । यह योग्यता है : 'क्रिया सिद्धि में सहायता अथवा योगदान' । 'आधार' का अर्थ ही है 'जो सारी प्रक्रिया को अपने अन्दर घटित होने का अवकाश देता है ।' यह अवकाश उसके एकांश द्वारा दिया जाता है या सम्पूर्ण संघ द्वारा, यह बात अधिक

---

१. वही, महा० १. ४. ४५ ।

२. वा० ३. ७. १४८ (अ) ।

विचार्य नहीं ठहरती। क्रियासिद्धि में इस आधार की प्रत्यक्ष सहायता किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं होती। पर क्योंकि 'आधार-स्थल' या 'अवकाश' के बिना कोई भी घटना घटित नहीं हो सकती अथवा सावकाश नहीं होती, अतः प्रत्यक्ष रूप में प्रधान क्रिया की पूर्ति में योगदान न देकर भी उसके सम्पादन का अवसर और अवकाश प्रदान करने के रूप में यह महत्त्वपूर्ण योगदान देता ही है। 'देवदत्त बैठा है' और 'देवदत्त चटाई पर बैठा है', अथवा 'देवदत्त सोता है' और 'देवदत्त शैया पर सोता है', में दोनों जगह दोनों अभिव्यक्तियों में परस्पर अन्तर है। 'बैठने' एवं 'चटाई पर बैठने' में तथा 'सोने' एवं 'शैया पर सोने' में देखने में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। पर, वास्तव में इनसे जो सूचना प्राप्त होती है, उसमें एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। 'सोने' या 'बैठने' से क्रिया की सामान्यतम स्थिति पता चलती है, जबकि 'चटाई पर' या 'शैया पर' कहते ही हमें उन्हीं क्रियाओं की एक विशिष्ट स्थिति की सूचना मिलती है। इस प्रकार क्रिया की विशिष्ट परिस्थिति या उसके परिवेश पर प्रकाश डालने में 'अधिकरण' या 'आधार' के कथन का विशेष प्रभाव पड़ता है। उससे क्रिया के सम्पादन में सहायता भले ही न मिले, सम्पादन की स्थिति या तत्सम्बन्धी सूचना में अन्तर अवश्य आ जाता है।

इस प्रकार पाणिनि के इस **'आधारोऽधिकरणम्'** (पा० १.४.४५) की व्याख्या भर्तृहरि इस रूप में करते हैं: 'कर्त्ता और कर्म से व्यवहित क्रिया को असाक्षात् या अप्रत्यक्ष धारण करने वाला, और साथ ही क्रियासिद्धि में योगदान देने वाला कारक व्याकरण में 'अधिकरण' कहा गया है (वा० ३.७.१४८)।'

११.६५ आधार : तीन वर्ग

भर्तृहरि वैज्ञानिक दृष्टि से 'आधार' को तीन वर्गों में विभक्त करते हैं: (१) **औपश्लेषिक** (२) **सामवायिक** और (३) **सांयोगिक**। उदाहरण के लिए वे **कट, तिल** और **आकाश,** को क्रमशः लेते हैं। प्रथम भेद—**कटे आस्ते**—का अर्थ यह नहीं कि बैठने वाला सारी चटाई पर बैठा है। एक व्यक्ति निश्चित नहीं कि सारी चटाई को घेर कर ही बैठे। उसका संयोग आंशिक ही होता है। इस आंशिक संयोग को ही **'उपश्लेष'** कहते हैं। इसलिए उस स्थिति को 'औपश्लेषिक आधार' की स्थिति कहेंगे, जिसमें श्लेष या संयोग केवल आंशिक ही हो।

---

१. वा० ३. ७. १४९।

इसका दूसरा भेद 'सामवायिक' है। 'तिलेषु तैलम्' के उदाहरण द्वारा इसे समझाया गया है। 'समवाय' उस संघटना को कहते हैं, जिसमें अवयव एक दूसरे से मिलकर एक आकार ग्रहण कर लेते हैं। तिल को 'तैल' से अलग करके तभी देखा जा सकता है, जब तिलों में से 'तैल' निकाल लिया जाए। पर तैलविहीन तिल को 'तिल' न कहकर 'खल' कहा जाता है। तेल की व्याप्ति के काल तक ही उसे 'तिल' कह सकते हैं। अतः 'तिल में तेल' का अर्थ है कि तिल की संरचना में तेल भी एक घटक है। इसे 'समवायी' घटक कहते हैं। यदि इस प्रकार की पूर्ण व्याप्ति वाला आधार हो, तो उसे 'सामवायिक' ही कहेंगे। 'समवाय' में स्थित आधार और आधेय की यह पृथक् पहचान, और साथ ही उनका एकत्व, इसकी निजी विशेषता है।

तीसरा भेद 'सांयोगिक' या 'संयोगाश्रित' कहा जा सकता है। '**आकाशे पतत्रिणः**' या 'आकाश में पंछी' को इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहां भी आकाश और पक्षी का आधाराधेय सम्बन्ध है। तब भी यह सत्य हे कि यह सम्बन्ध उक्त दोनों सम्बन्धों से सर्वथा भिन्न है। 'औपश्लेषिक' में 'देवदत्त' और 'चटाई' दो सर्वथा पृथक् वस्तुएं थीं, जो घटनावश ही पास-पास आ गई थीं। 'तिल और तैल' आपस में अविभाज्य हैं। पर इस उदाहरण में इन दोनों के बीच के और भिन्न सम्बन्ध की चर्चा है। उक्त दोनों सम्बन्ध परस्पर सर्वथा विपरीत थे : एक में भागीदारों का आपसी सम्बन्ध नहीं था, दूसरे में भागीदार सर्वथा अविच्छेद्य रूप में सम्बद्ध थे। पर, यहां आकाश और पक्षी परस्पर सम्बद्ध भी हैं और एक दूसरे से स्वतन्त्र भी। यह सम्बन्ध प्रथम सम्बन्ध की भांति ही एकांशी या एकदेशी है। 'सामवायिक' से समानता यहां इस रूप में है कि वहां 'तिलों में तैल' सर्वव्याप्त था, और यहां 'आकाश' सर्वव्याप्त है।

पर इतना होने पर भी सांयोगिक सम्बन्ध की भिन्नता उक्त दोनों से इस रूप में है : एकांशी होकर भी यह सम्बन्ध नित्य साहचर्य वाली दो वस्तुओं में है, एवं यहां 'आधार' सर्वव्याप्त है, 'आधेय' नहीं। अतः उक्त दोनों वर्गों से इस 'आधार' का वर्ग अलग ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार इस 'आधार' की परिभाषा कुछ इस प्रकार की जा सकती है : 'जहाँ संयोग एकदेशी होकर भी नैत्यिक हो एवं उसकी सीमा निश्चित न हो, और इस पर भी जहां समवाय जैसी एकता स्पष्ट न हो, वह आधार 'सांयोगिक' कहलाता है।' अंग्रेज़ी के **इन्**, **ऑन्**, **ऐट्**, आदि, हिन्दी के **में**, **पर**, आदि, एवं संस्कृत के **अधि**, **परि**, **उपरि**, आदि कर्मप्रवचनीय और निपात आधार की इसी स्थिति-भिन्नता को सूचित करते हैं। 'अधिकरण' में सप्तमी का प्रयोग तो अपने भीतर इन सब सम्भावनाओं को

छिपाए हुए ही है।

११.६५ भिन्नता के हेतु

आधारों की इस भिन्नता के हेतु भी भिन्न-भिन्न स्वीकार किए गए हैं।[1] 'समवायी आधार' का मुख्य हेतु भर्तृहरि 'अविनाश' को मानते हैं। 'तिलों में तैल' कहने का कारण यह बताना है कि तैल के तिलों से निकालते ही तिलोंकी सत्ता नहीं रहती। अत: तिलों के 'अविनाश' तक ही 'तिलों में तैल' का प्रयोग उचित हो सकता है। अतः सामवायिकता के साथ अविनाश की शर्त भी आवश्यक ही है। 'औपश्लेषिक आधार' का हेतु इससे भिन्न है। संयोग वहां पूर्ण नहीं होता, और न ही वह एक दूसरे से अटूट रूप में सम्बद्ध होता है। तैल के बिना तिल की सत्ता नहीं, पर चटाई के बिना भी देवदत्त देखा जा सकता है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि चटाई, शैया, आदि आधार बैठने, सोने, आदि क्रिया के अविच्छेद और आधेय की स्थायिता में सहायक होते हैं। भर्तृहरि इस प्रकार के आधार का वैज्ञानिक महत्त्व यह बताते हैं कि 'वह वस्तु के गुरुत्व (भारीपन) में प्रतिबन्ध लगाकर उस वस्तु को 'गिरने' आदि से बचा लेता है'। इसके साथ ही, वे यह सत्य भी घोषित करते हैं कि 'इस सब कार्य में 'आधार' स्वतन्त्र रहता है; उसे इस बात के लिए कर्त्ता आदि पर आश्रित नहीं रहना पड़ता'। यही है उनका : **'गुरुत्वस्य प्रतिबन्धे स्वतन्त्रता** (वा० ३.७.१५०)।'

तीसरा आधार 'सांयोगिक' माना गया है। 'आकाश' या 'काल' इसके उदाहरण हैं। इसमें अन्तर यह है कि ये दोनों ही उपादान हर वस्तु और घटना में सर्वगत और समवायी रूप में छिपे हुए हैं। इस पर भी इन्हें 'सामवायिक' इसलिए नहीं कहा गया कि यह लक्षण तो क्रियामात्र और द्रव्यमात्र पर घट जाएगा। अत: उसे सम्बन्ध-विशेष का आधार नहीं बनाया जा सकता। कम से कम उस आधार पर हर सम्बन्ध को 'सामवायिक' नहीं कहा जा सकता। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये दोनों ही तत्त्व द्रव्य को चारों ओर से व्याप्त और अपने भीतर अन्तर्हित करने की सामर्थ्य रखते हैं, जिसे हम 'घेरे या दायरे में लेना' कह सकते हैं। परन्तु यह 'परिव्याप्ति' समवाय की 'सर्वव्याप्ति' से भिन्न है। परिव्याप्त होते हुए भी यहां द्रव्य से सांयोगिक सम्बन्ध बताना ही अभिप्रेत होता है। इस सम्बन्ध के द्वारा हम इस सत्य को स्वीकार करके चलते हैं कि आकाश या काल के अखण्ड और सर्वव्याप्त होने पर भी किसी वस्तु-विशेष का काल-

---

१. वा० ३.७.१५०।

विशेष में इनके किसी भाग या खण्ड-विशेष से ही सम्बन्ध होता है। इसलिए हम उस सम्बद्ध भाग को ही वास्तव में 'आधार' कह सकते हैं। पर वह भाग अन्ततः किसी 'अखण्ड' और अभाग वस्तु का ही अंश है, इसलिए अंशी या अवयवी के रूप में उस सम्पूर्ण वस्तु (आकाश या काल) को ही, या उनके किसी बृहत्तर भाग विशेष को ही, हम 'आधार' कह देते हैं। यहां 'काल' के सम्बन्ध में यह स्मर्त्तव्य है कि 'कारक' के प्रसंग में क्रिया-सम्बद्ध काल की चर्चा आवश्यक नहीं है। यहां काल या उसके खण्डों की संज्ञा रूप में—प्रातः, रात्रि, मध्याह्न, आदि के रूप में—चर्चा ही अभीष्ट हो सकती है।[1] दिक् का सम्बन्ध तो होता भी मुख्यतः संज्ञा-शब्दों से ही है? पर अखण्डता की दृष्टि से स्थिति यहां भी वही है। जब हम 'आकाश में', 'जल में' या 'रात्रि में' कह रहे होते हैं, तब हमारा अभिप्राय इन सबकी अखण्डता को द्योतित करने का नहीं होता; प्रत्युत हम तो इनके खण्ड-विशेष की ही चर्चा कर रहे होते हैं। पर यह भाग-वृत्ति 'दिक्' के कारण आती है, यह बात हम पहले कह आए हैं। भर्तृहरि भी इसी भागवृत्ति को दिशा-सामर्थ्य मानकर कहते हैं कि 'सांयोगिक आधार दिशाविशेष के व्यवधान या आवरण के कारण होता है' : 'दिग्विशेषादवच्छेदे'[2]।

हो सकता है, इसके अतिरिक्त भी कुछ भेदहेतु खोज लिए जाएं।

११.९६ मुख्यतम आधार-शक्ति

पीछे हम कह आए हैं कि भर्तृहरि द्रव्यों की सबसे बड़ी आधारशक्ति 'दिक्' को स्वीकार करते हैं। उसका साधन या कारक से अटूट सम्बन्ध भी वे स्वीकार करते हैं।[3] द्रव्य से द्रव्य के अन्तर और व्यक्तित्व की व्यवस्थापक इस दिक्-शक्ति की, 'वैशेषिक' में उक्त, भावना को भर्तृहरि ने इस प्रकार समझाया है :

> **आकाशमिव केषांचिद् देशभेदप्रकल्पनात्।**
> **आधारशक्तिः प्रथमा सर्वसंयोगिनां मता॥**
> **इदमत्रेति भावानामभावान्न प्रकल्पते।**
> **व्यपदेशस्तमाकाशनिमित्तं सम्प्रचक्षते॥** वा० ३.७.१५१, १५२॥

अर्थात्, 'वैशेषिकों की दृष्टि में प्रदेश के विभाजन में समर्थ होने के कारण 'आकाश' ही सर्वप्रमुख आधार या 'आधारशक्ति' ठहरता है। आकाश को अद्रव्य

१. वा० ३. ७. १५३। २. वही।
३. वा० ३. ६. १।

होने के कारण 'ग्रभाव' नहीं कह देना चाहिए। दिशाओं के नाम अथवा यहां-वहां आदि शब्द इसलिए प्रयोग किए जाते हैं कि वैज्ञानिकदृष्ट्या द्रव्य न होने पर भी आकाश को द्रव्यवत् स्वीकार कर लिया जाता है। ये प्रयोग आकाश-भेद या देश-भेद होने के कारण ही होते हैं। इसीलिए एक, अखण्ड और अद्रव्य आकाश को भी द्रव्य रूप में समझ कर ही 'द्रव्यवत्' प्रयोग किया जा सकता है।'

११.६७ काल से समानता

इस दृष्टि से **आकाश और काल** की स्थिति समान है। मूलतः **काल** का सम्बन्ध क्रिया से है और **आकाश** का द्रव्य से। फिर भी हम रात्रि, दिन, उषा, प्रभात, संध्या, आदि शब्दों के रूप में 'काल' के विशेष भागों को उसी तरह खण्डित रूप में कल्पित करते हैं, जिस तरह 'दिक्' या देश के विविध भागों को पूर्वपश्चिमादि के रूप में। विविध प्रयोगों में दोनों ही का व्यवहार द्रव्यवत् होता है:

कालात्क्रिया विभज्यन्ते, आकाशात्सर्वमूर्त्तयः।
एतावांश्चैव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धनः॥ वा० ३.७.१५३॥

यही अन्तर है, उनके अभिन्नलक्षण होने पर भी भिन्नवत् व्यवहृत होने का। इस दृष्टि से साधनभूत 'आधार' के साथ 'आकाश' का ही सम्बन्ध अधिक निकट का मानना चाहिए, 'काल' का नहीं।

इस उलझन को स्पष्ट करते हुए पाणिनि के सूत्र के हवाले से भर्तृहरि अपनी बात स्पष्ट करते हैं।[1] उदाहरण है: **'पांचाले उपवसति।'** 'अधिकरण' का यह प्रयोग, आधार की मूल विभक्ति के रूप में, सामान्य नियम के प्रतिकूल है। सामान्य नियम के अनुसार प्रयोग होना चाहिए: **'पांचालमुपवसति'**। ऐसा कैसे सम्भव हुआ?

यद्यप्युपवसिर्देशविशेषमनुरुध्यते।
शब्दप्रवृत्तिधर्मात्तु कालमेवावलम्बते॥
वसतौ च प्रयुक्तेऽपि देशोऽधिकरणं यतः।
अप्रयुक्तं त्रिरात्रादि कर्मोपवसतौ स्मृतम्॥ वा० ३.७.१५४, १५५॥

उनका कहना है कि वाक्य का शुद्ध रूप यहां होना चाहिए था: **'पांचालं वसन् स त्रिरात्रं (आदि) उपवसति'**। यहां वास्तविक समस्या यह है कि सामान्य

१. पा० १. ४. ४८।

अवस्था में 'वस्' के साथ जब उप, अनु, अधि, आदि उपसर्गों का प्रयोग होता है, तब 'वस्' का सामान्य अर्थ 'रहना' है। उस अवस्था में 'उप' का अर्थ 'समीपता' होता है। किन्तु '**पांचाले उपवसति**' में 'उपवस्' का प्रयोग 'उपवास' के अर्थ में हुआ है। यह अर्थ 'वस्' के प्रचलित अर्थ से भिन्न है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यहां 'वस् निवासे' धातु का प्रयोग नहीं हुआ है। इसी प्रकार की भावना को कात्यायन ने '**वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधः**'[1] के द्वारा व्यक्त किया था। पर पाणिनि की भावना को बिना समझे, जब मूल धातु की एकार्थता को मान कर प्रयोग होने लगा, तब भर्तृहरि को जन-प्रयोग की बात पर अधिक बल देना पड़ा। यहां द्वितीया के स्थान पर सप्तमी का 'आधार'-परक प्रयोग क्यों हुआ है, इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं। उनकी दृष्टि में 'उपवसति' का प्रयोग यहां क्रिया के रूप में न होकर कर्म और क्रिया के संयुक्त रूप के हुआ है। '**उपवासं करोति**' के स्थान पर '**उपवसति**' का यह प्रयोग कर्म और क्रिया का सम्मिश्र रूप ही है। यदि 'उपवस्' के 'उपवास' या 'अनशन' अर्थ को स्वीकार किया जाए, तब उसका सम्बन्ध 'देश' के साथ 'आधार' रूप में उचित नहीं ठहरता।

तब यह सम्बन्ध केवल 'काल-वाचक' शब्दों के साथ ही होना चाहिए। वस्तुतः इसका अधिक सही और वास्तविक प्रयोग होता है : '**पांचाले वसन् उपवसति**।' 'वसन्' का प्रयोग यहां अनुक्त है। अतः उसके न होने पर भी उसकी विभक्ति उसके मूल कारक के द्वारा ही निश्चित होती है; 'उप' आदि के योग द्वारा नहीं। यह तो हुई 'पांचाले' के कारक 'अधिकरण' के प्रयोग की बात। जहां तक '**उपवसति**' में 'उप' के प्रभाव और 'कर्म' के प्रयोग की बात है, यह स्मरण रखना चाहिए कि 'उपवास' का सम्बन्ध 'कालवाचक' शब्दों से है। अतः इसके साथ '**द्विरात्र**', '**त्रिरात्र**', आदि का प्रयोग होना चाहिए था। उन शब्दों में हम '**अम्**' को चाहे '**द्विगु**' समास आदि का प्रभाव मानें या '**कर्म**' की स्मृति का शेष, यहां यह प्रयोग अधिकरणार्थक होकर भी द्वितीयान्त-सदृश हुआ है। इसका विश्लेषण होगा : '**द्विरात्रि यावत्**'। इस प्रकार 'पांचाले उपवसति' के प्रयोग में 'अधिकरण' और 'कर्मप्रभाव' की बात अनुक्त है। पर उसे भ्रामक कहना किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं। न ही वह जन-प्रयोग की भावना के विरुद्ध है।[2]

११.६८ आधार और कर्म

इसीलिए पाणिनि ने भी 'आधार' के लिए, 'अधिकरण' के स्थान पर,

---

१. पा० १. ४. ४८ पर वार्त्तिक।
२. वा० ३. ७. १५४, १५५।

'कर्म' के प्रयोग की चर्चा अनेकत्र की है।[1] वास्तव में इन प्रयोगों में हम अपनी पुरानी युक्ति को दोहराना अधिक उचित समझते हैं : 'यहां 'कर्म' उस हीन-विभक्ति चिन्ह से संयुक्त होकर सामने आता है, जिसका मूल अर्थ और शक्ति 'अधि' आदि उपसर्गों ने ले ली है। परिणामतः मूल कारक का अर्थ अब इन उपसर्गों द्वारा वहन किया जाता है। हीनबल कारक की विभक्ति पलट जाने से 'अधि' आदि के प्रयोग की सार्थकता ही सिद्ध होती है। वे प्रयोग 'उपसर्गों' के रूप में न होकर 'कर्मप्रवचनीयादि' के रूप में हुए हैं। इसे ही भर्तृहरि 'अकथित' और 'अन्यपूर्वक' में गृहीत कर लेते हैं। यह बात 'कर्म' के प्रसंग में अधिक स्पष्ट की जा चुकी है।

८. शेष और षष्ठी

११.६९ मूल प्रश्न

पाणिनि ने कारकों की चर्चा में उक्त छह कारक ही गिनवाए हैं। वहां 'शेष' के नाम से किसी कारक की चर्चा नहीं की गई है। पर विभक्ति-प्रयोग की चर्चा में वे अवश्य कहते हैं : **'षष्ठी शेषे'**।[2] इस सूत्र का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। **प्रथम** : उक्त कारकों से भिन्न, अगृहीत या अस्पष्ट कारकों के विषय में 'षष्ठी' विभक्ति का प्रयोग होता है। **द्वितीय** : जो भी सम्बन्ध अन्य विभक्तियों की पकड़ में न आ सके, उसे षष्ठी विभक्ति द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इन दोनों ही व्याख्याओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अन्य विभक्तियों का प्रारम्भ किसी न किसी कारक से सम्बद्ध होकर हुआ है, उस प्रकार षष्ठी का आरम्भ किसी एक कारक से ही सम्बद्ध होकर नहीं हुआ। इसे हम यूँ भी कह सकते हैं कि हर विभक्ति का एक प्रधान कारक ज्ञात होता है, परन्तु षष्ठी विभक्ति का कोई एक कारक प्रधान नहीं होता।

ये दोनों बातें प्रयोग द्वारा भी सिद्ध होती हैं। वेदों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग बहुत खुलकर हुआ है। परन्तु सर्वत्र यह प्रयोग तथाकथित सम्बन्ध कारक में ही नहीं हुआ है। फिर, इसका कारक 'सम्बन्ध' नाम से कैसे अभिहित कर दिया जाए ? पाणिनि इस नाम से किसी कारक का परिगणन नहीं करते। अन्य किसी प्रमुख वैयाकरण ने भी इस नाम का परिगणन 'कारकों' में नहीं किया है। फिर, 'सम्बन्ध' भी तो एक प्रकार का नहीं होता। 'स्वस्वामिभाव' और 'जन्य-जनकभाव' तो षष्ठी विभक्ति की पकड़ में आ जाता है। अंग्रेजी का 'जेनीटिव केस'

---

१. पा० १.४.४७, ४८।   २. पा० २.३.५०।

भी इन दोनों सम्बन्धों की सूचना दे देता है। किन्तु कार्यकारण, आधाराधेय, अंगांगिता, आदि अनेक सम्बन्ध ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध करण, कर्त्ता, अधिकरण आदि भिन्न कारकों से है। 'सम्बन्ध कारक' कहने से उन सम्बन्धों के भी यहाँ अन्तर्भाव की सम्भावना उठ खड़ी होती है।

यह बात इसी 'साधन-विचार' के आरम्भ में भी स्पष्ट कर दी गई है। पाणिनि भी अनेक सूत्रों के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि षष्ठी का प्रयोग कर्म, सम्प्रदान, अधिकरण, करण, और अपादान में भी यथावसर खुलकर होता है[1]। अन्य विभक्तियों की अपेक्षा इस विभक्ति का प्रयोग अधिक मुक्त रूप में हुआ है। यह सब क्यों ?

११.७० कारकत्व : क्या और क्यों ?

कारक का सम्बन्ध क्रिया से माना गया है। 'कारक' उस शक्ति का नाम है, जो सामान्यतः किसी द्रव्य को किसी क्रिया के निष्पादन में समर्थ बनाती है। भाषा-प्रयोग में यह विशिष्ट चिह्नों के माध्यम से व्यक्त होता है। सामान्यतः यह 'कर्त्तव्य शक्ति' का ही द्योतक होता है। पर 'वाक्य' एक समन्वित अभि-व्यक्ति होता है। इसलिए उसमें विविध कारक अपने कर्तृत्व को एकत्र समवेत करके एक मुख्य क्रिया के सम्पादन में अपना योगदान करते हैं। वह मुख्य क्रिया भी किसी 'एक' कर्त्ता से ही सम्बद्ध होती है, या उस के द्वारा सम्पाद्यमान होती है। इसलिए उसके रहते अपनी गौण क्रियाओं को छोड़कर आने वाले गौण कर्त्ता वाक्यरूप में अपनी नई स्थिति के अनुरूप अपने नए 'पद' सम्भाल लेते हैं। वे मुख्य क्रिया के कर्त्ता के माध्यम से ही—उसको सम्पादन में योगदान देकर ही—उस मुख्य क्रिया के निष्पादन में योग देते हैं। इस प्रकार वे मुख्य कर्त्ता के 'सहायक' हो जाते हैं। इन सहायकों की विभिन्न स्थितियों और विविध योगदान के अनुकूल उन्हें नए कारक-चिन्ह और नए कारक या साधन मिलते हैं। इस प्रकार के सहायक कारकों को ही कर्मकरणादि के रूप में जाना गया है। प्रश्न यह है कि क्या 'शेष' नाम से स्मृत, या 'सम्बन्ध' नाम से प्रसिद्ध, षष्ठी के विषयभूत कारक को भी इसी प्रकार का 'कारक' माना जा सकता है ? यदि हां, तो उसका संबंध मुख्य क्रिया से किस रूप में होता है, एवं उसकी अपनी 'स्वतन्त्र क्रिया' की स्थिति क्या है ? यदि उत्तर 'नहीं' में है, तब उसका परिगणन कारकों में न करने पर भी उसकी विभक्ति क्यों निश्चित की गई तथा उसे 'द्रव्य का द्रव्य से' संबंध बताने वाला क्यों कहा गया ?

---

१. पा० २. ३. २६, ३०, ३४, ३८, ५१-५६, ६०-७०, आदि।

११.७१ भर्तृहरि का मत

भर्तृहरि के शब्दों में हम मूल प्रश्न का उत्तर 'हां' में भी देना चाहेंगे, और 'नहीं' में भी ! 'हां' में इसलिए कि भर्तृहरि उसे भी अन्य कारकों की भांति 'क्रियाकारक' मानते हैं, और 'नहीं' में इसलिए कि वे उसे अन्य कारकों से भिन्न सम्बन्ध के आधार पर स्थित मानते हैं। 'अधिकरण' कारक का सम्बन्ध है 'आधाराधेय'; एवं 'करण' का है 'कार्यकरण' और 'जन्यजनक'। कर्त्ता में यह 'जन्यजनक' या 'प्रयोज्यप्रयोजक' के रूप में मुख्य है। इसी प्रकार हर कारक का अपना 'सम्बन्ध' है। पर इन छहों कारकों की पकड़ से जो 'सम्बन्ध' बच जाता है, या बच जाते हैं, उनका समग्र रूप में ग्रहण 'शेष' के द्वारा हो जाता है। पाणिनि का 'शेष' और भर्तृहरि का 'अन्य' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। निश्चय ही वे इसमें स्वस्वामिभाव की सीमा से व्यापक और अन्यविध सम्बन्ध-राशि का ग्रहण भी उचित समझते हैं। अन्यथा वे उसे 'स्वस्वामिभाव' तक भी सीमित कर सकते थे :

सम्बन्ध: कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ।। वा० ३.७.१५६ ।।

अर्थात्, 'शेष नामसे अभिहित यह सम्बन्ध अन्य कारकों द्वारा अभिहित सम्बन्धों से भिन्न होता है। यह भी स्वतन्त्र प्रयोग की अवस्था में अन्य कारकों की भांति 'क्रियाकारक' ही रह चुका होता है। इससे सम्बद्ध क्रिया प्रयुक्त भी रह सकती है और अप्रयुक्त भी।'

११.७२ विवेचन

हम अभी कह आए हैं कि अन्य कारकसम्बन्धों से भिन्न सम्बन्ध को केवल 'स्वस्वामिभाव' नहीं कहा जा सकता। 'जन्यजनक' सम्बन्ध भी यहां उतना ही स्वाभाविक लगता है। यह आश्चर्यकर नहीं होना चाहिए कि आधुनिक व्याकरण में इस कारक को 'जेनिटिव' के रूप में कहा गया है, जिसका अनुवाद 'जन्यजनक' के रूप में ही कर सकते हैं: अर्थात् पाश्चात्य वैयाकरणों ने भी इसे 'जन्य-जनक' के रूप में ही स्वीकार किया है। सर्वनामों के क्षेत्र में 'पजैस्सिव' के नाम से एक अन्य रूप इसी 'सम्बन्ध' का स्वीकार किया गया है। कह सकते हैं कि यह 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध का दूसरा नाम है। भले ही 'पजैस्सिव प्रोनाउन' (Possessive Pronoun) के रूप में हम सर्वनामों के एक वर्ग को स्वतन्त्र भेद गिन लें; वास्तव में वह 'शेष' कारक और 'षष्ठी विभक्ति' के अन्तर्गत

'स्वस्वाभिभाव' का रूपान्तर या भेद ही स्वीकार किया जाना चाहिए ।

यह बात इस सत्य को स्पष्ट करने के लिए कहनी पड़ी कि 'जन्य-जनक' और 'स्वस्वामिभाव' के रूप में दो सम्बन्ध तो ऐसे हैं ही, जो मुख्य रूप से 'षष्ठी विभक्ति' और 'शेष कारक' के विषय कहे जा सकते हैं । इनके अतिरिक्त कर्म, करण, सम्प्रदान और अपादान द्वारा कथित कई ऐसे सम्बन्ध-स्थल हैं, जहां लोक-प्रयोग प्रायः 'षष्ठी विभक्ति' का ही होता है । स्पष्ट है कि इनके मूल में 'सम्बन्ध' तो वे ही रहते हैं जो इनके मूलकारक से सम्बन्ध रखते हैं, फिर भी 'शेष' के विस्तृत दायरे में उनका समावेश किसी न किसी रूप में हो ही जाता है ।

अतः सर्वप्रथम और मुख्यतम बात यह सामने आती है कि शेष को जो हम 'सम्बन्ध कारक' कह देते हैं, और प्रायः उसे 'द्रव्य का द्रव्य से सम्बन्ध' तक ही सीमित कर देते हैं, वह सर्वथा अनुचित है । 'सम्बन्ध' की भावना तो प्रत्येक कारक के पीछे छिपी रहती है । उस भावना के बिना किसी भी कारक की स्थायिता ही संशयापन्न हो जाती है । फिर, 'सम्बन्ध' का अर्थ केवल 'द्रव्य का द्रव्य से सम्बन्ध' ही नहीं है । अतः 'शेष' को तथाकथित 'सम्बन्ध कारक' का समानार्थक या पर्याय समझ लेना ठीक नहीं है ।

११.७३ क्रियाकारकपूर्वक

'सम्बन्ध' की यह बात स्पष्ट करने के बाद अगला प्रश्न यह उठता है कि इसे '**क्रियाकारकपूर्वकः**' कैसे कहा जा सकता है ? भर्तृहरि के प्रयोगों के अनुसार इस प्रयोग के दो अर्थ ठहरते हैं । **प्रथम** : यह अन्य पूर्व-प्रयुक्त क्रियाकारकों के स्थान पर प्रयुक्त होता है । **द्वितीय** : यह भी पहले क्रिया सम्बद्ध कारक रहकर ही, अन्य कारकों की भांति, इस परिवर्त्तित स्थिति में पहुंचता है । ये दोनों ही अर्थ उचित कहे जा सकते हैं । इनमें से पहली स्थिति में तो स्पष्ट ही इसका प्रयोग अन्य कारकों के प्रयोग से अभिन्न ही ठहरता है ।[1] इसमें केवल इतना ही अन्तर आता है कि जहां सामान्यतः कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, आदि का प्रयोग होना चाहिए, उनकी जगह षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हो जाता है; उनके 'कारक' यद्यपि वही रहते हैं । '**सर्पिषो जानीते**', '**बाण का मारा**', '**प्यार का भूखा**', आदि में षष्ठी का प्रयोग 'स्वस्वामिभाव' या 'जन्यजनक' आदि सम्बन्ध के कारण नहीं है । यहां क्रिया अश्रुत न होकर स्पष्ट और श्रुत है । दूसरी स्थिति इससे

---

१. देखें पृ० ३९८ का फुटनोट ।

भिन्न है। इसे ही प्रायः 'द्रव्य का द्रव्य से सम्बन्ध' बताने वाली कह दिया जाता है। यह सम्बन्ध कैसा और किस रूप में होता है ?, इस प्रश्न की विवेचना करने पर ही हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह 'जेनिटिव' के रूप में 'जन्यजनक' और 'पजैस्सिव' के रूप में 'स्वस्वामिभाव' से युक्त होता है। परन्तु, जब भर्तृ-हरि कहते हैं कि यह स्थिति भी क्रियाकारक की परिणति से ही प्राप्त हुई है, तब विचार्य विषय गहन हो उठता है। **'पितुः पुत्रः'**, **'राज्ञः पुरुषः'**, आदि की व्याख्या करते हुए हेलाराज इनमें विशेष सम्बन्धों को खोजते हैं। **'पितुः पुत्रः'** में वे 'जन्यजनक भाव' सम्बन्ध को खोजते हैं। उनकी दृष्टि से यह प्रयोग **'पितुर्जातः पुत्रः'** का ही रूपान्तर है। यहां 'पिता' कर्त्ता है, उसकी 'क्रिया' 'जन्म देना' है। **'राज्ञः पुरुषः'** में वे 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। इसकी व्याख्या वे **'राज्ञः दत्तः पुरुषः'** के रूप में करते हैं, जिसके कारण 'राजा' (कर्त्ता) की क्रिया 'दान' या 'देना' हो जाती है। उसके अनुसार राजा का पुरुष को धनादि देते रहना ही उसे उसके 'भृत्यत्व' में ले आता है। इसी रूप में अन्यान्य उदाहरणों की चर्चा की जा सकती है। इस सबके द्वारा कथितव्य यही है कि 'शेष' के अन्तर्गत आनेवाला कोई सम्बन्ध ऐसा नहीं है, जिसे शुद्ध रूप से 'द्रव्य का द्रव्य से' सिद्ध किया जा सके। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस रूप में प्रयुक्त सभी प्रयोगों का सम्बन्ध भी मूलतः अपनी-अपनी क्रिया से होता है। जिसे हम द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध मान बैठते हैं, उसमें वस्तुतः क्रिया 'अश्रुतमात्र' होती है[1]। अन्यथा भर्तृहरि तो स्पष्ट कहते हैं :

तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते ।। वा० ३.७.१५७ ।।

अर्थात् षष्ठी का कोई भी प्रयोग प्रधान क्रिया से, या अपने मूल भाव से, सम्बद्ध रहकर ही होता है।

११.७४ समास-निवृत्ति

भर्तृहरि कुछ अन्य प्रमाणों द्वारा अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। प्रथम प्रमाण यह है कि कर्मप्रवचनीयों द्वारा मूल विभक्ति का बलापनयन होकर उसके स्थान पर अन्य विभक्ति का प्रयोग होता है। यह बात अन्य विभक्तियों पर भी, षष्ठी के समान ही, समान रूप में लागू होती है। द्वितीय प्रमाण अधिक महत्त्वपूर्ण है। षष्ठी-तत्पुरुष समास प्रायः हर दशा में सम्पन्न हो ही जाता है। यही वह स्थिति है, जहां द्रव्य का द्रव्य से सम्बन्ध निश्चित समझा जाता है।

---

१. वा० ३. ७. १५६ पर टीका।

किन्तु, अनेक स्थानों पर इस प्रकार के समास का निषेध जानबूझ कर किया जाता है, और वहां 'प्रतिपद षष्ठी' का विधान किया जाता है। भर्तृहरि का कथन है कि यह स्थिति केवल सामासिक अनिवार्यता आदि से ही सम्बद्ध नहीं है, बल्कि उसका स्पष्ट प्रयोजन 'क्रिया' की अनुभूति और अन्य कारकों से उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करना भी होता है :

> **निमित्तनियमः शब्दात्सम्बन्धस्य न गृह्यते ।**
> **कर्मप्रवचनीयैस्तु स विशेषेऽनुरुध्यते ।।**
> **साधनैर्व्यपदिष्टे च श्रूयमाणक्रिये पुनः ।**
> **प्रोक्ता प्रतिपदं षष्ठी समासस्य निवृत्तये ।। वा० ३.७.१५८-९ ।।**

इससे आगे चलकर वे निष्ठाविषयक 'कर्म षष्ठी' के निषेध की चर्चा करते हैं और बताते हैं कि यदि षष्ठी का एक ही अर्थ होता, तब वहां 'शेष-लक्षणा षष्ठी' समास का कारण बन जाती। पर ऐसा होता नहीं है।[1]

११.७५ द्विष्ठा षष्ठी

'राज्ञः पुरुषः' की जगह '**राज्ञः पुरुषस्य**' का प्रयोग वैधानिक है या नहीं? और, इस प्रकार षष्ठी उभयनिष्ठ या द्विष्ठ है या नहीं? इन प्रश्नों पर भी भर्तृहरि ने विचार किया है। उनका कथन यह है कि गुणात्मक दृष्टि से यद्यपि 'जन्यजनक' और 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध उभयस्थ रहते हैं, अर्थात् 'पिता और पुत्र' एवं 'राजा और पुरुष' दोनों एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं, तब भी यह सम्बन्ध 'शेष' की सूचिका षष्ठी विभक्ति द्वारा केवल एक के साथ ही संयुक्त होकर व्यक्त होता है। '**राज्ञः पुरुषः**' में 'पुरुष' का सम्बन्ध राजा से माना जाए, या 'राजा' का पुरुष से?, इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। पर होता विपरीत ही है। '**राज्ञः पुरुषः**' में तुलनात्मक प्रधानता 'पुरुष' को ही प्राप्त है, अथवा वही यहां मुख्य अभिधेय ठहरता है। 'पुरुष' न हो तो '**राज्ञः**' पद का प्रयोग ही व्यर्थ हो जाए। अतः 'राजा' के समरूप विभक्ति अथवा कारक की अभिव्यक्ति 'पुरुष' में न होने पर भी, उनमें परस्पर एक ही सम्बन्ध की स्थिति समरूप में स्वीकार करनी होगी।[2]

निश्चय ही प्रधानता की यह बात सापेक्षमात्र है। अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए एक अन्य प्रयोग हो सकता है : '**राज्ञः पुरुषस्य कम्बलम्**'। यहां षष्ठी का प्रयोग प्रत्यक्षतः 'द्विष्ठ' है। पर अन्तर यह है कि 'द्विष्ठ' होकर भी यह

---

१. वा० ३. ७. १६०।
२. वा० ३. ७. १५०।

प्रयोग 'उभयनिष्ठ' नहीं है। उभयनिष्ठ इसे हम उसी स्थिति में कह सकते थे, जब परस्पर सम्बन्ध में आने वाले शब्द 'राजा' और 'पुरुष' ही होते। यहां स्थिति भिन्न है। यहां 'दो सम्बन्धों' का एक साथ अभिधान किया जा रहा है: **'राज्ञः पुरुषः'** और **'पुरुषस्य कम्बलम्।'** 'राज्ञः' और 'कम्बलम्' का कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। स्पष्ट है कि 'पुरुषस्य' का प्रयोग दो विविध कारकों और दो भिन्न शब्दों के स्थान पर हुआ है: प्रतिनिधि रूप में इनमें से 'पुरुषः' का सम्बन्ध प्रथम प्रयुक्त 'राज्ञः' से है: **'राज्ञः पुरुषः'**। 'राजा' यहां स्वामी है, और 'पुरुष' यहां 'स्व' या 'प्रधान' है। **'पुरुषस्य कम्बलम्'** में ये ही सम्बन्ध क्रमशः 'पुरुष' और 'कम्बल' के बीच हो जाते हैं। इस दृष्टि से एक स्थान की **प्रधान** वस्तु, दूसरी जगह **अप्रधान** हो गई है। अतः 'सम्बन्ध' की उभयनिष्ठता या द्विष्ठता को सिद्ध करने के लिए **'राज्ञः पुरुषस्य'** जैसा प्रयोग विहित नहीं ठहरता। जहां भी ऐसा प्रयोग मिलता है, वह द्विष्ठता के कारण न होकर **दो प्रकार के सम्बन्ध को एक पद** द्वारा द्योतित करने के उद्देश्य से, संक्षेप की वृत्ति के कारण, होता है। प्रधान का कथन दोनों जगह षष्ठीयुक्त पद से भिन्न पद के द्वारा ही होता है। इसमें 'श्रृंखला' या 'माला' की प्रक्रिया होती है। अर्थात् पूर्व कथन का प्रधान पद उत्तर प्रयोग में अप्रधान बनकर प्रयुक्त होता है। प्रयोग में, इन दोनों स्थितियों को हम एक ही पद द्वारा व्यक्त कर देते हैं: षष्ठ्यन्त पद के द्वारा। भर्तृहरि इसे ही यूँ कहते हैं:

> **अन्येन व्यपदिष्टस्य यत्रान्यत्रोपजायते।**
> **व्यतिरेकः स धर्मौ द्वौ लभते विषयान्तरे॥** वा० ३.७.१६१॥

वास्तव में 'पुरुष' की यह उभयात्मक स्थिति इस प्रकार कही जा सकती है:

> **प्राधान्यं स्वगुणे लब्ध्वा प्रधाने याति शेषताम्।**
> **सहयोगे स्वयोगेऽतः प्रधानत्वं न हीयते॥** वा० ३.७.१६२॥

अर्थात्, 'वस्तुतः प्रथम सम्बन्ध में वह प्रधान ही था। दूसरे सम्बन्ध में प्रधानत्व उसमें से हीन हो गया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि दोनों की जगह 'पुरुषस्य' कहने से उसमें अन्तर्हित प्रधानता समाप्त हो गई है, भ्रामक ही है। वास्तव में दूसरे द्रव्य से सम्बद्ध हो जाने पर भी उसमें प्रधानता का मूल भाव अब तक शेष है।'

११.७६ सार-सूत्र

इस प्रकार भर्तृहरि के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'यह कारक

अन्य कारकों से अभिन्न भी है, और भिन्न भी : **अभिन्न** इसलिए कि मूलतः यह उसी प्रकृति का क्रिया सम्बद्ध कारक है, **भिन्न** इसलिए कि इसकी अभिव्यक्ति एवं ग्रहण औरों से कुछ भिन्न रूप में होता है।'

९. सम्बोधन

११.७७ कारकत्व

'सम्बोधन' को लेकर यह प्रश्न अब तक भी विवादास्पद रहा है कि इसे 'कारक' माना जाए या नहीं ? इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के दृष्टिकोण को समझने के लिए निम्न बातें अवधेय हैं :

(१) भर्तृहरि ने शेषाधिकार के बाद 'सम्बोधन' पर भी विचार किया है।[1]

और, (२) वे इस मत को परम्परागत और गुरु पूजित मानते हैं कि सम्बोधन 'वाक्यार्थ' में गृहीत नहीं होता, या उसका अंग नहीं होता[2]।

ये दोनों बातें आपाततः विरोधी प्रतीत होती हैं। पर वास्तव में इनमें विरोध की कोई बात नहीं है। कारक-प्रकरण में पाणिनि ने 'षष्ठी शेषे'[3] और **'सम्बोधने च'**[4] के रूप में इन दोनों को विचारणीय स्वीकार किया है। जिस प्रकार 'शेषाधिकार' उन सब स्थितियों पर विचार करने में नितान्त सहायक रहा है, कारकत्व की दृष्टि से जिनका ग्रहण अन्यत्र सम्भव नहीं हुआ है, उसी प्रकार 'सम्बोधन' का व्यवहार कर्त्ता के उद्‌बोधन या उसे अभिमुख करने के लिए होता है।

११.७८ सम्बोधन : स्वरूप

आभिमुख्य प्राप्त यह 'कर्त्ता' ही उस प्रयोजन या क्रिया में व्यापृत होता है, जो वाक्यार्थ से सम्बद्ध होती है :

सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते ॥ वा० ३.७.१६३ ॥

यह आभिमुख्य सिद्ध या द्रव्य का ही हो सकता है, क्रियादि साध्य का नहीं।

यहां यह बात अवधेय है कि सम्बोधन का कार्य 'कर्त्ता का प्रबोधन-मात्र'

---

१. वा० ३.७.१६३, १६४।
२. वा० ३.७.१६४।
३. पा० २.३.५०।
४. पा० २.३.४७।

है। प्रबुद्ध कर्त्ता स्वतः क्रिया में प्रवृत्त होता है। स्पष्ट है कि कर्त्ता स्वयं ही क्रियाओं को करता है, उसका आदेश या विनियोग उसे भले ही बाहर से मिले। यह 'बाहर' सम्बोधन करने वाले व्यक्ति से अभिप्रेत है। इसका संकेत 'हेतु' की ओर भी हो सकता है; पर उसका यहां प्रयोजन नहीं है। कोई वक्ता जब किसी कर्त्ता को बुलाता है या इस तरह उसका आह्वान करता है, जिससे वह उसकी बात सुनने के लिए सजग हो, तब उस अभिमुखीकारक वचन को 'सम्बोधन' कहते हैं। जब हम कहते हैं कि 'सम्बोधन' द्वारा अभिमुखीकृत व्यक्ति स्वयं कर्त्ता नहीं है, तब उसका अभिप्राय केवल इतना ही होता है कि जिसे हम सम्बोधन पद कह रहे हैं, वह 'पद' ही कर्त्ता का कार्य नहीं करता। अर्थात्, सम्बोधन और कर्त्ता द्वारा एक ही व्यक्ति सूचित होने पर भी, इन दोनों का मुख्य क्रिया से समान सम्बन्ध नहीं होता। कर्त्ता की उपस्थिति में, वाक्यार्थ की पूर्णता की दृष्टि से, 'सम्बोधन पद' के होने न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

११.७९ वाक्यार्थ का अंग

इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने कहा कि सम्बोधन को वाक्यार्थ का अंग नहीं कहा जा सकता। उसके बिना भी वाक्यार्थ पूर्ण ही रहता है। उनके शब्दों में :

सम्बोधनं न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य आगमः।
उद्देशेन विभक्त्यर्थाः वाक्यार्थात् समुपोद्धृताः ।। वा० ३.७.१६४।।

अर्थात् 'यह गुरुपरम्परा से चली आ रही बात है कि सम्बोधन को 'वाक्यार्थ का अंग' स्वीकार नहीं किया जाता। 'सम्बोधन' की स्थिति स्वतन्त्र सी है, जब कि वाक्यार्थ का एकत्व होते हुए भी विभक्त्यन्त पदों को 'विशिष्ट विभक्त्यर्थ' के वाहक मानकर, उससे अलग करके, विचारार्थ पृथक् सत्तावान् मान लिया जाता है। पर है यह 'अपोद्धार' ही है, वास्तविक सत्य नहीं।'

११.८० प्रथमा-प्रयोग

प्रश्न यह उठ सकता है : तब प्रथमा विभक्त का इस अर्थ में प्रयोग क्यों ? इसका उत्तर स्वयं पाणिनि देते हैं। उन्होंने 'प्रथमा' का विधान करते हुए उसे 'कर्त्ता' से सम्बद्ध नहीं किया है।[1] प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण, और वचन-मात्र का कथन जितना ही 'कर्त्ता' से अभिप्रेत हो सकता है, उतना ही वह 'सम्बोधन' से भी ग्राह्य हो सकता है। बल्कि, इन दोनों के अतिरिक्त यह ज्ञातव्य

१. पा० २. ३. ४६, ४७।

'हेतु' से भी सूचित होता है। शेष दोनों से 'सम्बोधन' में यह विशेष है कि 'प्लुत' आदि स्वरों से उसका विशेष संस्कार किया जाता है। इनमें से भी 'एकवचन' को, रूपात्मक भिन्नता के सूचन के लिए, 'सम्बुद्धि' नाम दे दिया गया है।[1] इसलिए मात्र प्रथमा-प्रयोग के कारण ही इसे 'कर्त्ता' से अभिन्न या समरूप नहीं समझ लेना चाहिए। कारकीय सम्बन्ध-भावना की दृष्टि से तो इसमें कोई सम्बन्धभावना ही नहीं है। क्योंकि क्रिया से सीधा सम्बद्ध न होने के कारण इसमें सम्बन्धभावना आ ही कहां से सकती है?

११.८१ उपसंहार

कारकों के सम्बन्ध में यह सब कुछ कहने के बाद भर्तृहरि 'पाद-टिप्पणी' के रूप में, सच्चे भाषाविद् और वैयाकरण होने के नाते, कुछ सत्य इस प्रकार घोषित करते हैं:

(क) विभक्त्यर्थ महत्त्वहीन हैं। वाक्यार्थ ही सत्य है। 'वाक्यार्थ' से अपोद्धृत करके ही विभक्त्यर्थों को किसी विशिष्ट अर्थ में निश्चित समझा जाता है।[2]

(ख) 'अव्ययीभाव' जैसे विभक्तिहीन समास से भी भिन्न-भिन्न विभक्त्यर्थों की प्रतीति होती है। अतः स्पष्ट है कि द्रव्य पृथक् है, और विभक्त्यर्थ उससे भिन्न है। इसका अर्थ अव्ययरूप निपातादि भी वहन करने में समर्थ हो जाते हैं।[3]

(ग) क्रिया आदि के बदल जाने पर भी द्रव्य अपने आत्मा या स्वरूप की दृष्टि से अपरिवर्त्तनीय है।[4]

(घ) इसलिए करण का कर्म में, या किसी अन्य कारक का किसी दूसरे कारक में, रूपान्तरित होने या बदल जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। करण, कर्म, आदि विविध स्थितियां हैं, जो द्रव्य की स्थिति में यथा-प्रयोग अन्तर ला देती हैं। इसलिए जब कहीं करण, कर्म, आदि का परस्पर या अन्योन्य व्यत्यय अथवा रूपान्तरण देखने में आता है, तब वहां पहले की 'करण-स्थिति' 'कर्मस्थिति' में परिवर्त्तित नहीं होती, बल्कि वहां द्रव्य का सारा व्यवहार (अथवा प्रकृति) ही बदल जाती है। वास्तव में विभक्ति के द्रव्य से भिन्न होने के कारण केवल विभक्ति के बदलने

---

१. पा० २. ३. ४६।
२. वा० ३. ७. १६४।
३. वा० ३. ७. १६५।
४. वा० ३. ७. १६६।

> का प्रश्न नहीं है। यदि करणभूत द्रव्य और कर्मभूत द्रव्य में योगदान एवं प्रकृति की दृष्टि से कुछ अन्तर है, तब उस अन्तर का द्रव्य से सम्बद्ध होना नितान्त आवश्यक है।[1]

'साधन' या 'कारक' के सम्पूर्ण विवेचन पर उनकी यह पाद-टिप्पणी उनके वैज्ञानिक चिन्तन को सर्वथा स्पष्ट कर देती है। यहीं यह वैज्ञानिक सत्य भी उद्घाटित होता है कि विभक्ति-प्रयोग बाह्य लक्षण है, जिसे अनिवार्य नहीं माना जा सकता। कारकों की स्थिति द्रव्य के स्वभाव और व्यवहार से सम्बद्ध है, विभक्ति के रूपमात्र से नहीं। कारकों की यह स्थिति विभक्ति के वियोग में भी व्यक्त हो ही सकती है। ऐसा होना भाषा-नियमों के प्रतिकूल न होगा।

---

१. वा० ३. ७. १६७।

काल भाव और लकार

१२.१ पाश्चात्य भूमिका

क्रिया और आख्यात पर विचार करते हुए पाश्चात्य वैयाकरण जिन कुछ बातों को अत्यधिक विचारणीय मानते हैं, उनमें **काल** (टेन्स) और **भाव** (मूड) को सर्वाधिक मुख्यता प्राप्त है। **वाच्य** (वॉयस्), **पुरुष** (पर्सन) और **वचन** (नम्बर) की स्थिति पराश्रित होने से क्रिया-सम्बद्ध होने पर भी उन्हें क्रिया-मूलक वृत्तियां नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य कल्पना में काल और भाव का जो स्वरूप और विभाजन स्वीकृत है, वह मूल भारतीय कल्पना से भिन्न है। पाश्चात्य वैयाकरण इन दोनों के सूचक क्रियाप्रयोगों की कुल संख्या ग्यारह मानते रहे हैं। यह संख्या संस्कृत और वैदिक के लकारों के अनुकूल और उनकी अनुसारिणी है।

डेन विद्वान् क्रोमान् ने कालों की संख्या 'नौ' तय करने के बाद यह घोषित किया कि 'विश्व की किसी भी भाषा में इन नौ लकारों की अभिव्यक्ति और उपलब्धि सम्भव होनी चाहिए।'[1] आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में भी 'सात' विभागों को तो मान्यता मिली ही है। प्राचीन ग्रीक और लातीनी व्याकरणों के आधार पर कुछ ऐसे विभाग भी मान लिए गए हैं, जिन्हें परम्परागत रूढ़ि के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे विभागों का प्रयोग आधुनिक यूरोपीय, और अनेक आधुनिक भारतीय, भाषाओं में अब प्रचलित नहीं रहा है। फिर भी, परम्परागत रूप में इनकी सत्ता को स्वीकार करते हुए गिने-चुने आधुनिक अवशिष्ट प्रयोगों के उदाहरण देकर ही उन विभागों की मान्यता को उचित ठहराया जाता है।

१२.२ काल-कल्पना और रूप-भेद

यहां एक बात अवधेय है : पाश्चात्य वैयाकरणों की 'टेन्स-कल्पना' और भारतीयों की 'लकार-कल्पना' मूलतः क्रिया के प्रयुक्त रूप-भेदों के आधार पर

---

१. दि फिला० ग्रा०, पृष्ठ ४८।

बढ़ी थी। वैदिक भाषा में 'लेट्-लकार' का प्रयोग होता था, पर अन्य कुछ परवर्त्ती लकार अप्रयुक्त रहे। संस्कृत में यह 'लेट्' अप्रयुक्त हो गया, किन्तु अन्य लकारों की संख्या 'दस' हो गई। इस प्रकार जब हम संस्कृत व्याकरण में दस या ग्यारह लकारों की चर्चा करते हैं, तब यह कथन किसी एक ही काल अथवा एक ही देश में प्रयुक्त प्रयोगों के विश्लेषण का परिणाम नहीं होता, बल्कि उन प्रयोगों की काल-सीमा को युगों की दूरी तक फैलाकर हम उस सीमा के अन्तर्वर्ती सभी प्रयोगों की एकत्र गणना और विश्लेषण कर लेते हैं। स्थिति पाश्चात्य व्याकरण में भी यही है। सिद्ध करने की दृष्टि से किसी भी भ्रामक मान्यता को सत्य सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु यह सत्य है कि व्याकरण के विभाग किसी भी भाषा के एक ही युग में प्रचलित प्रयोगों के विश्लेषण के परिणाम नहीं होते। उनके द्वारा अन्तर्गृहीत काल के सीमान्त बहुत दूर तक फैले होते हैं। इसलिए जब हम उन प्राचीन भाषाव्याकरणों के आधार पर आज भी, आधुनिक भाषाओं में भी, ग्यारह, नौ या सात विभाग खोजने या सिद्ध करने का यत्न करते हैं, तब लकारों या कालों के विभाजन की मूलकल्पना का आधार ही मिटता दीखता है।

१२.३ अवधेय सत्य

पर, फिर भी, एक सत्य विचारणीय महत्त्व का है। भाषा के विकास के साथ-साथ प्रयोगों की संख्या में घटा-बढ़ी भी चलती रहती है। देशकाल की आवश्यकता के अनुरूप प्रयोगों के नए रूप आविर्भूत हो सकते हैं और पुराने क्षीण हो सकते हैं। उनकी संख्या कम-अधिक भी हो सकती है, तथा अन्य भाषाओं के सम्पर्क के कारण उनके व्यवहृत रूपों में अन्तर भी आ सकता है। सरलता की प्रवृत्ति और पूर्णता की इच्छा इस अन्तर को इतना बढ़ा देती हैं कि कई बार हम पूर्ण विश्लेषण करने पर प्रयोगों की पूर्ववर्त्ती और समकालिक गणना में बहुत अधिक भिन्नता पाते हैं। फिर भी यह सत्य है कि भाषा अपनी मूल अभि-व्यक्ति-सामर्थ्य को खो नहीं देती। वह गिने-चुने प्रयोगों के द्वारा ही उन सभी भावदशाओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ रहती है, जिन्हें प्राचीन प्रयोगों के द्वारा पूर्वज अभिव्यक्त करते थे। साथ ही प्रगति के साथ-साथ उद्भूत नवीन आव-श्यकताओं की पूर्त्ति करने की सामर्थ्य भी उसमें आ जाती है।

सीमित क्रिया-प्रयोगों से भी नए-नए संयोग-विभाग द्वारा जिन भावनाओं को अभिव्यक्ति दी जाती है, उन्हें ही 'भावदशा' या 'मूड' कहा जाता है। पाश्चात्य वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत इस 'मूड' का सही प्रतिनिधि संस्कृत शब्द

संस्कृत व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता। 'भाव' का प्रयोग निरुक्तकार और भर्तृहरि ने जिन षड्भाव-विकारों के लिए किया है, वे 'मूड' के विषय नहीं हैं। संस्कृत व्याकरण की पारिभाषिक संज्ञा 'लकार' का सम्बन्ध रूपात्मक भेदों से अधिक है, यद्यपि पाणिनि और प्रत्येक भारतीय वैयाकरण ने अपनी ओर से प्रत्येक लकार के प्रयोग के पीछे छिपी भावनाओं को ढूंढ़ निकालने का यत्न किया ही है।

१२.४ पाश्चात्य कल्पना और लकार

आपाततः पाश्चात्य वैयाकरण आगे बढ़े दीखते हैं। रूपात्मक आधार पर खड़ी भारतीय वैयाकरणों की 'लकार कल्पना' अत्यन्त सीमित दिखाई देती है। पर यदि पाणिनि के सूत्रों का अनुसरण किया जाए, तब यह बात एकदम स्पष्ट हो जाएगी कि वे हर लकार का प्रयोग किन्हीं निश्चित भावदशाओं या भावनाओं में ही सम्भव मानते हैं। पर यहीं वह कारण भी स्पष्ट हो जाता है, जिसके कारण उन्होंने 'मूड' जैसी कोई परिभाषा स्थिर नहीं की, और प्रत्येक लकार को उन्होंने पाश्चात्य वैयाकरणों की भांति एक ही मूड से सम्बद्ध भी नहीं कर दिया। भाषा का विश्लेषण करने पर हम पाएंगे कि प्रयोगों का रूप-साम्य होने पर भी एक ही प्रयोगरूप अनेक भावनाओं और अर्थों में, एक ही युग में या युगान्तर में, प्रयुक्त होता रहता है। येस्पर्सन ने लातीनी प्रयोग 'स्क्रिप्सी' (Scripsi) के उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है। यदि एक ही प्रयोग दो या अधिक मूडों में प्रयुक्त हो सकता है, तब प्रश्न उठता है कि प्रयोगविशेष (लकार) और भाव-विशेष (मूड) का पारस्परिक निश्चित सम्बन्ध क्या है?

'लोट्' का प्रयोग सामान्यतः 'आज्ञार्थक' समझा जाता है। किन्तु पाणिनि ने स्पष्ट किया है कि **विधिलिङ्**[१] और **आशीर्लिङ्**[२] के समवेत अर्थों में **'लेट्'** का प्रयोग विहित है। इन दोनों **लिङों** के अर्थ में ही, वैदिक भाषा में, 'लेट्' का प्रयोग का विहित था।[३] लोट् में आज्ञा की बात अधिक अवश्य है, पर सीमा वहीं नहीं समाप्त हो जाती।[४] जर्मन और संस्कृत में वर्त्तमान और **आसन्न भविष्य** के लिए 'लट्' लकार का प्रयोग ही सामान्यतः विहित होता है,[५] जबकि संस्कृत में **आसन्न भूत** और **आसन्न भविष्य** के लिए पृथक् लकारों का प्रयोग भी विहित है।[६]

---

१. पा० ३. ३. १६२।
२. पा० ३. ३. १७३।
३. पा० ३. ४. ७।
४. पा० ३. ३. १६१, १६२ में 'विधि'।
५. पा० ३. ३. १३१, आदि।
६. लुट्, लुङ्, आदि।

इस प्रकार इन कुछ बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि एक लकार या टेन्स का एक ही 'मूड' से सम्बन्ध स्थिर कर बैठना उचित एवं न्याय्य नहीं कहा जा सकता। उचित होगा कि व्याकरण के विचारप्रसंग में टेन्स और मूड पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाए। उस दशा में प्रयोगों की रूढ़ि को हम ससीम न होने देंगे, और भाषा को गतिशील समझकर बढ़ने की राह उज्ज्वल करेंगे।

१२.५ भर्तृहरि की दृष्टि

इन दोनों पर अधिक विचार करने से पूर्व संस्कृत व्याकरण की वैज्ञानिक दृष्टि को समझ लेना अधिक उचित होगा। भर्तृहरि यहाँ भी हमें वैज्ञानिक निर्देशन देते हैं। 'क्रिया' के प्रसंग में स्वयं 'क्रियासमुद्देश' के बाद भर्तृहरि सर्वाधिक महत्त्व 'कालसमुद्देश' को देते हैं। 'काल' क्रिया (एक्शन) की सबसे बड़ी शक्ति है। 'क्रम' और 'साध्यता' की दृष्टि से 'काल' सबसे बड़ा घटक ठहरता है। यह आश्चर्य की ही बात है कि भर्तृहरि क्रिया के इस महत्त्वपूर्ण घटक की चर्चा में रूपात्मक व्याकरण की सबसे बड़ी उपलब्धि 'लकार' की चर्चा ही नहीं करते। पर साथ ही, 'लकारों' के पीछे छिपी भावनाओं या मूडों को भी वे विवेच्य नहीं समझते। दोनों की ही प्रासंगिक चर्चा कहीं-कहीं आ जाती है। इसके विपरीत भर्तृहरि ने भाषा के क्रियारूपों की अपेक्षा उनके पीछे छिपे 'काल' या 'कालों' को विवेच्य समझा है: 'कालतत्त्व के रूप में सर्वत्र उपलभ्य[१]।' समझा यह जाता है कि क्रियारूपों के जो दो वर्ग टेन्स और मूड के नाम से मिलते हैं, उनमें से टेन्स काल की सूचना देता है, जबकि 'मूड' की सूचना देने वाले लकारों का 'काल' से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

१२.६ कालभेद भी ग्यारह

पर, भर्तृहरि इस बात को आँख मूंदकर स्वीकार नहीं कर सकते। उन्होंने क्रिया का सबसे बड़ा लक्षण 'क्रमरूपता' को और उसकी सबसे बड़ी शक्ति 'काल' को माना है[२]। 'काल' जब क्रिया की सबसे बड़ी शक्ति है, तब उस क्रिया का कोई भी प्रयुक्त आख्यात रूप उस शक्ति की सत्ता से हीन कैसे हो सकता है? यही कारण है कि जिन कुछ प्रयोगों में पाणिनि भी काल निर्देश करने में असमर्थ रहे हैं, या उन्होंने वैसा निर्देश स्पष्टता के साथ नहीं किया है, भर्तृहरि वहां भी काल की उपस्थिति को आवश्यक अपिच अनिवार्य मानकर उसे खोजने बढ़े हैं। उन्होंने ग्यारह लकारों के समान ही काल के भी ग्यारह उप-

१. वा० ३. ९. ३९, ४०, ४८। २. वा० ३. ९. १, २१।

विभाग स्वीकार किये हैं। इसे उनकी शुद्ध भाषावैज्ञानिक देन कहना ही उचित होगा। वे कहते हैं :

> **क्रियोपाधिश्च सन् भूतभविष्यद्वर्त्तमानता।**
> **एकादशभिराकारैर्विभक्ता प्रतिपद्यते॥**
> **भूतः पंचविधस्तत्र भविष्यँश्च चतुर्विधः।**
> **वर्त्तमानो द्विधाऽऽख्यातः इत्येकादशकल्पना॥** वा० ३. ९. ३७, ३८॥

अर्थात् 'क्रिया अपने ग्यारह आकारों में विभक्त होकर, भूत-भविष्य-वर्त्तमान के रूप में, तीन कालों को प्राप्त होती है। इन ग्यारह में से **पांच** का सम्बन्ध भूत-काल से, **चार** का भविष्यत् से, और **दो** का वर्त्तमानकाल से कहा जा सकता है।' भर्तृहरि के इतने से कथन में ही बहुत सी बातें भरी हुई हैं। ये बातें निम्न हैं :

(क) काल मूलतः त्रिधा विभक्त ही माने जाते हैं।
(ख) उन्हें प्रकट करने के लिए ग्यारह क्रियारूपों (लकारों) का प्रयोग होता है।
(ग) इस पर भी क्रिया एक ही रहती है।
(घ) इनमें से भूत की अभिव्यक्ति पांच प्रकार से, भविष्यत् की चार से, और वर्त्तमान की दो प्रकार से सम्भव होती है।

१२.७ भाव और काल

उक्त सत्यों पर आगे चलकर विस्तार से विचार होगा। यहां भर्तृहरि की वैज्ञानिक दृष्टि के एक अन्य रहस्योद्घाटक पक्ष को भी देख लेना अभीष्ट होगा। भर्तृहरि जानते हैं कि यदि सभी लकारों को 'काल' की सीमा में ले आएं, तब उनके पीछे अन्तर्हित 'मूडों' या 'भावों' की जिज्ञासा उठेगी। इसलिए वे इस प्रश्न का उत्तर देना भी आवश्यक समझते हैं। इस विषय में उनका मन्तव्य स्पष्ट है :

> **काले निधाय स्वं रूपं प्रज्ञया यन्निगृह्यते।**
> **भावास्ततो निवर्त्तन्ते तत्र संक्रान्तशक्तयः॥**
> **भाविनां चैव यद्रूपं तस्य च प्रतिबिम्बकम्।**
> **सुनिर्मृष्ट इवादर्शे काल एवोपपद्यते॥** वा० ३. ९. ३९, ४०॥

अर्थात्, 'भाव बुद्धि द्वारा गृहीत अपने रूप को काल में ही निहित करके स्वयं

अदृश्य हो जाते हैं। उनकी शक्ति काल में ही अन्तरित हो जाती है। तब काल के भीतर से भावों का प्रतिबिम्ब झलकता है।' इस उक्ति में दो बातें स्पष्ट की गई हैं :

(क) भाव और काल मूलत: दो **भिन्न शक्तियां** हैं।

(ख) **काल** अपने प्रकट रूप में **भाव** को भी समवेत और अन्तर्हित कर लेता है।

१२.७.१ हेलाराज

'भाव' की व्याख्या करते हुए इन्हीं श्लोकों की टीका में हेलाराज कहते हैं : **'यतोऽनुभूताः स्मर्यमाणावस्थाः** जायन्ते; **भावाश्चानुभूतौ स्मर्यमाणावस्थाः।'** अर्थात् 'क्रिया के एक विशिष्ट काल प्रयोग को व्यवहार में लाते हुए उस प्रयोग के पीछे छिपी **स्मर्यमाण अवस्था** की अनुभूति को ही 'भाव' कहते हैं।'

१२.८ भाव और मूड

यदि 'भाव' की इस परिभाषा को समझ लिया जाए, तब **भाव** और मूड की पारस्परिक तुलना करना सरल हो जाएगा। **'अनुभूत स्मर्यमाण अवस्था'** ही 'मूड' की भी परिभाषा की जा सकती है। येस्पर्सन ने 'टेन्स' के भेदों की गणना के प्रसंग में 'नौ' की संख्या पर बल दिया है। इन्हें वे कालाश्रित मानते हैं। इन परम्परागत कालभेदों को मूलत: वर्त्तमान, भूत और भविष्यत् में बांटकर, इन्हें पुन: केवल 'भूत' और 'भविष्य' पर आधारित बताते हैं। इस प्रकार मूल **तीन** भेदों के भूत और भविष्य पर आधारित द्विधा विभाजन से कुल **छह** भेद बन जाते हैं। मूल तीन भेदों को मिलाकर कुल भेद **'नौ'** हो जाते हैं।

येस्पर्सन ने इस परम्परा का वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण किया है, और भूत और भविष्यत् के सामीप्य से सम्बद्ध दो-दो भेदों को पृथक् से स्वीकार किया है। इस प्रकार उन दोनों के तीन-तीन भेद हो जाते हैं : **भूत-पूर्व, भूत** और **भूतोत्तर**; एवं **भविष्य-पूर्व, भविष्यत्**, और **भविष्योत्तर**। वर्त्तमान को उन्होंने अविभाज्य माना है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में भेद **'सात'** मानना अधिक न्यायसंगत है। पर कुछ अन्य विद्वान् इसमें 'वर्त्तमान' को भी त्रिधा मानना पसंद करते हैं। उनकी दृष्टि में यह संख्या फिर 'नौ' ही जा पहुंचती है।

१२.९ तीनों मत : एक दृष्टि में

इन तीनों मतों का चार्टों में रूप यह है :

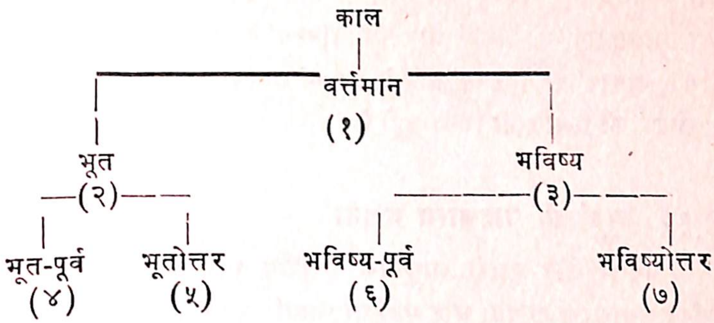
रूपरेखा—(१) नौ भेद : क्रोमान् के आधार पर

- काल
  - वर्त्तमान
    - भूतपरक (१)
    - मूलरूप (२)
    - भविष्यात्मक (३)
  - भूत
    - भूतात्मक (४)
    - मूलरूप (५)
    - भविष्या० (६)
  - भविष्यत्
    - भूता० (७)
    - मूलरूप (८)
    - भविष्यात्मक (९)

रूपरेखा—(2) नौ भेद : नोरीन आदि के अनुसार

- काल
  - भूत
    - भूत-पूर्व (१)
    - भूत (२)
    - भूतोत्तर (३)
  - वर्त्तमान
    - वर्त्तमानपूर्व (४)
    - वर्त्तमान (५)
    - वर्त्तमानोत्तर (६)
  - भविष्यत्
    - भविष्यपूर्व (७)
    - भविष्यत् (८)
    - भविष्योत्तर (९)

रूपरेखा[1] (३)—सात भेद : येस्पर्सन के अनुसार



१२.१० येस्पर्सन और भारतीय धारणा

येस्पर्सन इस विभाजन को भी पूर्ण और अकाट्य नहीं मानते। तब भी यह विभाजन बहुत सीमा तक उन्हें तर्कपूर्ण लगता है। किन्तु, वे यह भी मानते हैं कि इनमें से मध्यवर्त्ती विभाजन ही प्राय: लातीनी व्याकरण के काल विभाजन का आधार रहा है[1]। ग्रीक व्याकरण में 'मूड' के रूप में जो 'भावदशा' अलग से मान्य हुई है, उसका सम्बन्ध भी अन्तत: टेन्स-प्रयोग से ही है। पर, उसमें अन्तर यही है कि हर टेन्स का सम्बन्ध किसी न किसी विशेष मूड से नहीं माना गया है। 'इन्फ़िनिटिव्' जैसे ऐसे 'मूड' भी हैं, जिनका किसी 'लकार' या 'टेन्स' से सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत में भी इसके लिए कृदन्त प्रयोग होता है : क्रियार्था क्रिया मानकर।[2] इसके विपरीत स्थिति यह भी है कि कुछ लकारों की कोई भी मूड स्वीकार नहीं की गई। **'भविष्यत्'** इसी प्रकार का लकार है।

परन्तु, दूसरी ओर, भारतीय धारणा में 'भाव' की स्थिति 'मूड' की अपेक्षा अधिक व्यापक स्वीकार की गई है। **'लृट् शेषे च'** के द्वारा पाणिनि **'लृट्'** जैसे तथाकथित भविष्यवाचक लकार के साथ भी अनेक 'भावों का' सम्बन्ध जोड़ते हैं।[3] पाश्चात्य और भारतीय धारणाओं में अन्तर यह है कि भारतीय धारणा के अनुसार एक-एक लकार का सम्बन्ध, एक-एक भाव के साथ न माना जाकर, अनेक भावों के साथ माना जाता है। **लोट्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ्, और लृट्** की ऐसी व्यामिश्र भावनाओं की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। साथ ही,

---

१. देखें, दि फिला० आ०, पृष्ठ २५४ से २५७ तक।

२. पा० ३. ४. १०।

३. पा० ३. ३. १३।

यह भी स्मर्तव्य है कि संस्कृत-लकारों में 'लिङ्' के दोनों भेद—विधि और आशीः—ही ऐसे हैं, जिन्हें हम मुख्यतः भावसूचक कह सकते हैं। अंग्रेज़ी में इनका संज्ञान्तरण 'ऑप्टेटिव' और 'बेनेडिक्टिव' के रूप में क्रमशः किया जाता है। पर, 'लकार' या 'तिङन्त' होने के कारण अन्ततः ये भी कालसूचक ही ठहरते हैं। 'लोट्' की स्थिति भी भिन्न नहीं है।

१२.११ 'मूड' की पाश्चात्य गणना

अंग्रेज़ी और दूसरी आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के विवेचन के बाद आधुनिक वैयाकरण मुख्यतः चार मूडों या 'भावों' को स्वीकार करते हैं। ये हैं: सूचक (इण्डिकेटिव), आज्ञात्मक या विधि (इम्पेरेस्टिव), अनिर्दिष्ट (सब्जंक्टिव) और क्रियार्थक (इन्फिनिटिव) भाव। इनमें से 'इन्फ़िनिटिव' या 'क्रियार्थक भाव' का सम्बन्ध किसी लकार विशेष से न होकर 'कृदन्त' रूप से होता है। अतः उसे छोड़कर येस्पर्सन मूलतः तीन भावों को ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने 'व्याकरण-दर्शन' में भावों का विभाजन दो नए आधारों पर सुझाया है: (१) इच्छा पर आधारित भाव, (२) इच्छा के स्वातन्त्र्य से रहित भाव।[1] इनके अन्तर्वर्त्ती भावों का सम्बन्ध उन्होंने, लकार विशेष से न मानकर, प्रयोग-विशेष से माना है। इन दोनों के अन्तर्वर्त्ती भावों की संख्या भी भाषाविशेष के प्रयोग-भेदों पर आश्रित मानी गई है। इसीलिए इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं मानी गई।

पर जर्मन विद्वान् डायच्बाइन[2] ग्रीक व्याकरण का अनुकरण करने पर उक्त भावों की अपेक्षा निम्न भावों को भी अतिरिक्त रूप में मान्य पाते हैं: १. कोजिटेटिवस् (Cogitativus), २. ऑप्टेटिवस् (Optativus), ३. वौलुण्टे-टिवस् (Voluntativus), और ४. एक्स्पैक्टेटिवस् (Expectativus)। इनको गृहीत करने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि हर 'भाव' का सम्बन्ध एक निश्चित लकार से स्थिर है। प्रयोगात्मक विश्लेषण करने पर येस्पर्सन ने सिद्ध किया है कि मूडों और टेंसों का कोई स्थिर सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। मूल भाव से सर्वथा भिन्न अर्थ में हम किसी भी लकार का प्रयोग होते देख सकते हैं। इसलिए प्रायोगिक स्थिति में लकार और भाव का सम्बन्ध निश्चित और स्थिर नहीं कहा जा सकता।

---

१. दि फ़िला० ग्रा०, पृ० ३२०।   २. वही।

१२.१२ पाणिनि का मत

इस सम्बन्ध में पाणिनि ने सहस्रों वर्ष पूर्व ही पूर्ण विवेचन कर दिया था। एक ही लकार कितने रूप में तथा कितने भाव में प्रयोग होता है, यह बात वे स्पष्ट कर चुके थे। उनके अनुसार निम्न रूप में लकारों का प्रयोग विशिष्ट भावों में विहित होता है :

लकार	काल	भाव
१—लट्	वर्त्तमान, वर्त्तमानसामीप्य	अपरोक्ष, उत्तर, 'स्म'योग, और वर्त्तमानता।
२—लिट्	(भूत)	परोक्ष।
३—लुट्	(अनद्यतन भविष्यत्)	अनद्यतन, आशंसा।
४—लृट्	भविष्यत्	क्षिप्रवचन, प्रश्न, शेषविवक्षा, अभिज्ञावचन, साकांक्ष।
५—लोट्	(भविष्य)	इच्छा, विधि, निमन्त्रण, प्रश्न, प्रार्थना, स्मयोग, आशीः, क्रिया-समभिहार।
६—लेट्	(अनिर्दिष्ट : व्यामिश्र)	'लिङर्थे'।
७—लङ्	भूत	अनद्यतन, परोक्ष, आसन्नकाल, प्रश्न।
८—विधिलिङ्	(भविष्यत्)	आशंसा, मर्यादा, प्रश्न, विधि, निमन्त्रण, प्रार्थना।
९—आशीर्लिङ्	(भविष्यत्)	आशीः, इच्छा, हेतु-हेतुमद्भाव, यदि, प्रश्न, मर्यादा।
१०—लुङ्	भूत	सामान्यभूतेच्छा, निषेधयोग।
११—लृङ्	भूत	(हेतु-हेतुमद्भावनिमित्ता) क्रिया-तिपत्ति, भूतार्थवृत्ति।

इस प्रकार पाणिनीय दृष्टि से इन ग्यारह लकारों में से एक भी ऐसा नहीं है, जिसे 'भाव' से हीन कहा जा सके। लृट् को सामान्यतः 'फ्यूचर' या 'भविष्यत्' का ही वाचक समझ लिया जाता है। पर पाणिनि भविष्य के प्रसंग में इसके साथ 'शेष' का भी ग्रहण करके इसके दायरे को विस्तृत कर देते हैं। इस भविय की सूचना कितने ही अन्य माध्यमों से दी जाती है। पा० ३.३.३ से १५ तक पाणिनि इस प्रकार की विविध स्थितियों और विविध प्रयोगों को स्पष्ट

करते हैं। इस प्रकरण में 'लृट्' के साथ अनेक भावों का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

इसी प्रकार लिट्, लङ् और लुङ् को सामान्यतः भूत का वाचक मानकर बिना किसी विशेष नियम के प्रयोग किया जाता है। परन्तु, पाणिनि ने उन्हें क्रमशः परोक्ष, अनद्यतन और भूत के अर्थों में व्यक्त किया है; यद्यपि साथ ही वे अन्य अनेक भावों का संयोग भी इनके साथ मानते हैं। 'लृट् लकार' और 'षष्ठी विभक्ति' के सम्बन्ध में यह साम्य है कि पाणिनि इन्हें 'शेष' का विषय मानकर इन्हें 'भाव' अथवा 'सम्बन्ध' की दृष्टि से अन्य लकारों और कारकों से अभिन्न मानते हैं। कम से कम, वे वर्त्तमान भाषाविदों की भांति इन्हें 'भावबाह्य' और 'कारकबाह्य' स्वीकार नहीं करते।

१२.१२.१ पाणिनीय निष्कर्ष

इस प्रकार लकार और भावों के सम्बन्ध में पाणिनि निम्न कुछ सत्य उद्घोषित करते हैं:

(१) उनकी दृष्टि में, ग्यारहों लकार 'भावों' (मूडों) में प्रयुक्त होते हैं।

(२) इनमें से कम से कम तीन लकारों—लुट्, लुङ् और लिट्—का प्रयोग एक-एक भाव में प्रायः स्थिर है।

(३) शेष में से लृट् और लृङ् के भाव परस्पर सापेक्ष, यद्यपि भविष्य और भूत की दृष्टि से विपरीत, एवं स्थिर और सीमित हैं।

(४) अन्य सबके भाव और प्रयोग अनेकविध और अनिश्चित हैं।

१२.१३ भावों की संख्या

पाणिनीय मत की समीक्षा के बाद हम पाश्चात्य परिगणित निम्न भावों या मूडों को मुख्य रूप से पाणिनिसम्मत मान सकते हैं। यथासम्भव समानान्तर आंग्ल परिभाषाएं भी दी गई हैं:

(१) वर्त्तमान—

(२) अपरोक्ष—इण्डिकेटिव

(३) परोक्ष—पर्फ़ेक्ट

(४) अनद्यतन (भविष्य)—इम्पेण्डिंग, प्रोमिसिव

(५) अनद्यतन (भूत)—इम्पर्फ़ेक्ट

(६) इच्छा—वौलुण्टेटिव

(७) आकांक्षा—एक्स्पैक्टेटिव

(८) प्रश्न—क्वेस्टिव या इण्टेरोगेटरी

(९) क्रियासमभिहार—इण्टेन्सिव

(१०) विधि—औप्टेटिव

(११) निमन्त्रणप्रार्थनादि—इम्पैरेटिव

(१२) आशंसा—

(१३) आशीः—बेनेडिक्टिव
(१४) हेतु-हेतुमद्भाव—कण्डीशनल
(१५) भूत (सामान्य)—एओरिस्ट
(१६) मर्यादा—पोटेंशल

इस संख्या में कुछ घटा-बढ़ी भी की जा सकती है। इनमें से कुछ एक भावों में दो या तीन लकारों का भी प्रयोग हो सकता है, पर कुछ में केवल एक का ही प्रयोग हो सकता है। इसके विपरीत कुछ एक लकारों के अनेक भावों में प्रयुक्त होने की बात तो कही जा चुकी है। इनमें से प्रत्येक की विस्तृत चर्चा का अवकाश यहां नहीं है। पर, इतना और कह देना अभीष्ट होगा कि इन्हीं भावों में अनेक में 'कृदन्त' का भी प्रयोग हो सकता है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति केवल लकार या टेन्स से ही सम्बद्ध होकर सीमित नहीं हो जाती। उसे पूर्णतर प्रभाव देने के लिए कृदन्त प्रत्ययों के रूप में अन्य भी उपाय हैं: इन प्रयोगवैविध्यों की चर्चा सर्वाधिक व्यापक रूप में येस्पर्सन ने, 'इच्छा' पर आधारित पूर्वोक्त दोनों भेदों के सम्भाव्य उपभेद गिनाते हुए, की है। इनमें से 'इच्छा पर आधारित' भावों की संख्या **ग्यारह**, एवं 'इच्छारहित' भावों की संख्या **नौ**, तक गिनाई गई है। इनमें से अनेक प्रयोग किसी एक टेन्स ही की पकड़ में नहीं आते। स्वयं येस्पर्सन उस विभाजन को अन्तिम नहीं मानते[1]।

१२·१४ छह भावविकार

यहां यह स्पष्ट कर देना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि **'भावप्रधानमाख्यातम्'** और **'षड्भावविकाराः'** में यास्क[2] ने जिस 'भाव' का ग्रहण किया है, वह **'स्मर्यमाण अनुभूत अवस्था'** के रूप में पूर्वोक्त 'मूड' या 'भाव' से भिन्न है। वहां यास्क 'होना' या 'बिकमिंग' की स्थिति को स्पष्ट करते हैं। इसी 'होना' (**भावः=भवनम्**) को समस्त क्रियाभावनाओं का मूलाधार कहा जा सकता है। जिस भाव की छह विकृतियां मानी गई हैं, वह यही 'होना' या 'होने का भाव' है। जन्म, सत्ता, विपरिणामन, आदि को ही **'जायते, अस्ति, विपरिणमते'**, आदि के रूप में छह भावविकार माना गया है। भर्तृहरि ने भी जहां-जहां इन छह भावों की चर्चा की है, वहीं इन्हें 'विकार' और 'भावभेद की योनि' कहा है।[3] भारतीय चिन्तन में 'भाव' और 'सत्त्व' के तुलनात्मक विभाजन

---

१. दि फिला० ग्रा०, पृ० ३२०-१।
२. नि० १. १. १, २।
३. वा० १. ३; ३. ८. २६-७।

में ही सत्ता के परिवर्त्तमान और मूर्त्त रूपों को विभक्त किया गया है। इन्हें ही 'साध्य' और 'सिद्ध' भी कहा गया है। इसलिए 'मूड' का अनुवाद 'भाव' या 'भावदशा' करते हुए इस सत्य को स्मरण रखना अत्यावश्यक है। कम से कम, उक्त छह भावों को 'मूड' नहीं कहा जा सकता, और न ही ये वैसी **स्मर्यमाण अवस्थाएं** हैं।

१२.१५ काल से सम्बन्ध

इन उपरिगणित भावों या मूडों को भी, इन छह भावविकारों की भांति, अन्ततः 'काल' की सीमा में ही लिया गया है। जिस तरह भाव संख्या में अधिक होने पर भी **नौ, दस,** या **ग्यारह** लकारों द्वारा व्यक्त किए जाते हैं, उसी तरह अधिक संख्या वाले ये लकार भी अन्ततः **तीन वर्गों** में सीमित किए जा सकते हैं। स्पष्ट है कि लकारों के माध्यम से 'भाव' भी **तीन** ही वर्गों में सीमित किए जा सकते हैं। स्थूल रूप में यह वर्गीकरण निम्न रूप में हो सकता है :

(१) वर्त्तमान काल—प्रथम और द्वितीय भाव।

(२) भूतकाल—तृतीय, पंचम, अष्टम, नवम, बारह, चौदह से सोलह तक के भाव।

(३) भविष्यत् काल—चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम. अष्टम, एवं दशम से तेरह तक के भाव।[1]

इनमें से आठवें और बारहवें भाव—प्रश्न और आशंसा—भूतार्थक और भविष्यार्थक दोनों ही लकारों द्वारा व्यक्त हो जाते हैं। उधर, कालात्मक आधार पर लकारों का विभाजन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(१) वर्त्तमान—लट्।

(२) भूत—लिट्, लङ्, लुङ्, लृङ्।

(३) भविष्यन्—लुट्, लृट्, लोट्, लिङ् (विधि और आशीः)।

यह विभाजन भर्तृहरि के विभाजन से भिन्न प्रतीत हो सकता है। हेलाराज भर्तृहरि के विभाजन को समझाते हुए निम्न भेद गिनाते हैं :

(१) वर्त्तमान—सामान्य और अनिर्दिष्ट (वर्त्तमानवत्)।

(२) भूत—सामान्य, अद्यतन, अनद्यतन, उभयेतर, क्रियातिपत्ति या अतिदेश।

---

१. ये संख्याएं अनु. १२.१३ में परिगणित भावों की क्रमसंख्या को सूचित करती हैं।

(३) भविष्यत्—सामान्य, अद्यतन, अनद्यतन और व्यामिश्र।[1]

इस गणना में पूर्वोक्त गणना से यही अन्तर है कि इसके अनुसार लुट् का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में, अथवा इसके विपरीत, भी हो सकता है। इसके अनुसार 'लेट्' का प्रयोग भूत और भविष्य दोनों में होता है। जिसे आंग्ल भाषा में 'सब्जंक्टिव' मूड कहा गया है, उसे ही संस्कृत व्याकरण में 'लेट्' कहा जाता है। 'सब्जंक्टिव' को प्रायः विचार का भाव माना जाता है। इसे हम अनिर्दिष्ट भाव भी कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, उसका सम्बन्ध तीनों में से किसी भी काल से हो सकता है। उधर संस्कृत में 'लेट्' को 'लिङर्थे लेट्' के रूप में कहा गया गया है। 'लिङ्' का सम्बन्ध मूलतः भविष्य से ही है। अतः इस दृष्टि से लेट् का सम्बन्ध भी भविष्य से ही बैठता है।

१२.१५.१ भर्तृहरि का मत

षड्भाव विकारों के सम्बन्ध में भर्तृहरि की निम्न उक्ति विचारणीय है:

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥ वा० १. ३॥

'भाव' के ये छहों विकार भावों की विविधता के कारण बन जाते हैं। वास्तव में ये छहों विकार काल की सापेक्षिक कोटियां हैं। इसीलिए इन्हें कालशक्ति के आश्रित या 'काल के विभाग' कहा गया है। क्रिया को क्योंकि इन छहों अवस्थाओं से पार होना होता है, इसीलिए उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव के भी ये ही छहों विकार कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक भाव या मूड भी इन छह भाव-विकारों के पराश्रित है। क्योंकि ये छहों विकार सापेक्ष हैं और व्यवहारार्थ कल्पित हैं और क्योंकि इनके द्वारा ही अन्ततः अविच्छिन्न और अपरिच्छिन्न काल भी अभिधेय ठहरता है, अतः सामान्यतः भावों या मूडों को भी कालाश्रित गिनना उचित ही है।

१२.१६ सापेक्षिक और व्यावहारिक संज्ञाएं

अभी हमने इन छह विकारों को सापेक्षिक और व्यावहारिक संज्ञाएं कहा है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की निम्न मान्यताओं को देख लेना उचित होगा:

(१) भाव और अभाव की स्थितियां मूलतः एक ही धारा के दो तट हैं.

---

१. वा० ३. ६. ३८ की व्याख्या में हेलाराज।

जिन्हें व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम 'दो' मानकर चलते हैं। यदि अभाव को एक स्थिति स्वीकार कर लें, तब उसे 'भाव' की स्थिति में रूपान्तरित होते मानना असम्भव और अनुचित होगा। और यदि 'भाव' को स्वीकार कर लें, तब उसे 'अभाव' की स्थिति में परिवर्त्तित होते मानना अनुचित होगा। वस्तुत: यह कहना अधिक उचित है कि एक ही सत्ता के प्रवाह में 'भाव' और 'अभाव' की दो व्यावहारिक स्थितियां कल्पित कर ली गई हैं। इनका महत्त्व वास्तविकता या समानान्तर सत्ता की दृष्टि से स्थायी नहीं है।[1]

(२) आविर्भाव और तिरोभाव कहें, अथवा जन्म और नाश, ये द्वन्द्वात्मक शब्द सर्वथा काल्पनिक हैं और व्यावहारिक प्रयोजन से प्रेरितमात्र हैं। छहों भावविकारों में से ये दो स्थितियां ही सत्ता की निरन्तरता के विपरीत सूचना देनेवाली, और इसीलिए सत्य की दृष्टि से अविचारणीय, ठहरती हैं।[2]

(३) 'जायमान' और 'जन्म' की दोनों स्थितियों को परस्पर भिन्न और अनिरन्तर नहीं कहा जा सकता। 'विनाश' की भी यही दशा है। वहां भी विनाश या ध्वंस जैसी कोई बात नहीं होती। इस दृष्टि से विचार करने पर छहों विकार एक ही भाव या 'सत्ता' के विविध अंशों के रूप में दिखाई देते हैं।[3]

(४) काल नाम इसीलिए पड़ा कि यह एक ही सत्ता या भाव की विविध कलाओं को, जलयन्त्र की आवर्त्ती गति की भांति, निरन्तर घुमाता या खण्डित करता रहता है। खण्ड रूप में दीखकर भी अखण्ड रूप में दीखने की यह शक्ति 'काल' के कारण ही आती है।[4]

(५) विश्व की हर प्रक्रिया में, जीवन के हर व्यापार में, 'काल' की ही प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। इसीलिए काल को स्वयं एक ऐसा व्यापार मान सकते हैं, जिसके अंगभूत होकर विश्व के सभी अन्य व्यापार प्रवृत्त होते हैं।[5]

स्पष्ट है कि भर्तृहरि उक्त भावविकारों की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके भी 'काल' को उनकी खण्डित सीमाओं में बांधना नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में काल एक और अखण्ड है। वह हर क्रिया और वृत्ति को समरूप में ही निर्बन्धतया सामने लाता है। सभी भावविकार तब हीन अथवा क्षीण हो जाते हैं।[6] इसीलिए तब आत्मा निर्मुक्त, निर्बन्ध और निष्क्रम हो जाती है :

---

१. वा० ३. ३. ५६, ६१।
२. वा० ३. ८. २६।
३. वा० ३. ८. २८।
४. वा० ३. ६. १४।
५. वा० ३. ६. १२।
६. वा० ३. ६. २५।

यथैवाद्भुतया वृत्त्या निष्क्रमं निर्निबन्धनम्।
अपदं जायते सर्वं तथास्यात्मा प्रहीयते॥ वा० ३. ९. २६॥

१२.१७ एक होकर भी परिच्छेद्य

एक और अविच्छेद्य सत्ता के रूप में काल को एक अविच्छिन्न स्थिति-शक्ति मानने पर भी भर्तृहरि उसके प्रवाह में दो सीमाएं या अवधियां खोज निकालते हैं। इन्हें 'जन्म-नाश' जैसे नाम देना उचित प्रतीत नहीं होता। वे इन दो अवधियों अन्तों या सीमाओं को 'बन्ध' और 'मोक्ष' कहना अधिक उचित समझते हैं। भगवद्गीता में भी 'बन्ध' और 'मोक्ष' को दो शक्तियां माना गया है : एक के द्वारा बन्धन का आरम्भ होता है, और दूसरी के द्वारा बन्धन की समाप्ति होती है।[1] भर्तृहरि कालसीमा के इस 'बन्ध' और 'मोक्ष' को नए नाम देते हैं : **प्रतिबन्ध** और **अभ्यनुज्ञा**। काल का तथाकथित विभाजन उसकी इन्हीं दो शक्तियों या गुणों के द्वारा सम्भव हो पाता है :

तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते॥
यदि न प्रतिबध्नीयात्, प्रतिबन्धं च नोत्सृजेत्।
अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौर्वापर्यविनाकृताः॥ वा० ३. ९. ४. ५॥

'**क्रियाभेदाय कालस्तु**'[2] और '**कालो भेदाय कल्पते**'[3] के रूप में वर्णित और समर्थित काल को इस लोकरूपी यन्त्र का सूत्रधार कहते हैं। वह ही इस विश्व को प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा रूपी शक्तियों के द्वारा विभक्त करता है। यदि उसके द्वारा दृष्ट **बन्धन और मोक्ष** की यह प्रक्रिया न चले, तो पूर्वापरादि के भेद द्वारा स्पष्ट होने वाली व्यवस्था और क्रमपद्धति का उच्छेद ही हो जाए; क्योंकि तब सभी व्यवस्थाएं उलझी हुई सी नज़र आएंगी।

किसी भी वस्तु के परिच्छेद के दो अन्त या सीमाएं होती हैं। काल के 'परिच्छेद' की उक्त दो ही 'सीमाएं' हैं। इन सीमाओं के आने पर भी काल की अपनी शाश्वत गति या सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। काल त्रैकालिक दृष्टि से भी एक ही रहता है। हां, इन दो अन्तों को स्वीकार करने के बाद हम उस काल के निरन्तर प्रवाह में विभाग, अवयव, या क्रम के दर्शन करने लगते हैं। जिस प्रकार एक अखण्ड शरीर के कुछ अवयव होते हैं, पर वे स्वतन्त्र नहीं होते,

---

१. गीता १८. ३०।
२. वा० ३. ९. २।
३. वा० ३. ९. ८।

उसी तरह एक ओर अखण्ड काल के, इन दो अन्तों के कारण, विभाजन या अवयव दिखाई देने पर भी वह एक ओर अखण्ड ही बना रहता है। काल का यह दृश्य विभाजन किसी एक विशिष्ट क्रिया या व्यक्ति क्रिया का, काल के अनन्त प्रवाह में, स्थान निश्चित करने के लिए एक प्रयत्नमात्र ही कहा जा सकता है। भर्तृहरि के शब्दों में :

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम्॥ वा० ३. ९. ३०॥

अर्थात्, 'प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के रूप में काल की दो शाश्वत शक्तियां हैं। या, यूं कह सकते हैं कि काल के शाश्वत स्वभाव के अंग रूप में ही ये दोनों **धर्म** रहते हैं। इन दो धर्मों से युक्त स्वभाव के कारण काल की अखण्ड सत्ता बंटती हुई, और इस प्रकार क्रमरूप धारण करती हुई, दिखाई देती है।'

१२.१८ दो सापेक्ष परिभाषाएं

इन दोनों को भर्तृहरि दो सापेक्ष परिभाषाओं के रूप में स्वीकार करते हैं। इनके द्वारा विभक्त दिखाई देने वाली काल की सीमाओं को स्थायी नहीं कहा जा सकता। इन दोनों की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं :

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां नालिकाविवराश्रिते।
यदम्भसि प्रक्षरणं तत्कालस्यैव चेष्टितम्॥ वा० ३. ९. ७०॥

अर्थात्, 'जिस प्रकार घटीयन्त्र के तल में लगी नाली के छिद्र से पानी निकलते समय कुछ तो बाहर आता है और शेष अन्दर बंधा रहता है, उसी प्रकार काल के प्रवाह में भी एक अवधि या सीमा को एक ऐसे विवरण के रूप में माना जा सकता है, जिससे निःसृत या पारगत काल को **मुक्त** भाग के रूप में और अनिर्गत काल को **बद्ध** भाग के रूप में कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि '**निःसृत**' और '**अनिःसृत**' दो सापेक्ष परिभाषाए हैं। जो इस क्षण 'अनिःसृत' है, वह अगले ही क्षण 'निःसृत' हो जाएगा। दोनों का सम्बन्ध-सूत्र या आधार-सूत्र है 'नालिका-विवर'। इस विवर में से जो पानी गुज़र रहा है, उसे वर्त्तमान काल से उपमित कर सकते हैं। **प्रतिबन्ध** उससे एक ओर की सीमा को बताता है, **अभ्यनुज्ञा** दूसरे ओर की। ये दोनों सीमाएं सापेक्ष हैं : एक **पहले** की स्थिति को बताती है, तो दूसरी **बाद** की। पहले की स्थिति को '**अनागत**' या '**भविष्य**' नाम दिया जा सकता है, और बाद की स्थिति को '**भूत**' या '**गत**' नाम से पुकारा जा सकता है।

१२.१९ वर्त्तमान क्या है ?

इस प्रकार एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है : 'वर्त्तमान' क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कदाचित् स्पष्टता के साथ यह होगा : **प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के बीच का अन्तर**। यह उत्तर उचित प्रतीत होता है। पर प्रश्न फिर उठ खड़ा होता है : क्या प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा काल के किसी अन्तर को सूचित करते हैं, अथवा क्या उन्हें कुछ कालान्तर से प्रयुक्त और सूचित किया जा सकता है ?

यह प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में **प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा** में अन्तर, अथवा दूरी, कुछ भी नहीं है। इन दोनों का पृथक्कारक **'क्षण'** ही इन दोनों के बीच का अन्तर या दोनों के बीच की सीमा बन जाता है। यह बात अलग है कि हमारी कल्पना के क्षण का आयाम कितना है ! प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा की सीमाएं भी प्रयोक्ता के मन पर ही आश्रित हैं। जिस प्रकार **'आज-कल'** शब्द 'कुछ क्षण' से लेकर 'सैंकड़ों वर्षों' की सीमा को स्वयं में अन्तर्हित कर सकता है, उसी प्रकार 'प्रतिबन्ध' और 'अभ्यनुज्ञा' के बीच का यह **क्षण** भी एक कालक्षण से लेकर 'ब्रह्मा के क्षण' तक हो सकता है। इस 'क्षण' को ही **वर्त्तमान** कह देते हैं। इस प्रकार इस काल की सीमा वक्ता के अभिधेय पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में, 'वर्त्तमान' उस क्षण-समूह का नाम है, जो भूत और भविष्य के बीच एक सीमा का सा आभास देता है। साथ ही, यह भी स्मर्त्तव्य है कि यह क्षण-समूह काल के प्रवाह के अनुरूप चंचल होने से 'स्थिर' नहीं कहा जा सकता। 'स्थिर' यदि सापेक्ष-दृष्टि से कुछ हो ही सकता है, तो वह 'भूतकाल' ही हो सकता है। उस स्थिति में चले जाने के बाद कुछ भी 'वर्त्तमान' नहीं बन सकता। यद्यपि प्रायोगिक दृष्टि से 'वर्त्तमान' और 'भविष्य' की सीमाएं यहां भी उलझती दिखाई देती हैं। 'त्रिकाल सत्य' को सदा ही वर्त्तमान के द्वारा व्यक्त किया जाता है। हां, ऐतिहासिक सत्य के लिए उसका प्रयोग, चिन्त्य होने पर भी, सत्य है।

१२.२० भर्तृहरि का मत

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के कुछ वक्तव्यों पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है :

(१) यद्यपि विश्व अक्रम है, तब भी इसमें **क्रम** का चमत्कार दीखता ही है। यह सब **काल** के ही कारण।[1]

---

१. वा० ३. ९. ४६।

(२) वह काल भी अभिन्न है। तब भी क्रियाओं की स्थिति द्वारा कल्पित उसके तीन भेद या विभाग व्यवहार की सुविधा के कारण मान ही लिए गए हैं।[1]

(३) एक ही सत्ता के ये तीन भेद सत्तावान् भावों के दर्शन और अदर्शन अथवा उनकी उपस्थिति और अनुपस्थिति से सम्बद्ध हैं।[2]

(४) 'वर्त्तमान' दर्शन की वह स्थिति है, जिसके दोनों ओर 'अदर्शन' की स्थितियां विद्यमान हैं। 'दर्शन' की इस स्थिति में ही कोई भी सत्ता अपना 'रूप' प्रकट करती है।[3]

(५) 'भविष्य' या 'अनागत' शक्ति के द्वारा 'वर्त्तमान' की राह में कोई अड़चन नहीं आती। किन्तु अतीत का वर्त्तमान से अवश्य विरोध है। वर्त्तमान और भविष्य का साहचर्य भी शाश्वतिक ही है। 'शुद्ध भविष्य' अवश्य वर्त्तमान से पृथक् और रहित कल्पित हो सकता है।[4]

(६) इनमें से केवल 'वर्त्तमान' की स्थिति ही 'प्रकाशवत्' या 'प्रकाशित-वत्' कही जा सकती है। शेष दोनों की तुलना, प्रत्यक्ष न होने से, 'अन्धकार' के साथ की जानी चाहिए[5]।

(७) किसी भी पदार्थ में तीनों धर्म या विभाग साथ-साथ भी रह सकते हैं। एक ही 'काल' एक दृष्टि से 'वर्त्तमान धर्म' का, दूसरे गुण की दृष्टि से वही 'अतीत धर्म' का, और तीसरी दृष्टि से वही 'भविष्य धर्म' का माना जा सकता है। इस प्रकार एक ही काल में 'है' और 'नहीं है' की उभयात्मक स्थिति सम्भव हो पाती है।[6]

(८) जिस विशिष्ट हेतु के कारण हम उसे 'वर्त्तमान' कह रहे हैं, उसके हटते ही, उस दृष्टि से उसका दर्शन भी प्रत्यक्ष नहीं रह जाता[7]।

(९) इसीलिए कुछ लोग 'अतीत' और 'भविष्य' में भी अन्तर नहीं मानते : अदर्शन की दृष्टि से वे दोनों समान हैं। 'दर्शन' की उपस्थिति के कारण 'वर्त्तमान', इससे विपरीत, भिन्न वर्ग का है।[8]

---

१. वा० ३. ९. ४८

२. वा० ३. ९. ४९।

३. वा० ३. ९. ५०।

४. वा० ३. ९. ५१।

५. वा० ३. ९. ५३।

६. वही, ५४, ५९।

७. वही, ५५।

८. वही, ५६।

(१०) इस प्रकार इन तीनों का व्यवहार पृथक्-पृथक् उद्देश्य पर आश्रित है। इसी कारण इनकी सीमा उस उद्देश्य पर आधारित रहती है। दूसरे शब्दों में, जहां जितना ग्राह्य और अभिप्रेत रहता है, वहां उतनी ही सीमा को ग्रहण करके उसे उस काल विशेष की संज्ञा दे दी जाती है।[1]

(११) बुद्धि की सीमा या उसके ग्रहण में आने वाला यह 'काल' एक **क्षण** से लेकर 'युग' या '**मन्वन्तर**' तक कुछ भी हो सकता है। बुद्धि की दृष्टि से क्षण और मन्वन्तर को दीर्घतादि से अन्तर नहीं आता।[2]

इन उद्धरणों पर विचार करने के बाद हम '**वर्त्तमान**' के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष पर पहुंचते हैं :

(क) केवल 'दर्शन' या '**बुद्धिसीमा**' में आने वाले काल को ही '**वर्त्तमान**' कहा जा सकता है।

(ख) यह एक क्षण से लेकर मन्वन्तर तक को आत्मसात् कर सकता है।

(ग) त्रैकालिक और ऐतिहासिक सत्यों की सीमा इससे भी आगे बढ़ जाती है। वहां काल एक अखण्ड सत्ता के रूप में ही दृष्टि या बुद्धि में आता है। इसीलिए काल की मूल स्थिति 'वर्त्तमान' ही ठहरती है।

१२.२१ भूत और भविष्य

इसी प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि काल के अखण्ड प्रवाह में 'दर्शन' और '**अदर्शन**' के भेद से बुद्धि सीमा में गृहीत और अगृहीत काल को ही दो या तीन भागों (या भेदों) में बांट दिया जाता है। निश्चय ही अगृहीत या 'अदर्शन' की दृष्टि से, 'वर्त्तमान' से भिन्न रूप में, 'भूत' और 'भविष्य' अथवा 'अतीत' और 'अनागत' की सत्ता में बहुत अन्तर नहीं खोजा जा सकता। वे एकसा महत्त्व रखते हैं। फिर भी, इन्हें एक कहना दार्शनिक दृष्टि से किसी सीमा तक ही उचित कहा जा सकता है। सत्य की दृष्टि से या तो काल को विभक्त ही स्वीकार नहीं करना चाहिए, और यदि करना ही हो तब उसे 'तीन' में ही विभक्त करके देखना चाहिए। 'तीन' इसलिए कि 'अदृष्ट' वह भी है, जो

---

१. वही, ५७।

२. वही, ६२, ६४, ६६।

वर्त्तमान की 'दृष्ट' स्थिति से पूर्व था, और वह भी जो वर्त्तमान 'दृष्टि' से परे स्थित है या जिसे अभी आने का अवसर नहीं मिला। वर्त्तमान से 'पूर्व' की स्थिति वाले 'अदृष्ट' को 'अतीत' या 'भूत' एवं उससे परे या अनागत 'अदृष्ट' को 'भविष्य' या 'अनागत' कह दिया जाता है।

भर्तृहरि जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से 'अतीत' और 'अनागत' की सत्ता में बहुत अन्तर नहीं खोजा जा सकता। फिर भी एक ऐसा अन्तर वे खोज निकालते हैं, जिसके बाद किसी प्रकार की शंका शेष नहीं रहती। उनके अनुसार : 'अनागत या भविष्य उस कालशक्ति का नाम है, जो जन्म होने की क्रिया में, या जन्मकाल में, प्रतिबन्ध या बाधा बनकर नहीं आती, बल्कि वह उसके साथ-साथ ही रहती है।' दूसरी ओर, अतीत या भूत उसे कहते हैं, 'जिसके रहने पर किसी वस्तु के जन्म की संम्भावना तक नहीं की जा सकती[1]': वैसा होना सम्भव नहीं रहता। इस प्रकार 'जन्म' में प्रतिबन्ध भूतकाल का कार्य ठहरता है। स्वभावतः 'अभ्यनुज्ञा' का सम्बन्ध 'भविष्य' से ही जोड़ा जाना चाहिए। 'प्रतिबन्ध' इसलिए 'भूत' से सम्बद्ध है कि उससे वर्त्तमान का प्रतिबन्ध होता है : अर्थात् भूत के रहते वर्त्तमान नहीं हो सकता। 'अभ्यनुज्ञा' का सम्बन्ध 'भविष्य' से इसलिए ठहरता है कि उसके रहते 'वर्त्तमान' की, और 'वर्त्तमान' के रहते उसकी, सहस्थिति सम्भव है, अभ्यनुज्ञात है। मूलतः ये दोनों ही 'भेदक बिन्दु' हैं। पर हैं ये बिन्दुमात्र ही, अधिक कुछ नहीं।

१२.२२ वस्तु या सत्ता

'भूतो घटः 'का उदाहरण लेकर भर्तृहरि ने एक अन्य वैज्ञानिक प्रश्न भी उठाया है : 'काल का सम्बन्ध वस्तु से है, या सत्ता से ?' वे इसका सम्बन्ध सत्ता से ही मानते हैं। उनका कहना है कि जब हम 'भूतो घटः' आदि कहते हैं, तब भूत का इंगित 'सत्ता' की ओर होता है, वस्तु की ओर नहीं[2]। इस बात को और भी स्पष्ट रूप में बताते हुए वे कहते हैं : 'जब अन्य क्रियाओं से भिन्न करके केवल एक ही क्रिया की ओर हम इंगित करते हैं, तब जिस वस्तु का परिमाण हमें ज्ञात होता है, उसे 'काल' ही कहते हैं[3]। **यह 'काल' कथित या कथ्यमान 'क्रिया' ही है[4]।**

यही बात वर्त्तमान और भविष्य के विषय में भी कही जा सकती है। वस्तुतः जब हम किसी कालभेद की सूचना देना चाहते हैं, तब व्यावहारिक रूप में

---

१. वा० ३. ९. ५१।
२. वही, ७९।
३. वही, ७७।
४. वही, ७८।

हम उसे पृथक् शब्द बनाकर कहें या न कहें, उसकी वास्तविक सूचना क्रिया-प्रयोग के द्वारा ही उपलब्ध होती है। यह बात और है, और यह भाषा की प्रकृति पर निर्भर है, कि इस काल-तत्त्व की सूचना किस प्रकार दी जाती है। यदि भाषा प्रत्यय-संयोगप्रधान है, तब निश्चय ही क्रिया में प्रत्यय के योग द्वारा यह सूचना उपलब्ध होती है। यदि कोई भाषा प्रत्ययविहीन है, तब वहां या तो सर्वथा नए शब्द के रूप में, या फिर निश्चित कालसूचक शब्दों के साथ, क्रिया का प्रयोग होता मिलेगा। पर हर भाषा का बोलने वाला 'काल' को क्रिया से सम्बद्ध रूप में ही ग्रहण करता है। यह बात इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि किसी भी घटना या क्रिया के कहने पर ही 'कब' जैसा प्रश्न पूछा जाता है। 'कब' का उत्तर 'काल' की विशिष्ट सूचना के द्वारा दिया जाता है। तथ्य यह है कि जब वक्ता क्रिया द्वारा काल की सामान्य सूचना तो दे देता है, किन्तु वह उससे विशेष जिज्ञासाएं तृप्त करने में असमर्थ रहता है, तभी 'कब', 'कहां', आदि प्रश्नात्मक क्रियाविशेषणों या अव्ययों का प्रयोग होता है। अतः 'कब' जैसे प्रश्नात्मक अव्यय काल की विशिष्ट सूचना की उपलब्धि के लिए प्रयुक्त होते हैं, और वे क्रिया के प्रति जिज्ञासा के प्रसंग में ही प्रयोग में आते हैं; अन्यत्र नहीं!

१२.२३ काल-भेदों की सीमा

काल के भेद या विभाग निश्चय ही ये **तीन** ही कहे जा सकते हैं। इन तीन की सीमा में ही अन्य तथाकथित भेद अन्तर्गृहीत हो जाते हैं। इस अध्याय के आरम्भ में ही पाश्चात्य विचारकों के द्वारा वर्णित **'नौ'** अथवा **'सात'** काल-भेदों की चर्चा की गई है। उसके विहगावलोकन से ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने भी अन्ततः काल के मुख्यतः **'तीन'** ही भेद स्वीकार किए हैं। उनमें से दो के, या तीनों के, दो-दो अन्य उपभेद बाद में स्वीकार किए गए हैं। ये तीनों मुख्य भेद हैं : **वर्त्तमान, भूत और भविष्य**। शेष सब इनके परस्पर संकर होने से ही बने हैं, या वैसे सूचित होते हैं। पाश्चात्य गणना के अनुसार इनमें से हर एक के दो ही भेद हो सकते हैं: दोनों सीमाओं पर भूत और भविष्य के दो अन्तों को छूते हुए। पर भारतीय मान्यता इससे भिन्न है। वहां 'काल' और 'भावदशा' को मूलतः भिन्न नहीं स्वीकार किया गया। **इसलिए भर्तृहरि ने भूतकाल को पांच प्रकार का, भविष्य को चार प्रकार का, और वर्त्तमान को दो प्रकार का स्वीकार किया है।** **जर्मन** भाषा में आसन्नभूत और आसन्नभविष्य को 'वर्त्तमान' से अभिन्न मानने की बात कही जा चुकी है। **संस्कृत** में भी यह परम्परा इसी

रूप में क़ायम थी।

पाणिनि **'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा'**[1] के रूप में इसी सत्य को भाषा-वैज्ञानिक नियम के रूप में उद्घोषित करते हैं। 'वर्त्तमान के सामीप्य' से उनका अभिप्राय 'भूत' और 'भविष्य' की दोनों सीमाओं से है। 'वर्त्तमान' से इस अभिन्नता का कारण 'नैरन्तर्य' की भावना की उपस्थिति है। यह निरन्तरता 'वर्त्तमान' के साथ होती है। भर्तृहरि 'वर्त्तमान से निरन्तरता' की इस बात पर विशेष बल देते हैं[2]। द्रष्टा या वक्ता निकट अतीत या निकट भविष्य की इस बात को 'सम्पाद्यमान' की दृष्टि से देख रहा होता है[3]। उसकी दृष्टि में किसी प्रकार का व्यामिश्र भाव नहीं होता। और फिर, इन दोनों की अभिव्यक्ति होती एक ही लकार से है। इसे हम 'लट् लकार' कहें या 'प्रेज़ेंट टेंस' : यह एक ही होता है। 'कृदन्त' के रूप में 'शतृ' या 'इङ्' आदि, या इसी प्रकार के अन्य चिह्न, के प्रयोग द्वारा जो क्रियारूप कल्पित किए जाते हैं, उनका प्रयोग 'भविष्यत्' और 'भूत' में भी समान रूप से किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसा संकेत वहां भी वास्तविक 'क्रियारूप'—**अस्ति, आस्ते, है, था, वाज़्** (was), **इज़्** (is) आदि के द्वारा ही होता है। स्पष्ट है कि भूतादि के रूप में काल की कल्पना 'कृदन्तों' में भी हर एक प्रत्यय से नहीं मिलती। 'सहायक क्रिया' या 'आक्ज़िलियरी' का मुख्य कार्य इसी प्रकार की काल-सूचना देना है।

१२.२४ संकरता

भूतकाल और भविष्यत् के संकर भेदों की स्थिति इससे भिन्न है। वे वस्तुतः संकर हैं : कहीं दूसरे के साथ मिलकर, तो कहीं अपने ही विविध उपादानों में उलझे हुए। उदाहरण के लिए 'लृङ्' लकार अथवा 'क्रियातिपत्ति (कण्डीशनल मूड)' की बात ली जा सकती है। संस्कृत के लृङ् लकार में भूत और भविष्य दोनों के चिह्न मिले हुए हैं। अंग्रेजी और अन्य आर्य भाषाओं में ये चिह्न तो इतने स्पष्ट नहीं हैं, पर यह अवश्य है कि वहां भी इन दोनों भावनाओं के व्यामिश्र दर्शन अवश्य हो जाते हैं। 'would have been' आदि आंग्ल प्रयोगों से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाएगी। पाणिनि ने तो परिभाषा ही इस ढंग से की है कि उसमें भूत और भविष्य का यह अस्तित्व अनिवार्य हो उठता है। **'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ'** का सामान्य अभिप्राय यह है कि यदि लिङ् (भविष्य) निमित्त रूप में उपस्थित हो, अर्थात् यदि चर्चित क्रिया घटित न हुई

---

१. पा० ३. ३. १३१।　　　　२. वा० ३. ६. १०२।
३. वा० ३. ६. ८६, ६०।　　　　४. पा० ३. ३. ३।

हो और उसका 'होना' अन्यथा सम्भाव्य रहा हो, और साथ ही यदि उसके घटित होने का सम्भाव्य काल भूत का विषय बन गया हो, तब जिस लकार का प्रयोग होता है, (भविष्य और भूत की सम्भावनाओं से युक्त) उस लकार को 'लृङ' कहते हैं। वैसे भी लृट् और लृङ् नामकरण में अर्धसाम्य या वैषम्य का अभिप्राय भी यही है कि लृट् द्वारा कथ्य वस्तु यहां 'भूत' का विषय बन चुकी है।

इसकी व्याख्या भर्तृहरि अधिक वैज्ञानिक ढंग से करते हैं। उनकी दृष्टि में क्रियातिपत्ति की स्थिति वह है, जिसमें वक्ता चर्चा तो क्रिया की 'अनुत्पत्ति' या 'अनागत' स्थिति की कर रहा होता है, पर इस पर भी जो भविष्य का विषय नहीं होती। 'भूत' में इसे इसलिए ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि कोई भी 'अघटित' या 'अनागत' स्थिति 'भूत' नहीं कहला सकती। पर इसे भविष्य में इसलिए नहीं गिना जा सकता, क्योंकि उसमें बीते हुए काल से सम्बद्ध बातों को, चाहे वे अनागत और अघटित ही क्यों न हों, गृहीत नहीं किया जा सकता।[1] ऐसी सभी स्थितियों में भर्तृहरि 'व्यामिश्र काल' की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। वे इसे 'आमिश्र अवस्था' के रूप में कहते हैं।[2] वे इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं पाते[3]। 'वर्त्तमानसामीप्य' की बात ऊपर समझाई ही जा चुकी है।

भर्तृहरि अन्य उदाहरणों द्वारा भी इसी बात को समझाते हैं। वे कहते हैं कि '**आशंसा**' वर्त्तमान ही है, और उसकी प्रतीति भी वैसी होती है; किन्तु 'विषय' की दृष्टि से वह भविष्य का विषय ठहरती है। इसीलिए वर्त्तमान में होते हुए भी उसे व्यवहारिक सुविधा की दृष्टि से 'भविष्यत् काल' में गृहीत किया गया है[4]। इसी प्रकार '**सन्नन्त**' (Desiderative) के 'चिकीर्षति' और 'वाण्ट्स टु डू' आदि रूपों में इच्छा 'भविष्य' का विषय है। उसका प्रकृत अर्थ भी वही है। भविष्य का विषय होने पर भी क्योंकि 'इच्छा' का 'काल' वर्त्तमान है, इसलिए ऐसे प्रयोगों में वर्त्तमान का सूचक 'लट् लकार' या Present tense ही प्रयोगतः विहित और उचित है। प्रकृति के अनुकूल होने पर भी वहां 'काल' के रूप में 'भविष्यत्' का प्रयोग विहित नहीं रहता[5]।

१२.२५ अवधि : सीमा

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि

१. वा० ३. ६. ९. १।
२. वा० ३. ६. ९७, ९८।
३. वा० ३. ९. १००, १०१।
४. वा० ३. ९. १०३।
५. वा० ३. ९. १०४।

जहां वास्तविक विषय 'भूत' या 'भविष्य' का हो सकता है, वहां प्रत्यक्ष प्रयोग उससे भिन्न काल-सूचक लकार का हो रहा होता है। कहीं ऐसा धात्वर्थ के कारण होता है, तो कहीं और किसी कारण। अन्त में भर्तृहरि इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि अवधि की दृष्टि से यदि काल का विशेष महत्त्व है ही, अथवा यदि किसी कालभेद को अन्य भेदों से पूरी तरह पृथक् करके देखा ही जा सकता है, तब वह 'भूतकाल' ही कहा जा सकता है। 'अनागत' और 'अस्ति' की सत्ता तो विशिष्ट हेतुओं पर ही निर्भर करती है[1]। यह तथ्य हम पहले भी कह आए हैं कि सीमा केवल भूतकाल के लिए ही मानी जा सकती है। भविष्य या वर्त्तमान के लिए कोई भी सीमा या रेखा किसी भी रूप में स्थिर नहीं की जा सकती। निष्पत्ति होते ही कोई भी क्रिया 'भूत' का विषय बन जाती है[2]।

१३.२६ एक ही सत्ता : एक ही काल

पर 'भूतकाल' का अस्तित्व स्वीकार करते ही अन्य दोनों कालों का अस्तित्व, एक रूप में या दूसरे रूप में, स्वीकार करना ही होता है। भर्तृहरि इसे 'व्यावहारिक सुविधा' की ही बात मानते हैं। इससे अधिक महत्त्व वे काल-विभाजन को नहीं देते। उनके मत को ऊपर हम स्पष्ट ही कर आए हैं। इसके अनुसार यह वक्ता की दृष्टि पर निर्भर है कि वह एक और अखण्ड सत्य को विभक्त अथवा अनेकतामय देखता है, या एकत्व की दृष्टि से? 'सत्ता' को भर्तृहरि ने सर्वत्र एक और अविभाज्य माना है। 'काल' भी 'शक्ति' के रूप में एक और अखण्ड है। जब हम उसे विश्वात्मक और सर्वातिशायी शक्ति के रूप में देखते हैं, तब खण्ड सत्यों की अनुभूति न होकर हमारे सामने 'अखण्ड सत्य' की अनुभूति और प्रदीप्ति होती है। अखण्डता की यह अनुभूति ही हमें त्रैकालिक और ऐतिहासिक सत्यों को 'वर्त्तमान' के रूप में अभिव्यक्ति देने में समर्थ बनाती है। ऐसे 'वर्त्तमान' का सम्बन्ध किसी कालविशेष से न होकर 'कालमात्र' के साथ होता है।

१२.२७ उपसंहार

इस प्रकार हम काल के सम्बन्ध में भर्तृहरि के निम्न निष्कर्ष पाते हैं :

(१) काल एक और अखण्ड है। इसीलिए त्रैकालिक और ऐतिहासिक सत्यों के लिए 'वर्त्तमान' का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः ऐसे

---

१. वा० ३. ९. १११। २. वा० ३. ९. १०६-७।

प्रयोग वर्त्तमानसूचक चिन्हों से युक्त होकर भी काल-भावनाहीन हैं।

(२) 'अवधि' की सीमा काल में वैसे ही 'विभाग' का कारण बनती है, जैसे 'दिक्' के सम्बन्ध में।

(३) यह अवधि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के रूप में या उनके द्वारा द्योतित हो सकती है।

(४) इनमें से दूसरे कालों का विरोध करने वाली शक्ति **प्रतिबन्ध** है, **अभ्यनुज्ञा** नहीं।

(५) इसीलिए सामान्य कालसत्ता से विभाज्य, या उसके भेद के रूप में गणनीय, यदि कोई अंश है ही, तो उसे 'भूत' के नाम से ही मानना चाहिए। शेष दो का मूलगत परस्पर विरोध अधिक नहीं है।

(६) सामान्यत: काल के **तीन** ही भाग हो सकते हैं। पर संकर भेद से इनके अवान्तर भेद भी हो सकते हैं।

(७) यह संकरता भावों में भी हो सकती है। उसके कारण ही काल-संकरता उत्पन्न होती है।

(८) सभी 'भाव' या 'मूड' अपनी अभिव्यक्ति केवल 'काल' के माध्यम से ही कर सकते हैं। 'काल' के बिना 'क्रिया' की सत्ता नहीं, और 'क्रिया' के बिना 'काल' की रूपात्मक या भावनात्मक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं।

भर्तृहरि के ये परिणाम विश्व की किसी भी भाषा पर, और उसके व्याकरण पर, पूरी तरह घटाए जा सकते हैं। इनकी अभिव्यक्ति के रूप भाषा-भेद से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किंतु 'तीन' मुख्य भेद, और अभिव्यक्ति के माध्यम, सर्वत्र एक से ही हैं। 'काल की अखण्डता' की बात भर्तृहरि वैज्ञानिक, भाषावैज्ञानिक और दार्शनिक सभी दृष्टियों से करते हैं। इस विषय में सर्वत्र उनके '**अखण्डतावाद**' की बात को दोहराया जाता देखकर यही कहा जा सकता **है कि उस महान् अखण्डतावादी की दृष्टि में सत्य सदा समग्र, अविभाज्य और एक ही हो सकता था।** इसीलिए हर सत्य की पूर्ण वैज्ञानिक विवेचना के बाद वह एक ही परिणाम पर पहुंचता है : **सत्य ही सत्ता है, और वह एक और अविभाज्य है। उसके विभाजन केवल व्यावहारिक सुविधा की वस्तु है।**

लिंग विचार

१३.१ मूल समस्या : सम्बन्ध किससे ?

'लिंग' का सामान्य अर्थ 'चिह्न' या 'लक्षण' है। प्रस्तुत प्रसंग में 'लिंग' से उन लक्षणों का ग्रहण अभिप्रेत है, जो मुख्यत: बाह्य होते हैं या वस्तु के ग्रहण में भिन्न बुद्धि उत्पन्न करते हैं। परन्तु यह सब परिभाषा अपूर्ण ही है क्योंकि जब हम वास्तविक प्रयोगों के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं, तब पता चलता है कि इन लक्षणों की बाह्यता केवल कुछ अंश तक ही सीमित होती है। अन्यथा, भावात्मक वस्तुओं या शुद्ध भावों तक में इनका आरोप स्पष्ट बताता है कि ये लक्षण न तो नितान्त बाह्य हैं, न स्थायी हैं, और न ही इन्हें सार्वत्रिक कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध है कि 'स्तनकेशादि से युक्त प्राणी को स्त्री कहते हैं'। पर यह लक्षण सर्वत्र नहीं घटता। प्राणियों में भी ये दोनों लक्षण न तो सार्वत्रिक हैं, और न ही सहवर्त्ती। 'पुरुष होने का लक्षण रोम है (विशेषकर छाती के)', यह परिभाषा भी विचारणीय है। 'योनि' और 'शिश्न' आदि चिह्न भी 'प्राणियों' तक ही सीमित कहे जा सकते हैं। किन्तु प्राणि-जगत् का ही एक स्तर ऐसा भी है, जहां अगले प्रसव के लिए 'नर-मादा' की आवश्यकता नहीं रहती और विभाजन या सन्तान-प्रक्रिया स्वत:सम्भूत प्रक्रिया के रूप में चलती रहती है। एककोषीय 'अमीबा' जैसे प्राणी इसी कोटि के अन्दर आते हैं। फिर, रोमादि के इस लक्षण को केवल **चर जगत्** तक ही सीमित किया जा सकता है। सम्पूर्ण सजीव जगत् भी इसके दायरे में नहीं आता। वृक्ष, लताएं और वनस्पतियां सजीव होकर भी इन लिंगों से रहित रहती हैं। उधर, इन लक्षणों के रहने पर भी कुछ प्राणी 'नर' या 'मादा' में समाविष्ट नहीं किए जाते। मनुष्य जाति में जिन्हें 'नपुंसक' कहा जाता है, उनके शरीर में प्रत्यक्ष चिन्ह उभयात्मक भी हो सकते हैं अथवा एकजातीय भी ! पर उनका ग्रहण न एक लिंग में होता है, न दूसरे में।

प्राणि-जगत् की इस परिधि से बाहर एक विशाल संसृति ऐसी भी है,

जिसके विषय में लिंग का प्रयोग तो हम अनायास करते हैं, किन्तु उस प्रयोग का आधार प्रस्तुत करने में हम एक-समान तर्क उपस्थित नहीं कर सकते। 'संसृति' का अर्थ यहां दृश्यमान या अस्तित्वमान् संसार से ही नहीं है। शुद्ध विचार-जगत् और कल्पना-जगत् भी इसी दायरे में आ जाते हैं। व्यवहार में हम इन सभी की लिंग-कल्पना करके इनका प्रयोग करते हैं।

अत: स्पष्ट है कि लिंग की कोई ऐसी परिभाषा खोज निकालना असम्भव प्रतीत होता है, जो सर्वत्र समान रूप से लागू हो सके। जिन भाषाओं में यह 'लिंग' विशेषण अथवा क्रिया में भी प्रयुक्त होता है, वहां तो समस्या और भी जटिल हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि हम लिंग के सही स्वरूप, उसकी परिभाषा और उसके प्रयोग के पीछे छिपी दार्शनिक भावना को समझने का यत्न करें। परन्तु, इस सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि लिंग का सम्बन्ध किन-किन पद-भेदों से है, और किस-किस तत्त्व से? यह भी, कि 'लिंग' का यह सम्बन्ध पदभेदों द्वारा सूचित भावों या वस्तुओं से किस सीमा तक है ? उदाहरणार्थ, यदि किसी भाषा में लिंग की अभिव्यक्ति क्रिया-पदों में भी होती है, तब क्या वहां क्रिया में भी ऐसे लक्षण स्वीकार करने होंगे, जो लिंग-सूचक होंगे ? और, क्या ऐसी भाषा में 'क्रिया-भावना' उन भाषाओं की भावना से भिन्न होती है, जिनमें क्रियापद के साथ लिंग-प्रयोग नहीं होता ?

१३.२ सम्बन्ध किससे ?

लिंग का सम्बन्ध किन पदों या किस तत्त्व से है ?, इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक हो जाता है कि इस बात पर आधुनिक विचारकों में से येस्पर्सन ने अधिक उचित ढंग से विचार किया है। वे व्याकरण के हर तत्त्व की भांति इस तत्त्व के भी दो 'आधार' मानते हैं : **लोक और शास्त्र**। यह पद्धति पतंजलि और भर्तृहरि की पद्धति से मिलती-जुलती है। लोक में लिंग जितने प्रकार का और जिससे सम्बद्ध मिलता है, उसका ही प्रभाव शास्त्रीय विनिश्चय पर पड़ता है। पर दोनों के वर्गीकरण और विभाजन का अपना तरीका होता है। लोक में लिंग कितने प्रकार का उपलब्ध होता है ?, इस बात से प्रयोजन हमें आगे पड़ेगा। यहां तो यह बात जाननी आवश्यक है कि लोक में लिंग-भेद स्पष्टत: सजीव वस्तुओं तक ही सीमित होता है। वनस्पति, पशु, पक्षी, जन्तु, एवं मनुष्य जाति पर भी यह बात समान रूप से लागू होती है। भावात्मक, जड़, या अदृश्य अन्य बातों के लिंग का भौतिक या लौकिक निश्चय नहीं किया जा सकता। इसीलिए लोक में इन सबका ग्रहण लिंग-विचार की दृष्टि से नहीं

होता।

परन्तु, शास्त्र लोक की इस बात को पकड़ लेता है कि लोक में यद्यपि 'लिंग' की मूल उपलब्धि प्रत्यक्ष और सजीव वस्तुओं में ही होती है, किन्तु फिर भी लोक द्वारा इन लिंगों का प्रयोग हर मिलती-जुलती जड़ या अन्य वस्तुओं और भावनाओं के सम्बन्ध में भी होता है। लोक किन आधारों पर इन प्रयोगों का विस्तार करता है, तथा किस प्रकार ये लक्षण एक द्रव्यजाति या भावजाति से दूसरी द्रव्य-जाति या भावजाति में बदल जाते हैं, और उनमें 'लिंग-भेद' का आधार बहुधा पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगता है, यह बात जानकर शास्त्र अपने कुछ निष्कर्ष निकालता है, और लोक-प्रयोगों का सही आधार खोज निकालने का प्रयास करता है।

१३.३ लोक-प्रयोग में विविधता

पर इन लोक-प्रयोगों में कितनी विविधता है, यह बात विश्वभाषाओं के विहगावलोकन से भी पुष्ट हो जाएगी। **जर्मन, अंग्रेज़ी और हिन्दी-संस्कृत** एक ही परिवार की विविध भाषाएं हैं। पर ये सभी विविध प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। **लिंग-प्रयोग** के सम्बन्ध में इनमें **विविधता** है। **जर्मन** में विशेष्य और विशेषण में लिंग, वचन, विभक्ति की समानता की बात, संस्कृत ग्रीक और लैटिन के अनुकरण पर, अब तक चली आ रही है। पर **अंग्रेज़ी** में यह सब उलट-पुलट हो गया है। जर्मन की उत्तराधिकारिणी होने पर भी अंग्रेज़ी लिंग, वचन, विभक्ति आदि के प्रयोग में पर्याप्त भिन्न हो गई है। यह उसके अचानक और तीव्रतम विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के सद्य:ग्रहण के कारण हुआ है। विशेषणों में से प्राय: ही लिंग-वचन-विभक्ति का लोप हो गया है। प्रत्युत वहां तो वचन का प्रयोग होते ही 'विशेषण' को लाक्षणिक 'संज्ञा' ही समझ लिया जाता है। यही बात 'लिंग' की है। यदि किसी विशेषण शब्द में लिंग जुड़ा है, तो उसे निश्चय ही संज्ञा-स्थानीय समझ लिया जाता है। हिन्दी और संस्कृत में भी अंग्रेज़ी-जर्मन का सा ही भेद विद्यमान है। संस्कृत में विशेषण और विशेष्य के लिंगवचनादि के साम्य की बात स्थायी रूप से मान्य है। अंग्रेज़ी की भांति हिन्दी में यह व्यवस्था अधिकांशत: टूटती जा रही है। वहां 'सुन्दरी' को अब 'विशेषण' न मानकर, 'संज्ञा' माना जाता है। स्वरूप की दृष्टि से, विशेषण और क्रियाविशेषण में अन्तर वहीं स्पष्ट होता है, जहां किसी रूढ़ि के कारण अब तक लिंगवचनादि का योग बाकी है। अन्यत्र, एक ही रूप में शब्द उभयत्र प्रयोग होता है। अत: बहुधा यह अन्तर भावात्मक और प्रयोगात्मक ही

रह गया है।

१३.४ हिन्दी क्रिया : एक भ्रम

परन्तु एक दृष्टि से हिन्दी इन सबसे भिन्न है, और कदाचित् इन सब भाषाओं से आगे बढ़ी हुई है। उसकी यह भिन्नता और विशेषता **क्रियाओं** के साथ प्रतीयमान **लिंग-योग** में है : करता है, करती है, गया था, गई थी—आदि प्रयोगों की अनुकृति सामान्य बात है। इस बात को लेकर कई विद्वान् हिन्दी को आर्य परिवार की अन्य भाषाओं से सर्वथा भिन्न मानते हैं। बहुत से विद्वानों ने इस बात को उर्दू का या अन्यथा बाह्य प्रभाव माना है। यदि अन्य सब बातों का उत्तर पा भी लिया जाए, इस सम्बन्ध में बात '**था, थी**' पर आकर अटक जाती है। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे। यहां केवल इतना ही संकेत देना काफी है कि यह धारणा सर्वथा भ्रामक है।

पर, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर जहां अंग्रेजी और हिन्दी जैसी भाषाएं लिंगादिप्रयोग के मामले में अपने परिवारों की अन्य भाषाओं की अपेक्षा पर्याप्त आगे बढ़ी हैं, वहां क्रिया में लिंग-प्रयोग की यह भ्रान्ति हिन्दी के मामले में पर्याप्त भ्रम भी उत्पन्न करती है।

१३.५ लिंग का अभाव

यहां तक भारोपीय परिवार की, अतएव एक ही प्रवृत्ति की, भाषाओं की चर्चा हुई। पर, अन्य भाषाओं पर विचार के प्रसंग में हम पाएंगे कि लिंग-प्रयोग तो दूर रहा, कई भाषाओं में तो वचन और पुरुष तक का प्रयोग नहीं होता। अन्य कुछ में कालसूचना की अभिव्यक्ति भी अन्य माध्यमों से ही दी जाती है। **चीनी** भाषा ऐसी ही है। ऐसी भाषाओं को **अयोगात्मक भाषाएं** कहा जाता है।

१३.६ नियम और लोक

इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वत्रिक तौर पर कोई ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता, जिसे 'लिंग-नियम' के रूप में कहा जा सके तथा जिससे यह स्थिर किया जा सके कि किस पद के साथ सार्वत्रिक तौर पर लिंग-द्योतक चिन्हों या प्रत्यय-संकेतों का प्रयोग होना है और किसके साथ नहीं ?

इसलिए यह जानने के लिए वाक्-प्रयोग में सार्वत्रिक तौर पर लिंग का प्रयोग किस तथ्य की सूचना के लिए और किस पद के साथ सम्बद्ध होकर प्रयुक्त होना चाहिए, हमें 'लोक' की शरण जाना होगा। लोक में 'लिंग' के

लक्षण-भेद हम प्राय: किसी न किसी वस्तु अथवा द्रव्य से सम्बद्ध ही पाते हैं: **'करती है', 'जाती है'**, आदि का प्रयोग भी हमें किसी 'व्यक्ति' के नारी होने की सूचना ही देता है। विशेषण शब्दों के साथ होने वाला लिंग-प्रयोग केवल यह विज्ञापित करता है कि वे शब्द जिस संज्ञा के गुण का कथन करते हैं, उस 'संज्ञा' के द्वारा ही हम मूलत: किसी वस्तु के लिंग को सूचित करते हैं। वस्तुत: 'संज्ञा' **है द्रव्य की संकेतिका**। द्रव्य के जितने ही व्यापकतम रूप का वह प्रतिनिधित्व कर सके, या उसके द्वारा उस द्रव्य के सम्बन्ध में जितनी ही व्यापक सूचना दी जा सके, उसे उतना ही पूर्ण माना जाता है। पर यह सब बात भाषा-भेद और उसे बोलने वाली जाति के भेद पर आधारित है। जाति-भेद के आधार पर अभिव्यक्ति में अन्तर आता है। कोई जाति इस लिंग-सूचना के लिए पृथक् से शब्द चुन सकती है और, इस प्रकार, मान्य पदों से उनका पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर सकती है। दूसरी जाति इन लक्षणों को हर द्रव्य से अभिन्न और उसका अंग मानकर चल सकती है। इस प्रकार उसके प्रयोगों में 'लिंग' प्रत्ययों या चिह्नों के रूप में ह्रसित होकर द्रव्य शब्दों के साथ अभिन्न रूप में प्रयुक्त होता है। ऐसी भाषाओं में अनेक शब्दों के रूप दो या तीन लिंगों में भी पाए जाते हैं। कम से कम इन प्रत्ययों का प्रयोग, लिंग-भेद के द्योतन के लिए, हर शब्द के साथ होना सम्भव है। प्रश्न है इन चिह्नों की उपस्थिति की पहचान का।

१३.६.१ सार्वत्रिकता

परन्तु यह बात केवल उन्हीं वस्तुओं तक सीमित कही जा सकती है, जिनके लक्षण स्पष्ट और प्रकट हैं। ये लक्षण भिन्न-भिन्न द्रव्य-जाति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। पर जिन द्रव्यों या पदार्थों में कोई भी चिह्न प्रत्यक्ष नहीं होता, या जिनमें ऐसी भावना का आभास भी नहीं पाया जा सकता, उस शब्दराशि पर यह बात लागू नहीं होनी चाहिए। पर सत्य यह है कि जिन भाषाओं में लिंगभेद को अभिव्यक्त करने की एक या दूसरी रीति प्रचलित है, उनमें संज्ञामात्र के साथ इन प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। भले ही वे जड़ द्रव्य की सूचिका हों, और भले ही उन द्रव्यों में लिंग-भेद की तनिक भी सम्भावना न हो।

भावनात्मक प्रयोग की यह बात स्पष्ट संकेत देती है कि 'लिंग-सूचक' प्रत्यय केवल बाह्य या आभ्यन्तर चिह्नों को ही प्रकट नहीं करते, बल्कि वे विचारक मन की उस विशेष गति को भी सूचित करते हैं, जिसके द्वारा वह हर वस्तु को अपनी दृष्टि से देखता और वर्गीकृत करता है। इस प्रकार ये लिंग-चिह्न

स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद को ही व्यक्त नहीं करते, बल्कि अन्य भी बहुत से भेदों को स्पष्ट करने में इनका प्रयोग होता है। यह प्रयोग भले ही विशेषण पद या क्रियापद के साथ उपलब्ध हो, परन्तु उसका मुख्य अभिधेय होता है : **द्रव्य के सम्बन्ध में विशिष्ट सूचना देना**। 'द्रव्य' में जड़-चेतन या सजीव-निर्जीव का भेद करना असम्भव है। इसीलिए, लिंग की दृष्टि से भी कोई ऐसा विशेष द्रव्यवर्ग अभिधेय नहीं समझा जाता; प्रत्युत समस्त द्रव्यराशि या भावराशि को ही उसका विषय समझा जाता है।

१३.७ सम्बन्ध : द्रव्य से

अतः सबसे मुख्य बात, वाक्प्रयोग में लिंग-भावना की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में, यह है कि यदि उसे प्रत्यय के रूप में व्यक्त करना ही हो, तो यह प्रयोग बिना भेद के द्रव्यमात्र के साथ हो सकता है। भले ही इन प्रत्ययों का अर्थ या संकेत भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप में होता हो। स्पष्ट है कि विशेषण या क्रिया के साथ होने वाला प्रयोग किसी भाषा की अभिव्यक्तिगत निजी विशेषता ही हो सकता है। इसलिए गुण या कर्म में स्वयं लिंग की खोज का प्रयास हमें अन्धकार की ओर ही ले जाएगा। ऐसा प्रयास सर्वथा निष्प्रयोजन और निष्फल होगा। द्रव्यों के एक वर्ग में लिंग-भेद बाह्य होता है। भेद की उसी भावना को हम द्रव्यमात्र पर किसी न किसी आधार पर लागू कर देते हैं। गुण और क्रिया के साथ होने वाला लिंग-प्रयोग भी मूलतः कर्त्ता या द्रव्यमात्र के ही लिंग की सूचना देता है। इसी दृष्टि से लिंग को **परतन्त्र** कहा जा सकता है।[1] इसकी यह परतन्त्रता द्रव्य के प्रति होने के कारण लिंग-भावना का मूल आधार द्रव्यमात्र को ही मानना होगा। यदि चीनी या अन्य किसी भाषा में इसकी अभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्र प्रत्यय न भी हों, तब भी इस भावना की अभिव्यक्ति तो उन भाषाओं में किसी भांति हो ही जाती है।

१३.८ भावना में समवेत

अतः अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर लिंग-प्रयोग द्रव्यशब्दों से समवेत होकर —प्रत्ययों के रूप में अभिन्न रह कर या शब्दों के रूप में स्वतन्त्र रहकर—होना सम्भव है। यही उचित भी है। यह गुण और क्रिया के साथ भले ही प्रयुक्त हो, या फिर द्रव्य के साथ भी प्रयुक्त न हो; इसका भावनात्मक प्रतिनिधित्व द्रव्य के साथ एक या दूसरे रूप में समवेत होकर ही रहता है। इस भावना के द्योतक चिह्नों

---

१. वा ३. १३. २१।

का गुण और कर्म—विशेषण और क्रिया—के साथ प्रयोग होने पर, या न होने पर भी, उनके द्वारा अभिहित मूल वस्तु अपने स्वरूप में ही स्थित रहती है। 'करता है' या 'करती है' कहने से क्रियाविधि में लिंगात्मक कोई अन्तर नहीं स्पष्ट होता। 'सुन्दरी' और 'सुन्दर' विशेषण के नाते एक ही अर्थ और महत्त्व रखते हैं। अतः ऐसी सब जगहों पर विहित लिंग-प्रयोग अन्ततः लिंग का सम्बन्ध द्रव्य से ही संकेतित करता है।

१३.९ लिंग क्या है?

ऊपर के प्रसंग में लिंग के स्वरूप या प्रतिनिधित्व की थोड़ी सी चर्चा आई है। अतः यहां सविस्तर विचार सप्रसंग और सावसर ही रहेगा। मनुष्य की सामान्य प्रवृत्ति यह है कि उसका हर विचार और विश्लेषण उसके अपने केन्द्र से आरम्भ होता है। अर्थात्, मूलतः वह मनुष्यजाति और उसके परिवेश के विश्लेषण के आधार पर ही अपने कुछ परिणाम स्थिर कर बैठता है। फिर कालान्तर में उन्हें ही समस्त सृष्टि के विश्लेषण में प्रयुक्त कर लेता है। येस्पर्सन ने इन्हें ही क्रमशः 'नोशनल (धारणात्मक)' और 'व्याकरणात्मक' विभाजनों का नाम दिया है। **धारणा** और **व्याकरण** का सम्बन्ध-सूत्र वह 'प्रयोजन' को स्वीकार करते हैं। यहां इस प्रकार के सम्बन्ध-सूत्र बाह्य भौतिक चिह्न हैं। कभी इसी विश्लेषण के आधार पर भारतीय विचारकों और दार्शनिकों ने बाह्य लक्षणों को प्रधानता देते हुए सारी मनुष्य जाति को तीन वर्गों में बांधना चाहा था। **पुरुष** और **स्त्री** को वे एक ही जाति या वर्ग के, लिंग-भेद से भिन्न, दो अवयव या घटकमात्र मानते थे। उनकी दृष्टि में इन लिंग-भेदों को छोड़कर दोनों की रचना, आकार और प्रवृत्ति एक सी ही थी। '**पुरुष**' को मुख्य रूप से श्मश्रु आदि रोमों में प्रधान माना गया और **स्त्री** के मुख्य लक्षण स्तन और केश स्वीकार किए गए। इन मिले-जुले लक्षणों से युक्त एक ऐसा भी भेद खोज लिया गया, जो न पुरुषों में गृहीत होता था, और न स्त्रियों में। इसे पृथक् से **नपुंसक** अर्थात् 'पुंस्त्वहीन होने पर भी पुंल्लिगवत् प्रतीयमान' स्वीकार किया गया।[१]

१३.१० विभाजन : सत्य और भ्रम

परन्तु ये लक्षण एकदम अव्याप्तिमान् और अग्राह्य थे। मनुष्य जाति में भी **चीनी** और **तिब्बती** जाति के **पुरुषों** और अफ्रीकी अश्वेत स्त्रियों पर यदि ये लक्षण पूरी तरह घटाकर देखे जाएं, तब अधिकांशतः ये सभी किसी न किसी

---

१. 'स्तनकेशवती स्त्री स्यात्' आदि। हेलराज द्वारा ३. १३. २ में उद्धृत।

रूप में टूटते हुए पाए जाएंगे। और फिर, सृष्टि केवल मनुष्य-जाति तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य का दैनिक सम्पर्क न जाने कितने अन्य जीवों से या द्रव्यों से होता है। वस्तुतः उसके सम्पर्क और व्यवहारमें आने वाली हर चर-अचर वस्तु उसके कथ्य का विषय बन सकती है। सम्पर्क में आने वाली इस वस्तुराशि में भी समानाकृति या एक-जाति वस्तुओं में परस्पर भेद-प्रदर्शन के लिए उनमें कुछ अन्तर स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह अन्तर उनके आकार, प्रकृति या गति आदि के आधार पर हो सकता है।

मनुष्य-जाति में प्रयुक्त 'लिंगभेद' एक ऐसा मापदण्ड है, जिसे विभिन्न आधारों पर इस समस्त चराचर सृष्टिमात्र पर घटाया जा सकता है। इस विनियोग का कारण यही है कि हम उन द्रव्यों में भी कुछ विशिष्ट वर्गों को मानकर उनमें परास्पर भेद दिखाना चाहते हैं। निश्चय ही वहां सर्वत्र उक्त लक्षण घटित नहीं होते। कदाचित्, सर्वत्र पुरुष, स्त्री, और नपुंसक **नामों** का आरोप भी आपत्तिजनक प्रयोग प्रतीत होगा। फिर भी, भाषा-प्रयोग में मनुष्य तब तक अत्यन्त कृपण रहना चाहता है, जब तक काई लाचारी न हो। जब चर या सजीव जगत् का, किन्हीं विविध लक्षणों के आधार पर, तीन भिन्न प्रकार के वर्गों में हम विभाजन और वर्गीकरण स्वीकार कर लेते हैं, तब उन वर्गों की सूचना के लिए प्रयुक्त-प्रत्यय चिह्नों का ही प्रयोग हम याद्दच्छिक रूप में वस्तुमात्र के लिए करने लगते हैं। ऐसा प्रकृति के भेद-निदर्शन के लिए करना अनिवार्य हो जाता है।

स्पष्ट है कि उन चिह्नों को पुरुष, स्त्री, आदि वर्गों में नहीं बांटा जा सकता। वे तो तीन प्रकार के, या कम-अधिक, भेद-चिह्न हैं, जिन्हें हम यथेष्ट रूप में यथास्थान और भिन्न-भिन्न रूप में प्रयोग कर लेते हैं। अतः सर्वत्र उनके द्वारा समान लक्षणों को अभिव्यक्ति देना हमें अभिप्रेत नहीं होता। वास्तव में दो या तीन प्रकार के प्रत्यय हमारी सीमा हैं। उन्हें ही हम विविध रूप में प्रयोग करते हैं। क्योंकि उनका सर्वाधिक सम्बद्ध प्रयोग पुरुष, स्त्री, आदि अर्थों में होता है, अतः हम उन्हें ही उन लिंगों के बोधक समझकर उन प्रत्ययों के आधार पर उनसे संयुक्त शब्दों को पुंल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग आदि कह देते हैं। जहां तक तीन विभागों का सम्बन्ध है, यह विभाजन उचित है। पर जहां नामकरण का सम्बन्ध है, इसे भ्रामक कहा जा सकता है। पर फिर भी, यह नामकरण और यही विभाजन अधिक प्रचलित और मान्य है।

१३.११ विभाजन का सामान्य आधार : सात विकल्प

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि लिंग-विभाजन का एक सामान्य आधार खोज निकालना प्रायः असम्भव ही है। इसका एकमात्र कारण यह है कि यह आधार भिन्न-भिन्न स्थानों और प्रसंगों में भिन्न-भिन्न हो सकता है। फिर भी, क्योंकि अन्ततः प्रयोक्ता मन एक ही है, अतः उसकी चिन्तन पद्धति और प्रयोग-पद्धति के बीच कोई तो साम्य होगा ही। इस आधार पर बढ़ने पर हम पाएंगे कि कुछ न कुछ व्यापकतर और समान बातें खोजी ही जा सकती हैं, जो शत-प्रतिशत भले हीं लागू न हों, पर अधिकतम रूप में अवश्य सही कही जा सकती हैं। महाभाष्यकार और वाक्यपदीयकार ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है, जिसे हम इस प्रकार देखेंगे :

(१) स्तनकेशादि बाह्य चिन्हों से बोधित होने वाले सम्बन्ध को 'लिंग' कहते हैं।

(२) स्वयं स्तन, केश, योनि, आदि अवयव भी 'लिंग' कहलाते हैं।

(३) इनसे अभिहित और अभिव्यक्त 'जाति' को भी 'लिंग' कहते हैं।

(४) सत्त्व, रज, तम की विविध अवस्थाओं से भी लिंग का ही बोध होता है।

(५) कुछ स्थानों पर अवस्था से विशिष्ट सत्त्वादि गुण ही लिंग कहे जाते हैं।

(६) वस्तु एक होने पर भी,केवल अभिधेय की सुविधा के कारण, शब्द-भिन्नता के द्वारा लिंगभेद प्रयुक्त होता है।

(७) बहुधा शब्द और अभिधेय एक होने पर भी वस्तु की सूचना अनेक लिंगात्मक रूप में मिलती है। यह 'शब्द-संस्कार' का ही चमत्कार कहा जा सकता है।

इस प्रकार लिंग के विनिश्चय के लिए ये **सात विकल्प** कहे जा सकते हैं।[1] इन सातों विकल्पों का संक्षिप्त विवेचन यहां सावसर ही होगा।

१३.१२ प्रथम-द्वितीय विकल्प

ये दोनों **विकल्प** एक ही तथ्य की दो दृष्टियां मात्र हैं। प्रथम के अनुसार स्तनकेशादि केवल बाह्य चिह्नमात्र होते हैं। इन चिह्नों के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध को ही 'लिंग' कहा जाता है। द्वितीय के अनुसार स्त्रीपुरुषादि से सम्बद्ध

१. वा० ३. १३. १, २।

स्तनकेशादि लक्षणों को ही 'लिंग' कह दिया जाता है। 'नपुंसक' उस अवस्था को कहा गया है, जहां ये दोनों लक्षण न हों या दोनों समवेत ही उपस्थित हों। दोनों के अभाव या दोनों की सह-उपस्थिति में 'नपुंसक'का ग्रहण किसी एक लिंग में न हो पाने के कारण उसे उनके 'बीच' की वस्तु माना गया है। उक्त दोनों लक्षणों से हीनता तो 'क्रियापदों' और 'अव्ययपदों' में भी पाई जाती है, पर उनमें कुछ भी 'साम्य' इन दोनों लिंगों से नहीं होता; जिसके कारण उन्हें इनके 'बीच की वस्तु' नहीं कहा जा सकता।

जहां तक इन दोनों मतों की भिन्नता का प्रश्न है, प्रथम में **द्रव्य के सम्बन्ध पर** और द्वितीय में स्वयं **द्रव्य** पर बल दिया गया है। पर क्योंकि दोनों का आधार एक ही चिह्नों पर आधारित है, अतः तत्त्वतः इन दोनों में व्यापकता के अतिरिक्त कोई अन्य अन्तर नहीं रह जाता। बहुत हो, तो अवयवी-अवयव जैसी बात कही जा सकती है। पर मूलतः दोनों का बल बाह्य चिह्नों पर ही है।

१३.१३ तृतीय विकल्प

'सम्बन्ध' या 'लक्षण' पर बल न देकर, जाति पर बल देने का प्रयास अधिक व्यापक और वैज्ञानिक कहा जा सकता है। इसके अनुसार चिह्नों का व्यक्त होना या दिखाई देना लिंगाभिव्यक्ति के लिए उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि उनसे सम्बद्ध या उनके द्वारा ख्यात 'जाति' को ही व्यक्त करना। 'जाति' की बात को लक्षण में लेते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लिंग की सत्ता, व्याकरण-शास्त्र में, किसी द्रव्यविशेष की पृथक्ता के परिज्ञान के लिए नहीं मानी गई है; बल्कि उसकी स्वीकृति किन्हीं व्यापकतम वर्गों की एकता को पहचानने या किन्हीं व्यापकतम वर्गों में वस्तुमात्र या प्राणिमात्र के विभाजन के लिए हुई है। जाति के इस प्रत्यायन या विनिश्चय में, **विशिष्टता** की अपेक्षा **सामान्यता** को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि इस मत के अनुसार लिंग का विनिश्चय जाति के विनिश्चय के साथ सम्बद्ध है। अर्थात्, लिंग भी जाति-विनिश्चय का एक बड़ा आधार है। स्त्री और पुरुष को जाति के रूप में मान लेने पर, उन दोनों के पारस्परिक विभेद में जो कुछ लक्षण हेतु बनते हैं, वे स्तनकेशादि के रूप में ही होते हैं।

हम पहले कह आए हैं कि ये लक्षण केवल गिने-चुने और बाह्य नहीं होते। ये लक्षण **आन्तरिक और प्रवृत्तिमूलक** भी हो सकते हैं, **आकृतिमूलक** भी हो सकते हैं, और केवल **वैचारिक** भी हो सकते हैं। **चर और अचर** जगत् के **भौतिक द्रव्यों**--पशु, वनस्पति, आदि---में बहुत से विभेदक लक्षण चक्षुगोचर नहीं

होते, पर हम उन्हें आन्तरिक भी नहीं कह सकते। वनस्पतियों में ये लक्षण अप्रत्यक्ष और अगोचर होते हैं। पर उनमें ही कुछ बाह्य लक्षण—फल का लगना, न लगना आदि—ऐसे भी होते हैं, जिनसे उन अन्तर्हित और अप्रत्यक्ष लक्षणों की पुष्टि होती है। इस लक्षण-भेद के कारण ही हम उन्हें पुंस्त्व और स्त्रीत्व से युक्त विविध वर्गों में रखते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिन्हें आकार की ह्रस्वता, दीर्घता, शरीर की गुरुता-लघुता, अथवा मुटापा-पतलापन, आदि के कारण पुंल्लिंग या स्त्रीलिंग में रख दिया जाता है। 'शिला और शैल', 'वीथी और पथ', 'पहाड़ी और पहाड़' आदि में लिंग-भेद का यह चमत्कार भावनात्मक ही अधिक है।

इसे हम अंग्रेज़ी जैसी भाषा में प्रत्यय-रूप में अभिव्यक्त होता नहीं भी पाते, तब भी भावनात्मक सत्ता इसकी वहां भी स्वीकृत है ही। यह बात उनके लिए सर्वनाम-प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है। घर, खोली, अट्टालिका, महल, आदि शब्द मूलत: आकार और रचना के भेद पर ही आधारित हैं। तिथि, रुचि, भावना, आदि शब्दों में 'स्त्रीत्व', और फीलिंग, आइडिया, भाव, प्यार, आदि शब्दों में 'पुंस्त्व' या 'नपुंसकत्व' की कल्पना केवल वैचारिक महत्त्व के ही कारण है। उस भावना के आधार के रूप में न तो कोई भौतिक लक्षण विद्यमान हैं, और न आकृतिमूलक ही। गप्प, बात, वायु, मिठास, आदि शब्दों को हम स्त्रीत्व से युक्त मानते हैं, जबकि प्रवाद, अपशब्द, बात, माधुर्य, आदि समानार्थक शब्दों को हम पुंस्त्व या नपुंसकत्व से युक्त मानते हैं। इस भेद का मनोवैज्ञानिक आधार बहुत सूक्ष्मता के साथ ही खोजा और उचित ठहराया जा सकता है। यह भी जाति, देश, और काल के अनुसार बदलता रहता है।

इसीलिए हमने कहा कि **लिंग का सम्बन्ध केवल बाह्य लक्षणों से ही उतना नहीं है, जितना कि शब्द या द्रव्य के समग्रत: जातिविनिश्चय है।**

१३.१४ चतुर्थ विकल्प

उक्त बात को ही चतुर्थ मत दूसरे ढंग से प्रस्तुत करता है। इसमें बाह्य लक्षणों पर बल बिलकुल नहीं है। **सत्त्व, रज, और तम**—प्रकृति के निर्माण में भाग लेने वाले तीन **गुण** हैं। इन तीनों की विविध प्रकृतियां हैं, जो अपनी विकृतियों द्वारा विविध लक्षणों को जन्म देती हैं। भावनात्मक दृष्टि से भी इन तीनों का विविध रूप से प्रकाशन होता है। सांख्य मत के अनुसार सत्त्व, रज, और तम क्रमश: अपनी गुणित अवस्थाओं में **उपचय, अपचय, और मध्यस्थता** को जन्म देते हैं। ये तीनों अवस्थाएं ही क्रमश: **पुंस्त्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व** की प्रति-

निधि होती हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए हेलाराज लिखते हैं :

'सांख्याः सत्त्वरजस्तमसां गुणानां सततपरिणामिनामुपचयापचयमाध्यस्थ्यलक्षणा अवस्थाविशेषा यथायोगं पुंस्त्वादिलिंगमातिष्ठन्ते।'[1]

उपचय, अपचय, और मध्यस्थता की इन तीन स्थितियों की व्याख्या वे भाष्य में वर्णित **संस्त्यान, प्रसव, और स्थिति** नामक स्थितियों से करते हैं। महाभाष्यकार का मत स्पष्ट करते हुए इसी क्रम में हेलाराज कहते हैं :

'तदेतत् भाष्यकारमतमिदं दर्शनम्। संस्त्यानप्रसवस्थितयो हि तस्य लिंगम्। तथा चाह, 'संस्त्यानप्रसवौ लिंगम्। सर्वाश्च पुनर्मूर्त्तयः एवमात्मिकाः संस्त्यानप्रसवगुणाः' (वा० ३.१३. १, २, की टीका में हेलाराज)।

अर्थात्, 'भाष्यकार को भी सांख्य की उक्त दृष्टि मान्य है। वहां तीनों गुणावस्थाओं को संस्त्यान, प्रसव और स्थिति के लिंगों में व्यक्त माना गया है। पतंजलि इनमें से संस्त्यान और प्रसव को मुख्य लक्षण मानते हैं। विश्व के सभी मूर्त्त द्रव्य इन्हीं दो गुणों से युक्त होते हैं।'

हेलाराज द्वारा भाष्यकार के मत का यह स्पष्टीकरण एक ओर सुलझा हुआ प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर यह उलझा हुआ भी कम नहीं है। भाष्यकार ने 'दो' गुण या 'लिंग' माने हैं, और उन्हें हर द्रव्य में स्थित माना है। परन्तु आगे चलकर हेलाराज अधिक स्पष्ट करते हैं कि भाष्यकार की दृष्टि में हर द्रव्य में संस्त्यान या प्रसव में से कोई एक गुण प्रधान होता है। जहां इनमें से कोई भी प्रधान नहीं होता, वहां 'स्थिति' स्वयं ही गुण बन जाती है। इस प्रकार 'गुण' दो ही हैं। गुणावस्थाएं अवश्य 'तीन' हो जाती हैं। हेलाराज अपने कथन के समर्थन में संग्रहकार के वक्तव्य को उद्धृत करते हैं :

'संस्त्यानं संहननं तमोनिवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिप्रतिबन्धस्तिरोभावः स्त्रीत्वम्। प्रसवो विष्वग्भावो वृद्धिशक्तिर्वृत्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तेराविर्भाव इति पुंस्त्वम्। अविवक्षातः साम्यं स्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिरपरार्थत्वम् अंगांगिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकम्' (हेलाराज द्वारा वा० ३.१३.१, २ की टीका में उद्धृत)।

इसे ही अधिक स्पष्ट करके कहते हुए हेलाराज अपनी टिप्पणी देते हैं :

'तत्र संस्त्यानं संहननं प्रतिलयस्तिरोधानमित्यवस्था स्त्रीत्वम्। प्रसवः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम्। नस्त्रीपुंसौ नपुंसकमिति स्थितिर्नपुंसकमर्थाल्लक्षितम्' (वही)।

अर्थात्, 'संस्त्यान आदि गुण स्त्रीत्व के, प्रसवादि पुंस्त्व के, और स्थिति,

---

१. वा० ३. १३. १, २, की टीका में।

साम्य, आदि गुण नपुंसकत्व के द्योतक हैं।'

ऊपर सांख्यदर्शन के मत में उपचय, अपचय, और मध्यस्थता को क्रमशः पुंस्त्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व का प्रतिनिधि माना गया है। उस पर हेलाराज की टिप्पणी से लगता है कि संस्त्यान, प्रसव और स्थिति भी इसी क्रम से इन तीनों के प्रतिनिधि ठहरते हैं। पर संग्रहकार व्याडि का स्पष्टीकरण संस्त्यान को **अपचय** का, प्रसव को **उपचय** का, और मध्यस्थता को स्थिति का प्रतिनिधि बताता है। अर्थात् उनकी दृष्टि में अपचय अथवा संस्त्यान का स्त्रीत्व, और इसीलिए रजोगुण, से सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रसव अथवा उपचय का पुंस्त्व, और इसीलिए सत्त्वगुण, से सम्बन्ध ठहरता है तथा मध्यस्थता अथवा स्थिति का नपुंसकत्व से, और इसीलिए तमोगुण से, सम्बन्ध बैठता है। अतः सांख्य और महाभाष्य के गणनाक्रम को समझने में सावधानता अपेक्षित है।

१३.१५ जन-प्रवृत्ति

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस मत के अनुसार पुंलिंगादि का निश्चय किन्हीं विशेष बाह्य अथवा भौतिक चिह्नों से नहीं होता। यह निश्चय तो उनके गुण धर्म और स्वभाव के कारण होता है। यहां यह तथ्य अवधेय है कि यह मत स्वीकार करलेने पर जन-प्रवृत्ति का एक अद्भुत सत्य स्पष्ट रूप में सामने आता है। हम प्रायः एक ही द्रव्य के लिए विविध लिंगों वाले एक ही या विविध शब्द प्रयुक्त होते पाते हैं। यह बात षष्ठ और सप्तम विकल्प के प्रसंग में सामने आएगी। **तटः, तटी, तटम्**, या **दार, दारा, दार्** एवं अन्य अनेक शब्द तीनों लिंगों में, समान रूप से, व्यवहृत होते हैं। ऐसे उदाहरण हर भाषा में खोजे जा सकते हैं। **ग्रन्थ** और **पुस्तक** दो शब्द होने पर भी एक ही द्रव्य के सूचक हैं। बाह्य प्रत्यय भिन्न न दीखने पर भी हिन्दी में उनका व्यवहार क्रमशः पुंलिंग और स्त्रीलिंग में होता है। स्पष्ट है कि लिंगप्रयोग किन्हीं लक्षणों या सिद्धान्तों पर ही सर्वत्र आधारित नहीं होता, बल्कि अधिकांशतः वह वक्ता या प्रयोक्ता की भावना के अनुकूल व्यवहृत होता है।

मुख्य प्रश्न यही है कि भिन्न-भिन्न वक्ता कैसे एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त देख सकते हैं? हमारी समझ में इसका उचित और तर्कसंगत उत्तर **व्याडि** देते हैं। संस्त्यान, प्रसव, और स्थिति की अवस्थाएं हर द्रव्य या वस्तु में रह सकती हैं : क्योंकि हर वस्तु के निर्माण में ही सत्व, रज और तम का हाथ रहता है। पर वक्ता इनमें से किस गुणावस्था को प्रधानता की दृष्टि से देखता है, और तदनुसार उसे व्यवहार में प्रयोग करता है, यह बात ही शब्द के

विशिष्ट लिंग में प्रयोग होने का आधार प्रस्तुत करती है।

स्पष्ट है कि पूर्वकथित लक्षणों की भांति 'लिंग' का सम्बन्ध भी वस्तु के आकार से न होकर शब्दविशेष द्वारा अभिहित उसकी भावना से होता है। संस्त्यान आदि लक्षणों का अस्तित्व भौतिकदृष्ट्या उतना अनिवार्य नहीं है, जितना भावनात्मक दृष्टि से। इसी आधार पर हम पृथिवी, सविता, द्यौः, आदि निर्जीव पदार्थों में भी लिंग-विनिश्चय करते हैं। फिर, इससे भी बड़ी बात यह है कि संस्त्यान, प्रसव, आदि गुणावस्थाओं का अनिवार्य सम्बन्ध स्तनकेशादि से नहीं माना गया है। गुणावस्था का अर्थ ही उनकी भावात्मक सत्ता की अनिवार्यता से है।

इस प्रकार इस मत के अनुसार 'लिंग' का सम्बन्ध केवल बाह्य या आन्तरिक भौतिक चिह्नों से ही नहीं है।

१३.१६ पंचम विकल्प

उक्त विकल्प से इसमें यही वैशिष्ट्य है कि इसके द्वारा इसी प्रसंग में एक भिन्न सम्भावना को भी मान्यता दी गई है। आवश्यक नहीं कि संस्त्यानादि गुणों को ही सर्वत्र अनिवार्यतः लिंगविनिश्चय का आधार माना जाए। ऐसा आधार प्रायः सत्त्वादिगुण स्वयं भी हो जाते हैं, यद्यपि उनकी पहचान भी उक्त गुणावस्थाओं के द्वारा ही होती है।

इस प्रकार उक्त दोनों मतों में विशेष अन्तर नहीं है।

१३.१७ षष्ठ विकल्प

चतुर्थ विकल्प में एक ही आत्मा या वस्तु के वाचक दो भिन्न शब्दों का लिंगभेद बताया गया है। वस्तुतः वहां हमारा अभिप्रायः यह बताने का था कि लिंग का बोध सत्त्व, रज और तम की विविध अवस्थाओं से भी होता है। वहां शब्दभिन्नता की बात पर, या आत्मा की एकता की बात पर, बल देना उतना अभिप्रेत नहीं था। इस प्रस्तुत मत के द्वारा इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि 'एक ही वस्तु या आत्मा के वाचक दो भिन्न शब्द किस भांति दो भिन्न लिंगों में प्रयोग होते हैं?' 'पुस्तक' और 'ग्रन्थ' की चर्चा चतुर्थ उदाहरण में की गई है। हिन्दी में उनके लिंगभेद की बात कही गई है। यही षष्ठ विकल्प है। एक ही वस्तु के लिए दो भिन्नरूप और भिन्नलिंग शब्द क्यों प्रयुक्त होते हैं, इसका उत्तर चतुर्थ विकल्प से मिलता है। पर यह निश्चित है कि ऐसे प्रयोग हर भाषा में उपलब्ध होते हैं। प्रयोक्ता हर वस्तु में अन्तर्हित त्रिविध गुणाव

स्थाओं का ध्यान न करके जब उनमें से किसी एक को महत्त्व देकर उस शब्द का प्रयोग करता है, तब उस प्रयोगभावना के अनुकूल ही उसका लिंग-प्रयोग होता है। इस विषय में हेलाराज के शब्द निम्न हैं :

'एकस्यापि वस्तुनः शब्दभेदेनार्थो व्यक्तिर्वस्त्विवति लिंगभेदस्य दर्शनाद् बहिरसन्नेव शब्दैरुत्पादित इव बाह्ये वस्तुनि लिंगयोग इति शब्दाभिधेयस्वभावं लिंगम्—इति केचित्' (वही)।

स्पष्ट है इस मत के द्वारा जनप्रयोग के मूलभूत सत्य को प्रस्तुत किया गया है। लिंग शाब्दिक अभिव्यक्ति का विषय अधिक है, और इसीलिए प्रयोगकर्त्ता की विवक्षा अथवा प्रयोगभावना से अधिक सम्बद्ध है। उसका सम्बन्ध वस्तुके बाह्य चिह्नों से उतना नहीं है।

१३.१८ सप्तम विकल्प

इससे सर्वथा विपरीत स्थिति की व्याख्या करता है **सप्तम विकल्प !** इसके अनुसार वस्तु भी एक ही होती है, और उसके लिए शब्द भी एक ही प्रयोग हो रहा होता है। पर उसी शब्दको विविध स्थानों पर विविध लिंगों में प्रयुक्त किया जाता है। **तटः, तटी, तटम्,** के उदाहरण द्वारा इसे भी हम पहले उद्धृत कर आए हैं। इस उदाहरण को शब्दसंस्कार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अर्थात् भावना और अभिहित शब्द के एक रहने पर भी उसका विविध लिंगों में प्रयोग 'शब्दसंस्कार' के कारण होता है। इस स्थिति को विसंगत नहीं कहा जा सकता। सत्य यह है कि इस प्रकार के प्रयोग का भी वही कारण है, जो इससे पहले विकल्प में दिया गया है : **विवक्षा और प्रयोगभावना**। इस प्रयोक्तृभावना के कारण ही दीर्घ-ह्रस्व, विशाल-अल्प, गुरु-लघु, आदि के आधार पर लिंगभेद हो जाता है। हेलाराज समझाते हैं :

'तटस्तटीतटमित्यभिन्नेनापि शब्देनाभिन्नं वस्तु त्रिलिंगं प्रत्याय्यत इति शब्दसंस्कारमात्रं लिंगमाश्रितं कैश्चित्। एवमपि च बाह्यत्वेनावसायान्नोदात्तादिधर्मवच्छब्दधर्मत्वं लिंगस्य। किन्तु स्त्रियां पुंसि नपुंसक इति शब्दान्वाख्यानिमित्तभावदर्शनाच्छब्दसंस्कारत्वमस्य' (वही)।

१३.१९ उपादान-विकल्प

इस मत की समीक्षा के प्रसंग में भर्तृहरि और हेलाराज यह रहस्य उद्घाटित करते हैं कि लिंगवैविध्य या लिंगों का प्रयोगवैविध्य सात प्रकार से सम्भव है। पर अन्ततः इस सब प्रयोगवैविध्य को 'शब्दवैचित्र्य' ही कहा जा

सकता है। ये सात लिंगवैविध्य विकल्प या संनियोग से ही जन्म लेते हैं।[1] **'विकल्प'** और 'सन्नियोग' शब्दों के धर्म हैं, लिंग के नहीं। इनका प्रभाव भी वक्ता की भावना पर ही आधारित रहता है। 'उपादान' का अर्थ घटक है। 'लिंगों में यह विकल्प या संनियोग घटकों की किसी निश्चित स्थिति के कारण तो नहीं होता, पर इतना भी निश्चित है कि द्रष्टा की बुद्धि में घटकों का ग्रहण ही इस निश्चय में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। वक्ता अपनी दृष्टि में आनेवाले घटक कारणों से प्रेरित होकर ही किसी लिंग का प्रयोग करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्रव्य में उपस्थित घटकों के निश्चित होने पर भी वक्ता या द्रष्टा की बुद्धि में उनके ग्रहण के अनुसार ही लिंगनिश्चय होता है। यही कारण है कि यदि एक प्रयोक्ता एक ही द्रव्य को, निश्चित और समान घटक होने पर भी, एक लिंग के द्वारा अभिहित करता है, तो दूसरा उसे दूसरे लिंग द्वारा। 'तट' का तीनों लिंगों में प्रयोग केवल चमत्कार-प्रदर्शन या कौशलप्रदर्शन के लिए नहीं होता, बल्कि वक्ता या द्रष्टा का यह ग्रहणवैविध्य ही वहां भी कारण होता है। यह सम्भावना किसी भी शब्द के विषय में हो सकती है। पाणिनीय व्याकरण या संस्कृत-प्रयोग में क्योंकि एक शब्द एक ही लिंग में प्रयुक्त हुआ है, केवल इसी कारण उसके लिंग को स्थायी नहीं मान लेना चाहिए।

१३.१९.१ भाषाभेद से

संस्कृत में 'आत्मा' शब्द पुंलिंग है, पर हिन्दी में बहुधा इसका प्रयोग 'स्त्रीलिंग' में होता है। सम्भव है, 'आकारान्त' होने से यह भ्रम हुआ हो। या, रहस्यवादी कवियों द्वारा इसकी 'नारी-रूप' में कल्पना भी कारण हो सकती है। सत्य यह है कि दोनों भाषाओं में शब्द और अर्थ एक होने पर भी उसका प्रयोग विविध लिंगों में सम्भव हुआ है। यह बात हर भाषा में और अनेक प्रयोगों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। अतः लिंग का अन्तिम निश्चय प्रयोक्ता की दृष्टि में आने वाले घटकों से ही निर्णीत होता है। वह जिन उपादानों या घटकों पर अधिक ध्यान देता है, उनके कारण ही वह उस शब्द के लिंग का निश्चय करता है।

१३.२०. प्रयोग : सात विकल्प

उपादानों के विकल्प ही प्रयोग के सात विकल्पों का निश्चय करते हैं। ये दोनों प्रश्न परस्पर जुड़े हुए हैं। उपादान के रूपमें 'विकल्प' और 'संनियोग' को

१. वा० ३. १३. ३।

गिनाया गया है। उनके आधार पर पाए जाने वाले सात विकल्प लिंग-प्रयोग में निम्न प्रकार से पाए जाते हैं :

(क) 'संनियोग' के कारण कुछ शब्द निश्चित लिंगों में बंटे दीखते हैं। ये विभाग **तीन** माने जाते हैं :

१. **पुंलिंग** में निश्चित शब्द—वृक्ष, ईश्वर आदि।

२. **स्त्रीलिंग** में निश्चित शब्द—खट्वा, माला आदि।

३. **नपुंसकलिंग** में निश्चित शब्द—दधि, मधु आदि।

(ख) 'विकल्प' के कारण कुछ शब्द निश्चित लिंगों में प्रयुक्त न होकर वैकल्पिक लिंगों में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। ऐसे वैकल्पिक प्रयोग **चार** प्रकार के होते हैं :

४. पुंलिंग और स्त्रीलिंग में **उभयथा** प्रयोग—वत्स-वत्सा, आदि।

५. पुंलिंग और नपुंसकलिंग में **समान** प्रयुक्त—शंख, पद्म, आदि।

६. स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में **समान** प्रयुक्त—भागधेयं-भागधेयी, आदि।

७. **त्रिलिंग** में सामान्यतः प्रयुक्त—तटः, तटी, तटम्, आदि।

हेलाराज इस सब बात को निम्न रूप में कहते हैं :

'उपादानं शब्दैर्विशिष्टशक्तिभिरर्थोपाधित्वेन ग्रहणं लिंगानाम्। तस्य सप्त भेदाः। लिंगाभिव्यंजकशब्दशक्तिप्रतिनियमाद् ह्यसांकर्यं लिंगानां गुणावस्थादिरूपाणां सर्वत्र सम्भवतामपि' (टीका, वा० ३.१३.३)।

१३.२१ क्या विकल्प सात ही हैं

विकल्पों की संख्या किसी भी भाषा की लिंग-संख्या पर निर्भर करती है। हिन्दी भाषा जैसी अन्य अनेक ऐसी भाषाएं हैं, जिनमें लिंग 'दो' ही माने गए हैं। उनमें लिंगों के तीन ही विकल्प होंगे : **पुंलिंगात्मक, स्त्रीलिंगात्मक, उभयलिंगात्मक**। अन्य भेदों या विकल्पों की वहां सम्भावना ही नहीं रहती।

१३.२२ विकल्प का आधान

कहा जा चुका है कि लिंग-विकल्प का आधार 'जाति' या **सामान्य** लक्षणों की उपलब्धि पर निर्भर करता है। किसी भाषा में इन सामान्य लक्षणों का वर्गीकरण **'तीन'** भागों में किया जाता है, तो कहीं **'दो'** में ही। इससे अधिक या कम

वर्गों में विभाजन की सम्भावना भी की जा सकती है। 'सामान्यता' के इस वर्गीकरण को ही 'जाति' कहते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्वचर्चित कुछ सत्य इस प्रकार हैं :

(१) कुछ विद्वान् पुरुष, स्त्री और नपुंसक के रूप में तीन ही जातियों को मान्यता देते हैं। यह अवधेय है कि एक ही द्रव्य और तद्वाचक शब्द में 'जाति' का निश्चय अलग-अलग आधारों पर किया जाता है। गोत्व, महिषीत्व, आदि के वर्गीकरण का आधार स्त्रीत्व, पुंस्त्व, आदि वर्गीकरण के आधार से भिन्न है। प्रयोगकाल में निश्चयात्मक रूप से भिन्न होने के कारण वक्ता और श्रोता जातियों के इन विविध वर्गीकरणों को परस्पर उलझने नहीं देते।[1]

(२) 'जाति' का सम्बन्ध द्रव्य से भी माना जा सकता है और शब्द से भी। पर यह सत्य है कि जिन लक्षणों को हम 'जाति' के रूप में पहचानते हैं, वे द्रव्य से पृथक् होकर नहीं रहते; बल्कि वे उसी के अभिन्न घटक होते हैं। अतः जाति को द्रव्य से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।[2]

(३) पर द्रव्य के अभिन्न रहने पर भी शब्द-चमत्कार के कारण हम अनेकत्र लिंगवैविध्य देखते हैं। 'अण्डा' कुक्कुटी का ही होता है, कुक्कुट का नहीं। पर समास में उसे 'कुक्कुटाण्ड' ही कहा जाता है, अन्यथा नहीं। स्पष्ट है कि इतने से ही 'कुक्कुट का अण्ड' सिद्ध नहीं हो जाता। ऐसा लिंग की परतन्त्रता और शब्दाश्रितता के कारण होता है।[3]

१३.२३ लिंग-कल्पना और प्रयोक्तृ-बुद्धि का महत्त्व

ऊपर हम लिंग-कल्पना में प्रयोक्ता की बुद्धि के महत्त्व की बात बार-बार कह आए हैं। आधुनिक भाषाविद् येस्पर्सन भी इसी बात पर अधिक बल देते हैं। भर्तृहरि ने इस बात को सप्रमाण और वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि स्तनकेशादि लक्षण स्पष्ट उपस्थित न होने पर या उनकी प्रतीति की सम्भावना न होने पर भी जाति कल्पित की ही जाती है। यद्यपि यह बात नियम-विरुद्ध ही ठहरती है,[4] फिर भी सत्य यह है कि इन बाह्य लक्षणों के अतिरिक्त प्रयोक्ता अपनी बुद्धि द्वारा कुछ अन्य ऐसे लक्षणों को खोज निकालता है, जिनसे सर्वथा कल्पित लिंग भी वास्तविक प्रतीत होने लगते हैं। व्यवहार में वे वास्त-

---

१, वा० ३. १३. ४।
२. वा० ३. १३. ५।
३. वही, ६।
४. वही, १०।

विक बनकर प्रयुक्त होते हैं।[1] उदाहरणार्थ, मृगतृष्णा, गन्धर्वनगर, तारक, तारा, आदि में से पहले दो शब्दों में एक प्रकार से 'असत्' स्थिति की कल्पना है। फिर भी, इस 'असत्' प्रतीयमान स्थिति में भी, हमने लिंग-कल्पना और उसका प्रयोग होता पाया है। इसका कारण यह है कि इनकी सत्ता प्रयोक्ता की बुद्धि में रहती है। अतः उस बुद्धिगत सत्ता पर आधारित रूपकल्पना भी 'लिंग-निश्चय' का आधार बन जाती है।[2] यही बात तारक, तारा आदि पर दूसरी तरह लागू होती है। सत्य यह है कि इस बुद्धिगत प्रत्यक्ष के अभाव में अविद्यमान वस्तु के प्रति लिंगविनिश्चय और लिंगप्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए सर्वाधिक अनिवार्य बात यह है कि प्रयोक्ता अपने मन या बुद्धि में प्रयोज्य शब्द के द्रव्यात्मक या कल्पनात्मक रूप के प्रति आस्थावान् हो।[3] यह आस्था ही लिंगविनिश्चय और शब्द के सलिंग प्रयोग का आधार बनती है। पतंजलि कहते हैं: **'न शक्यं वैयाकरणैर्लौकिकं लिंगमाश्रयितुम्। अवश्यं कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः।'** अर्थात् 'लौकिक लक्षण ही सर्वत्र आधार नहीं बनते।'

१३.२३ मुख्य लिंग: लक्षण

उक्त तीन मूल लिंगों की, और व्याडि तथा पतंजलि द्वारा वर्णित उनके संस्त्यान, प्रसव और स्थिति आदि लक्षणों की, बात कही गई है। इस प्रसंग में यह स्मर्त्तव्य है कि महाभाष्य में पतंजलि ने '**स्थिति**' को निषेधात्मक महत्त्व ही दिया है। उनका बल मुख्यतः **संस्त्यान** और **प्रसव** के दो लक्षणों पर है। इन्हें ही वे लिंग-विनिश्चय का मुख्य आधार मानते है। उनके शब्दों में: '**संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ।**' वस्तुतः **नपुंसकलिंग** है भी कुछ अन्य नहीं: उक्त दोनों लक्षणों के अभाव का नाम ही 'नपुंसकलिंग' है। दूसरे शब्दों में, 'स्थिति' और उसके द्वारा संभावित नपुंसकलिंग, उस अभावात्मक या निषेधात्मक दशा को सूचित करते हैं, जिसमें संस्त्यान और प्रसव की बात नहीं पाई जाती; भले ही उसमें भौतिक लक्षण दोनों लिंगों के उपलब्ध होते हों। संस्त्यान और प्रसव के इस अभाव को ही 'स्थिति' नाम दिया गया है। **इस प्रकार स्त्रीलिंग और पुंलिंग की अभावदशा को ही 'नपुंसकलिंग' कह दिया जाता है।** या, हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जहां इन दोनों स्थितियों या लक्षणों को हम उलझता पाते हैं, उस व्यामिश्र अवस्था को 'स्थिति' और तदाश्रित लिंग को 'नपुंसक' कह देते हैं[4]। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुख्य लक्षण दो ही हैं: संस्त्यान और

---

१. वा०३. १३. ७। २. वा० ३. १३. ८, ९। ३. वा० ३. १३. ११।
४. वा० ३. १३. १२, १३ पर हेलाराज की टिप्पणी।

प्रसव के इन लक्षणों पर आधारित **लिंग** भी दो ही हैं : स्त्रीलिंग और पुंलिंग ! 'नपुंसकत्व' की स्थिति इन दोनों की सत्ता या अभाव से ही जन्म लेती है। वह स्वतन्त्र नहीं है।

पर भर्तृहरि 'तीनों' लक्षणों को मुख्य मानकर चलते हैं। परिणामतः तीनों लिंग भी उन्हें अनिवार्य लगते हैं। महाभाष्य के वचनों की व्याख्या उन्होंने इसी रूप में की है; तर्क उनके अपने हैं। उन्होंने व्याडि और पतंजलि के **संस्त्यान, प्रसव** और **स्थिति** को क्रमशः **आविर्भाव, तिरोभाव** और **अनपायी** स्थिति के त्रिक रूप में लिया है। इन्हें ही वे त्रिलिंग का आधार मानते हैं :

आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यनपायिनः ।
धर्मा मूर्तिषु सर्वासु लिंगत्वेनानुदर्शिताः ।। वा० ३.१३.१३ ।।

१३.२५ द्रव्यधर्म : शब्दधर्म

यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि भर्तृहरि इन तीन लक्षणों को **द्रव्यधर्म** ही नहीं मानते, बल्कि वे उन्हें **शब्दधर्म** भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द और द्रव्य एक ही 'आत्मा' के दो रूप हैं, तथा उक्त तीनों स्थितियां या **धर्म**, द्रव्यों के समान ही, तद्वाची शब्दों के लिए भी समान रूप से लागू होते हैं[1]। ये तीनों **धर्म** गिनाकर भर्तृहरि ने कोई नवीनता नहीं की है। **व्याडि** ने अपने 'संग्रह' में **संस्त्यान** और **तिरोभाव** को, तथा **प्रसव** और **आविर्भाव** को, एक ही वर्ग में समानार्थक के रूप में रखा है। इस दृष्टि से भर्तृहरि की मौलिकता इस में है कि उन्होंने व्याडि द्वारा प्रयुक्त समस्त शब्दराशि में से इन तीन शब्दों को ही प्रतिनिधि रूप में चुना। ये शब्द उनके व्याकरण-दर्शन की विचारसारणि में कितने समंजस बैठते हैं, यह बात हम जाति, नाम, और क्रिया के प्रसंगों में स्पष्ट कर आए हैं। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध-विवेचन में, तथा औपचारिक सत्ता के विचार प्रसंग में भी, वे इन दोनों अथवा तीनों धर्मों की ही चर्चा करते हैं। अतः वैज्ञानिक समरूपता और तर्क-संगति की दृष्टि से उनके द्वारा परिगणित ये तीन आधार अधिक ग्राह्य प्रतीत होते हैं।

वास्तव में इन तीनों में से भी **आविर्भाव** और **तिरोभाव** ही दो मुख्यतः विरोधी स्थितियाँ हैं। 'स्थिति' की सत्ता 'अनपायिनी' के रूप में इन दोनों के बीच में स्थित है। सामान्यतः स्थिति तो इन दोनों में भी है ही[2]। भर्तृहरि उदाहरणों द्वारा आविर्भाव और तिरोभाव को **अभिवर्धन** और **प्रलयन** के रूप

---

१. वा० ३. १३. १४। २. वही, १७।

में अधिक स्पष्ट करते हैं : 'शुक्ल, कृष्ण, आदि रूपों में से कुछ मात्रा प्रतिक्षण घटती रहती है, तो कुछ न कुछ बढ़ती भी है ही[1]।' अन्यत्र वे कहते हैं, 'काल का अन्तर भी प्रत्येक भाव में प्रतिक्षण आता ही रहता है, भले ही उसकी सूक्ष्मता के कारण हम उसे अनुभव नहीं कर पाते[2]।'

व्याडि, पतंजलि और भर्तृहरि की मान्यताओं का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है : 'आविर्भाव या उत्पत्ति को ही अन्य विद्वान् प्रसव कह देते हैं, तथा नाश और तिरोभाव को ही वे '**संस्त्यान**' कह देते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में द्रव्यों या भावों का आत्मरूप ही '**स्थिति**' है[3]।'

१३.२६ प्रयोग-भिन्नता का कारण

भर्तृहरि एक ही शब्द की प्रतीयमान प्रायोगिक लिंग-भिन्नता को अकारण नहीं मानते। उनकी दृष्टि में हर ऐसे प्रयोग के पीछे कोई न कोई कारण छिपा होता है[4]। ये कारण विवक्षा या प्रयोग भावना पर आश्रित होते हैं[5]। विशिष्ट स्थिति में विशिष्ट धर्म की ओर आकृष्ट होकर ही वक्ता शब्द विशेष को लिंगविशेष में प्रयोग करता है[6]। ये सभी शब्द किसी न किसी अर्थ में स्थिर होते हैं। किन्तु जिस प्रकार स्वर या बल की भिन्नता के कारण वही शब्द भिन्न अर्थ ग्रहण कर जाता है, उसी प्रकार लिंगभेद से उच्चरित शब्द भी किंचित् भिन्न विषय में साधु माना जाता है[7]। अर्थात्, **तटः**, **तटी**, **तटम्** को हर दृष्टि से समान नहीं माना जा सकता। उनके द्वारा सूच्य वस्तुओं में धर्मगत भिन्नता कुछ न कुछ होती ही है। विविध प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। **सारः-सारम्**, **अर्धः-अर्धम्**, की भांति **गतः-गतम्** आदि में भी प्रत्यक्षतः लिंग-भेद ही उपलब्ध होता है; भले ही उसकी व्याकरणात्मक व्याख्या किसी भी तरह की जाए। वस्तुतः वहां लिंग भेद का आधार भाव और कर्म की प्रधानता आदि को कहा जा सकता है। यह नियम 'प्रसंग-भिन्नता के नियम' के रूप में कहा जा सकता है और सर्वत्र समान रूप से सभी भाषाओं में व्यवहृत समझा जा सकता है। आंग्ल भाषा से इस नियम का एक उदाहरण ही इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर देगा। वहां प्रत्येक देश के लिए स्त्रीलिंग सर्वनाम का ही प्रयोग किया जाता है। परन्तु प्रान्तों या छोटे राज्यों के लिए नपुंसक

---

१. वही, १५।
२. वही, ४६, ५७, ५६।
३. वही, २७।
४. वही, २०।
५. वही, १६।
६. वही, २१।
७. वही, २२।

लिंग सर्वनाम का प्रयोग होता है। यही बात अंग्रेज़ी तथा अन्य कुछ यूरोपीय भाषाओं में 'बालक' या बच्चा' के वाचक शब्दों के शब्दों के प्रयोग में नपुंसक-लिंग सर्वनाम के प्रयोग के विषय में भी देखी जा सकती है।

१३.२७ बाह्य चिह्न : एकता

इस प्रकार कह सकते हैं कि लिंग-कल्पना को भर्तृहरि वस्तुधर्म या द्रव्यधर्म के रूप में उतना महत्त्व नहीं देते, जितना वे इसे शब्द के बाह्य चिह्न के रूप में देते हैं[1]। वास्तव में शब्द के बाह्य रूप में लक्षित होने वाले, या सर्वनामादि के प्रयोग द्वारा अभिव्यंजित होने वाले, ये लिंगचिह्न किसी आन्तरिक प्रयोक्तृभावना या द्रव्य-धर्म की सूचनामात्र देने के लिए अपनाए गए शब्द के बाह्य चिह्नमात्र ही हैं।

यहां भर्तृहरि एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न का भी उत्तर देते हैं। माना यह जाता है कि **तट, सार,** आदि विविध लिंगप्रयुक्त शब्दों के मूल—तट, सार, आदि द्रव्यों के रूप में—एक ही हैं। उच्चरित रूप तो उनके लिंग-भिन्नतासूचक शब्दमात्र ही हैं। अनेक आधुनिक और प्राचीन विद्वानों की धारणा यही रही है कि जब Man-Men आदि शब्दों तक में रूपभिन्नता मानी जाती है,[2] तब भिन्न-भिन्न शब्दों को तो भिन्न ही मानना उचित है। अंग्रेज़ी के 'मैन्-वूमैन्' एक ही शब्द 'मैन' (Man) से निःसृत दो शब्द नहीं है। वे भिन्न जाति को सूचित करने वाले दो सर्वथा भिन्न शब्द हैं। उनके अनुकरण पर ही **बालक-बालिका** आदि शब्दों को भी भिन्न-भिन्न शब्द स्वीकार करने की बात कही जाती है। इस समस्या का उत्तर भर्तृहरि यह देते हैं कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थिति और वचन आदि के कारण स्थिति भिन्नता की सूचना देने वाले शब्द नाना या अनेक ही होते हैं, या उनमें अनेकता की स्थिति होती है, उसी प्रकार लिंग-भिन्नता के कारण शब्द में भी भिन्नता या स्थिति वैविध्य की बात स्वीकार की जानी ही चाहिए[3]। **बालक और बालिका** को एक ही शब्द के दो रूप मानना इसलिए ठीक नहीं है कि वे दोनों मूलतः न तो एक हैं, और न ही वे केवल आकारमात्र से ही भिन्न हैं। इन शब्दों द्वारा संकेतित मूर्त्तियों में कुछ मौलिक अन्तर है। **लड़का** ही **लड़की** नहीं बन जाता। वे दोनों जन्मना पृथक् दो व्यक्तित्व हैं। दोनों शब्द दो सर्वथा पृथक् व्यक्तित्वों को इंगित करते हैं।

अतः केवल शब्द के आकार की दृष्टि से उन दो या तीन लिंगरूपों को मूलतः एक ही शब्द के विविध रूप मानना वहीं तक ठीक है, जहां तक रचनात्मक

---

१. वा० ३. १३. २८।
२. ब्लूमफील्ड, जोशुआ व्हाट्माऊ, आदि।
३. वा० ३. १३. २९।

व्याकरण के विचार का प्रसंग है। परन्तु इससे ध्यान हटाते ही, और उनके अस्तित्व और भावात्मक व्यक्तित्व पर पहुँचते ही, हम पाते हैं कि वे स्पष्टतः दो भिन्न शब्द हैं। अतः लिंग-भेद यद्यपि शब्द का बाह्य संस्कारमात्र मान लिया गया है, तब भी इसके द्वारा जिस कथ्य की सूचना दी जाती है, वह दोनों या तीनों दशाओं में पर्याप्त भिन्न होता है।

१३.२८ हिन्दी क्रिया का लिंग

इस विषय में हम इसी प्रकरण के आरम्भ में[1] तथा क्रिया-प्रकरण में, पर्याप्त प्रकाश डाल आए हैं। प्राच्यविद् श्री आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने भी यही मत व्यक्त किया है कि हिन्दी के तथाकथित क्रियारूप संस्कृत अथवा प्राकृत के कृदन्त रूपों की देन हैं। अतः उनमें लिंगयोग उसी कारण हुआ है। 'कृदन्त' के विषय में कहा जा चुका है कि वे आकारतः संज्ञा होते हैं। अतः उनमें लिंगयोग तब स्वाभाविक ही है, जब कि उस भाषा की संज्ञाओं में लिंगयोग होता हो।

१३.१९ उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भर्तृहरि की दृष्टि में :

(१) लिंग की संख्या और द्रव्यात्मक विभाजन किसी निश्चित और मान्य सिद्धान्त के बल पर नहीं होता।

(२) जन-प्रयोग की भिन्नता के अनुसार लिंगप्रयोग में भिन्नता हमें विभिन्न भाषाओं और प्रदेशों में मिलती है।

(३) केवल भिन्न लिंग के कारण ही अर्थान्तर नहीं हो जाता। पर एक ही शब्द के विविध लिंग-प्रयोग में कोई न कोई भावभेद होता ही है।

(४) लिंग सामान्यतः तीन माने गए हैं, पर प्रयोक्ता और विचार के भेद से भिन्नता आ सकती है। जिस प्रकार काल के स्पष्ट विभाजन भूत और भविष्य होने पर भी वर्त्तमान की सत्ता प्रमुख मानी जाती है, उसी प्रकार 'स्त्री' और 'पुम्' दो लिंग होने पर भी, उनके बीच की सत्ता 'नपुंसक' के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। यह मान्यता प्रयोक्ता और देश की भिन्नता के आधार पर होती है।

(५) लिंगभेद का निश्चय इस दृष्टि से विवक्षाश्रित और बुद्ध्याश्रित

---

१. अनु० १३.४ में।

है कि वक्ता शब्द के बाह्याकार में परिवर्त्तन महज़ चमत्कार के लिए नहीं करता। उसमें कुछ भावात्मक भिन्नता या सुरुचि होना भी आवश्यक है।

(६) ऐसे भिन्नलिंगात्मक शब्द शास्त्रीय दृष्टि से एक और अभिन्नात्मा दिखाई देकर भी भिन्नात्मा होते हैं। अतः उन्हें 'नाना' गिनना ही उचित है। उन्हें रचनात्मक व्याकरण की बाह्यदृष्टि से ही 'एक' कहा जा सकता है। धारणात्मक दृष्टि से व्याकरण भी उन्हें भिन्न शब्द मानकर ही चलता है।

(७) पुंलिंग और स्त्रीलिंग के अन्तर में मूल भावना प्रसव (आविर्भाव) और संस्त्यान (तिरोभाव) की दो विरोधी स्थितियों की है। इन्हें हम उत्पत्ति और विनाश की स्थितियां भी कह सकते हैं। सामान्य कल्पना में स्त्री का जो सम्बन्ध प्रजनन, प्रसव या आविर्भाव से माना गया है, वह यहां अभिप्रेत नहीं है।

(८) आवश्यक नही कि लिंग-विनिश्चय में सर्वत्र समान आधार-लक्षणों का ही प्रयोग किया जाए।

इस प्रकार जनबुद्धि और जन-प्रयोग को चरम प्रमाण स्वीकार करने वाले भर्तृहरि, येस्पर्सन जैसे आधुनिक भाषाविद् से भी आगे बढ़कर, जानते थे कि व्याकरण की बद्ध सरणि से भाषा का नियमन और निर्धारण नहीं होता। प्रत्युत, ऐसा जन-मानस की सतत प्रवहमाण भावधारा से होता है। सर्वत्र वे इसी सत्य को दुहराते हैं।

पुरुष और उपग्रह

१४.१ अवधेय तथ्य

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका की विवेचना में कुछ पक्ष ऐसे हैं कि उन्हें **अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन** नहीं कहा जा सकता। इस पर भी उनपर विचार इसलिए आवश्यक है कि जिन अधिकांश भाषाओं में उनका उपयोग होता है, उनमें इनके प्रयोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि को देखा जा सके और विचारा जा सके कि विश्व-भाषाओं में इन विभागों द्वारा मानी जाने वाली अभिव्यक्ति हो भी सकती है या नहीं ? यहां हम ऐसे जिन दो विभागों की चर्चा करने जा रहे हैं, वे हैं **'पुरुष'** और **'उपग्रह'**।

इन दोनों की उपस्थिति भारोपीय आर्यभाषाओं में तो मिलती ही है, अन्यत्र भी इनकी उपस्थिति एक या दूसरे रूप में मिलती है। इन दोनों का सम्बन्ध क्रियापदों से अथवा उनके रूपात्मक गठन से है। पर दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के अध्ययन में इन दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्वको भी स्वीकार किया जा सकता है, भले ही इनकी अभिव्यक्ति किसी एक माध्यम से होती हो। इन दोनों के प्रयोग के पीछे जो मूल चेतना छिपी है, वह सर्वथा असम्बद्ध दीखने पर भी किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध भी है। दोनों का सम्बन्ध-सूत्र 'पुरुष' ही है, भले ही उस-का अभिधेय दोनों जगह किञ्चित् भिन्न हो।

१४.२. दोनों का सम्बन्ध

इन दोनों में से 'पुरुष' का सम्बन्ध 'कर्त्ता' से है। 'पुरुष' उन स्थितियों को कहते हैं जिनमें 'कर्त्ता' रह सकता है। अनेक भाषाओं में कर्त्ता का प्रभाव सीधा 'क्रियारूपों' पर पड़ता देखा गया है। ऐसी भाषाओं में 'कर्त्ता' के 'पुरुष-विभाग' के अनुकूल ही क्रियारूपों में भी पुरुष-विभाग पाया जाता है। पर अनेक भाषाएं ऐसी भी हैं, जिनमें नाम या धातु में प्रत्ययों का संयोग होता ही नहीं। ऐसी भाषाओं में 'पुरुष' की पहचान का या 'उपग्रह' के चिह्नों का भी क्रिया-पदों में अस्तित्व सिद्ध ही नहीं होता।

'उपग्रह' का सम्बन्ध भी क्रियारूप से है। बहुत अंश तक इसका सम्बन्ध 'पुरुष' से भी है। पर इस प्रसंग में क्रिया के 'पुरुष-विभक्त' वर्गीकरण के समान कोई सीधा प्रभाव 'पुरुष-तत्त्व' का नहीं पड़ता। जिस तरह पुरुष-तत्त्व की त्रिधा कल्पना के कारण धातु-रूपों में, या उनकी प्रयोगभावना में भी, त्रिधा विभाजन अनिवार्य हो जाता है, उस तरह का प्रभाव उपग्रह के रूप में नहीं पड़ता। वास्तविकता यह है कि धातुरूपों के पुरुष का सम्बन्ध कर्त्ता की विविध स्थितियों से है, जबकि 'उपग्रह' के आधारभूत 'पुरुष' का सम्बन्ध फलभावना से सम्बद्ध 'पुरुष-तत्त्व' से है। 'कर्तृ पुरुष' का विभाजन 'चेतना' के विभाजन पर निर्भर करता है। पर फल-लाभ करने वाले पुरुष का विभाजन 'पर' या 'आत्म' दो के रूप में ही हो सकता है। उभयात्मक व्यामिश्र स्थिति भी हो सकती है। पर आकारतः, जहां भी इस प्रकार का भेद पाया ही जाता है, दो ही भेद उपलब्ध होते हैं। यह अनिवार्य नहीं कि ऐसा विभाजन सप्रत्यय या एक ही परिवार की समस्त भाषाओं में समान रूप से ही हो। इस प्रकार 'उपग्रह' का सम्बन्ध वक्ता की प्रयोक्तृ-भावना से है, कर्त्ता की त्रिविध स्थितियों से नहीं। दोनों विभाजनों का आधार 'चेतना' पर होकर भी नितान्त भिन्न परिणामों को जन्म देता है। 'पुरुष' को वक्ता या प्रयोक्ता की दृष्टि से तीन रूपों में विभक्त करके हम उससे प्रायः हर धातुरूप को प्रभावित होता पाते हैं। परन्तु उपग्रह के विभाजन का प्रभाव इतना व्यापक नहीं पड़ता। आवश्यक नहीं कि उपग्रह के अनुसार प्रत्येक धातु विविध रूपों में प्रयुक्त हो। फिर, फलभावना से प्रेरित उपग्रह के प्रयोग में भी कर्त्ता से सम्बद्ध त्रिधा पुरुष-विभाजन लागू होता ही है।

१४.३ एक स्पष्टीकरण

संस्कृत और ग्रीक व्याकरणों में स्वीकृत इस उभयात्मक विभाजन के स्पष्टीकरण द्वारा उक्त बात को समझ लेना अधिक आवश्यक है। 'पुरुष' का विभाजन प्रयोक्ता और कर्त्ता के सम्बन्ध पर निर्भर करता है। **प्रथम, मध्यम** और **उत्तम** के रूप में यह विभाजन **त्रिधा** होता है। नामों या उनके द्वारा द्योतित विभागों में अन्तर हो सकता है। इस वर्गीकरण का आधार वक्ता और कर्त्ता के बीच निम्न प्रकार की सम्बन्ध-भावना है :

(१) जहां वक्ता स्वयं कर्त्ता हो—**प्रथम पुरुष** ।

(२) जहां श्रोता कर्त्ता हो—**मध्यम पुरुष** ।

(३) जहां कोई अन्य कर्त्ता हो—**प्रथम पुरुष** ।

'उपग्रह' का वर्गीकरण 'पुरुषों' की विभाजन-योजना पर प्रभाव नहीं

डाल सकता।

वैदिक, संस्कृत और ग्रीक में उपग्रह का सम्बन्ध फल-प्राप्ति के साथ जुड़ा हुआ है। संस्कृत व्याकरण में इस विभाजन को कर्त्ता की 'चेतना' के विभाजन के आधार पर किया गया है। 'चेतना' के अखण्ड होने पर भी उसे प्रायः 'आत्म' और 'पर' के दो व्यावहारिक भेदों में ही विभक्त माना जाता है। इन्हीं विभागों पर आश्रित क्रियापदों के रूपगत विभाजन को **आत्मनेपद और परस्मैपद** के नाम से माना गया है।

सामान्यतः 'आत्मनेपद' उसे कहा गया है, जहाँ कर्त्ता को स्वयं फलप्राप्ति अभिप्रेत हो। 'परस्मैपद' में कर्त्ता की 'क्रिया' की फल-प्राप्ति, उसे स्वयं न होकर, किसी अन्य को होनी सम्भव होती है। परन्तु यह विभाजन भावनात्मक दृष्टि से भले ही अकाट्य कहा जाए, रूपात्मक दृष्टि से इसके अनेक अपवाद हमें मिल जाएंगे। इस दृष्टि से इसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः रूपात्मक दृष्टि से फलप्राप्ति को ही इसका एकमात्र आधार नहीं कहा जा सकता। इन दोनों फल-प्राप्ति-विभाजनों के बीच की व्यामिश्र स्थितियां भी सामने आती हैं।

अतः 'पुरुष' और 'उपग्रह' पर एक विहग-दृष्टिपात अनुचित न होगा।

पुरुष

१४.४ विभाजन

आजकल के वैयाकरण और भाषातत्त्ववेत्ता 'पुरुष' या 'पर्सन' का विभाजन प्रायः **वक्ता, श्रोता**, एवं **उभयव्यतिरिक्त** के आधार पर करते हैं। येस्पर्सन भी इसके अपवाद नहीं हैं। इनमें से किसी ने भी इस विषय पर रूपात्मक दृष्टि से आगे बढ़कर गहन चिन्तन करना आवश्यक नहीं समझा है। परन्तु भर्तृहरि तो भाषा के हर प्रयोग को जन-चेतना की विचारात्मक या यादृच्छिक उपलब्धियों का परिणाम मानते हैं। स्वभावतः उन्हें येस्पर्सन की भांति 'नोशनल' और 'फॉर्मल' बिभागों को मानने, और इस प्रकार जीवन और प्रयोग को दो छोर स्वीकार करने, की आवश्यकता नहीं रह जाती। वे तो व्याकरण की हर उपलब्धि को जीवन से आगत मानकर बढ़ते हैं। भाषाशास्त्र और व्याकरण के सम्बन्ध में उनका हर विवेचन जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही बढ़ता है। 'पुरुष' सम्बन्धी उनका चिन्तन भी इसी सरणि पर बढ़ा है।

१४.५ चेतना से सम्बन्ध

कहा जा चुका है कि भर्तृहरि चेतना का सम्बन्ध 'पुरुष' के साथ जोड़ते हैं।

'वाक्' को मुख्यतः वक्ता और श्रोता के मध्य बुद्धि-व्यापार का विषय माना गया है। माध्यम होते हुए भी 'वाक्' ग्राह्य-ग्रहण की प्रक्रिया का साधन बनती है। 'बुद्धि' क्योंकि चेतना का धर्म है, और 'बुद्धि व्यापार' की संभावना क्योंकि केवल सचेतनों में ही सम्भव है, इसलिए चेतना के सम्भाव्य विभागों पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

देखने में चेतना का यह विभाजन 'अध्यात्म-दर्शन' से सम्बद्ध दिखाई देता है, किन्तु भर्तृहरि इसकी विवेचना व्याकरण की भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से करते हैं। वे इसे वेदान्त या योगदर्शन के 'चेतना-विवेचन' की भांति गूढ़ विषय नहीं बना देते। अन्य सभी विचारक्षेत्रों की भांति यहां भी वे नितान्त व्यावहारिक और क्रियात्मक होकर चले हैं। भाषा और वाक् के व्यापार में क्योंकि वक्ता और श्रोता दो ही माध्यम होते हैं—एक 'स्व' और दूसरा 'पर'—इसलिए व्याकरण और भाषाशास्त्र की दृष्टि से सम्पूर्ण चेतना इन्हीं दो विभागों में विभक्त रह सकती है। भर्तृहरि अधिक स्पष्ट करके इन दोनों को 'कर्त्ता' और 'कर्म' के विभाग से सम्बद्ध कर देते हैं। पर चेतना की ये दो स्थितियां वक्ता या प्रयोक्ता की दृष्टि से ही होती हैं। इन दोनों विभागों के ही प्रतिनिधि हैं: **उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष**। भर्तृहरि के शब्दों में:

प्रत्यक्ता परभावश्चाप्युपाधी कर्तृकर्मणो:।
तयोः श्रुतिविशेषेण वाचकौ मध्यमोत्तमौ॥ वा० ३.१०.१॥

१४.६ दो ही विभाग क्यों?

उक्त बात को अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि विद्यमान और अविद्यमान, अथवा दृश्य और अदृश्य, चैतन्य का विभाग 'मैं' और 'तू' के विभाग में ही पूर्णता से गृहीत हो जाता है। चैतन्य का विभाग अन्य किसी तीसरे वर्ग में किया ही नहीं जा सकता। **प्रथम पुरुष** के नाम से व्याकरण में जो विभाग स्वीकार किया गया है, भर्तृहरि उसका सम्बन्ध 'चैतन्य' के साथ स्वीकार नहीं करते।[1] इसी प्रकरण की अपनी व्याख्या में अत्यन्त स्पष्टता के साथ हेलाराज कह देते हैं: '**चैतन्यमात्मपरवर्त्ति द्वौ पुरुषौ, उत्तममध्यमौ, चैतन्यरहितत्वं प्रथमः पुरुष इत्यत्र तात्पर्य्यार्थः**।'

यहां शंका उठ सकती है कि यदि 'आत्म' या 'मैं' को केन्द्र बनाकर 'मैं

१. वा० ३. १०. २।

और तू' को चैतन्य के दो भाग स्वीकार किया जाता है, तब 'अचेतन' के रूप में समझा जाने वाला 'वह'— या उक्त दोनों के अतिरिक्त 'अन्य'—क्या है? क्या उसे भी 'चैतन्य' में गृहीत नहीं किया जा सकता ? यदि उसे 'अचेतन' ही माना जाए, तब 'वह जानता है', 'यह प्रबुद्ध है', आदि का क्या अर्थ होगा ? बुध, ज्ञा, चित्, आदि संस्कृत धातुएं, तथा अन्य भाषाओं की समानार्थक धातुएं, संज्ञान' के अर्थ में विद्यमान होने पर भी 'अन्य और पुरुष' या 'प्रथम पुरुष' के साथ सन्नद्ध और प्रयुक्त होकर भी, उस पुरुष की चेतना का भान नहीं करातीं। कम से कम न तो ऐसा भान इससे अभीष्ट होता है, और न ही इन क्रियाओं द्वारा अभिप्रेत संज्ञान में 'अन्य पुरुष' या 'प्रथम पुरुष' के द्वारा अभिहित व्यक्ति या द्रव्य की चेतना का किसी भी प्रकार उपयोग होता है।[1] हेलाराज इसे ही अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं : **'धात्वर्थो ह्यत्र चैतन्यलक्षणः। सच कर्तृकर्मणोरवच्छेदक इति तद्वशाच्चैतन्यप्रकाशो, न तु प्रथमपुरुषप्रयोगात्। अन्यत्राज्ञानार्थधातुविषये प्रथमपुरुषान्नियमेन चैतन्यानभिव्यक्तेः'**।[2] अर्थात्, उक्त धातुओं का अर्थ ही चैतन्य की सूचना देता है, 'प्रथम पुरुष' का प्रयोग या संयोग नहीं ! फिर यह धात्वर्थ 'कर्त्ता' और 'कर्म' से सम्बद्ध होने के कारण ही चैतन्य का प्रकाशक ठहरता है, प्रथम पुरुष के योग के कारण नहीं। 'ज्ञानार्थक' से भिन्न धातुओं के प्रयोग के समय यह प्रथम पुरुष नियमित रूप से 'चैतन्य' की सूचना नहीं देता। इसलिए इसे शेष दो 'पुरुषों' की भांति 'चैतन्य' से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

१४.७ प्रथम पुरुष की सत्ता

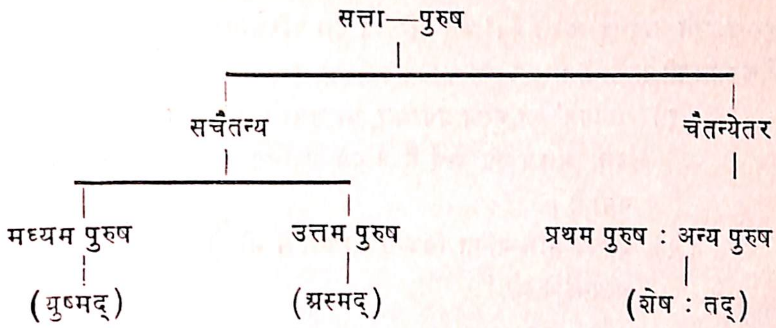
परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भर्तृहरि 'प्रथम पुरुष' की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। सत्य यह है कि वे भारतीय दर्शन की मूल धारणा के अनुसार समस्त 'सृष्टि'—अथवा 'पुरुष'— का विभाजन 'चैतन्य' और 'चैतन्येतर' वर्गों के रूप में करते हैं। इनमें से 'चैतन्य' वर्ग में दो पुरुष गृहीत होते है : **मध्यम** और **उत्तम**। **प्रथम पुरुष** इसलिए 'चैतन्येतर' वर्ग में गृहीत होता है कि वह उक्त दोनों वर्गों से अगृहीत समस्त सत्ता पर लागू होता है। दूसरे शब्दों में, उसकी सत्ता और मान्यता केवल 'चैतन्य' की मान्यता पर आधारित नहीं है, जबकि शेष दो पुरुषों की सत्ता केवल 'चैतन्य' पर ही आधारित है। उन में 'अचेतन' वर्ग गृहीत नहीं होता, हो नहीं सकता। इसे हम इस रूप में देख सकते हैं :

---

१. वा० ३. १०. ३।

२. वही, टीका।

क—पुरुष-विभाजन



१४.८ सम्बोधन : किस वर्ग में

मध्यम पुरुष को 'युष्मद्' और उत्तम पुरुष को 'अस्मद्' से सम्बद्ध करने के बाद प्रश्न उठता है कि 'सम्बोधन' को 'प्रथम पुरुष' के साथ सम्बद्ध माना जाए या नहीं ? इस समस्या पर भर्तृहरि के विचार निम्न प्रकार हैं :

(१) कुछ लोग सम्बोधन का अर्थ सदा मध्यम पुरुष से सम्बद्ध मानते हैं, और वे 'तू', 'तुम', आदि के के द्वारा ही उसकी व्याख्या करते हैं ।[1]

(२) परन्तु साध्य (क्रिया) का सम्बन्ध सम्बोधन से किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता ।[2] सम्बोधन तो 'सिद्ध का अभिमुखीभाव मात्र' होता है ।[3]

(३) यदि 'त्वं', यूयं', आदि सम्बोधन के स्थानीय ही हों, तो उनमें भी सम्बोधन के समान ही उच्चारण स्वर 'आद्युदात्त' होना चाहिए, परन्तु होता ऐसा नहीं है ।[4]

इसलिए भर्तृहरि की दृष्टि में सम्बोधन को 'त्वं', 'तू', आदि मध्यमपुरुष-सूचक शब्दों द्वारा भले ही अभिव्यक्त कर दिया जाए, तब भी ये शब्द उसके स्थानीय नहीं हो सकते । न ही मध्यम पुरुष का 'सम्बोधन' से सीधा सम्बन्ध ही बैठता है ।

उपग्रह

१४.९ परिभाषा

आत्मनेपद और परस्मैपद आदि के रूप में 'कर्त्ताभिमुख' या 'अन्याभिमुख'

---

१. वा० ३. १०. ५ ।   २. वा० ३. ७. १६३ ।   ३. वा० ३. १०. ६ ।

फल की दृष्टि से साध्य या अर्थ का जो भेद प्रदर्शित किया जाता है, वह चाहे सामान्य 'तिङन्त' प्रत्ययों के रूप में हो या किसी अन्य—कृदन्तादि—प्रत्यय के रूप में, उसे '**उपग्रह**' कहते हैं।[1] भर्तृहरि की इस परिभाषा से निम्न बातें स्पष्ट होकर सामने आती हैं :

(१) 'उपग्रह' का मुख्य प्रयोजन, या उसकी मान्यता का मूल प्रयोजन, साध्य के अर्थ में आगत भिन्नता को द्योतित करना माना गया है।

(२) इसकी अभिव्यक्ति तिङन्त प्रत्ययों से भी हो सकती है और अन्य प्रत्ययों से भी !

१४.१० अर्थ-भिन्नता

यह अर्थ-भिन्नता दो प्रकार से आती है : उपग्रह के साधन रूप में प्रयुक्त होने से, अथवा उसके विशेषण रूपमें आने से।[2] **पच्यते, गम्यते**, आदि में—कर्म वाच्य की स्थिति में—'कर्म' की स्थिति उपग्रह के प्रयोग द्वारा ही स्पष्ट होती है। इसीलिए इस परिवर्त्तन को '**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**[3]' के द्वारा '**कर्मणि**' के अन्तर्गत परिवर्त्यमान स्वीकार किया गया है। अन्यथा सामान्य प्रयोग—कर्तृगामी होने की स्थिति में—**पचति, गच्छति**, आदि होने चाहिए थे। इस परिवर्त्तन में उपग्रह 'साधनत्व' या कारकत्व का वाहक बनकर आया है। विशेषण या क्रियाविशेषण बनने की स्थिति भी इसी उपग्रह के परिवर्त्तन से सूचित होती है। **भवन्तः, भवन्ती**, आदि में यही परिवर्त्तमान स्थिति व्यक्त हुई है।

१४.११ उभयार्थक प्रयोग

उभयार्थक प्रयोगों को देखकर 'उपग्रह' की अर्थमूलकता के विषय में शंका हो सकती है। **पचति-पचते** या **यजति-यजते** का यह सान्तर प्रयोग क्यों? भर्तृहरि इस समस्या का भी उत्तर देते हैं। 'जहाँ जीविकोपार्जन या जीवनयापन के लिए कोई क्रिया इस प्रकार से की जाती है कि उस क्रिया का तात्कालिक फल कर्त्ता को ही—उदरपूर्त्ति, स्वर्गप्राप्ति, आदि के रूप में—अभिप्रेत हो, वहां '**परस्मैपद**' का, और इससे विपरीत स्थिति में '**आत्मनेपद**' का, उपग्रह प्रयुक्त होता है।[4] पचति, यजति, में सामान्य क्रियाओं का विधान जीवनचर्या या जीविकोपा-

---

१. वा० ३. १२. १।
२. वही, २।
३. पा० २. ४. ६६।
४. वा० ३. १२. ३।

(छ) लिंग-विचार,
(ज) विभक्ति विचार,
(झ) वचन-विचार,
अगले पृष्ठों में हम इन्हीं समस्याओं पर विचार करेंगे।

(क) समानाधिकरण और प्रधानपद

१५.१७ क्रम-भिन्नता

पाणिनीय परम्परा में समास के प्रसंग में सर्वप्रथम 'अव्ययीभाव' का परिगणन किया जाता है। किन्तु भर्तृहरि वृत्ति-विचार के प्रसंग में क्रमशः **पद-प्रधानता** के आधार पर बढ़ते हैं, और उसमें भी 'समानाधिकरण' की बात को सर्वप्रथम लेते हैं। उनकी दृष्टि में 'समास' की सीमा कुछ अधिक व्यापक है। उनकी दृष्टि में 'तद्धित' का विचार भी 'समास' का ही विषय है। उन प्रत्ययों के द्वारा अन्यार्थाभिधान ही होता है। अर्थ में आने वाला यह परिवर्त्तन ही उन प्रत्ययों की व्याख्या के लिए 'वृत्ति' की आवश्यकता को जन्म देता है। इस प्रकार जिसे हम 'तद्धित' प्रत्यय के रूप में जानते हैं, वह वास्तव में किसी अन्य पद द्वारा वहन किए जाने वाले अर्थ को द्योतित करता है। समस्त तद्धित सामान्यतः 'तत्पुरुष' की सीमा में ही आते हैं। पर स्वयं तत्पुरुष समास की कई कोटियां होती हैं। इन सब में ही 'समानाधिकरणत्व' की स्थिति किसी न किसी रूप में विद्यमान होती है। **'समानाधिकरण'** का अर्थ है : एक ही अधिकरण के वाचक शब्द, अथवा जिन शब्दों का अधिकार या विषय एक है। स्वभावतः इस परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि 'समानाधिकरण' की स्थिति एक से अधिक पदों की उपस्थिति में ही सम्भव हो सकती है।

पर **'तद्धित'** में यह भिन्नता है कि वहां दृष्टि में एक पद ही आता है। उस पर प्रत्ययजन्य विकृति या प्रभाव अवश्य स्पष्ट होता है। वहां 'मनुपुत्रः' न कहकर 'मानवः' कहने से ही प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। 'वृत्ति' में दोनों जगह कोई अन्तर नहीं आता। इसीलिए इस प्रसंग में भर्तृहरि सबसे पहले 'समानाधिकरण' के सर्वाधिक सरल रूप 'तद्धित' की चर्चा ही अभीष्ट समझते हैं।[1]

१५.१८ निन्दा-प्रशंसा

इन तद्धितों में भी 'कर्मधारय[2]' की समानार्थक उस स्थिति को प्रधानता

१. हेला०, वा० ३. १४. १ की टीका में। २. पा० ५. २. ४२।

प्राप्त है, जिसकी वृत्ति में सभी भागीदार पद समान विभक्ति—**प्रथमा**—में ही होते हैं। इसे हम विशेष्य-विशेषण से सम्बद्ध स्थिति भी कह सकते हैं। इनमें कथित वस्तु की विशेषता का सह-कथन होता है। भर्तृहरि इस सह-कथित विशेषता के ही सर्वाधिक स्वाभाविक रूप को सबसे पहले लेते हैं। यह रूप 'कुत्सा' या 'प्रशंसा' के सहकथन के रूप में हो सकता है। यह रूप स्वाभाविक इसलिए है कि इन भावों में प्रकृत वस्तु का स्वार्थ ही प्रधान रहता है।[1] **'पटुकः', 'पटुतरः'**, आदि शब्दों को उदाहरणार्थ लिया जा सकता है।

१५.१९ निन्दा

'पटुकः' में 'क' प्रत्यय 'पटु' के स्वार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं लाता। उससे महज़ इतनी ही सूचना मिल जाती है कि जिसके लिए 'पटुकः' कहा जा रहा है, वह व्यक्ति पूर्णतया 'पटु' नहीं कहा जा सकता। इसकी वृत्ति **'अपूर्णः पटुः'** या **'कुत्सितः पटुः'** के रूप में स्पष्ट की जाती है। पाणिनि इस कुत्सा को 'अपक्षेपण' कहकर उस अर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं।[2] इससे पहले 'अल्प' अर्थ में भी वे इस प्रत्यय की स्थिति स्वीकार करते हैं।[3] इससे भी पहले स्पष्ट शब्दों में 'कुत्सा' के अर्थों में भी वे 'क' की उपस्थिति स्वीकार करते हैं।[4] इसी अर्थ में, किन्तु अपूर्णता पर बल देते हुए, पाणिनिने **'कल्प'**, **'देश्य'** और **'देशीयर्'** प्रत्ययों का विधान स्वीकार किया है।[5] **'पटुकल्पः'** अथवा **'विद्वत्कल्पः'** आदि इसी अपूर्णता की स्थिति की सूचना देते हैं।

भर्तृहरि यहां एक पते की बात कहते हैं, जिसका अर्थ-विज्ञान से बहुत घनिष्ठ सन्बन्ध है। जब हम **'कुत्सितो देवदत्तः'** कहते हैं, तब उसका अभिप्राय देवदत्त की कुत्सामात्र के कथन से होता है। परन्तु जब हम पहले से ही कुत्सित किसी वस्तु की अधिक कुत्सा के लिए अभिव्यक्ति करना चाहते हैं, तभी 'कन्' आदि प्रत्ययों का विधान होता है।[6] वैसे तो सभी द्रव्यों की कुत्सा, प्रशंसा, या अतिशायिता को बताने के लिए उन शब्दों का स्वार्थिक प्रयोग ही किया जाता है।[7]

१५.२० प्रशंसा

यही बात 'प्रशंसा' के विषय में भी सत्य है। **प्रशस्त, प्रकृष्ट**, आदि शब्द

---

१. हेला०, वा० ३. १४. १ की टीका में।
२. पा० ५. ३. ९६।
३. पा० ५. ३. ८५।
४. पा० ५. ३. ७४।
५. पा० ५. ३. ६७।
६. वा० ३. १४. २।
७. वा० ३. १४. ३।

स्वतः 'प्रशंसा' के वाचक हैं। किन्तु जब किसी पहले से ही प्रशस्त या प्रकृष्ट वस्तु के प्रकर्षाधिक्यादि को सूचित करना अभिप्रेत होता है, तभी प्रकर्ष के अभिधायी **तरप्, ईयसुन्**, आदि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।[1] किन्हीं दो प्रशस्त या प्रकृष्ट वस्तुओं की पारस्परिक तुलना के कथन के लिए ही **'पटुतरः', 'पटीयान्'**, आदि प्रयोग साधु माने जा सकते हैं।[2]

१५.२१ विशेषण-विशेष्य

इस प्रकार तद्धितों में से चुने हुए दो उदाहरणों द्वारा अपनी बात को स्पष्ट करके भर्तृहरि 'समानाधिकरण' की उस सामान्य स्थिति पर विचार के लिए बढ़ते हैं, जिसे हम 'कर्मधारय' समास के नाम से जानते हैं।[3] **विशेषण और विशेष्य** में समास की स्थिति को **बहुल** बताते हुए पाणिनि, ऐसा प्रतीत होता है, इन दोनों स्थितियों को द्रव्यमात्र की दो विशिष्टि स्थितियां स्वीकार करते हैं।[4]

पदभेदों की चर्चा में 'विशेषण' और 'विशेष्य' पर विचार करते हुए भर्तृहरि की इस दृष्टि को हम स्पष्ट कर आए हैं कि अर्थात्मक दृष्टि इन दो कोटियों को 'गुण' और 'द्रव्य' की किन्हीं दो निश्चित और विभाज्य सीमाओं में नहीं रखा जा सकता।[5] द्रव्यत्व की दृष्टि से तो दोनों में समानता है ही, **प्रातिपदिकत्व** की दृष्टि से भी ये दोनों समान हैं। भर्तृहरि इसे और अधिक स्पष्ट करके कहते हैं :

विशेषणविशेष्यत्वं पदयोरुपजायते ।
न प्रातिपदिकार्थश्च तत्रैवं व्यतिरिच्यते ॥ वा० ३.१४.६ ॥

अर्थात्, 'प्रातिपदिकत्व या तदर्थभावना की दृष्टि से विशेष्य और विशेषण में कोई मूलगत अन्तर नहीं है। उनकी स्थितिभिन्नता तब उत्पन्न होती है, जब वे वाक्यप्रयुक्त होकर पदस्थिति को प्राप्त करते हैं।' स्पष्ट है कि भर्तृहरि की दृष्टि में ये दो प्रायोगिक अथवा प्रयोगाश्रित स्थितियांमात्र हैं। इन्हें शब्द के अर्थाश्रित और भिन्नताभिधायी दो वर्ग नहीं कहा जा सकता। अर्थात्, 'शब्दत्व', 'प्रातिपदिकत्व', और 'अर्थवत्ता' की दृष्टि से ये दोनों समान और अभिन्न ही हैं :

---

१. पा० ५. ३. ५७।
२. वा० ३. १४. ३।
३. पा० ५. २. ४२।
४. पा० २. १. ५७।
५. 'इसी प्रबन्ध' का अध्याय ४, अन्तिम अनुच्छेद; सप्तम अध्याय—'गुणवाचक शब्द', और म० त्रि० १. १. २. २, वा० २।

द्रव्यात्मा गुणसंसर्गभेदादाश्रीयते पृथक् ।
जातिसम्बन्धभेदाच्च द्वितीय इव गृह्यते ।। वा० ३.४.१२ ।।

अर्थात्, 'द्रव्यात्मा एक ही रहती है । भेद केवल 'जाति' और 'गुण' के आश्रय से उत्पन्न होता है । इन स्थितिभेदों के संसर्ग में ही हम द्रव्याभिधायी उस शब्द की दो स्थितियां स्वीकार कर बैठते हैं ।'

और भर्तृहरि अपने अभेद-सिद्धान्त की पूर्व-स्थापना के अनुसार यहां भी इस भेद-बुद्धि को प्रयोक्ता की बुद्धि पर आश्रित ही बताते हैं :

बुद्ध्यैकं भिद्यते, भिन्नमेकत्वं चोपगच्छति ।
बुद्ध्यावस्था विभज्यन्ते, साहचर्यस्य विधायिका ।। वा० ३-१४-१५ ।।

अर्थात्, 'एक वस्तु ही बुद्धिभेद के कारण 'अनेक' अथवा 'भिन्न' दिखाई देती है। प्रत्यक्षत: भिन्न वस्तुओं में 'एकत्व' की स्थापना भी इसी 'बुद्धि' के कारण होती है। 'भिन्नता' और 'एकत्व' इस 'एकत्व' की ही दो विविध स्थितियां है, जिन्हें पहचानने का कार्य बुद्धि करती है। वही बुद्धि अर्थभेद का कारण भी है।'

१५.२२ अभिन्नता और भिन्नता

इस वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि आगे कहते हैं : 'विशेष्य शब्द अपने अर्थ को तो स्पष्ट करते हैं, और सूच्य द्रव्य का भी संकेत करते हैं, किन्तु उनसे उस द्रव्य की सभी या कोई भेदक विशेषताएं स्पष्ट नहीं होती । इन्हीं विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए जिस अन्य द्रव्यशब्द का प्रयोग किया जाता है, उसे ही **विशेषण** कहते हैं। वह अपनी विशिष्टता के कारण पर-उपकार करता है। 'परार्थत्व' की दृष्टि से वह 'शेष' या 'अधिक' माना जाता है' ।[1]

इस पर टिप्पणी करते हुए हेलाराज स्पष्टत: कहते हैं : **'भेद्यं विशेष्यम्, भेदकं विशेषकम् । ...ततश्च ज्ञाप्यं प्रधानं विशेष्यं, ज्ञापकं परोपकारायोपादीयमानं शेषभूतमप्रधानं (विशेषकम्) ।'**[2]

उदाहरण के लिए वे 'कृष्णतिल' शब्द को लेते हैं। इसमें 'पदच्छेद' या 'वृत्ति' के प्रसंग में हम 'कृष्ण' और 'तिल' शब्दों को क्रमशः **विशेषण और विशेष्य** मान बैठते हैं। वस्तुत: यहाँ जिस द्रव्य के लिए **'तिल'** शब्द प्रयोग में आ रहा है, उसी के लिए **'कृष्ण'** शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इसलिए दोनों ही शब्द

---

१. वा० ३. १४. ७ ।

२. वा० ३. १४. १३७; तथा ३. १४. ७ की टीका में ।

समान रूप से एक ही द्रव्य के अभिधायी हैं। द्रव्याभिधायी होकर दोनों ही समान रूप से 'अनिर्ज्ञात' द्रव्य का कथन करते हैं। अन्तर यह है कि 'कृष्ण' के द्वारा द्रव्य की जाति अनिर्ज्ञात रहती है, जबकि 'तिल' के द्वारा उस द्रव्य का '**गुण**' अनिर्ज्ञात रहता है।[1]

१५.२३ 'समानाधिकरण' का अर्थ

इस पर भी ये दोनों शब्द समान अधिकरण या समान द्रव्य के अभिधायी हैं। यह भी कहा जा सकता है कि प्रथमत: ये दोनों ही शब्द द्रव्य के 'सामान्य' या 'जातिरूप' का ही बोध कराते हैं। यह स्थिति स्वीकार करने पर एक द्रव्य के बोधक होने पर भी इन्हें परस्पर उपकारी नहीं कहा जा सकता। पर, एक ही द्रव्य के अभिधायक होने के कारण दोनों 'विशेष' या 'गुण' के अभिधायी भी कहे जा सकते हैं। एकत्र प्रयोगमात्र से यह मानना असम्भव है कि ये दोनों दो भिन्न द्रव्यों का संकेत कर रहे हैं।[2] इसीलिए प्रयोगवृत्ति को देखते हुए, और द्रव्य की रूपाभिन्नता को ध्यान में रखते हुए, यह मानना ही पड़ता है कि 'तिल' यदि द्रव्य के जातिरूप का बोधक है, तो उसी द्रव्य का बोधक होकर भी 'कृष्ण' उसके 'गुणरूप' का अभिधायक कहलाता है।[3] यह स्थिति उनके सन्निपात या 'सहनिपात' के कारण ही उत्पन्न होती है, और इसी कारण इसका समाधान भी हो पाता है।[4] इसे ही यूं भी कह सकते हैं कि 'द्रव्यावस्था' या 'द्रव्यत्व' वह अन्य स्थिति है, जिसका कथन ये दोनों ही शब्द करते है।[5]

भर्तृहरि इसे व्याकरण के एक उदाहरण द्वारा सिद्ध करते हैं। 'इ', 'ऋ', आदि ऐसे वर्ण हैं, जिन्हें कहीं **धातु** और कहीं **वर्ण** के रूप में स्वीकार और प्रयोग किया जाता है।[6] पर, इनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक की बुद्धि से ही हो पाता है।[7] इसी आधार पर वे यह स्वीकार करते हैं किसी भी द्रव्य की **तीन स्थितियां** होती हैं: **दो** तो जाति और गुण की सूचिका, और **तीसरी** उन उन दोनों द्वारा सूच्य वस्तु की सूचिका।[8] इस प्रकार 'गुण' और 'जाति' दोनों ही एक 'समान अधिकरण या आधार' का आश्रय लेते हैं। इसी कारण इसे 'समानाधिकरण' की स्थिति कहा गया है। 'नीलकमल' या 'नीलोत्पल' आदि में यही

---

१. वा० ३. १४. ६।
२. वही १०, ११।
३. वही ११।
४. वा० ३. १४. ११ से १३।
५. वा० ३. १४. १४।
६. वही, १८।
७. वही, १९।
८. वही, २०।

स्थिति है।[1] इस 'समानाधिकरणत्व' को ही लोग 'विशेष्य-विशेषण' (कृष्णतिल में) अथवा संज्ञा-संज्ञी (इ, ऋ, आदि में) के रूप में स्वीकार करते हैं।[2]

१५.२४ वृत्ति का रूप

इस बात के सुदीर्घ विवेचन के बाद भर्तृहरि इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि किसी भी समस्त पद के तथाकथित घटक पदों द्वारा सूचित जाति का व्यक्तिशः भी वैसे ही अभिधान होता है, जैसे उनके तथाकथित सामूहिक रूप से। द्वन्द्व और एकशेष समासों पर यही बात लागू होती है।[3] 'वृत्ति' का यही सही रूप है। वह बुद्धि द्वारा बलात् अनुस्यूत है। अन्यथा, भर्तृहरि की दृष्टि में समस्त शब्द सामूहिक या सम्पूर्ण रूप में जिस वस्तु का कथन करता है, शास्त्रदृष्टि से उसमें पाए जाने वाले तथाकथित पदों के अर्थ उससे भिन्न किसी अर्थ का वहन नहीं कर सकते। और जब हम अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा उसी एक समस्त पद के अंशों का पृथक्-पृथक् शास्त्रीय अर्थ जानने का यत्न करते हैं, तब उससे होने वाली लौकिकरूपा समग्र प्रतीति अपने स्वरूप में अखण्ड नहीं रह पाती।[4] इसीलिए 'वृत्ति' जैसी कल्पित वस्तु को महाभाष्य तक में दुष्कल्पना माना गया है। व्यवहार की सुविधा के लिए भले ही उसकी सत्ता स्वीकार की गई है।[5]

इसलिए विशेषण-विशेष्य की कल्पना 'वृत्ति' का ही विषय स्वीकार की गई है। इस पर भी वाक्य के द्वारा जिस एकार्थ का अभिधान होता है, उसे ही 'वृत्ति' भी व्यक्त करती है। भले ही वह वृत्तिकथित अर्थ विभक्त दिखाई दे; रहता वह एक ही है।[6] अर्थैकत्व की दृष्टि से **पद और वाक्य** समान महत्त्व रखते हैं।[7]

१५.२५ पद-प्रधानता और तत्पुरुष

विशेषण और विशेष्य में समास-सम्बन्ध समानता के आधार पर होता है। भाग लेने वाले तथाकथित सभी पद, **कर्मधारय** की स्थिति में, एक ही अर्थ-मूल के वाचक होते हैं। इसलिए उनमें प्रधानता-अप्रधानता का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। **तत्पुरुष** में स्थिति इससे भिन्न होती है। **द्विगु और तत्पुरुष** इस दृष्टि से एक हैं कि उनमें कथ्य वस्तु एक और स्पष्ट होती है। शेष पद उसके सम्बन्ध में ही अन्य सूचना देते हैं। **कर्मधारय** में दोनों पद समानता के आधार पर, समान महत्त्व के साथ, प्रयुक्त होते हैं। प्रश्न यह उठता है कि फिर कर्मधारय में **पूर्वपद**

---

१. वही, ५३।
२. वही, २१।
३. वही, २८-३०।
४. वही, ३३।
५. वही, ३४।
६. वही, ५२।
७. वही, ५३-५५।

और **उत्तरपद** का निर्णय कैसे होता है ? यह बात अधिकांशतः लोकप्रयोग से निर्णीत होती है। दोनों ही पद व्याकरण और भाषातत्त्व की दृष्टि से मूलतः **जातिवाचक** भी कहे जा सकते हैं और **गुणवाचक** भी। 'जाति' और 'गुण' बहुत सीमा तक सापेक्ष संज्ञाएं हैं। 'गुणवाचक' शब्दों की स्थिति स्पष्ट करते हुए 'नाम-प्रकरण' में हम देख आए हैं कि उनका भी मूल रूप **जातिवाचक** ही है। इसीलिए कदाचित् भर्तृहरि ने कहा था कि मूलतः सभी शब्द 'जातिवाचक' ही होते हैं।[1] भर्तृहरि आगे चलकर, उसी जातिसमुद्देश में, यह स्पष्ट घोषित करते हैं कि गुण, संख्या, लिंग, क्रिया और प्रातिपदिकार्थ एवं धात्वर्थ आदि सभी 'जाति' में ही गृहीत होते हैं।[2]

१५.२५ गुण

फिर 'गुण' को 'विशेषण' या 'विशेषक' क्यों माना गया है ? इस पर विस्तार में विचार हम पीछे कर आए हैं। भर्तृहरि की दृष्टि में जब एकाधिक जातिशब्दों का प्रयोग एक ही द्रव्य के अभिधान के लिए होता है, तब उनमें से जो भी शब्द द्रव्य के किसी ऐसे रूप का वर्णन करता है, जो उसे तत्सम दूसरे द्रव्यों से भिन्न या 'प्रकृष्ट' सिद्ध करता है, उसे 'गुण' या 'विशेषण' कहते हैं।[3] यही स्थिति **संख्याशब्द** की भी है।[4]

१५.२६ द्विगु

इस विवेचन से यह सिद्ध और स्पष्ट हुआ कि 'विशेष्य और विशेषण' का कर्मधारय के रूप में एकीकरण या एकपदीभाव उनकी समस्थिति के कारण ही होता है। किन्तु 'तत्पुरुष' और 'द्विगु' में स्थिति भिन्न होती है। 'द्विगु' और 'कर्मधारय' बहुत सीमा तक एक हीं समान प्रकृति के होते हैं। 'द्विगु' की तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ होती हैं।[5] **प्रथम** : तद्धितार्थ या तद्धितविषयक; जहां अपत्य, भवः, आदि अर्थ होते हैं। इसमें संख्या अभिहित वस्तु की ओर इंगित नहीं करती। **द्वितीय** : जहाँ तीन या अधिक शब्दों के समास में संख्या का सम्बन्ध केवल दूसरे पद से हो, और वह उससे मिलकर तत्पुरुष की सी स्थिति उत्पन्न करती हो। इस स्थिति में बाद में आए 'उत्तरपद' से समवेत होते हुए, संख्या का व्यक्ति-

---

१. वा० ३. १. ६, २५।

२. विशेष विस्तार के लिए देखें, भाषा० वा०, अनुच्छेद १४६, १५६।

३. वा० ३. ५. २, ६।

४. वा० ३. ११. १।

५. पा० २. १. ५२।

गत महत्त्व न रहकर, 'तत्पुरुष' बने समस्त 'पूर्वपद' का महत्त्व 'एकत्वमय' हो जाता है। तृतीय : जहां 'समाहार' या 'समूहकथन' अभिप्रेत होता है।

इन तीनों में अन्तिम स्थिति ही ऐसी है, जिसे हम कर्मधारय की परिभाषा के अन्तर्गत ले सकते हैं। यहां पर 'संख्यावाचक' पदांश 'विशेषण' की सी स्थिति में प्रयुक्त होता है। शेष दोनों स्थितियों में वह जिस पद के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, वह पद स्वतः प्रधान नहीं होता। 'तद्धित' और 'बहुव्रीहि' की अर्थात्मक प्रवृत्ति, इस दृष्टि से, बहुत दूर तक मिलती-जुलती है। उन दोनों में ही कथ्य वस्तु प्रयुक्त पदों से भिन्न होती है। अतः ये दोनों स्थितियां तत्पुरुष की प्रवृत्ति से भी भिन्न हैं।

१५.२७ तत्पुरुष

इस समास में प्रयुक्त पदों को 'समानाधिकरण' नहीं कहा जा सकता। समान अभिधेय के वाचक न होने के कारण प्रयुक्त पदों की विभक्ति या उनका पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न हो सकते हैं। इसीलिए प्रयुक्त पद 'विशेषण' और 'विशेष्य' के रूप में नहीं कहे जा सकते। परन्तु कर्मधारय और तत्पुरुष की स्थिति इस दृष्टि से समान ही है कि दोनों का कथ्य प्रयुक्त पदों से ही सूचित हो जाता है। यह बात उन्हें 'अव्ययीभाव', 'द्वन्द्व' और 'बहुव्रीहि' से सर्वथा भिन्न स्तर पर रख देती है। उन दोनों में अन्तर यही है कि एक ओर जहां 'कर्मधारय' में दोनों पद व्याकरण और भाषातत्त्व की दृष्टि से, समान स्थिति रखते हैं, और दोनों कथ्य वस्तु का ही इंगित करते हैं, वहाँ तत्पुरुष में प्रयुक्त पदों में से एक ही पद कथ्य वस्तु का वाचक होता है। उसका दूसरा पद उस कथ्य वस्तु की ही सम्बन्धाश्रित 'अधिक' व्याख्या करता है। इस प्रकार जबकि कर्मधारय में प्रयुक्त 'समानाधिकरण' पदों में हम विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध की कल्पना करके उनकी समस्थिति एक ही विभक्ति के रूप में मानते हैं, वहां तत्पुरुष में 'समानाधिकरण' और 'एकविभक्तिता' की यह स्थिति इस रूप में विद्यमान नहीं रहती। तत्पुरुष में कथ्य वस्तु के विषय में 'अधिक' सूचना देनेवाला पद भिन्न विभक्ति में ही वृत्ति के मध्य प्रयुक्त होता है।

१५.२८ पूर्वापर क्रम

कर्मधारय और तत्पुरुष के विषय में यह निश्चित नहीं कि इनमें 'पूर्वपद' कौन हो, और 'उत्तरपद' कौन? सामान्यतः यह माना जाता है कि 'उत्तरपद' ही कथ्य वस्तु होता है। पर बहुधा हम इस नियम का व्यतिक्रम या भंग होता भी पाते हैं। विशेषकर क्रियापदों के प्रयोग के विषय में कोई निश्चित विधान नहीं

किया जा सकता। इस दृष्टि से 'कष्टाश्रितः' और 'मृताश्वः' परस्पर विरोधी उदाहरण कहे जा सकते हैं। अंग्रेज़ी के 'डैड् एण्ड' और 'वैल् डन्' इसी प्रकार के विरोधी उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'स्थितिपूर्व' और 'पूर्वस्थिति' शब्द भी इसी कोटि में आते हैं।

'द्विगु' में यह क्रमविपर्यय इसलिए नहीं पाया जाता कि वहां संख्यापद की पूर्वस्थिति उस 'नामकरण' और 'वर्गीकरण' का मूल आधार है, समास या वृत्ति की समानता नहीं।[1]

(ख) बहुव्रीहि और अन्यपदप्रधानता

१५.२६ परिभाषा और अन्यपदार्थता

बहुव्रीहि की परिभाषा में पाणिनि उसे अन्य पदार्थ का अभिधायक मानते हैं[2]। 'अन्य पदार्थ का अभिधायक' कहने का यह अर्थ है कि बहुव्रीहि के रूप में उच्चरित पद या पदसमूह के तथाकथित 'पद' उस समास के द्वारा किसी वैयक्तिक इंगितार्थों को, या निजी पदार्थों को, वहन न करके, किसी अप्रयुक्त और अनभिहित पदार्थ का ही सामूहिक या सांघातिक रूप में अभिधान करते हैं। इस प्रकार 'हुताग्निः' का सम्बन्ध 'हुत' या 'अग्नि' से न रहकर 'यजमान' या 'ब्राह्मण' आदि से हो जाता है। समस्त प्रयोग में जिसे हमने 'हुताग्निः' कहा, उसे ही वृत्ति के रूप में हम **'हुतोऽग्निर्येन सः'** कहते हैं। इन दोनों प्रयोगों में से प्रथम प्रयोग में ही 'अन्यपदार्थत्व' का प्रश्न उठता है। दूसरे प्रयोग में 'येन सः' कहकर 'सः' के द्वारा अन्यपदार्थ का कथन स्वयं कर दिया गया है। इसीलिए भर्तृहरि इन दोनों का अन्तर समझाते हुए स्पष्ट करते हैं कि 'समास' की स्थिति में वृत्तिगत 'अन्यपदार्थता' का प्रश्न उठता है। वाक्यप्रयोग की स्थिति में अन्य पदार्थ का अभिधान स्वयं होने से, उसमें किसी अन्यपदार्थाभिधायिनी वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके शब्दों में: **'वृत्तिरन्पदार्थे या तस्या वाक्येष्वसंभवः'** (वा० ३.१४.३८)। हेलाराज इसी की व्याख्या करते हुए कहते हैं: **'स्निग्धानि किसलयान्यस्येति वाक्ये पदानामन्यपदार्थे स्निग्धकिसलयो वनस्पतिरिति वृत्तिवद् वृत्तिर्नास्ति, अस्येत्यन्यपदार्थस्य स्वशब्देनैव गमितत्वात्'** (वही, टीका)।

इसी वृत्ति के दो रूपों को 'लौकिक' और 'अलौकिक' के रूप में कहा गया है। शास्त्रार्थ या शास्त्रानुसारिणी वृत्ति को लोक में अप्रयुक्त होने के कारण ही 'अलौकिक' कहा गया। **'स्निग्धकिसलयः'** 'लोकप्रयुक्त रूप है। तथाकथित **'स्निग्धानि किसलयान्यस्य'** के रूप में वृत्ति रूप भी अन्यत्र प्रयुक्त और लौकिक

---

१. पा० २.१.५२। २. वा० ३.१४.३३, ४३।

रूप ही कहलाएगा। परन्तु जब इसे 'स्निग्ध+जस्, किसलय+जस्' आदि के रूप में विभक्त करते हैं, तब इसे 'अलौकिक' कह दिया जाता है। यह शास्त्रीय या व्याकरणात्मक अलौकिक विभाग है, जो प्रयोग से बाह्य है। भाषात्मक सत्य यह है कि अप्रयुक्त रूप प्रत्यक्ष न होने के कारण अस्तित्ववान् ही नहीं कहे जा सकते। जब हम 'स्निग्धकिसलय' कहते हैं, तब उसके अतिरिक्त सभी लौकिक या शास्त्रीय प्रयोग 'अप्रयुक्त' ही माने जाएंगे। भर्तृहरि के उपर्युक्त कथन का यही अभिप्राय है।

कात्यायन ने **'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पंचम्या:'**[1] कहकर जो संकेत दिया है, उसपर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि 'निर्' आदि का 'निष्क्रान्त' आदि अर्थ मानना अस्वाभाविक है। यह अर्थ भी तभी तक उचित या स्वाभाविक समझा जा सकता है, जबतक स्वयं 'क्रान्त' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता। ज्योंही हम **'निष्कौशाम्बिः'** की जगह **'निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः'** कहते हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर् आदि का स्वतः कोई भी अर्थ 'निष्क्रान्त' आदि के रूप में नहीं होता[2]। ऐसी ही बात वे **'नित्यं कौटिल्ये गतौ'**[3] और **'नित्यं क्रीडाजीविकयोः'**[4] आदि के विषय में भी कहते हैं। भर्तृहरि के कथन का अभिप्राय यही है कि 'नित्य' शब्द का वृत्ति में उपयोग, प्रयोगाश्रित न होने से, 'अव्यावहारिक' ही माना जाना चाहिए[5]। 'निर्' आदि के 'निर्गत' आदि अर्थों की स्थिति केवल वृत्ति में ही है[6]। तत्पुरुष समास के इन दो उदाहरणों से ही सिद्ध हो जाता है कि पदों का अपना अर्थ मुख्य नहीं है। 'समास' में तो पदों की अपेक्षा 'समूह' का ही व्यक्तिगत महत्त्व और एकत्व अपेक्षित होता है[7]।

१५.३० अन्यपदार्थ और सम्बन्ध

इस समूहार्थक अर्थवृत्ति का सबसे अच्छा उदाहरण 'बहुव्रीहि' को ही लिया जा सकता है। **'चित्रगुः'** और **'वज्रपाणिः'** के उदाहरणों द्वारा इसे सिद्ध किया जा सकता है। 'चित्रा गावो यस्य' और 'वज्रं पाणौ यस्य' के विग्रह द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि इन दोनों शब्दों से जिस व्यक्ति या द्रव्य का संकेत या इंगित उपलब्ध होता है, उसका संकेतन न तो 'चित्र' या 'गौ' शब्दों से होता है और न ही 'वज्र' और 'पाणि' शब्दों से। इसीलिए **'अनेकमन्यपदार्थे'**[8] वाली बात तो पूरी हो ही जाती है।

---

१. वार्तिक १३३६ (सि० कौ०)।
२. वा० ३. १४. ३६।
३. पा० ३. १. २३।
४. पा० २. २. १७।
५. वा० ३. १४. ४०।
६. वही, २५८।
७. वही, ६८।
८. पा० २. २. २४।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के समस्त पदों का सम्बन्ध किसी अन्य पदार्थ या द्रव्य से होता है। 'अन्यपदार्थ' कहने का अभिप्राय यही है। पर इसमें विचारणीय यह है कि यह सम्बन्ध कैसा होता है, तथा इसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है ? **'यस्य सः'** वाले सम्बन्ध को प्रायः 'षष्ठी-सम्बन्ध' कहा जाता है[1]।' 'षष्ठी' का यह सम्बन्ध 'स्वस्वामिभाव' के रूप में ही अधिक स्वाभाविक है। इसीलिए हेलाराज अपनी टिप्पणी में कहते हैं : **'चित्रा गावो यस्येति स्वामिमात्रस्य प्रतीतेः**[2]।' **'येन सः'** आदि के द्वारा व्याख्यात बहुव्रीहि में यह **'स्वस्वामिभाव सम्बन्ध'** विद्यमान नहीं रहता। इसका अर्थ यह हुआ कि 'बहुव्रीहि' की 'अन्यपदार्थता' में कई प्रकार के 'सम्बन्ध' रह सकते हैं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि यहां षष्ठी-सम्बन्ध केवल स्वस्वाभिभाव के रूप में ही रहता है।

१५.३१ सम्बन्ध : किसका किससे ?

अब समस्या यह रहती है कि भाग लेने वाले इन घटक शब्दों में से किसका सम्बन्ध 'स्वामी' से स्वीकार किया जाए ? **'चित्रगुः'** और **'वज्रपाणिः'** में यह सम्बन्ध संकेतित व्यक्ति के साथ 'चित्र' और 'वज्र' का है, या 'गौ' और 'पाणि' का ? हम पाएंगे कि **वज्र** और **चित्र** यहां, यदि वृत्तिक्रम में उन्हें अलग माना ही जाए, क्रमशः 'गौ' और 'पाणि' आदि के विशेषक बनकर आते हैं। अतः वृत्ति की दृष्टि से मुख्य पद, यदि ये समास अनेक पद वाले माने ही जाने हैं, 'गौ' और 'पाणि' ही ठहरेंगे। इनका ही सम्बन्ध उस व्यक्ति से होता है, जिसके लिए इनका प्रयोग होता है। यहीं भर्तृहरि यह बात विशेष रूप से कह देते हैं कि जिस प्रकार 'गौ' को 'शुक्ल' का पर्याय नहीं कहा जा सकता, किन्तु 'गौः' कहते ही 'शुक्ल' या 'कृष्ण' आदि की प्रतीति हो जाती है, उसी प्रकार 'गौः' कहने से सम्बद्ध व्यक्ति का कथन न होने पर भी सम्बन्ध के कारण उसकी प्रतीति हो ही जाती है[3]। जिससे सम्बन्ध होता है, उसे 'सम्बन्धी' कहते हैं।

१५.३२ सम्बन्धी : सामान्य या विशेष ?

अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'सम्बन्धी' सामान्य है या विशेष ? इसके आधार पर ही यह निर्णय होगा कि सम्बन्ध सामान्य है या विशेष ! संस्कृत व्याकरण में इसकी व्याख्या **'चित्रगुश्चैत्रो मैत्रो वा'** के उदाहरण द्वारा की जाती है। इसके अनुसार 'चित्रगु' को हम 'चैत्र' आदि का विशेषण तो मान

---

१. वा० ३. १४. २१६।
२. वा० ३. १४. २१३ की टिप्पणी में।
३. वा० ३. १४. २१३।

सकते हैं, अथवा एक 'सामान्य' शब्द के रूप में; किन्तु उसे 'चैत्र' का स्थानीय नहीं मान सकते। क्योंकि 'चित्रगु' तो चैत्र या देवदत्त में से कोई भी हो सकता है। अतः 'चित्रगुः' का सम्बन्धी शब्द भले ही 'विशेष' का इंगित दे, किन्तु स्वतः ऐसे शब्द 'विशेष' के सूचक नहीं होते; क्योंकि उनके रहते भी 'विशेष नाम' के प्रयोग का अवकाश रहता ही है। दूसरे शब्दों में, 'गौ' किसी के भी पास हो सकती है, किन्तु 'चित्रा गौओं का स्वामी' तो कोई विशेष व्यक्ति ही होगा; भले ही हम उसे किसी विशेष नाम से कहें, या स्वयं उसके द्वारा ही उस तथाकथित विशेष व्यक्ति का इंगित ग्रहण करें[1]।

इसका भाषाविज्ञानसम्मत उत्तर वार्त्तिककार ने यह कहकर दिया था कि यदि 'चित्रगुः' आदि कहनेमात्र से ही 'चैत्र' या 'मैत्र' आदि व्यक्ति विशेषों की उपलब्धि हो जाती है, तब **'चित्रगुश्चैत्रो मैत्रो वा'** जैसे प्रयोग निरर्थक हो जाएंगे। 'चित्रगु' का अर्थ या प्रयोजन यदि 'चैत्र' से है, तब 'चैत्र' का अनुप्रयोग अविहित, अनुचित और अवैधानिक है। यही बात 'देवदत्त' आदि पर भी लागू होती है। वार्त्तिककार के शब्दों में : **'पदार्थाभिधानेऽनुप्रयोगाऽनुपपत्तिरभिहितत्वात्।'** इसका एक उत्तर यह भी है कि यदि बहुव्रीहि विशेषक पद का सम्बन्धी या विशेष्य नाम्ना या व्यक्तिगत रूप में न कहा गया हो, तब सर्वप्रथम 'सामान्य' सम्बन्धी की ही प्रतीति होगी: अर्थात् तब वह बहुव्रीहि शब्द 'सामान्य' सम्बन्धी का ही द्योतन कराएगा। उस दशा में 'विशेष' व्यक्ति के अनभिहित होने का अभिप्राय भी उस समास की सामान्यता या सामान्य सूचकता से ही लिया जाएगा। वार्त्तिककार के शब्दों में : **'न वाऽनभिहितत्वात् सामान्याभिधाने हि विशेषानभिधानमिति'।**

तात्पर्य यह है कि सामान्यतः **बहुव्रीहि** समास विशेषक होकर भी 'सामान्य' की ओर ही इंगित करता है, जब तक कि विशेष का ही स्वतः उल्लेख न कर दिया जाए। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए एक युक्ति यह भी दी जाती है कि **'चित्रगुः'** समास है, और **'चित्रगुश्चैत्रो मैत्रो वा'** वाक्य है[2]। चैत्रादि 'विशेष सम्बन्धी' वाक्य में ही पृथक से प्रयुक्त होते हैं। यह सम्बन्ध 'षष्ठी' के द्वारा व्यक्त होता है। यदि 'समास' से ही उनका अभिप्राय ग्रहण होता, तो वे भी समास के अंग होते। किन्तु ऐसा न होकर उनका प्रयोग वाक्य में पृथक् से होता है। अतः 'विशेष' का अर्थाधान करने पर भी ऐसे 'समास' स्वतः 'सामान्य' सम्बन्धी के ही वाचक, और इसीलिए 'सामान्य' सम्बन्ध' के वाहक, कहे जाएंगे[3]। महाभाष्य में :

---

१. वा० ३. १४. २१२, २३८-४०।
२. वा० ३. १४. २३८ से २४०।
३. वही, २१५।

'भवेत्सिद्धम्, यदा सामान्ये वृत्तिः । यदा तु विशेषे वृत्तिः, तदा न सिध्यति : चित्रा गावोस्य देवदत्तऽस्येति । नेदमुभयं युगपद् भवति वाक्यं समासश्च । यदा वाक्यं, न तदा समासः । यदा समासस्तदा सामान्ये वृत्तिः । तत्राऽवश्यं विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यः । चित्रगुः कः ? देवदत्त इति[1] ।'

१५.३३ भिन्न समस्या

परन्तु इससे भिन्न कोटि प्रतीत होती है 'वज्रपाणिः' और 'त्र्यक्षः' जैसे शब्दों की । इन का अर्थ व्यक्तिविशेष की ओर इंगित करना ही होता है । वस्तुतः इसका उत्तर भी उक्त वार्त्तिकों और भाष्य-टिप्पणियों में ही आ चुका है । 'वज्रपाणिः' और 'त्र्यक्षः' के प्रयोगों का अपना आधार तो 'सामान्य सम्बन्ध' पर ही टिका है । क्योंकि वज्र किसी के भी हाथ में रह सकता है, अतः 'वज्रपाणि' वज्र पकड़ने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता है । पर वृत्ति का प्रतिरोध यहां रूढ़ि के द्वारा होता है। 'वज्रपाणि' और 'त्र्यक्ष' क्रमशः इन्द्र और शिव के अर्थों में रूढ़ हैं । उनके रहते 'इन्द्र' या 'शिव' शब्दों का प्रयोग नहीं होता । अर्थात्, वे स्वयं क्रमशः 'इन्द्र' और 'शिव' के व्यक्तिगत नामों के रूप में रूढ़ होकर व्यवहृत होते हैं । पर जब उनके रहते भी 'इन्द्र' और 'शिव' का प्रयोग हो, तब वे भी 'सामान्य सम्बन्ध' के ही वाचक रह जाएंगे ।[2]

१५.३४ विभक्ति-प्रयोग

'समास', में 'विभक्ति' के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । वहां तो विभक्तिहीन शब्दों का ही प्रयोग होता है ।[3] यह तो वाक्य का धर्म है कि लिंग, संख्या, विभक्ति की आवश्यकता और अनिवार्यता उसमें रहती है। अर्थात्, पद के व्यक्तिपदार्थ के महत्व और सूचन के लिए उनकी वाक्यात्मक पृथक् सत्ता की आवश्यकता होती है । यदि उनके व्यक्तित्व पर अधिक बल देना अभीष्ट न हो, तभी उनका समासप्रयोग उचित ठहरता है। विभक्त्यादि चिह्न व्यक्तित्व के द्योतक हैं। यदि व्यक्तित्व अभीष्ट न हो, तो इनके प्रयोग की भी आवश्यकता नहीं रहती ।[4] भर्तृहरि के ये मत भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वहां 'पूर्णार्थ' ही एकत्व का द्योतक है ।[5]

---

१. पा० २. ३. ३७ की व्याख्या में ।
२. वा० ३. १४. २१४ ।
३. वही, २२६ ।
४. वही, २२६ ।
५. वही, २२७ ।

'द्वन्द्व' और 'च' का अर्थ

१५.३५ परिभाषा और सीमा

भर्तृहरि के अनुसार 'चार्थे द्वन्द्वः' (पा० २.२.२९) के द्वारा पाणिनि ने द्वन्द्व समास को 'समुच्चयार्थक' कहा है। 'च' का अर्थ बताते हुए संस्कृत के वैयाकरण प्रायः समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, और समाहार के रूप में चार अर्थों का परिगणन करते हैं। इनके विश्लेषण के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शुद्ध रूप से तो 'समुच्चय' ही एकमात्र ऐसी भावना ठहरती है, जिसमें द्वन्द्व सच्ची युगलभावना को लिंगसंख्यादिसहित अभिव्यक्त करता है। अर्थात्, द्वन्द्वपद के रूप में यदि वास्तव में 'युगल' या 'समूह' की भावना विद्यमान रहती है, तब ऐसा 'समुच्चय' के अर्थ में ही सम्भव है।[1] अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार आदि का अर्थ और प्रयोग किंचित् भिन्न रूप में होता है।

भर्तृहरि के उक्त मत का अर्थ यह नहीं कि समुच्चय के अतिरिक्त तीनों भावानाएं 'द्वन्द्व' का आधार नहीं बनतीं। बल्कि, उनके कथन का अभिप्राय यह है कि लिंगवचनादि का योग जहां वृत्ति में भाग लेने वाले, या वैसे माने जाने वाले, शब्दों के अनुकूल होता है, उसे यदि द्वन्द्व की सच्ची स्थिति माना जा सके, तब वह स्थिति केवल समुच्चय के अर्थ में ही सम्भव है[2]।

१५.३६ 'च' की उपयोगिता

भर्तृहरि तो वृत्ति की उपयोगिता को ही मात्र व्यावहारिक सुविधा की वस्तु मानते हैं। अतः 'च' जैसे पद की उपयोगिता को वास्तविक वे कैसे मान सकते हैं? यही कारण है कि वे उसकी सत्ता को केवल 'वृत्ति' अथवा 'वाक्य' का विषय मानते हैं: 'वृत्ति' में 'कल्पित' और वाक्य में 'वास्तविक'[3]। 'समास' में उसकी सत्ता को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहां इसकी सत्ता वृत्त्यात्मक या 'अर्थात्मक' रूप में ही रहती है। वैसे भर्तृहरि का कहना यह है कि 'द्वन्द्व' के तथाकथित निर्माण में भाग लेने वाले शब्दों के बीच 'च' का प्रयोग न होने पर भी सामान्यतः उसके अर्थ की प्रतीति हो ही जाती है। उसके लिए किसी वृत्त्यात्मक रूपगत विभाजन या परिवर्त्तन की आवश्यकता नहीं रहती। तथाकथित 'द्वन्द्व' से स्वतः ही सम्पूर्ण अर्थ वृत्ति स्पष्ट हो जाती है। 'च' का प्रयोग वहां अनावश्यक हो जाता है[4]। अधिक स्पष्ट करके वे कहते हैं: जैसे विकल्प के द्योतन

---

१. वही, २०० से २०४।
२. वही २०८, २०९।
३. वही २१४।
४. वही, १९२।

के लिए 'वा' और निवर्त्तन के लिए 'न' (नञ्) का प्रयोग होता है, उसी तरह समुच्चित के द्योतन के लिए 'च' का प्रयोग होता है। अर्थात्, 'च' का अर्थ 'समुच्चय' नहीं है; बल्कि 'समुच्चय' तो उससे 'द्योतित' होता है। उसका प्रयोग 'द्योतक' निपात के रूप में होता है, 'वाचक निपात' के रूप में नहीं[1]।

१५.३७ 'च' की निपात-संज्ञा

'चादयोऽसत्त्वे[2]' के द्वारा पाणिनि यह इंगित करते हैं कि 'च' आदि शब्द 'असत्त्ववचन' या 'सत्तावाचक न होने' की स्थिति में ही 'निपात' कहलाते हैं। यह व्यापक परिभाषा है। 'च' का नैपातिक प्रयोग संज्ञाशब्दों की भांति सत्तावान् किसी द्रव्य की ओर इंगित नहीं करता। परन्तु भर्तृहरि इसपर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'असत्त्ववचन' की यह स्थिति भी केवल 'अर्थकृत' ही है। अर्थात्, अर्थवृत्ति के प्रसंग में ही यह स्थिति स्पष्ट होती है। 'च' किसी भी रूढ़ि के रूप में स्वतः वहां विद्यमान नहीं होता। अतः उसकी उपयोगिता 'वृत्ति' में भले ही स्वीकार कर ली जाए, समास में उसकी सत्ता भौतिक की अपेक्षा 'अर्थात्मक' रूप में, और अर्थ से ही जन्म लेती हुई, स्वीकार की जा सकती है[3]।

१५.३८ व्यक्तिसत्ता और लिंग

'द्वन्द्व' में 'द्वगुिरेकवचनम्'[4] की अनुकृति कहां-कहां और क्यों लागू होती है, तथा कहां उसका लिंगादियोग स्वाभाविक रहता है, इस बात पर भी भर्तृहरि ने विचार किया है। प्रथमतः वे यह स्पष्ट करते हैं कि **लिंग** और **वचन** शब्द के अपने धर्म हैं : उसके रूप के साथ सन्नद्ध स्वाभाविक लक्षण ! स्वाभाविक रूप में उनका प्रयोग यथासामान्य ही रहता है। इनके प्रयोग के बाद भी शब्द अपने अर्थ को प्राप्त कर ही लेता है[5]। **अर्थ** शब्द से सन्नद्ध, एकीभूत या अन्तर्भूत कहे जा सकते हैं। वे शब्द से ही 'निष्फलते' प्रतीत होते हैं। शब्द का रूपभेद ही अर्थ में अन्तर ला देता। 'विवक्षा' का अनुमान 'शब्द' के अतिरिक्त और किसी माध्यम से सम्भव नहीं कहा जा सकता[6]। 'द्वन्द्व' में भी लिंग और संख्या की बात 'शब्दत्व' पर ही आश्रित रहती है।

'द्वन्द्व' में गृहीत होने वाले शब्दों में या तो 'समुच्चय' की भावना प्रधान रहती है, या उस भावना के गौण रहने पर 'समुच्चित' की भावना प्रधान हो

---

१. वही, १९३।
२. पा० १.४.५७।
३. वा० ३. १४. १९५।
४. पा० २. ४. १।
५. वा० ३. १४. १९८।
६. वही, १९९।

जाती है। '**समुच्चय**' समूह-भावना का नाम है, जब कि '**समुच्चित**' द्रव्य का अपर पर्याय है। इन दोनों तत्त्वों पर ही भर्तृहरि भाषाविज्ञान के एक सत्य को आधारित करते हैं। उनके अनुसार : "जहां समुच्चित द्रव्य प्रधान रहते हैं, वहां लिंग और संख्या का योग स्वाभाविक—द्रव्यसंख्या और द्रव्यलिंग के अनुसार—रहता है : यथा **रामलक्ष्मणौ, धवखदिरपलाशाः**, आदि में। पर, जहां 'समुच्चय' अर्थात् 'सामूहिकता' की भावना द्रव्य की अपेक्षा प्रधान रहती है, वहां लिंग-वचनादि की स्वाभाविक स्थिति में रूपात्मक अन्तर आ जाता है : यथा '**कठ-कालापम्**' आदि में। अर्थात्, जहां द्रव्य प्रधान रहता है वहां लिंगादि स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त रहते हैं, किन्तु जहां केवल 'समुच्चय' या 'समाहार' की भावना प्रधान अभिधेय रहती है, और द्रव्यों का व्यक्तित्व जहां उतना प्रधान नहीं रहता, वहां उनमें एकवचनत्व और नपुंसकत्व आदि का आधान हो जाता है[1]।"

१५.३९ भाग और एकत्व

'समूह' और 'एक' की समस्या पर पीछे विचार हो चुका है। वहां भर्तृहरि का यह मत स्पष्ट किया जा चुका है कि 'एक' में भी 'समूह' का अंश विद्यमान होता है[2]। यही बात 'द्वन्द्व' पर और उसके घटकों पर भी लागू होती है। दोनों या तीनों घटक वस्तुतः उस समूह के कल्पित अंश ही माने जा सकते हैं। उनका व्यक्तिगत महत्त्व नहीं रह जाता[3]। भर्तृहरि यहां इस भाषावैज्ञानिक सत्य से अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हैं : 'द्वन्द्व' यदि एक 'पद' है, तब उसका अर्थ भी एक और अविभाज्य हो होना चाहिए। अतः 'अवयवों' या 'भागों' में विभाग काल्पनिक ही कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, 'एक का यह विभाग' व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से ही मान्य है। अतः 'एकत्व में अनेकत्व' की यह व्यावहारिक धारणा ही समास के रूप और लिंगवचनादि पर प्रभाव डालती है[4]।

(घ) नञ्-समास और नञर्थ

१५.४० प्रस्ताविक

यहां यह स्पष्टकर देना आवश्यक है कि भर्तृहरि ने 'नञ्' के विषय में दो स्थान पर विचार किया है : अर्थ-प्रकरण में और समास-प्रकरण में। दोनों ही जगह वास्तव में नञ्-समास ही विचारणीय विषय रहा है। फिर भी, यहां समास-

---

१. वा० ३. १४. २००-१।
२. वा० ३. १०. २८।
३. वा० ३. १४. २१०।
४. वही, २११।

र्जन के लिए होता बताया जाता है। किन्तु, **पचते-यजते** में फलभावना की कर्त्ता द्वारा कामना या उपलब्धि की सूचना भी अभीष्ट होती है।

१४.१२ अन्य वैशिष्ट्य : असामान्य प्रयोग

किन्तु **फलभावना** के कर्तृ-सम्बन्ध या जीविका-सम्बन्ध से भिन्न अन्य भी स्थितियां हैं, जिनमें **अर्थभिन्नता** को प्रदर्शित करने केलिए सामान्येतर उपग्रह का प्रयोग विहित रहता है। **उत्कुरुते,**[१] **व्यतिलुनीते**[२], आदि में अर्थ की यह भिन्नता ही उन्हें उपग्रह-विशेष में बद्ध करती है। इनमें से प्रथम में 'गन्धनादि' के रूप में धात्वर्थ में विशेषता लाने की दृष्टि मुख्य है, जब कि द्वितीय में कर्म-व्यतिहार या कर्म-व्यतिरेक की सूचना मुख्यत: अभिप्रेत है।[३]

१४.१३ उपग्रह : स्वार्थफल

प्रश्न उठ सकता है कि जब मनुष्य की हर क्रिया उसके स्वार्थ के लिए ही होती है तब यह 'परार्थता' या 'परस्मैपद' की बात क्यों ? आज के भाषा-वैज्ञानिक भी ग्रीक, पारसी, आदि संस्कृतसम भाषाओं के अध्ययन के बाद इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि मूल उपग्रह 'आत्मनेपद' ही है; क्योंकि मनुष्य के प्रयत्नों का मूल 'स्वार्थ' ही माना जाना चाहिए। पर, फिर भी, व्यवहार में इससे भिन्न स्थितियां भी उपलब्ध होती हैं।[४] मूल स्थिति को इनसे भिन्न सूचित करने के लिए ही '**कर्त्रभिप्राये क्रियाफले**[५]' की विशेष शर्त 'आत्मनेपद' के लिए जोड़नी पड़ी।[६]

पर भिन्न स्थितियों में भिन्न विवक्षा भी अभिप्रेत रह सकती है। कर्त्ता द्वारा फलप्राप्ति अभिप्रेत होने पर भी यदि 'णिजन्त' प्रयोग मिलते हैं, तब उनमें उपग्रह की भिन्नता अनिवार्य सी हो जाती है। कई बार यह परिवर्त्तन अनिवार्य नहीं भी रहता।[७] पर इससे इतना तो सिद्ध ही है कि उपग्रह-परिवर्त्तन के लिए अर्थगत या शब्दसंस्कारगत कोई न कोई कारण उपस्थित रहना अनिवार्य ही है। इनमें से 'शब्द-संस्कार' भी अर्थगत महत्त्व के बिना निरर्थक ही ठहरता है। भर्तृ-हरि एक उदाहरण देते हैं: 'जिस प्रकार विशिष्ट तारक आदि को देख कर विशिष्ट काल की सूचना उपलब्ध होती है, उसी प्रकार क्रिया में भिन्नता के द्वारा भी फलभिन्नता की सूचना मिलती है'।[८]

---

१. पा० १. ३. ३२।
२. पा० २. ३. १४।
३. वा० ३. १२. ४।
४. वा० ३. १२. ५।
५. पा० १. ३. ६२।
६. वा० ३. १२. ६।
७. वा० ३. १२. ६।
८. वही, १०।

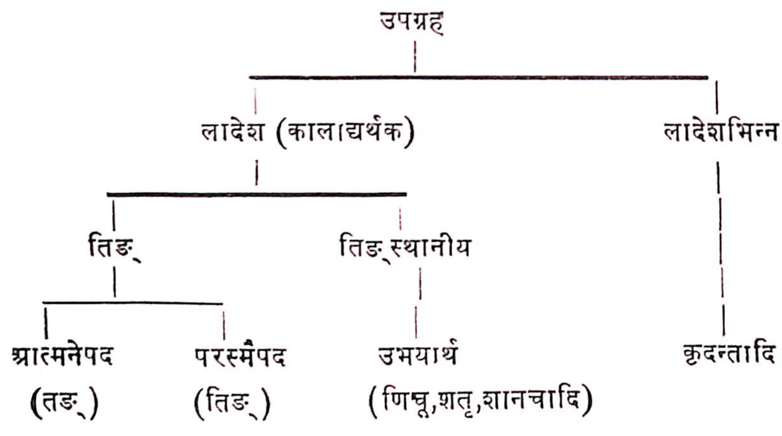
इस प्रकार भर्तृहरि की दृष्टि में यह निश्चित है कि क्रियापद द्वारा अर्थ-भिन्नता की अभिव्यक्ति का माध्यम यह 'उपग्रह' ही है।

१४.१४ तिङन्त से भिन्न

यहां भर्तृहरि के उस कथन को भी समझ लेना आवश्यक है, जहां वे कहते हैं कि 'लादेश से भिन्न प्रत्यय भी उपग्रह की सूचना देते हैं[१]।' 'कृदन्त' प्रत्ययों का ग्रहण भी इसी कोटि में होता है। फलतः **भवन्तः**, **भवन्ती**, आदि पूर्वचर्चित उदाहरण इसी कोटि में आते हैं। 'लादेश' भी दो प्रकार के हैं: एक तो 'तिङ्' नाम से अभिहित प्रत्यय, और दूसरे आर्धधातुक प्रत्यय—शतृशानच्कानचादि— जो वस्तुतः उपग्रहविशेष का ही स्थान लेते हैं।

इस प्रकार उपग्रह की अभिव्यक्ति निम्न रूपमें होती है :

ख—उपग्रह-विभाजन



१४.१५ पाणिनीय नियम

पाणिनि १.३.१२ से १.३.७७ तक 'आत्मनेपद' का विधान करने के बाद १.३.७८ में 'शेष से कर्त्ता में परस्मैपद' का विधान करते हैं। इससे भी भर्तृहरि द्वारा समर्थित निम्न सत्य स्पष्ट होते हैं :

(१) क्रियारूपों का **मूल 'पद' आत्मनेपद** ही होता है।

(२) **'परस्मैपद'** का प्रयोग 'कर्त्ता' के सामान्य योग में ही होता है।

---

१. वा० ३. १२. १।

(३) परस्मैपद का प्रयोग केवल सामान्य स्थितियों में ही होता है।

इसके विपरीत पा० १.४.६६ में सामान्य लादेश को पाणिनि ने 'परस्मैपद' स्वीकार किया है। परन्तु ऐसा केवल व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से ही हुआ है। रचनात्मक व्याकरण के नियम-विधान में कुछ तकनीकी सुविधाओं की अनिवार्यता होती है, जिन्हें कभी व्यावहारिक 'सत्य' स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। 'तिङ्' और 'तङ्' ऐसी ही व्यावहारिक, किन्तु तकनीकी दृष्टि से अनिवार्य, सुविधाएं हैं।

१४.१६ उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भर्तृहरि ने 'पुरुष' और 'उपग्रह' दोनों को ही **आत्म** और **पर** की चेतना से युक्त मानकर विभाजित किया है। पर जहां **पुरुष** के 'आत्म' और 'पर' का सम्बन्ध कर्त्ता के चैतन्य से है, वहां '**उपग्रह**' में 'आत्म' और 'पर' का सम्बन्ध क्रिया की फल-प्राप्ति की भावना से है। अन्यथा, ये दोनों तत्त्व—उपग्रह और पुरुष—इतने स्वतन्त्र हैं कि एक में रूपात्मक परिवर्त्तन आजाने पर भी दूसरा अविचालित रहता है। यथा, 'उपग्रह' की भिन्नता होने पर भी 'पुरुष' का विभाजन उसी प्रकार रहता है। 'पुरुष' में 'आत्म-पर' की भावना वक्ताश्रित है, कर्त्ता के आश्रित नहीं। इसीलिए उपग्रह-भिन्नता पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इन में से 'पुरुष' की अभिव्यक्ति, 'उपग्रह' की ही भांति, बाह्य रूप में सार्वत्रिकता से नहीं हो पाती। फिर भी, यह विभाजन विश्व की सभी भाषाओं पर घट सकता है। दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में इसकी विवेचना अनिवार्य है, भले ही उसकी भौतिक अभिव्यक्ति कहीं हो या नहो। भर्तृहरि ने इसका जो विवेचन किया है, उसमें व्याकरण के भौतिक पक्ष को कहीं भी प्रधानता प्राप्त नहीं है।

परन्तु, उपग्रह की स्थिति इससे भिन्न है। भारोपीय आर्य परिवार की कुछ प्राचीन भाषाओं में तो यह भेद स्पष्ट उपलब्ध होता है[1], परन्तु अन्य अनेक विश्वभाषाओं में यह भेद पाया ही नहीं जाता। इस पर यह तथ्य भी अवधेय है कि भर्तृहरि इस सम्बन्ध में प्रायः संस्कृत और वैदिक भाषाओं तक ही सीमित रहे हैं। इस पर भी उन्होंने कुछ सिद्धान्त ऐसे स्थापित किए हैं, जिन्हें हम सम्पूर्ण विश्वभाषाओं पर घटता पा सकते हैं। यह बात अलग है कि अर्थात्मक दृष्टि से

---

१. ग्रीक, संस्कृत, आदि में! ग्रीक में 'मिडल वायस्' को 'व्यामिश्र स्थिति' का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

भर्तृहरि द्वारा संकेतित अन्तर लाने के लिए कहीं 'आत्मनेपद' और 'परस्मैपद' के विभाजन जैसी प्रक्रिया का सहारा न लेकर 'लादेशभिन्न' किसी अन्य प्रक्रिया के माध्यम द्वारा ऐसी अभिव्यक्ति की जाए। इस प्रकार के प्रयोग के पीछे छिपी अर्थभावना तो हर भाषा के दार्शनिक आधार में विद्यमान होती ही है, भले ही हम उसे अभिव्यक्त होता हुआ न पाएं। अभिव्यक्ति-सामर्थ्य कई अन्य कारणों पर भी निर्भर करती है। उसकी कमी को किसी दार्शनिक तत्व की सत्ता के अस्वीकरण का हेतु नहीं ठहराया जा सकता।

वृत्ति या भावना

१५.१ प्रास्ताविक

भारतीय व्याकरण में **'वृत्ति'** और **'वाक्य'** को दो विविध स्थितियों का सूचक माना गया है। किन्तु वहां स्वीकृत परिभाषा, इनकी सामान्यतः मान्य परिभाषा से, भिन्न है। इन दोनों परिभाषाओं के अन्तर को स्पष्टतम रूप में समझने के लिए हम उनका समाहार इस रूप में करेंगे : **'परार्थाभिधानं वृत्तिः'** और **'वाक्यमेकार्थीभावः'**। अर्थात्, परार्थ या अन्तर्हित अर्थ को स्पष्ट करने या सामने लाने वाली 'विश्लेषण पद्धति' को **'वृत्ति'** कहते हैं, जबकि समुच्चित रूप में अपद और एकीभूत अर्थ के वाहक 'शब्दसंघात' को **'वाक्य'** कहते हैं। इस प्रकार ये दोनों दो विरोधी स्थितियों के सूचक इसलिए कहे जा सकते हैं कि एक स्थान पर अविभक्त और एकार्थीभूत दीखने वाले 'शब्दसंघात' को हम अविद्यमान काल्पनिक व्याख्या, या उसके व्याज से अविद्यमान प्रयोगों, द्वारा स्पष्ट करने या उसके पीछे छिपी भावना को ढूंढ निकालने का प्रयत्न करते हैं, जबकि दूसरे स्थान पर पदशः विभक्त शब्दराशि को हम **'एकः शब्दः'** की भांति **'एकोऽर्थः'** भी मानकर चलते हैं। इस प्रकार, संक्षेप में यह समस्या 'एकार्थ के विभाजन' और 'पदार्थों के एकीभाव' के रूप में दो विरोधी स्थितियों में सामंजस्य की समस्या है।

१५.२ वृत्ति

इसे स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों द्वारा समझाना आवश्यक होगा। अर्थवाहकता की दृष्टि से प्रायः हर भाषा में दो प्रकार के प्रयोग होते पाए जाते हैं : इन्हें हम **सविभक्तिक** और **अविभक्तिक** कह सकते हैं। पर अधिक उचित इन्हें **'पदशः'** और **'समस्त'** के रूप में कहना ही होगा। **'समस्त-असमस्त'** के रूप में भी इन दोनों को कहा जा सकता है। **समस्त** पदों में विभक्तिवचन-लिंगादि का प्रयोग नहीं होता, जबकि **असमस्त** पदों द्वारा इन सब का प्रयोग और कथन पूरी तरह होता है। समस्त पदों को, उनके निर्माण में भाग लेने

वाले तथाकथित पदों की पृथक्ता का बिना ध्यान किए 'एकपद' के रूप में ही जाना और माना जाता है। इनके अर्थ को समझने के लिए जब हम स्पष्टता के नाम पर इनका काल्पनिक पद-विभाग करते हैं, और अविद्यमान विभक्तिवचन-लिंगादि का योग करके इनके अर्थ की तथाकथिक पूर्णता को व्यक्त करते हैं, तब इस प्रयत्न द्वारा साध्य तथाकथित 'अर्थ' को 'वृत्ति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में : **समास के अस्पष्ट प्रतीयमान पदप्रयोग की तथाकथित अप्रयुक्त पदजन्य स्पष्टता 'वृत्ति' कहलाती है।**

१५.३ वाक्य

पर **'वाक्य'** में किसी ऐसी कृत्रिम स्पष्टता की आवश्यकता नहीं रहती। 'वृत्ति' में लाए गए या आरोपित तथाकथित पदविभाग की उपस्थिति वाक्य में आरम्भ से ही होती है। जहां नहीं भी होती, वहां उसे विद्यमान पदों में ही आरोपित करने का प्रयास नहीं किया जाता। 'वाक्य' में किसी ऐसे 'अन्तर्हित अर्थ' या 'परार्थ' की उपस्थिति स्वीकार नहीं की जाती, जो प्रयुक्त पदों और उनके वचनविभक्ति आदि के प्रयोग से ही व्यक्त न हो। वहां अर्थोपलब्धि के लिए जिस अर्थेकत्व को अनिवार्य माना गया है[1], उसे पाने की दौड़ में विभक्ति, वचन, लिंग, आदि की विद्यमान सत्ता को भी भुलाने और उपेक्षित रखने का प्रयास अनिवार्य हो जाता है। वाक्य की एकार्थता या 'अर्थैकत्व' इन सब बुद्धि-भेदों को लांघकर संभव हो पाते हैं। कदाचित् यही कारण है कि 'अर्थैकत्व' और 'पूर्णवाक्यता' उन भाषाओं में भी पाये जाते हैं, जिनमें विभक्तिवचनादि के संकेतक चिह्नों की पृथक् सत्ता नहीं होती। क्योंकि 'अभिधेय' या 'प्रातिपाद्य' वहां भी अर्थ और उसकी एकता है, पद-प्रयोग या प्रत्यय-प्रयोग की तथाकथित पूर्णता या अपूर्णता नहीं।

यहां से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भाषा की मूल भावना **वाक्य** द्वारा ही वहन या स्पष्ट होती है, वृत्ति द्वारा नहीं। इस दृष्टि से, **'वृत्ति'** अखण्ड वक्तृभावना के विभाजन का एक कृत्रिम प्रयास है, जिसके द्वारा हम उच्चारण-समकाल समझ ली गई उक्ति-भावना को भी स्पष्टतर समझने का प्रयास करते हैं। इसलिए, **यदि वाक्य एक 'उपलब्धि' है, तो वृत्ति एक 'प्रयास' है।**

१५.४ वृत्ति : प्रत्यय

परन्तु, इसके विपरीत एक और सत्य यह भी सामने आता है कि 'वृत्ति'

---

१. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्' । मीं० २. १. ४६ ।

की स्पष्टता या तथाकथित पूर्णता के लिए हम विभक्तिवचनादि की उपस्थिति अधिक आवश्यक मानते हैं। यह बात हर भाषा पर, उसके अपने परिवेश में ही, भिन्न-भिन्न रूप में लागू हो सकती है। स्पष्ट है कि लिंगवचनादि का प्रयोग चाहे व्यक्त रूप में हो या अव्यक्त रूप में, उनका मुख्य उद्देश्य 'अर्थ' (परार्थ=गूढ़ अर्थ) में अधिकाधिक स्पष्टता का आधान करना, या उसे उपलब्ध कराना, ही है। कल्पितपदजन्य इस स्पष्टता को ही **'वृत्ति'** का **'कार्य'** कहा जा सकता है। अर्थात् वृत्ति की स्पष्टता व्याकरण के इन तथाकथित विभागों की कल्पित उपस्थिति में ही सम्भव है।

अब इसे ही यदि इस प्रकार कहें तो अधिक उचित होगा : **'व्याकरण के तथाकथित बाह्य विभाग अर्थ की खण्डात्मक या अखण्डात्मक उपलब्धि के लिए कल्पित अथवा प्रयुक्त किए जाते हैं[1]।'** अर्थात्, वृत्ति की मान्यता इस बात को प्रधानतम और महत्त्वपूर्ण मानकर चलती है कि व्याकरण के सभी तथाकथित दृश्यमान विभाग अर्थ की स्पष्टता के लिए ही किए जाते हैं। इसीलिए, व्याकरण की मूल आधारभूत वस्तु 'अर्थभावना' ही ठहरती है। कदाचित् यही कारण है कि भर्तृहरि ने इस वृत्ति के प्रकरण पर सर्वाधिक विस्तार से विचार किया है और इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

१५.५ सम्भाव्य भ्रम

कदाचित् इससे यह भी भ्रम हो कि भर्तृहरि वृत्ति को, अथवा व्याकरण के इन विभागों को, अनिवार्य प्राथमिकता देते हैं। **'एक शब्दः'** और **'एकोऽर्थः'** सिद्धान्तों के प्रतिपादक भर्तृहरि के लिए ऐसा मान लेना एक भारी भ्रम कहा जाएगा। भर्तृहरि जानते हैं कि 'वाक्य एक, अखण्ड और अपद है[2]'। उनकी दृष्टि में वाक्य का विभाग या विभाजन हो ही नहीं सकता। पर, यह भी स्पष्ट है कि **अपोद्धार** को सैद्धान्तिक मान्यता देने वाले भर्तृहरि 'वृत्ति' को, और व्याकरण के इन चिह्नों को, **उपायमात्र** ही मानते हैं : **उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते**।[3] परन्तु, उनकी यह मान्यता इस दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण है कि उनके उद्घोष ब्रूनो और येस्पर्सन के इस मत को अत्यधिक दृढ़ आधार देते कि **'व्याकरण का जितना ही सम्बन्ध बाह्य शब्दरूपों से है, उससे अधिक सम्बन्ध शब्दप्रयोग के पीछे छिपी भावना से (इण्टेन्ट) है'**।[4]

इस दृष्टि से भर्तृहरि द्वारा कथित **वृत्ति** को, पश्चिम के इन वैयाकरणों

---

१. वा० १. १२; २. ६, १३; १. ६१, आदि।
२. भाषा० वाक्य०, पृ ६७ से १०४।
३. वा० २. २६।
४. दि फिला० ग्रा०, पृ० ५७।

की भाषा में, इण्टेण्ट या **प्रयोग-भावना** कह सकते हैं।

इसी पृष्ठभूमि पर हम अगले पृष्ठों में अत्यन्त संक्षेप में उस विचार-प्रक्रिया का अवलोकन करना अभीष्ट समझेंगे, जिसे भर्तृहरि ने व्याकरण-प्रक्रिया का 'प्राण' समझकर सर्वाधिक स्थान और समय दिया है, तथा अपने समय तक की समस्त सहेतुक या अहेतुक मान्यताओं के विश्लेषण के साथ वर्णित किया हैं। उसके पूरे विस्तार में जाने के लिए तो एक पूरे प्रबन्ध की आवश्यकता होगी।

१५.६ वृत्ति का समास से सम्बन्ध

हम स्पष्ट कर आए हैं कि वृत्ति की चर्चा भारतीय वैयाकरणों ने प्रायः समास के प्रसंग में ही की है। समासवत् प्रतीत होने वाली उस समस्त पदराशि को, चाहे व्याकरण की स्थूल या सूक्ष्म परिभाषाओं में उसे 'समास' कहा भी जा सकता हो या नहीं[1], अर्थ को सविस्तार समझने का उपाय ही समझी जाती है **वृत्ति**। इसलिए हेलाराज स्पष्ट करते हैं : **'असमस्तपदगतानर्थान् विचार्य, समस्त-पदविषयान् विचारयितुं पंचप्रकारवृत्तिपदविचारः प्रारभ्यते'** (वृत्तिसमु०, उपोद्घातः)। अर्थात्, 'समासहीन पदों के अर्थविचार के बाद समासयुक्त पदों के विचार के लिए पांच प्रकार की वृत्ति पर यह विचार आरम्भ किया जा रहा है।'

१५.६.१ भर्तृहरि का मत

वृत्ति और वाक्य की स्थितिभिन्नता को सूचित करने वाले भर्तृहरि के निम्न दो वाक्य अवधेय हैं :

१—**वाक्येऽपि नियता धर्माः, केचिद् वृत्तौ, द्वयोस्तथा**[2]।

तथा, २—**वृत्तिरन्यपदार्थे या तस्या वाक्येष्वसंभवः**[3]।

इनमें से **प्रथम** में कुछ विशेषताएं वृत्ति और वाक्य की पृथक्-पृथक् और कुछ उभयत्र स्वीकार की गई है। **दूसरे** में 'वृत्ति' और 'वाक्य' की परस्पर विरोधी स्थिति या स्वभाव वर्णित है। यह विरोध इस बात से स्पष्ट होता है कि बहुव्रीहि समास में अन्यपदप्रधानत्व की जो स्थिति वृत्ति या समास के विघटित अर्थ में पाई जाती है, वह सामान्य वाक्य में नहीं पाई जाती।

इसलिए स्पष्ट है कि **वृत्ति का अर्थ है :** वह कल्पित उपाय, जिसके द्वारा हम समास को पदों में विभक्त करके समझने का प्रयास करते हैं। परन्तु, इस प्रकार

---

१. पा० २. २. १८, १९।
२. वा० ३. १४. ३६; तुल वा० ३. १४. १३१।
३. वही, ३८।

के शब्दान्तरों को, जिन्हें केवल समझने-समझाने के लिए ही बाहर से लाया अथवा कल्पित किया जाता है, शास्त्रगत अथवा वास्तविक मान्यता नहीं दी जा सकती[1]। यद्यपि कुछ दूर तक यह बात सत्य मानी जा सकती है कि ऐसे 'असत्' शब्दों की कल्पना 'समास' में ही की जाती है, 'वाक्य' में नहीं। यही भेद है उन दोनों में।

भर्तृहरि कहते हैं :

अबुधान् प्रत्युपायाश्च विचित्राः प्रतिपत्तये।
शब्दान्तरत्वादत्यन्तभेदो वाक्यसमासयो :॥ वा० ३.१४.४६॥

अर्थात्, 'शब्दान्तरकल्पना एकदम अवास्तविक और अबुधों को समझाने का उपायमात्र है। सत्य की उपलब्धि के लिए वह एक श्रमसाधनमात्र है। यह कल्पना ही वाक्य और समास में भेद का कारण बनती है[2]।' यह बात भर्तृहरि अनेकत्र दोहराते हैं कि 'शब्दान्तर-कल्पना अबुधों की प्रति पत्ति के लिए ही होती है।'[3] वे इसे उपाय अथवा 'हेय मात्र' मानते हैं।[4] इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि **'वृत्ति' एक उपायमात्र है, जिसका सम्बन्ध तथाकथित समस्त पदों को समझने के प्रयासमात्र से हैं।**

१५.७ वृत्तिगत पदविभाजन की आवश्यकता

प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसा विभाजन या ऐसी वृत्ति-कल्पना अनिवार्य है ? इसके उत्तर में भर्तृहरि इसे अबुधयोग्य उपायमात्र कहा है। और उपाय को वे कार्य सिद्धि के बाद हेय मानते हैं। पर केवल ये वक्तव्य ही पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रश्न का भाषावैज्ञानिक उत्तर अधिक अपेक्षणीय है। उसके लिए सर्वप्रथम समास की स्थिति को समझ लेना अधिक उचित होगा।

'कृत्तद्धितसमासाश्च[5]' द्वारा पाणिनि **समास** को भी **प्रातिपदिक** संज्ञा देते हैं। व्याकरण की दृष्टि से यह अनिवार्य है। समासयुक्त पदों में वचन, विभक्ति और लिंग का योग केवल पदान्त में, एक स्थान पर ही, रहता है। यह तभी उचित और सम्भव कहा जा सकता है, जब समास रूप में गृहीत समस्त ध्वनि-निचय को 'एक शब्द' या 'प्रातिपादिक' स्वीकार किया जाए। अर्थात् **'चित्रगुः'**, **'नीलकमलम्'**, आदि शब्द भाषातात्त्विक दृष्टि से 'एक' ही हैं। इसीलिए उनमें

१. वा० १. ८६।
२. तुल० वा० ३. १४. ७७।
३. वा० १. ८६; २. ४१७।
४. वा० २. २६।
५. पा० १. २. ४६।

वचनविभक्त्यादि का योग, भारोपीय परिवार की मूल प्रवृत्ति के कारण, केवल अन्त में ही रहता है। दूसरे शब्दों में, विभक्तिवचनादि से युक्त होकर 'सुबन्त' के रूप में जब वे शब्द 'पद' बनकर सामने आते हैं[1] और प्रयोगार्ह होते हैं, तब वे अविभाज्य, एक और अखण्ड पद ही होते हैं। उनका अर्थ भी संहतार्थ (सम्+अर्थ) होता है। तभी तो उनसे पदविधि सम्भव हो पाती है[2]। 'पद' या 'प्रातिपदिक' यदि अर्थात्मा हैं, तब समास भी अर्थात्मा ही है। उसका कोई भी विभाजन महज़ काल्पनिक ही हो सकता है, वास्तविक नहीं! भर्तृहरि की स्पष्टोक्ति द्रष्टव्य है :

> **बुद्ध्यैकं भिद्यते, भिन्नमेकत्वं चोपगच्छति।**
> **बुद्ध्यावस्था विभज्यन्ते, सा ह्यर्थस्य विधायिका॥**
> **व्यपदेशिवदेकस्मिन् बुद्ध्या नानार्थकल्पना।**
> **तथा कल्पितभेदः सन् अर्थात्मा व्यपदिश्यते॥ वा० ३.१४.१५, १६॥**

अर्थात्, 'बुद्धि का ही यह चमत्कार है कि हम 'एक' को पहले विभाजित कर लेते हैं, और फिर उसी विभक्त को पुनः 'एक' करके देखते हैं। अर्थविनिश्चय का अन्तिम अधिकार बुद्धि को ही है। अर्थात्मा के ये भेद कल्पितमात्र हैं। स्वतः वह एक और अविभाज्य ही है।' इसे ही अधिक स्पष्टता से वे फिर कहते हैं :

> **शब्दा यथा विभज्यन्ते भागैरिव प्रकल्पितैः।**
> **अन्वाख्येयास्तथा, शास्त्रमतिदूरे व्यवस्थितम्॥**
> **अर्थस्यानुगमं कंचिद् दृष्ट्वैव परिकल्पितम्।**
> **पदं वाक्ये, पदे धातुर्धातौ भागश्च मुण्डिवत्॥ वा० ३.१४.७४, ७५॥**

अर्थात्, 'जिस प्रकार कल्पित भागों द्वारा हम शब्दों या पदों को समझने का यत्न करते हैं, वह विभाग-योजना शुद्ध शास्त्रीय देन है। इस प्रकार की विभाग-कल्पना के कारण ही 'शास्त्र' वास्तविकता से दूर की वस्तु जा बैठता है। वस्तुतः पद, धातु, प्रत्यय, आदि की कल्पना केवल अर्थवत्ता अथवा अर्थ-प्राप्ति के आधार पर ही की जाती है। परन्तु, यह कल्पना किसी शरीर में उसके अवयवों की पृथक् स्वीकृति से अधिक महत्त्व नहीं रखती।' इसप्रकार, शास्त्रजन्य विभाग-कल्पना अर्थ-स्पष्टता के नाम पर अपनाया गया 'उपायमात्र' है : वास्तविकता से बहुत दूर की वस्तु! भर्तृहरि तो प्रतिपत्ता के 'उपायों' को मानते ही 'असत्य' हैं :

> **'उपायान् प्रतिपत्तॄणां नाभिमन्येत सत्यतः॥ वा० ३.१४.७७॥**

---

१. पा० १. २. ४६। २. पा० २. १. १।

और, इसी की व्याख्या में हेलाराज कहते हैं : 'उपाया हि प्रतिपादनाङ्गभूताः प्राप्तावुपेयस्य चरितार्थत्वाद् तिरोभवन्तीति न तेषु सत्यताभिमानः कार्यः।'

१५.७.१ धातु-कल्पना : असत्य

अपने वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि संज्ञाओं में 'धातु' की कल्पना तक व्यावहारिक सत्य नहीं है, वह निरी कल्पना-मात्र है। 'डित्थ' और 'पाचक' में 'डी' और 'पच्' धातुएं अलौकिक कल्पना हैं :

यथैव डित्थे डयतिः, पाचके पचतिस्तथा।
डयतिश्च पचिश्चैव द्वावप्येतावलौकिकौ ॥ वा० ३.१४.७९ ॥

और जब 'डित्थ' और 'पाचक' में धातु-कल्पना कोरी शास्त्रीय और अव्यावहारिक है, तब किसी समस्त पद में अलग-अलग पदों की भागों के रूप में कल्पना अथवा उनमें कुछ अविद्यमान पदों की अधिकल्पना को कैसे मान्य ठहराया जा सकता है ?

१५.८ अनेक पद : समास

यह बात समप्रवृत्ति की अन्य सब भाषाओं पर भी लागू होती है। येस्पर्सन ने 'दि फ़िलासफ़ी ऑफ़् ग्रामर' में, पंचम और षष्ठ अध्याय में, तथा 'लैंग्वेज' में इस बात को अत्यधिक स्पष्ट किया है कि किस प्रकार एक भाषा में जिन्हें हम 'दो शब्द' या 'समास-शब्द' समझ रहे होते हैं, वे दूसरी भाषा में 'एक पद' के रूप में प्रयुक्त होते हैं। केवल पृथक् लिखने मात्र से ही 'वैजिटेबल ऑयल्' और 'व्हाइट् कलर्ड' में 'वैजिटेबल' और 'व्हाइट्' को क्रमशः स्वतन्त्र शब्द मान बैठना भाषा-तात्त्विक दृष्टि से उचित नहीं है। वस्तुतः ये 'समस्त' पद हैं, और जिस या जिन वस्तुमात्र को ये इंगित करते हैं, वह स्वतः एक और अविभाज्य है। उदाहरणार्थ, इन दोनों शब्दों से जिस-जिस वस्तु का कथन होता है उसमें 'वैजिटेबल' या 'व्हाइट्' नाम की, या उस शब्द से अभिहित, कोई वस्तु पृथक् से नहीं पहचानी जा सकती, या उसका अंश पृथक् नहीं किया जा सकता। केवल लिपिदोष के कारण उन्हें अलग लिखने मात्र से ही उन्हें 'दो पद' मानलेना अनुचित और अवास्तविक है। इस मान्यता का सबसे बड़ा कारण यह है कि इन सभी शब्दों से एक और अविभक्त अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है।

पर इन्हें 'दो' या अधिक पद मानने या उस रूप में लिखने की परम्परा भी निराधार नहीं है। कारण यह है कि इनके द्वारा अभिहित इस 'एक अर्थ' को ही समझने के लिए हम बहुधा इन्हें दो या अधिक पदों में, काल्पनिक रूप में ही

सही, विभक्त करते हैं। इनके साथ विभक्तिवचनादि का कल्पित योग, और कई बार अविद्यमान शब्दों का योग भी, कर देते हैं। होता यह 'अबुधों के लिए प्रतिपत्ति के उपाय' के रूप में ही है। व्याकरण शास्त्र का यह प्रयास 'अन्धे की आंख' अवश्य है, पर चक्षुष्मान् लोगों के लिए तो यह महत्त्वहीन और निरर्थक ही है : **'शास्त्रं चक्षुरपश्यताम्',**[1] **'शास्त्रं न तान् प्रति**[2]**'** और **'अल्पं शास्त्रप्रयोजनम**[3]**'**।

१५.९ वृत्तिका महत्त्व

इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या 'समासरूप पद' को समझने के लिए 'वृत्ति' जैसे किसी 'उपाय' की सहायता सचमुच आवश्यक है ? महाभाष्यकार पतंजलि इस विषय में 'वृत्ति' के प्रसंग में लिखते हैं :

'अथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति किं त आहुः ? परार्थाभिधानं वृत्तिरिति।'

इसपर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि कहते हैं :

अबुधान् प्रति वृत्तिं च वर्त्तयन्तः प्रकल्पिताम्।
आहुः परार्थवचने त्यागाभ्युच्चयधर्मताम् ॥ वा० ३.१४.९६ ॥

अर्थात्, 'यदि अबुध और मूर्ख लोगों के लिए वृत्ति की उपयोगिता है ही, और यदि वह प्रकल्पित होकर भी कोई व्यावहारिक महत्त्व रखती ही है, तो वह केवल इतना ही कि वह कुछ त्याग और कुछ अभ्युच्चय के द्वारा तथाकथित 'परार्थ' का उद्घाटन करने में समर्थ होती है।' पर भर्तृहरि का अपना मत स्पष्ट है :

उपायमात्रं नानात्वं समूहस्त्वेक एव सः।
विकल्पाभ्युच्चयाभ्यां वा भेदसंसर्गकल्पना ॥ वा० ३.१४.९८ ॥

अर्थात्, 'हम जिसे 'ऊहा' का विषय बना बैठे हैं, वह 'समूह' या 'समग्र' एक ही है। उसमें नानात्व की कल्पना केवल उपाय के रूप में ही स्वीकार्य मानी जा सकती है, वास्तव में नहीं। उस एकत्व में भेद या संसर्ग की कल्पना अथवा प्रयास केवल हमारे निजी बुद्धिविकल्पों का ही परिणाम कहा जा सकता है।'

समास में **पूर्वपद** और **उत्तरपद**, अथवा **उपसर्जन** आदि, की कल्पना को व्यर्थ बताते हुए भर्तृहरि **अर्थैकत्व** का स्पष्ट उद्घोष करते हैं :

अन्वयाद् गम्यते सोऽर्थो, विरोधी वा निवर्त्तते।
व्यर्थमर्थान्तरे वाऽपि तत्राहुरुपसर्जनम् ॥ वा० ३.१४.९७ ॥

---

१. वा० ३. १४. ८१।
२. वा० ३. १४. ८०।
३. वा० १.४०।

अर्थात्, 'अर्थ की स्पष्टता के लिए 'उपसर्जन' आदि की कल्पना करके समास को विभक्त करना व्यर्थ है। अर्थ तो अन्वय और प्रसंग से स्वयं स्पष्ट हो जाता है।'

१५.१० विभाजन : कल्पना

वास्तव में बात यह है कि हम समस्त पद के तथाकथित विभागों में प्रत्ययों को लुप्त मानकर उनके द्वारा प्रतीयमान विभक्तिवचनादि को फिर से कल्पित करना आवश्यक एवं अनिवार्य मान लेते हैं। परिणाम यह कि भाषातत्त्व की दृष्टि से हम एक महान् त्रुटि कर जाते हैं। यदि कोई पद समास के रूप में एक बना है, तब स्वभावत: उसके तथाकथित अवयवों या खण्डों में विभक्तिवचनादि का कथन वक्ता को अभिप्रेत नहीं है। यदि ऐसा अभीष्ट होता तो उसका प्रयोग **विच्छिन्न** रूप में ही होता, न कि **समस्त** रूप में।

ऊपर कहे अंग्रेज़ी समासों में भी हमने देखा कि व्हाइट्, वैजिटेबल, आदि शब्दों में व्यक्तिशः विभक्तिवचनादि की योजना न ग्राह्य है, और न उपयुक्त है। वहां **स्वातन्त्र्य** है ही नहीं। पद की तथाकथित परिभाषा और मान्यता वहां घटित नहीं होती।[1] जहां वचनादि का प्रयोग ज्ञात या श्रुत होता है, वहां पर उनके द्वारा कथित भाव की भी प्रधानता होती है। किन्तु, जहां उनका प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं होता, या जहां हम उस उल्लेख को मिटा हुआ समझ लेते है, वहां उसके द्वारा कथित भाव भी विद्यमान नहीं रहता।[2] किसी भी कार्य का कोई आधार या कारण किसी न किसी सत्ता के रूप में होना ही चाहिए। 'वाक्य' की अवस्था में पाए जाने वाले विभक्तिवचनादि के प्रयोग, और वृत्ति में पाए जानेवाले उनके प्रयोग, का मूल भेद यही है कि वाक्य में उनका कथन **अभिप्रेत** होता है, और 'वृत्ति' के आधार 'समास' में उनका कथत अभिप्रेत नहीं होता। इसीलिए समास में वचनादि का प्रत्येक तथाकथित पद के साथ अभाव ही रहता है।[3]

१५.११ भर्तृहरि का मत

वृत्ति द्वारा समास के तथाकथित विभाजन के विषय में भर्तृहरि के ये वचन अत्यधिक निर्णायक और महत्त्वपूर्ण हैं :

अनुस्यूतेव सुसंश्टैरर्थे बुद्धिः प्रवर्त्तते।
व्याख्यातारो विभज्याथ तां भेदेन प्रचक्षते।।

---

१. वा० ३. १४. १३०।
२. वा० ३. १४. १३१।
३. वही।

तदात्मन्यविभक्ते च बुद्धयन्तरमुपाश्रिताः ।
विभागमिव मन्यन्ते विशेषणविशेष्ययोः ।। वा० ३.१४.९४,९५ ।।

अर्थात्, 'अर्थ बुद्धि का विषय है। बुद्धि उसे सहज और समग्र रूप में ही ग्रहण करती है। केवल व्याख्याकाल में ही, सुविधा की दृष्टि से, व्याख्याता लोग उसे विभक्त रूप में 'पूरी तरह' देखने का प्रयास करते हैं। लोग इस विभाग को ही वास्तविक मान लेते हैं, और विशेषण-विशेष्य आदि के भेद से उसी 'एक पद' को विभक्त समझ बैठते हैं।'

पर साथ ही भर्तृहरि यह भी जानते हैं कि वृत्ति की कल्पना एक ऐसी अनिवार्यता है, जिसे अवास्तविक होने पर भी कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है। और इस लाचारी को वे कितने थोड़े शब्दों में रख देते हैं :

अर्थात्प्रकरणाद्वापि यत्रापेक्ष्यं प्रतीयते ।
सामर्थ्यादनपेक्ष्यस्य तस्य वृत्तिः प्रसज्यते ।। वा० ३.१४.४४६ ।।

अर्थात्, 'अपेक्षा न रखने वाले शब्द में भी जब अर्थ या प्रकरण के कारण कहीं बाह्य सहायता की **अपेक्षा** जग जाती है, वही **वृत्ति** को अवकाश देती है।'

१५.१२ वृत्ति और प्रत्यय

'वृत्ति' द्वारा जिस अर्थ को हम पाते हैं, क्या उसके लिए शब्दों में प्रत्यय-संयोग अनिवार्य है ? यद्यपि समासकल्पना के प्रसंग में हम इस बात का उत्तर दे आए हैं, फिर भी भर्तृहरि का मत इस सम्बन्ध में स्पष्टता से समझ लेना अभीष्ट है। वे इस समस्या को भाषातत्त्वविद् की दृष्टि से देखते हैं। अर्थभेद के लिए प्रत्ययसंयोगजन्य भिन्नता हर दशा में अनिवार्य है या नहीं ?, इस प्रश्न के उत्तर के लिए वे **गर्गाः, बभ्रूः,** आदि ऐसे उदाहरण चुनते हैं, जिनमें किसी प्रत्यय का संयोग बिना किये भी हम विशिष्ट अर्थ का आधान होते पाते हैं। वे जानते हैं कि वैयाकरण इस बात का उत्तर यह देते हैं कि यहां प्रत्यय तो हैं, पर दिखाई नहीं देते। इसे वे 'लुक्' नाम देते हैं। पर भर्तृहरि यह वास्तविकता भी जानते हैं कि भाषातात्त्विक दृष्टि से यहां प्रत्यय के प्रयोग के बिना ही अर्थपरिवर्त्तन हुआ है। और यह कि 'लुक्' आदि की वैयाकरण-कल्पना केवल नियमानुकूलता और साधुता सिद्ध करने के लिए ही है। उनके शब्द स्पष्ट हैं :

विनैव प्रत्ययैर्वृत्तौ ये भिन्नार्थाभिधायिनः ।
गर्गादयो लुका तेषां साधुत्वमनुगम्यते ।।

सोऽयमित्यभिसम्बन्धात् प्रत्ययेन विना यदि ।

बभ्र्वादयः प्रयुज्येरन्, अपत्ये नियमो भवेत् ।। वा० ३.१४.८३, ८४ ।।

आवश्यक और अनिवार्य है : **अर्थ का निश्चय** । और जब अर्थ का विनिश्चय हो गया, तब हम चाहे नियम-विधान या साधुता के लिए किसी प्रत्यय की कल्पित सत्ता को मान्यता दे या न दें, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

समास : समस्याएँ

१५.१३ संख्या

समासों की संख्या भाषा की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है । परन्तु संस्कृत वैयाकरणों ने जिन समासों की गणना की है, उन्हें हम भारोपीय परिवार की हर भाषा में किसी न किसी रूप में घटित होता पाते हैं । इनमें से हम निम्न समासों को मुख्य रूप में जानते है : **कर्मधारय, तत्पुरुष, द्विगु, द्वन्द्व, बहुव्रीहि, अव्ययीभाव, और नञ्-समास ।**

१५.१४ प्रथम चार

इनमें से प्रथम चार में समस्या एक समान है : हम पूर्व या उत्तर-पद को प्रधान होता पाते हैं । पद-प्रधानता की यह भावना इस बात पर आधारित है कि ये समास जिन दो या अधिक पदों के संगम से जन्म लेते हैं, या ऐसे माने जाते हैं, उनमें से ही किसी एक को प्रधानता या विशेषता प्राप्त होती है । हो सकता है कि ये पद परस्पर विशेष्य-विशेषण के रूप में हों, या किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा आबद्ध हों । पर उनमें किसी एक पद को प्रधानता प्राप्त होने की बात उन्हें अन्य समासों से भिन्न सिद्ध करती है । यह अन्तर अर्थतत्त्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । भाषातत्त्व की दृष्टि से उन समासों में दो या अधिक पदों की कल्पना ही उपहासास्पद है । भाषा-व्यवहार में हम जिस शब्द या वाक्य को प्रयोग करते हैं, उसकी 'इकाई' अर्थ-पूर्णता की दृष्टि से ही निश्चित की जा सकती है । 'वाक्य' अर्थ की एक ऐसी ही स्वतःपूर्ण और निरपेक्ष इकाई है । पर वैयाकरण उसमें भी अंशभाव से जिस 'पद' को मान्यता प्रदान करते हैं, पाणिनि उसकी परिभाषा करते हैं : **सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं ।**[1] इस दृष्टि से **विचार करने पर 'समास'** के रूप में ज्ञात समस्त पद, या ध्वनिसमूह, 'एकपद' ही

---

१. पा० १.४.१४ ।

सिद्ध होता है। उसमें पूर्वपद और उत्तरपद जैसे विभागों या अंशों के अस्तित्व और उनकी मान्यता का प्रश्न नहीं उठता।

१५.१५ शेष

'बहुव्रीहि' की स्थिति इनसे भिन्न है। व्याकरण की रचनात्मक दृष्टि से ही नहीं, व्यवहार की प्रयोजनात्मक और अर्थसम्बन्धी दृष्टि से भी उसे 'एक पद' ही माना जा सकता है। उसे 'अन्यपदप्रधान' या 'अन्यपद' के नाम से कहा भी जाता है। कारण यह है कि उसके द्वारा जिस वस्तु का कथन होता है, वह उसमें तथाकथित प्रयुक्त पदों में से किसी से भी सूचित नहीं होती। समास प्रयुक्त सभी पद मिलकर किसी एक वस्तु की ही सूचना देते हैं : सभी मिलकर एक विशेषण के रूप में सामने आते हैं। ऐसी स्थिति में, रचनात्मक व्याकरण, अर्थविज्ञान और भाषातत्त्व की दृष्टि से उन्हें 'एक पद' ही माना जा सकता है। अन्य कोई मार्ग भी नहीं है।

'द्वन्द्व' की स्थिति उक्त दोनों प्रवृत्तियों से किंचित् भिन्न है। वहां मुख्य समस्या 'च' के अर्थ की है।

'नञ्-समास' को समास कहना ही विवादास्पद है। इस सम्बन्ध में कुछ मुख्य समस्याएं ये हैं : क्या वह समास-चेतना से युक्त है ? क्या उसके रूप में पहले से भिन्न एक नया शब्द सामने आता है ? और, किस सीमा तक किसी शब्द द्वारा 'अभाव' को व्यक्त किया जा सकता है ?

१५.१६ समस्याएं

इस समास-रचना से जो समस्याएं सामने आती हैं, और जो किसी सीमा तक वैयक्तिक समासों की निजी समस्याएं मानी जा सकती हैं, उन पर हम निम्न विभाजनों या शीर्षकों में विचार करेंगे :

(क) समानाधिकरण या पद-प्रधानता से सम्बन्ध,

(ख) 'बहुव्रीहि' और 'अन्यपदप्रधानता',

(ग) 'द्वन्द्व' का व्यक्तित्व और 'च' का अर्थ,

(घ) अलंकार और समास-रचना,

और (ङ) नञ् का वास्तविक अभिप्राय।

इनके अतिरिक्त कुछ समस्याएं सभी समासों से समान रूप में सम्बद्ध हैं। उन्हें भी व्यक्तिशः देखना अभीष्ट रहेगा :

(च) प्रत्ययों का सामान्य महत्त्व,

रचना की समस्या प्रधान है । पर यह भी स्पष्ट है कि समस्या चाहे कुछ भी हो, 'नेगेशन' अथवा 'नञ्' की भावना को बिना पहचाने 'नञ्-समास' की रचना अथवा उसकी अर्थभावना को पूरी तरह नहीं पहचाना जा सकता ।

१५.४१ स्थापना

भर्तृहरि इस सत्य को पहचानते थे कि समास में किसी भी रूप में प्रयुक्त होने पर 'नञ्' के अपने मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता । मूलतः 'नञ्' एक ही रूप में रहता है: भले ही रूपात्मक उपलब्धि की दृष्टि से कहीं 'अ', कहीं 'अन्', और कहीं 'न' के रूप में उसका प्रयोग मिलता हो; अथवा, कहीं 'पूर्व-पदार्थ-प्रधानता', कहीं 'उत्तरपदार्थ प्रधानता' और कहीं 'अन्य-पदार्थ-प्रधानता' के कारण व्याकरण या शास्त्र में उसकी स्थिति की विविधता को स्वीकार किया जाए । ऐसी स्थिति-भिन्नता केवल व्याकरण या शास्त्र का ही विषय ठहरती है । व्यावहारिकता या दैनन्दिन उपयोग में इससे अन्तर नहीं पड़ता । प्रायोगिक और लौकिक दृष्टि से 'नञ्' का अर्थ एक ही रहता है । इन तीन भेदों को उसके '**तीन पक्ष**' गिना जा सकता है[1] ।

१५.४२ तीन पक्ष

उक्त तीन पक्षों को महाभाष्यकार इस रूप में गिनाते हैं: '**किंप्रधानोऽयं समासः ? उत्तरपदार्थप्रधानः, पूर्वपदार्थप्रधानोऽन्यपदार्थप्रधानो वेति**[2] ।' हेलाराज इसे '**अब्राह्मणः**' के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं: '**यदाऽन्य-पदार्थः प्रधानं तदा व्यक्तिवचनमुत्तरपदम् । अविद्यमाना ब्राह्मणव्यक्तिराश्रये-स्मिन् क्षत्रिये, क्षत्रियजाताविति । यदा तु पूर्वपदार्थो नञर्थो निवृत्तिरूपः प्रधानं तदा तस्यासतः क्रियायोगाभावान्निषेधस्य प्रसंगपूर्वकादुत्तरपदार्थसदृशमेव प्रतीयते । एवमुत्तरपदार्थप्राधान्येऽपि ब्राह्मण्येनावसितः क्षत्रियादेरेवावगम्यते इति नास्ति भेदः स्थितलक्षणस्यार्थस्य । अपोद्धारपदार्थस्त्वन्वाख्यानांगमिति प्रक्रियायां स भिद्यते**'' (हेलाराज, वा० ३. १४. २५०) ।

अर्थात्, नञ्-समास के तीन पक्ष प्रधान होते हैं: **पूर्वपदार्थप्रधान, उत्तर-पदार्थप्रधान, और अन्यपदार्थ-प्रधान** ।' 'अपोद्धार' के द्वारा 'नञ्' का जो पृथक् से अर्थविधान किया जाता है, वह केवल व्याख्या की सुविधा के लिए होता है । अन्यथा, नञर्थ अथवा नञ्-समास के पक्ष तीन ही हैं[3] ।

---

१. वही, २५० ।

२. पा० २. २.६ का भाष्य ।

३. वा० ३. १४. २५९, २६० ।

१५.४३ उत्तरपदार्थप्रधान

हम पहले कह आए हैं कि 'उत्तरपदप्रधान समास तत्पुरुष होता है।' इसी दृष्टि से 'नञ्-समास' को भी तत्पुरुष ही स्वीकार किया जाता है। परन्तु यह उत्तरपदप्रधानता तत्पुरुष के सामान्य लक्षण—'उत्तरपद-प्रधानता'—से भिन्न है। यह प्रधानता 'पदार्थ' पर बल देती है, 'पद' पर नहीं। अर्थात्, इसमें उत्तरपद का अर्थ प्रधानता को बिना छोड़े, पूर्वपद (नञ्) के प्रयोग के कारण कुछ विशेषता या नवीनता पा लेता है[1]। इस दृष्टि से **'गौरब्राह्मणः'** और **'अब्राह्मणः'** एक सी स्थिति और महत्त्व रखते हैं[2]। 'ब्राह्मण' उभयत्र ही अपनी स्थिति और अर्थ में विद्यमान है। नए पद ने उसमें केवल कुछ वैशिष्ट्य पृथक् से आधान किया है। अर्थात्, मूलतः इस स्थिति में 'अब्राह्मण' भी 'ब्राह्मण' ही होता है। उसमें परवर्त्ती से अन्तर यह है कि ब्राह्मण के धर्म उसमें पूरी मात्रा में नहीं होते। उसमें कुछ लक्षण या धर्म कम या हीन होते हैं। इस प्रकार वह 'ब्राह्मण नहीं होकर भी ब्राह्मण होता है'[3]।

इस स्थिति में एक शंका यह उठती है कि यहां नञ्-समास का प्रयोग 'असत्' या असत्त्व' के अर्थ में होता है। 'ब्राह्मण' आदि का अर्थ उनकी 'सत्ता' पर आधारित है। 'असत्ता' पर आधारित अर्थ की प्रतीति तब केवल 'नञ्' के जोड़ देने मात्र से कैसे हो सकती है ? यहां भर्तृहरि और हेलाराज का उत्तर यह है कि 'निषेध' या 'असत्' की स्थिति अन्ततः किसी ऐसी वस्तु या धर्म की ही बताई जा सकती है, जो स्वयं विद्यमान हो[4]। 'निर्विषय' और 'अजात' वस्तु के निषेध या असत्त्वकथन का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस तरह 'नीलोत्पल' में 'नील' से भिन्न 'उत्पल' कुछ नहीं है, उसी तरह 'अब्राह्मण' में 'ब्राह्मण' की अविद्यमानता में उसके निषेध की बात निरर्थक और महत्त्वहीन है। यहां वस्तुतः 'ब्राह्मण' का कथन और उसके 'निषेध' का कथन एक ही सत्ता के **दो पक्ष** हैं। दोनों पक्ष मिलकर ही 'अब्राह्मण' के प्रयोग को सार्थक बनाते हैं[5]।

इसकी एक और व्याख्या यह है कि यदि 'क्षत्रिय' में भ्रमवशात् हम 'ब्राह्मणत्व' या 'तत्सत्ता' को मानकर उसे 'ब्राह्मण' मान बैठें, और बाद में हमारे भ्रम का निराकरण हो कि यह 'ब्राह्मण' नहीं है, तब उसे 'अब्राह्मण' कह दिया जाता है। इस प्रकार 'ब्राह्मण' आदि शब्दों द्वारा उत्तरपदार्थप्रधानता में, व्यक्ति की प्रधानता न रहकर, 'जाति' की प्रधानता रहती है। 'जातित्व' के

१. वही, २६१।
२. वही, २६२।
३. वही, २६६-८।
४. वही, २६३।
५. वही, हेलाराज।

आरोप के 'अपकर्षणजन्य निषेध' को ही ऐसे स्थानों पर 'नञ्' के द्वारा प्रकट किया जाता है[1]।

१५.४३.१ 'अभाव'

यहां 'अभाव' शब्द का उदाहरण सारी बात को स्पष्ट कर देगा। जब तक हम किसी अव्याख्येय स्थिति को 'व्याख्येय' अथवा 'विचार्य' मानकर न बढ़ें, तब तक उसके प्रतिषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात्, भाव की सत्ता को माने बिना 'अभाव' के रूप में उसके प्रतिषेध की मान्यता सम्भव नहीं है। वस्तुतः 'भाव' के प्रतिषेध का नाम ही 'अभाव' है[2]।

१५.४३.२ विशेषकता

ऊपर 'नञ्' की विशेषकता की बात सर्वत्र चर्चित हुई है। अर्थात्, उत्तर-पद द्वारा सूचित विषय या भाव विद्यमान ही रहता है। 'नञ्' केवल एक स्थिति-विशेष का ही बोध करा देता है: **'पदार्थानुपघातेन दृश्यते च विशेषणम्**[3]। इसीलिए यहां उत्तरपद के अर्थ की 'निवृत्ति' नहीं होती। बल्कि 'जातिसत्ता' या 'जातिधर्म' की कुछ न्यूनता अवश्य लक्षित होती है: **'अथ जातिमतोऽर्थस्य कश्चिद्धर्मो निवर्त्तितः**[4]'। इस बात से यह शंका उठ सकती है कि 'पूर्ण' तो कोई भी वस्तु नहीं होती। न्यूनता सर्वत्र ही किसी न किसी रूप में रहती है। प्रत्येक ब्राह्मण किसी न किसी धर्म से हीन होगा। फिर, जब ब्राह्मण की एकदेशी ऐसी न्यूनता सार्वात्रिक और सामान्य है, तब 'नञ्' के उपयोग का महत्त्व ही नहीं रह जाता। 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' वहां एक ही अर्थ के वाहक और वाचक होंगे। इसमें भर्तृहरि का उत्तर यह है कि ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मण' का निजी अर्थ 'नञ्' से बाधित नहीं होता है। यहां 'नञ्' ब्राह्मण' का विशेषणमात्र बना है। इसपर भी सत्य यह है कि 'नञ्' अन्ततः किसी उपचारवान् पदार्थ की विशिष्ट अवस्था का द्योतक बन रहा है[5]। अर्थात्, निश्चय ही नञ्-द्योतित अवस्था सामान्य अवस्था से 'किंचित् भिन्न है।

इसी बात को भर्तृहरि **'अनेक'** के उदाहरण द्वारा समझाते हैं[6]। इस शब्द के प्रयोग से एकत्व की भावना समाप्त नहीं होती[7]। हां, 'एकत्व' के द्वारा

---

१. वा० ३. १४. २६५।
२. वही।
३. वही, २७०-अ।
४. वही, २७०-आ
५. वही, २७१ से २७३।
६. वही, २८३ से २६०।
७. वही, २८४।

जो प्रधानार्थ की प्रतीति होती थी, उसमें अन्तर अवश्य आ जाता है[1]। जिस प्रकार 'अक्षत्रिय' का अर्थ 'ब्राह्मणादि' लिया जा सकता है, उसी प्रकार 'अनेक' में 'द्वित्वादि' का ग्रहण भी हो ही जाता है[2]। यह 'एकत्व' का निषेध या प्रतिषेध वस्तुतः शुद्ध 'एकत्व' के रूप में है। 'द्वित्व' आदि में विद्यमान 'एकत्व' का विरोध या प्रतिषेध इसमें नहीं होता[3]।

१५.४४ अन्यपदार्थप्रधानता

दूसरा पक्ष अन्यपदार्थ-प्रधानता का है। इसमें न तो उत्तरपद का अर्थ प्रधान—अथवा स्वार्थ में स्थित—होता है, और न ही इसमें 'निषेध' या प्रतिषेध' पर बल होता है। यहां 'अब्राह्मण' का अभिप्राय क्षत्रियादि से, 'अवर्षा' का अर्थ 'हेमन्त' से, तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों का अर्थ सादृश्यादि सम्बन्ध के आधार पर अप्रयुक्तपदार्थ के रूप में सिद्ध होता है[4]। उदाहरणार्थ, सास्नामान् को 'गौ' कहा जाता है। **'असास्नो गौः'** का अभिप्राय 'गवय' आदि से लिया जाता है[5]। इस प्रकार यहां अभाव-कथन मुख्य न होकर दूसरी जाति का कथन मुख्य होता है। 'जाति' का आधार **समानता** पर होने से यहां 'नञ्' भी समानता पर ही आधारित हो जाता है। अतएव वह समानता का ही वाचक बन जाता है।

१५.४४.१ उपमान-वृत्ति

'नञ्' का प्रत्यक्ष-प्रयोग प्रतिषेध-निषेध आदि के लिए ही माना जा सकता है। किन्तु इसका एक अन्य अर्थ 'समान' भी हो सकता है। यास्क द्वारा निरुक्त में परिगणित 'निपात'-रूप 'न' का प्रसंग यह नहीं है। 'नञ्' का समास में प्रयोग 'समानता' या उपमानत्व' के द्योतन के लिए होता है। यह बात अवधेय है। **'अविद्यमानब्राह्मण्य'** को **'अब्राह्मण'** कह दिया जाता है। परन्तु, उसी का अर्थ 'ब्राह्मणसदृश कोई अन्य व्यक्ति' भी होता है। 'क्षत्रियादि' अर्थ इसी 'सादृश्य' के आधार पर किया जाता है[6]। इसी प्रकार 'अवर्षा' का अर्थ 'वर्षा का अभाव' मात्र नहीं है। उसका अर्थ है : बादल कुहरे आदि से घिरी होने पर भी केवल वर्षणक्रिया से हीन 'हेमन्त' या तत्सदृश कोई अन्य ऋतु[7]।

---

१. वही, २८५।
२. वही, २८६।
३. वही, २८७-२९०।
४. वही, २९८-९, ३०३।
५. वही, ३००।
६. वही, ३०२।
७. वही, ३०३।

१५.४४.२ बहुब्रीहि

'नञ्' का सम्बन्ध केवल तत्पुरुष से ही प्राय: स्वीकार किया जाता है। किन्तु, भर्तृहरि 'अगु:' आदि को उद्धृत करके यह स्पष्ट करते हैं कि बहुब्रीहि का कोई विषय ऐसा नहीं, जो 'नञ्' की पकड़ में न आ सकता हो[1]। इस प्रकार 'बहुब्रीहि' तो अन्यपदार्थ प्रधान होता ही है, 'नञ्' का योग भी इस 'अन्यपदार्थ-प्रधानता' को बढ़ावा दे सकता है।

१५.४५ पूर्वपदार्थप्रधानता

नञ्-समास का केवल यही रूप ऐसा है, जहां 'निषेध' या 'असत्' अर्थ की प्रधानता रहती है। 'असत्' या 'प्रतिषेध' तो कदाचित् उत्तरपदार्थप्रधानता में भी मिलता है, किन्तु उससे यहां अन्तर यह है कि उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता का न तो कथन अभीष्ट होता है, और न ऐसी प्रधानता स्थिर ही रहती है। इस स्थिति में 'अब्राह्मण' का कार्य 'ब्राह्मणभिन्नता' या 'ब्राह्मणत्वहीनता' को द्योतित करना उतना नहीं होता, जितना 'ब्राह्मण' या 'ब्राह्मणत्व' के 'अभाव' को बताना। इस प्रकार यहां, 'ब्राह्मणत्वहीन ब्राह्मण' या 'क्षत्रिय' आदि की प्रतीति न होकर, 'ब्राह्मण नहीं है' की प्रतीति (अथवा 'ब्राह्मणत्व' के प्रतिषेध की प्रतीति) प्रधान हो जाती है[2]। यह इस कारण कि 'सत्' या 'सत्ता' स्वयं 'क्रिया' है। उसके अभाव या उसकी 'असिद्धता' पर बल यहां उसके 'न होने' के अर्थ में है[3]।

१५.४.१५ अव्ययत्व

इस बात को स्वीकार करने पर भाष्यकार एक शंका प्रस्तुत करते हैं: **'अव्ययसंज्ञा प्राप्नोति; अव्ययं ह्यस्य पूर्वपदमिति[4]।'** अर्थात्, यदि 'नञ्' के अर्थ को प्रधानता प्राप्त है, तो 'नञ्' के अव्यय होने के कारण यह समास अव्यय-प्रधान, और इसीलिए 'अव्ययीभाव', होना चाहिए। 'अव्ययीभाव' होने पर यह अलिंग और अवचन भी होना चाहिए[5]। परन्तु इसीका उत्तर इस प्रकार दिया गया है: **'नेदं वाचनिकमलिंगता, असंख्यता च। किं तर्हि? स्वाभाविकमेतत्।··· तत्र किमस्माभिः शक्यं वक्तुं, यन्नञः प्राक्समासाल्लिंगसंख्याभ्यां योगो नास्ति, समासे तु भवतीति[6]।'**

इसी बात को भर्तृहरि समझाते हैं। 'नञ्' के द्वारा 'असत्त्वकथन' से पूर्व समास में द्रव्यवाचकता स्थित होती ही है। अत: उसकी सलिंगता भी स्वाभाविक

---

१. वही, ३०५।
२. वही, ३०७-८।
३. वही, ३०८।
४. पा० २. २. ६ का भाष्य।
५. वा० ३. १४. ३०६।
६. पा० २. २. ६ का भाष्य।

होती है। क्योंकि 'नञ्' को 'अव्यय' मान लिया गया है, केवल इसी से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि सर्वत्र उसीके बल पर 'अव्ययीभाव' का प्रभाव हो[1]। क्योंकि, यदि 'नञ्' की 'साव्ययता' को निमित्त मान लिया जाए, तब निवृत्ति के कथन के कारण, क्रियायोग ही सिद्ध नहीं होता। और यदि इस स्थिति को स्वीकार कर लिया जाए, तब 'उपमान' आदि स्थितियों की बात असिद्ध रह जाती है[2]।

१५.४६ 'त्रिपदी' में मान्यता

महाभाष्य पर अपनी 'त्रिपदी' टीका में भर्तृहरि ने **'न वेति विभाषा[3]'** सूत्र में 'न' की उपयोगिता और अर्थवत्ता पर विस्तृत विचार किया है। उसमें जिन परिणामों पर वे पहुंचे हैं, वे पूर्वोक्त परिणामों की पुष्टिमात्र करते हैं। हम यहां उनके एक-एक वक्तव्य को लेकर अन्त में कुछ निष्कर्षों पर पहुँचने का यत्न करेंगे :

(१) **'न वेति भाषायमर्थंकरणमुभयथाऽप्यनुपपन्नमेतदर्थाभावादसत्त्वभूताच्चार्थस्य संज्ञासम्बन्धानुपपत्तिः ।···एवंभूतस्य चार्थस्यासत्त्वभावात् 'न'-संज्ञाया अनभिसम्बन्धः'[4]।**

अर्थात्, 'न' का अस्तित्व संज्ञारूप में भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इससे एक तो 'अर्थाभाव' सूचित होता है, और दूसरा 'असत्त्वभूत अर्थ' प्रतीत माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, विद्यमान अर्थ भी 'असत्तावान्' हो जाता है।···और अर्थ की इस 'असत्ता' के कारण 'न' संज्ञा (अथवा उसके अर्थ) का कोई सम्बन्ध किसी से स्थापित नहीं होता।'

(२) **'सर्वदा पदात्मकोपादानस्य प्रतिषेध्यस्य विकल्प्यस्य वा निवृत्तिर्विकल्पो वा च द्योत्यते[5]।'**

अर्थात्, 'न' और 'वा' के द्वारा क्रमशः 'प्रतिषेध्य' और 'विकल्प्य' द्रव्य आदि के विषय में ही 'प्रतिषेध' और 'विकल्प' की प्रतीति होती है।

(३) **'यत्तावदुच्यतेऽर्थाभावादित्येतदयुक्तम्। कुतः? उपलक्षणाभावेन सूत्रे न-वा-शब्दौ प्रवर्त्तमानौ द्रव्यशब्दसांनिध्ये प्रवर्त्तेते, क्रियाशब्दसांनिध्ये वा। क्रियाशब्दश्च गुणीभूतक्रियः प्रधानभूतक्रियश्च। तत्र द्रव्यशब्दयोगेन स्तः प्रतिषेधविकल्पौ। कुतः? द्रव्यशब्दाः प्रवर्त्तमाना द्रव्येष्ववस्थिताकारमेव तु द्वयं प्रवर्त्तयन्ति। यद्यस्ति यदि नास्ति सोऽर्थस्तस्मादेवंभूतो योऽर्थस्तस्य रूप-**

---

१. वा० ३. १४. ३१०।
२. वही, ३११।
३. पा० १. १. ४४।
४. म० त्रि०, १. १. ६. ४४.
५. वही।

मेवाशक्यं प्रतिषेद्धुं विकल्पयितुं वेति । योऽर्थो विधेयरूपः स एव निवर्त्यते विकल्प्यते वा[1] ।'

अर्थात्, 'अर्थाभाव की बात अनुचित है। कारण, 'न' और 'वा' का प्रयोग द्रव्यशब्द या क्रियाशब्द के सांनिध्य में ही होता है। क्रियाशब्द क्रियाप्रधान या गौणक्रिय हो सकता है । प्रतिषेध और विकल्प द्रव्य शब्द के योग में ही होते हैं, क्योंकि क्रिया में प्रवृत्त होते हुए द्रव्यशब्द ही द्रव्यों से सम्बद्ध 'न' और 'वा' के प्रयोग में सार्थकता आपादित करते हैं। 'अर्थ हो भी सकता है नहीं भी', इस वचन से प्रतीयमान अर्थ का प्रतिषेध या विकल्प असम्भव है। अर्थात्, अनिश्चित-रूप अर्थ का न तो प्रतिषेध होता है और न ही विकल्प । जो अर्थ 'विधेय' रूप में होता है, उसी का प्रतिषेध या विकल्प सम्भव है।

(४) **'इह कथं 'न पचतीति' । अत्रापि केचित् पचिमेव सत्ताविशेषं प्रतिपन्नाः, केचित्पुनर्भवति पचति इति साध्यसाधनभावस्यादृष्टत्वात् पचेः सत्तासम्बन्धमेव निवर्त्तयति नञिति'[2] ।**

अर्थात्, 'पचति' क्रिया जैसे प्रयोगों में 'क्रिया का प्रतिषेध' कैसे होता है ? इसमें दो मत हैं : कुछ तो 'पकाना' को सत्ताविशेष के रूप में स्वीकार करते हैं, और कुछ 'पकाता है' आदि को । परन्तु इसमें साध्य-साधनभाव के अदृष्ट रहने के कारण 'न' का प्रयोग सत्ता के साथ 'पकाना' क्रिया के सम्बन्ध को ही 'निवृत्त' करता है ।

(५) **'क्रिया हि साध्यत्वेन सम्बन्धित्वेन वा शक्या द्रव्यमुपेक्षितुम् । द्रव्याणां परस्परमुपकाराभावोऽयुक्तः क्रियाव्यवेतः सम्बन्ध इति । अतोऽर्थवान्नवाशब्दः । यदप्युच्यते असत्त्वभावादसम्बन्ध, इत्यत्र ब्रूमः संज्ञाकरणकाले सत्त्वभूतस्य प्रत्यवमर्शाद् युक्तः संज्ञायाः क्रियासम्बन्धः । इह यदुपकारित्वेनाश्रितोऽर्थात्मा वस्तुरूपतयोपसंह्रियते, तदा प्रत्यवमृष्टः सर्वनाम्ना कार्ययोगी संपद्यते ।···नञर्थो वार्थश्च वस्तुभूतः । आश्रितशब्दव्यापारे तु प्रदेशेष्वन्तर्भूत एवेति युक्तः सम्बन्धः[3] ।'**

अर्थात्, क्रिया का द्रव्य से सम्बन्ध 'साध्य' अथवा 'सम्बन्धी' के रूप में होता है । क्रिया के बिना 'द्रव्य' परस्पर एक दूसरे के उपकारक नहीं हो सकते। अतः क्रिया से हीन सम्बन्ध की बात अयुक्त है। इसीलिए 'न' को अर्थवान् मानना चाहिए । 'असत्त्ववचन' होने के कारण 'न' को असत्ता का द्योतक मानकर जो उसकी सम्बन्धहीनता की बात कही जाती है, इस विषय में यह स्मर्त्तव्य है कि संज्ञाकाल में 'यः' आदि के रूप में विचार सम्भव होने के कारण संज्ञा का क्रिया से सम्बन्ध उचित ठहरता है । 'नञ्' के द्वारा जिस द्रव्य का 'उपसंहार' किया जाता

---

१. वही। २. वही । ३. वही ।

है, वह 'अर्थात्मा' द्रव्य 'सर्वनाम' द्वारा विचार्य होकर पुनः कार्य में प्रवृत्त होता है। इसप्रकार, 'नञ्' और 'वा' का अर्थ वस्तुगत है। शब्दव्यापार में यह अर्थ प्रदेशार्थों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इसलिए, 'सम्बन्ध' की यह बात उचित ही है।

(६) **'कथं पुनेरकमेव वस्तु सत्त्वभूतमसत्वभूतं (च) स्यात्। इत्यत्र केचित् ···विशिष्टार्थभागोपनिपातिनः शब्दास्तां शक्तिमवच्छिन्दन्ति इति प्रतिपन्नाः। अपरे पुनर्नैव वस्तु किंचिदस्ति। शब्द एव तु प्रवर्त्तमानस्तमर्थं प्रकल्पयति। सा च प्रकल्पनाशक्तिः नियता[1]।'**

अर्थात्, 'एक ही वस्तु 'न' के योग और अभाव में 'असत्वभूत' भी हो और 'सत्वभूत' भी यह कैसे सम्भव है? इस विषय में एक मत यह है कि विशिष्ट अर्थ-भागों में आने वाले शब्द 'वस्तु के सत्वभाव' की उस शक्ति को प्रतिकृत कर देते हैं। दूसरे मत में, 'वस्तु' को महत्वपूर्ण नहीं मानते। 'शब्द' ही प्रयगोावस्था में उस अर्थ विशेष को वहन करता है। शब्द की यह वहनसामर्थ्य नियत है।

१५.४७ निष्कर्ष

इन सब उद्धरणों से हमें वे ही निष्कर्ष प्राप्त होंगे, जो हम ऊपर 'वाक्यपदीय' के अनुसार विचार आए हैं। 'त्रिपदी' के इन निष्कर्षों को हम निम्न रूपों में गिना सकते हैं :

(क) 'नञ्' का प्रयोग शुद्ध अभावात्मक, असत्तात्मक या निषेधात्मक स्थिति के लिए नहीं होता।

(ख) उसका प्रयोग किसी प्रवृत्ति अथवा सत्ता के 'निवर्त्तन' के लिए ही होता है।

(ग) उसके द्वारा होने वाला निषेध या प्रतिषेध भी किसी सत्ता या द्रव्य का ही होता है।

(घ) उसका सम्बन्ध द्रव्य और क्रिया दोनों से सम्भव है; पर मूलतः वह 'प्रवृत्ति' अथवा 'क्रिया' का ही प्रतिषेध करता है।

(ङ) 'नञ्' का प्रयोग एक प्रकार से पूर्वस्थिति में अन्तरमात्र ला देता है और, इसप्रकार, वह 'विशेषण' के रूप में कार्य करता है।

(च) वह 'धर्म' या 'गुण' की अपूर्णता या कमी को भी अधिकांशतः द्योतित करता है।

(छ) उसका प्रयोग अन्यपदार्थ से सादृश्यकथन के लिए भी होता है।

(ज) उसकी मूलवृत्ति 'असत्त्वकथन' ही है, यद्यपि इसका अर्थ सामान्यतः

---

१. वही।

समझे जाने वाले अर्थ से भिन्न है। अर्थात्, द्रव्य या सत्ता के कथन के लिए इसका प्रयोग न होकर, उनके अभाव को द्योतित करने के लिए होता है।

इसकी तुलना में येस्पर्सन 'नञर्थ' को चतुर्धा मानते हैं: **असम्भाविता, अशक्यता 'निषेध और प्रतिषेध।**[1]

(ङ) अलंकार-प्रयोग

१५.४८ व्याप्ति

'वृत्ति-विचार' के प्रसंग में भर्तृहरि ने इस विषय पर सर्वाधिक विचार किया है। 'वृत्तिसमुद्देश' का लगभग आधा भाग इसी प्रसंग ने लिया है। इसके मुख्य विषय हैं: **उपमान-समास** और **उपमित-समास**। 'तत्पुरुष' के प्रकरण में पाणिनि ने इन्हें ही इन रूपों में गिनाया है: 'उपमान और सामान्यवचन का समास'[2] एवं 'उपमित और उपमान का समास।'[3] दोनों के उदाहरण क्रमशः 'घनश्याम' और 'पुरुषव्याघ्र' के रूपमें दिए जाते हैं। इस प्रसंग में अनेक शंकाएं उठती हैं। भर्तृहरि इसको मात्र व्याकरण के वृत्त से बाहर निकालकर मीमांसा और न्याय की सीमाओं तक ले जाते हैं। वास्तव में उनकी पकड़ से अलंकार शास्त्र की कोई बारीकी नहीं बच पाई। यह समस्या हर विश्वभाषा से सम्बद्ध होने के कारण अत्यधिक विचार्य बन जाती है। यहां हम अत्यन्त संक्षेप में उनकी एतद्विषयक मान्यताओं का विहगावलोकन करेंगे।

१५.४९ मान उपमान और समान धर्म

'मान' और 'उपमान' की परस्पर सापेक्ष परिभाषा भर्तृहरि अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में करते हैं। दोनों का अस्तित्व और उपयोग है 'अनिर्ज्ञात के ज्ञान के लिए'। 'मान' उस साधन को कहते हैं, जिसके द्वारा अनिर्ज्ञात का ज्ञान पूरी तरह हो सके। यथा **प्रस्थ, पल**, आदि द्वारा हम किसी वस्तु का मान सम्पूर्णता और समग्रता से एवं निश्चित रूप में, ज्ञात करलें[4]। जिस प्रसिद्ध गुण या भाव के कारण वह द्रव्य अनिर्ज्ञात है, उसे 'धर्म' या 'समानधर्म' कहा जाता है। जिस माध्यम से—या साधन से—अनिर्ज्ञात के उस धर्म का ज्ञान पूरी तरह और समग्रता से न हो सके, पर फिर भी वह उसके ज्ञान का माध्यम हो, उसे 'उपमान' कहा जाता है[5]। 'मान' और 'उपमान' दोनों ही 'अनिर्ज्ञात के निर्ज्ञान के साधन' हैं: एक

---

१. दि फिला० आ०, पृ० ३२५।
२. पा० २. १. ५५।
३. पा० २. १. ५६।
४. वा० ३. १४. ३६१।
५. वही, ३६२।

पूर्ण और दूसरा अपूर्ण। जिस वस्तु या तत्त्व का परिज्ञान वे अनिर्ज्ञात वस्तु में कराते हैं, वहीं 'समान धर्म' है।

१५.५० उपमान समास

पाणिनि की पूर्वोक्त परिभाषा को भर्तृहरि इस प्रकार समझाते हैं :

द्वयोः समानो यो धर्म उपमानोपमेययोः।
समास उपमानानां शब्दैस्तदभिधायिभिः॥ वा० ३.१४.३६३॥

अर्थात्, 'उपमान और उपमेय के बीच जो समान धर्म होता है, उसके वाचक शब्द के साथ 'उपमान' का समास हो जाता है'। इस पर आगे टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि इस शंका का विवेचन करते हैं कि 'गुण' या 'समान धर्म' उभयत्र एक हैं, या भिन्न ? इन दोनों ही स्थितियों में 'उपमान' की स्थिति सम्भव सिद्ध नहीं होती। दो भिन्न वस्तुओं में रहकर भी वह गुण एकत्व पर आश्रित दिखाई देता है। तार्किकों का एक दल नई शंका करता है : 'एकत्व' भले ही हो, पर 'गुण' तो दो पदार्थों में रहता है। इसीलिए **अभिन्नता** में भी **'उपमा'** का होना सम्भव है।

परन्तु भर्तृहरि द्वारा दिया गया इन शंकाओं का उत्तर संक्षेप में इस प्रकार है : 'न केवल 'भिन्नता' के आधार पर, न ही केवल **'पूर्ण** एकत्व' के आधार पर, और न ही केवल 'जातिमात्रगत एकत्व' के आधार पर ही 'समान धर्म' उपमा का विषय बन सकता है[1]। कारण यह है कि **'घन-श्यामः'** जैसे शब्दों में 'श्यामता' के आधार 'देवदत्त' और 'श्याम' दो भिन्न व्यक्ति हैं। अतः दोनों की श्यामता का अन्तर यहां विवक्षित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'समान धर्म' का कार्य 'समानता' बताना है, भेद बताना नहीं[2]। इस लिए उनकी दृष्टि में उचित मत यही है कि 'आश्रयों' में गुण के निवास के कारण उसमें भेद भी स्वीकार किया जा सकता है। जातिगत साम्य के कारण उनमें 'साम्य' या 'समानता' भी स्वीकार की जा सकती है। वस्तुतः इस भेद और साम्य की विविधतामय उभयशक्तियों से ही कोई द्रव्यात्मा कार्यव्यापार में प्रवृत्त रहता है।'[3] इसी एकत्व और नानात्व की परस्पर सापेक्षिकता पर सारा व्यवहार आश्रित होता है। दोनों मिले-जुले रूप में ही समासविचार के प्रसंग में भाग लेते हैं[4]। वास्तविकता यह है कि श्यामत्व सर्वत्र एक जैसा होते हुए भी कुछ न कुछ भेद उसमें है ही। इसे **अशब्दवाच्य** कहा जा सकता है। यह यहां अपेक्षित नहीं है।

---

१. वही, ३६५-७।
२. वही, ३६४।
३. वही, ३६८।
४. वही, ३६९।

यहां श्यामत्व की वह विशेषता या वृत्ति अपेक्षित है, जिसकी उपलब्धि अनेकत्र हो जाती है[1]। सर्वत्र 'श्यमामों' में कुछ न कुछ साम्य भी है और भेद भी।[2] जिस प्रकार जाति, कमल, आदि पुष्पों में सुगन्ध की भिन्नता होने पर भी, उनमें साम्य अथवा सादृश्य समझा ही जाता है, वही स्थिति 'समान धर्म' की भी है[3]।

१५.५१ उपमान की उत्कृष्टता

सामान्यत: यह स्वीकार किया जाता है कि उपमेय की अपेक्षा **उपमान** गुणों में अधिक होता है। किन्तु **व्यतिरेकादि** अलंकारों में यह बात विपरीत दिखाई देती है। वहां प्रत्यक्षत: **उपमेय** में ही गुणाधिक्य दिखाई देता है। यहां से दो शंकाएं जन्म लेती हैं : 'क्या उपमान में गुणों की न्यूनता भी सम्भव है?' और, 'क्या गुण का आधिक्य या साम्य होने पर 'उपमेय' की स्थिति पलट जाती है?'

इन दोनों का उत्तर भर्तृहरि स्पष्ट शब्दों में देते हैं : **'प्रसिद्धि के आधार पर 'उपमान' सर्वत्र ही 'गुणाधिक' ठहरता है, भले ही प्रत्यक्षत: स्थिति विपरीत ही दिखाई दे; और गुणाधिक्य या गुणसाम्य होने पर भी तथाकथित 'उपमेय' की स्थिति बदल नहीं जाती, या उसमें से 'उपमेयत्व' हीन नहीं हो जाता[4]।'**

इसी को स्पष्ट करते हुए हेलाराज कहते हैं : **'तेनाधिकगुणमुपमानमित्यर्थः। तच्चाधिक्यं वास्तवेन रूपेण भवतु, मा वा भूत्। किन्तु प्रसिद्धत्वात् प्रतीतःत्वात् ज्ञापकत्वेनोपमेयं प्रत्याश्रीयमाणं प्रसिद्धमेव न्याय्यमिति तद्गुणस्योत्कर्षप्रसिद्धतयैव। तथा च न्यूनगुणमपि श्रृंगाररसपरिपोषणपरतया नारीमुखं शशिबिम्बस्योपमानत्वेन निर्दिशन्ति। कामिनां हि प्रेयसीमुखंमुत्कृष्टगुणत्वेन प्रसिद्धम्। ···अत एवाह सर्वत्रेति। न केवलं वस्तुतो यत्रोत्कृष्टो गुणस्तदुपमानं. यावन्न्यूनगुणमपि स्वप्रसिद्ध्याश्रयेणोपमानं व्यतिरिच्यते गुणाधिक्येन व्यवतिष्ठते।···उपमानं नियमतोऽधिकगुणमेव विवक्षितम्। उपमेये त्वनियम इत्यर्थः[5]।'**

अर्थात्, 'उपमान' गुणों में अधिक को ही कहा जाता है। हो सकता है कि वास्तव रूप में यह गुणाधिक्य लक्षित हो या न हो, परन्तु प्रसिद्धि के अधार पर यह गुणाधिक्य उपमान में निवास करता ही है। न्यूनगुण होते हुए भी नारी-मुख को, शृंगारपोषण के लिए, शशि की तुलना में अधिकगुण बताया ही जाता है। इसीलिए भर्तृहरि को कहना पड़ा कि जो भी **उपमान** होगा, वह 'गुणाधिक' ही होगा। यह बात अलग है कि यह 'गुणाधिक्य' प्रयोग पर आश्रित न मानकर

---

१. वही ३७०।
२. वही ३७२।
३. वही, ३७३।
४. वही, ३७५।
५. वही, ३७५, टीका।

प्रसिद्धि पर आश्रित मानना चाहिए। तभी 'शशि' सर्वत्र गुणाधिक रहेगा, चाहे प्रयोगविशेष में उसे हीनगुण ही बताया जाए। यह इस कारण कि उपमान में 'गुणाधिक्य' नियमित रूप से पाया जाता है। इसी बात को भर्तृहरि बाद में अधिक स्पष्ट करके 'समानधर्म' की स्थिति स्पष्ट करते हैं[1]।

१५.५३ लुप्तोपमा

'लुप्तोपमा' में **समान धर्म** की स्थिति क्या होती है ?, यह प्रश्न वृत्ति-विचार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो उठता है। भर्तृहरि इसका उत्तर यह देते हैं कि 'सामान्य धर्म' का इसमें ही अन्तर्भाव हो जाता है : **'तद्धर्मेण समाश्रयात्**[2]।' यह उत्तर 'वृत्ति' के जिज्ञासुओं को तृप्त करता है। किन्तु लुप्तोपमा में भाषावैज्ञानिक कारण कुछ और ही है। भर्तृहरि उसे भी स्पष्ट करते हैं। **वस्तुतः वहां उपमान और उपमेय की अत्यन्त आसक्ति और तज्जन्य अभेद-स्थापना मुख्य लक्ष्य होता है**[3]। इसी कारण वहां 'भेद' समाप्त हो जाता है। हम इसे 'रूपक' मानें तो बात अलग है।' अन्यथा, 'सामान्य धर्म' द्वारा सामान्यतः प्रदर्शित किया जाने वाला साम्य या विभेद, उसके वाचक शब्द के अभाव के कारण, समाप्त हो जाता है। बाद इन दोनों बातों को समन्वित करके एक समग्र भाषावैज्ञानिक सत्य के रूप में वे इस प्रकार प्रकट करते हैं : **चरितार्थ या अन्तर्भुक्तार्थ होने के कारण जो शब्द नितान्त प्रयुक्त नहीं होता, उस विषय में अदर्शन होने से उसी को वहां 'लुप्त' कह दिया जाता है**[4]। अर्थात्, वस्तुतः वहां 'लोप' जैसी कोई बात नहीं होती। प्रत्युत, यह समस्या अप्रयोग और चरितार्थता की है; फिर चाहे उसे किसी भी शब्द का 'लोप' कहा जाए। वास्तव में 'लोप' वृत्ति की समस्या है, जो स्वतः निरी काल्पनिक है। इसका अस्तित्व व्याख्याकाल में भले ही हो, प्रयोगवेला में नहीं है। इसलिए 'लुप्तोपमा' एक काल्पनिक स्थिति ही है। पर 'समास' में इस का ग्रहण ही प्रधान रूप से प्रयोज्य है।

१५.५३ वाचक शब्द

भर्तृहरि ने इनकी समस्या पर भी पर्याप्त विचार किया है। इन में **इव, तुल्य,** और **वत्** (**वति**) को मुख्यतः गिना जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में इन तीनों शब्दों की 'वृत्तिगत स्थिति' पर ही विचार अभीष्ट है। इनमें से 'इव' और 'तुल्य' तो स्वतन्त्र अव्ययों के रूप में जाने-माने जाते हैं। पर 'वत्' का प्रयोग प्रत्यय के रूप

१. वा० ३. १४. ३७६ से ३८१।
२. वही, ३८२।
३. वही।
४. वही, ५८५।

में स्वीकृत है। भर्तृहरि ने इनके प्रयोगों की, या वृत्ति में इनकी स्थिति की, अत्यन्त विस्तार से समीक्षा की है। हम यहां उनके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त संक्षेप में दे रहे हैं।

१५.५४ तुल्य

महाभाष्य में आए **'तुलया संमितं तुल्यम्'** को ही भर्तृहरि भी एक जगह दुहरा देते हैं।[१] भाष्य में इसे **'वति'** के अर्थ में प्रयुक्त बताया गया है।[२] 'तुलया संमितं' का अर्थ करके 'तुल्य' को 'दोनों तुलासे तोलकर जैसे समान ठहराए गए हों' के अर्थ में प्रयुक्त बताया गया है।[३] 'तुल्य' या 'तुल्यार्थ' शब्दों के योग में 'तृतीया' का वैकल्पिक प्रयोग होता है।[४] परन्तु 'इव' के साथ ऐसा प्रयोग नहीं होता : **'न कदाचिदिवशब्दयोगेन योगे तृतीया विधीयते (भाष्य)।'** कुछ स्थानों पर **'वति'** का भाव भी 'तुल्य' का समानार्थक नहीं होता।[५] इसके योग में कहीं-कहीं षष्ठी का प्रयोग भी होता है।[६] त्रिपदी टीका में भर्तृहरि समझाते हैं: **सामान्येन प्रयत्नस्तुल्यमित्युक्ते सर्वत्राविशेषेण सदृशे संप्रत्ययो दृश्यते।**[७]

१५.५५ इव

'तुल्य' की अपेक्षा **'इव'** का प्रयोग अधिक भिन्न रूप में और विविध विभक्तियों में होता है।[८] 'वति' की तुलना में भी 'इव' का प्रयोग भिन्नार्थ होता है।[९] 'इव' के योग में बाह्य सम्बन्धी के बिना कभी षष्ठी का प्रयोग नहीं होता।[१०] 'इव' एक द्योतक निपातमात्र है। इसके प्रयोग से उपमान में किसी प्रकार का आधिक्य सिद्ध नहीं होता।[११] 'इव' से भी 'व्यतिरेक' की प्रतीति होती है। किन्तु, 'तुल्य' से प्रतीत होने वाले 'आधिक्य' की अपेक्षा वह भिन्न प्रकार का होता है।[१२] 'इव' के योग में सामान्यतः प्राप्त प्रकृत तृतीया का प्रयोग भी प्रायः नहीं होता। उसका स्थान अन्य विभक्ति ले लेती है।[१३] परन्तु, वहाँ प्रयुक्त होने वाली सप्तमी आदि विभक्तियां भी स्वार्थ में स्थित न होकर 'ज्ञापक' मात्र ही ठहरती है। उन्हें

---

१. महा० १. १. ४. ६।
२. महा० ५. १. ११५ की व्याख्या में।
३. पा० २. ३. ७२, वा० ३. १४. ५१६।
४. वा० ३. १४. ५२७ से ५३०, ५५५।
५. वही, ५४६, ५४८।
६. वही, ५४३, ५४४।
७. म० त्रि० १. १. ४. ६।
८. वा० ३. १४, ५२८ से ५३०।
९. वही, ५३५, ५३९-४०; पा० ५. १. ११६।
१०. वा० ३. १४. ५४४।
११. वही, ५४५।
१२. वही, ५४६-७।
१३. वही, ५४९।

हम 'शेषविषय' विभक्तियां कह सकते हैं।[1] प्रकृत तृतीया विभक्ति का प्रयोग 'इव' के योग में केवल कुछ स्थलों पर ही संभव है।[2]

१५.५६ वति

'वत्' या 'वति'[3] का प्रयोग पाणिनि 'तुल्य' के अर्थ में स्वीकार करते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि का कथन यह है कि उपमार्थक रूप में 'वति' के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य प्रयोग भी उसके होते हैं[4]। 'तेन तुल्यम्'[5] के अतिक्ति 'तदर्हम्'[6] के अर्थ में भी उसका प्रयोग होता है। भिन्नवृत्ति होने पर भी रूपात्मक दृष्टि से यह अभिन्न ही है। 'वति' का प्रयोग भी क्रियार्थक ही होता है। पर इसका समावेश 'अव्ययों' में नहीं किया जा सकता। क्योंकि, इसमें प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ दोनों का समावेश रहता है।[7] इस विषय में पतंजलि का मूल कथन यह है : **'अपि चाव्ययेषु वतेः पाठो न कर्त्तव्यो न भवति। क्रियायामयं भवल्लिंगसंख्याभ्यां न योक्ष्यते।'**

क्रियावान् द्रव्यों से ही गुणतुल्यता प्रकट करने के लिए 'वति' का प्रयोग होता है।[8] **'स्थूलेन तुल्यो याति'** और **'स्थूलवद् याति'** में अन्तर यह है कि पहले प्रयोग में क्रिया की श्रुति 'बहिरंग' मानी जाती है। द्वितीय में यह श्रुति 'बहिरंग' नहीं मानी जाती है[9]। क्रिया के योग के बिना भी, रूपादिगुणतुल्यता के प्रदर्शनादि के लिए, 'वति' का प्रयोग होता है : **'राजवद् रूपमस्य'** आदि।

१५.५७ उपमित समास

पाणिनि का दूसरा सूत्र है : **'उपमितं व्याघ्रादिभिः'**[10]। अर्थात्, समानधर्म के वाचक शब्द के अप्रयोग में उपमित पुरुषादि शब्दों का व्याघ्रादि उपमान शब्दों के साथ समास हो जाता है। **'पुरुषव्याघ्रः'** इसका उदाहरण है। **'पुरुषो व्याघ्र इव शूरः'** इसकी वृत्ति कही जा सकती है। 'लुप्तोपमा' के समर्थक तो यहां भी समानधर्म और वाचक शब्द का लोप होता स्वीकार करेंगे। किन्तु 'समास' में तो 'उपमित' और 'उपमान' का पारस्परिक अभेद स्थापित होकर उनके पृथक्

---

१. वही, ५५०।
२. वही, ५५१।
३. पा० ५. १. ११५।
४. वा० ३. १४. ४३५।
५. पा० ५. १. ११५।
६. पा० ५. १. ११७।
७. वा० ३. १४. ४६७-८।
८. वही, ५१०।
९. वही, ५१४।
१०. पा० २. १. ५६।

चिह्न या प्रत्यय भी मिट गए हैं। यद्यपि इस समास का 'समानाधिकरण' होना भी 'वृत्ति' का ही विषय है, फिर भी यहां समान अधिकरण होने की स्थिति किसी 'सामान्यता' पर ही स्थित माननी होगी; क्योंकि दोनों ही द्रव्यवाचक शब्द हैं, विशेषण-विशेष्यादि रूप नहीं।

इस 'अधिकरण की एकता या अभेद' के बल पर ही भर्तृहरि इस समास की सम्भावना स्वीकार करते हैं।[1] वे स्पष्ट करते हैं कि यदि 'शूर' शब्द का—समानधर्मवाचक शब्द के रूपमें—प्रयोग हो ही जाए, तब समानाधिकरणत्व की स्थिति समाप्त हो जाती है। कारण यह है कि 'पुरुषव्याघ्रः' में 'व्याघ्र' वही है, जो 'पुरुष' है। किन्तु 'शूर' का प्रयोग होते ही 'व्याघ्र' का प्रयोग पशुविशेष के अर्थ में होता है। दो भिन्नधर्मा व्यक्तियों में ही 'समान धर्म' की स्थिति सम्भव हो सकती है। अतः भिन्न अधिकरणों की उपस्थिति स्वीकार करने पर न समास बनता है, न वृत्ति का अवकाश रहता है।[2] वह 'वाक्य' का विषय बन जाता है।

एक तीसरी संभावना यह है कि **पुरुष** और **व्याघ्र** के 'समानाधिकरण' होने पर भी उन्हें भिन्नगुण स्वीकार करते हुए, केवल एक गुण को 'सामान्य' बताने के लिए '**शूर**' पद का समास में प्रयोग किया जाए। पर भर्तृहरि की दृष्टि में यह स्थिति सामान्यतः संभव नहीं है। इसे केवल 'काल्पनिक' स्थिति ही कहा जा सकता है। इसीलिए 'समास' के विषय में 'उपमित' और 'उपमान' की बात स्पष्ट करनी पड़ी।[3]

उपमा के आधार

१५.५८ संख्या

साम्य या तुलना का ही नाम **उपमा** है। यह **साम्य** जिन चार तत्त्वों पर आधारित होता है, वे हैं क्रमशः—**जाति, द्रव्य, गुण** और **क्रिया**। इन प्रसंग में इन चारों के महत्त्व के विषय में भर्तृहरि की दृष्टि को संक्षेप में देख लेना अभीष्ट रहेगा।

१५.५९ जाति और द्रव्य

भाष्यकार एक स्थान पर लिखते हैं : '**सामान्ये वृत्तस्य वृत्तिरुपजायते।**'

---

१. वा० ३. १४. ४३०।
२. वही, ४३१।
३. वा० ३. १४. ४३२।

इस पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि कहते हैं :

> **जातौ पूर्वं प्रवृत्तानां शब्दानां जातिवाचिनाम् ।**
> **अशब्दवाच्यात् सम्बन्धात् व्यक्तिरप्युपजायते ।।**
> **सोऽयमित्यभिसम्बन्धाज्जातिधर्मोपचर्यते ।**
> **द्रव्यं तदाश्रयो भेदो जातेश्चाभ्युपगम्यते ।।** वा० ३.१४.३४७-८ ।।

अर्थात्, 'सामान्य या जाति के वाचक शब्द आरम्भ में 'जाति' का ही प्रत्यय कराते हैं। किन्तु उनसे ही किसी अवाच्य सम्बन्ध के कारण 'व्यक्ति' का भी बोध होता है। 'यह वही है'—ऐसी पहचान जाति-धर्म के कारण ही होती है। इसीलिए 'द्रव्य' और 'जाति' के 'भेद' आदि भी एक से दिखाई देते हैं।' इसकी व्याख्या करते हुए हेलाराज स्पष्ट करते हैं : **'अभेदाभ्यासाज्जातेरिव धर्मोऽस्येति द्रव्य जातिशब्देनोच्यते ।'** अर्थात्, भेद न होने या अभेद होने की स्थिति में जब किसी द्रव्य के धर्म को अन्य द्रव्य के धर्मों से अभिन्न मान लिया जाता है, तब उसे द्रव्याभिधायी होते हुए भी 'जातिशब्द' के रूपमें स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार रूपक, उपमा, आदि में 'सामान्यता' या 'समान धर्म की उपस्थिति' को इस 'जातिमत्ता' की उपस्थिति के कारण ही सम्भव माना जाता है।

'जाति' और 'द्रव्य' का यह अभेद-निर्णय 'क्रिया' के द्वारा होता है। 'क्रिया' का सम्बन्ध सदा 'व्यक्ति' से ही होता है। पर **'मंचाः क्रोशन्ति'** या 'देश पुकार रहा है' आदि में 'क्रिया' का सम्बन्ध 'मंच' और 'देश' से बता दिया गया है, जो कि असम्भव है। पर वस्तुतः यहां आधाराधेय सम्बन्ध के आधार पर 'मंच' और 'देश', तथा उनको आधार बनाकर रहने वाले व्यक्तियों, में अभेद स्थापित हो गया है। इसीलिए व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया को 'आधार' द्वारा क्रियमाण बता दिया गया है। यह 'जाति' और 'द्रव्य' के उक्त सापेक्ष व्यवहार के कारण ही हुआ है।[1]

ऐसी स्थिति में 'जाति' में वचनादि का महत्त्व नहीं रह जाता। वचनादि के महत्त्व के बिना ही 'जाति' और 'द्रव्य' आत्मतत्त्व की दृष्टि से एक और अभिन्न ठहरते हैं।[2] 'जाति' और 'व्यक्ति' में अन्तर का आधान एवं प्रधानत्वादि का स्थापन 'गुण' के कारण ही होता है।[3] पर यहां यह स्मर्त्तव्य है कि यह सब सापेक्षता समकालिक होनी चाहिए। 'विराम' की स्थिति 'जाति' और 'व्यक्ति' के रूपों के बीच न आनी चाहिए।[4] अन्यथा, यही कहना पड़ेगा कि रूपतः 'एक' दिखाई देने वाले 'जाति' और 'व्यक्ति' शब्द प्रतिपत्ति की दृष्टि से 'भिन्न-भिन्न'

---

१. वही, ३४८।
२. वही, ३५०।
३. वा०. ३. १४. ३५२, ३५३।
४. वही. ३५४।

हैं, एक नहीं ।[1] वस्तुतः एक ही शब्द से विविध समयों में जाति और द्रव्य की भिन्न प्रतीति 'जातिमत्ता' और 'द्रव्यत्व' की प्रधानता-अप्रधानता पर निर्भर करती है ।[2] यदि प्रत्यक्षतः जातिवाचक अभिधान हों, पर क्रियासम्बन्धादि के कारण उनमें लक्षण 'द्रव्यात्मक' हों, तब वह शब्द 'जातिवाचक' होकर भी द्रव्य-धर्मयुक्त माना जाता है ।[3]

१५.६० गुण

'समान धर्म' गुण पर ही आधारित है : वह गुण का ही अपर पर्याय है। यह गुण अपनी मूलगत एकत्व-प्रतीति के कारण 'समान' होता है । पर आधार की भिन्नता के कारण इन्हें भी 'भिन्न' मानने का आग्रह उठता है ।[4] यह गुण या इसका भेद ही द्रव्यात्मा को व्यापार में प्रवृत्त करता है ।[5] गुण 'विशेष' से जन्म लेते हैं। इसीलिए, 'विशिष्ट' द्रव्य को दूसरे से भिन्न सिद्ध करने वाले ये 'गुण' ही होते हैं ।[6]

इस प्रकार तीन बातें स्पष्ट और पुष्ट हुईं :

(१) 'समान धर्म' और 'गुण' को एक समझने पर भी दोनों 'भिन्न' हैं। एक ही समान-धर्म गुण या वैशिष्टच के भेद से विभिन्न आधारों के अनुसार भिन्न हो जाता है ।

(२) इसके कारण 'जाति' और 'द्रव्य' में अन्तर हो जाता है। यदि 'गुण' उपस्थिति हो, तब जातिशब्द भी 'व्यक्ति' का बोधक हो जाता है ।[7]

(३) यह 'गुण' द्विष्ठ होते हुए भी एक ही शब्द द्वारा कहे जाने के कारण 'समान धर्म' कह दिया जाता है। इसीलिए 'भिन्न' होकर भी वह अभिन्न सा ही प्रतीत होता है ।[8]

१५.६१ त्रिपदी : गुण

भर्तृहरि ने महाभाष्य की अपनी टीका में 'गुण' और 'द्रव्य' के सम्बन्ध में निम्न वक्तव्य दिया है : '**तद्यथा नीलशब्दोऽर्थान्तरनिरपेक्षो गुणसामान्यस्तद्रूपं प्रतिलभते । तत्र प्रतिलब्धस्य स्वरूपस्तदधिष्ठानो यदा गुणवतो न नीलस्य साह-**

---

१. वही, ३५५ ।
२. वही, ३५६-७ ।
३. वही, ३५८ ।
४. वा० ३. १४. ३६४, ३६५ ।
५. वही, ३६८ ।
६. वही, ३७४ ।
७. वही, ३८४ ।
८. वही, ३८८ ।

चर्यात् (?) नीलत्वेन व्यावेशात् तद्वतामनुभवत्येकयोगक्षेमतामापद्यते।···यथो-पाश्रयवशात् स्फटिकं तद्गुणमुपलभ्यते एवं द्रव्यमप्यभिदधन्नीलशब्दः स्वाभिधे-यस्य नीलत्वस्य य आश्रयो गुणस्तस्याधारे द्रव्येऽपि समवेतसमवायात् व्यवहितोऽपि गुणो न तदधिष्ठान एव द्रव्ये प्रत्ययमादधाति। तथा द्रव्यान्तरेणापि रक्ते वस्त्रे संयुक्तसमवेतसमवायादेव पारम्पर्येण, यावद् द्वयोः रक्तयोर्वस्त्रयोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुपलभ्यते इति।'[1]

इस वक्तव्य से भी हम निम्न परिणामों पर पहुँचते हैं :

(१) गुणवाचक शब्द मूलतः द्रव्यवाचक होकर भी अलग मान लिए जाते हैं।

(२) अधिष्ठान द्रव्य उनसे भिन्न नहीं होता। उन शब्दों का 'आधार' होने से 'गुण' भी अभिप्रेत है।

(३) भिन्न द्रव्यों में भी रूपतः गुण 'एक' ही माना जाता है, जब तक उनमें भेद स्पष्ट न हो जाए।

१५.६२ क्रिया

यह अद्भुत सत्य है कि 'उपमा' की समस्त प्रक्रिया का आधार 'क्रिया' है। 'वाक्' के एकत्व का आधार 'क्रिया' को मानने वाले भाषाविज्ञानी से इसी वैज्ञानिक उत्तर की अपेक्षा की जा सकती है। 'उपमा' चाहे वाक्य के रूप में हो या समास के रूप में, यदि 'व्यापार' की स्थिति न हो तो उपमेय और उपमान की स्थितिकल्पना ही निराधार हो जाती है।[2] 'सामान्य धर्म' का आधार भी इसी क्रिया पर निर्भर करता है। जाति-व्यक्ति का भेद इस क्रियायोग से ही स्पष्ट होता है, यह बात **'मंचाः क्रोशन्ति'** के उदाहरण से स्पष्ट होती है।[3] क्रिया के आश्रय से ही उप-मान की सार्थकता सिद्ध होती है। उसके बिना उसका प्रयोग महत्त्वहीन ठहरता है[4]। उपमेय की क्रियाश्रुति वस्तुतः उपमान की क्रियावृत्ति की ही परिचायक होती है[5]। किन्हीं दो वस्तुओं के साम्य का अर्थ उनके व्यापार का साम्य ही है।[6] यदि द्रव्य क्रियावान् न हो, तब उसका सादृश्यकथन अनर्थक हो जाता है।[7] 'गुण-तुल्यता' की बात क्रियाओं की एकता या समानता के कारण ही सम्भव हो पाती

---

१. म० त्रि०, १. १. १।
२. वही, ४९६-७।
३. वही, ३४९।
४. वही, ५०४।
५. वही, ५०५।
६. वही, ५०६।
७. वही, ५०७।

है[1]। क्रियाओं का अन्तरंगत्व और बहिरंगत्व क्रमशः इस प्रकार होता है : शब्द-रचना में अन्तर्हित तथाकथित क्रिया को **अन्तरंग** कहते हैं, और वृत्ति आदि में प्रयुक्त शब्दबाह्य क्रिया को **बहिरंग** कहते हैं। '**पुत्रः**' में त्राण-क्रिया अन्तरंग है, जबकि '**स्थूलेन तुल्यो याति**' में 'याति' क्रिया बहिरंग है[2]। यूं तो 'तुल्य' शब्द स्वयं ही क्रियार्थक है :'**तुलया संमितम्**'[3]। इसलिए ऐसा कहना सर्वथा भ्रामक है कि कोई द्रव्य क्रिया का आश्रय लिए बिना ही क्रिया पर आधारित द्रव्य के तुल्य हो सकता है[4]। 'वति' का अर्थ तो होता ही 'क्रियावान्' के रूप में है[5]। इस प्रकार 'साम्य' किसी न किसी क्रिया पर, या क्रियागत धर्म पर, ही आधारित होता है[6]। 'इव' का प्रयोग भी क्रिया से रहित रहकर नहीं होता। फिर भी, यह बात कुछ अंश तक सही कही जा सकती है कि 'वति' और 'तुल्य' की अपेक्षा 'इव' का प्रयोग 'द्रव्य' पर अधिक आधारित है[7]।

१५.६३ सादृश्य

भर्तृहरि अपनी त्रिपदी टीका में 'तुल्य' शब्द के विषय में कहते हैं : '**तुलया संमितं तुल्यम्। केचित् तुल्यमिति गुणकल्पनया कुर्वन्ति, तुल्यमिव तुल्यमिति। तन्न युक्तम्। सामान्येन प्रयत्नस्तुल्यमित्युक्ते सर्वत्राविशेषेण सदृशे संप्रत्ययो दृश्यते। यत्र च गौणत्वं न तत्रान्तरेणार्थप्रकरणशब्दान्तराभिसम्बन्धात् भवति संप्रत्ययः। तस्मात् यत्प्रत्ययान्तो रूढिशब्दोऽयं सदृशसमानसदृक्षपर्यायः। व्युत्पत्तिकर्मणि केवलं तुलोपादीयते, कस्यचित् शब्दस्यानुगमात्, न त्वत्र तुलयापि संमितव्यम्**[8]'। इस प्रकार वे 'सदृश' और 'तुल्य' को समानार्थक ठहराते हैं। यह तुल्यता ही उपमादि का आधार है। अर्थात्, 'सादृश्य' भी 'उपमा का मूलाधार' कहा जा सकता है। इसी 'सादृश्य' के वाचक हैं : '**इव**', '**वत्**', '**तुल्य**' आदि।

इस सादृश्य की चर्चा करते हुए भर्तृहरि 'प्रकारार्थक' प्रत्ययों को भी इसीके अन्तर्गत स्वीकार करते हैं[9]। 'गुणसाम्य' के आधार पर 'सादृश्य' की चर्चा करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि यह साम्य सर्वांशतः होना अनिवार्य नहीं है। मण्डूक, खद्योत, मणि, आदि को प्रायः इसी आंशिक सादृश्य के आधार पर 'उपमान' बनाया जाता है[10]। इनमें से 'खद्योत' को 'उन्मेष-निमेष' के विषय में, 'मण्डूक' को

---

१. वही, ५१०-११।
२. वही, ५११, ५१३-४।
३. वही, ५१६।
४. वही, ५१६।
५. वही, ५२१-२।
६. वही, ५३४।
७. वही. ५३६-४०।
८. म० त्रि० १. १. ४. ६।
९. वा० ३. १४. ६१८।
१०. वही, ६१८।

श्वास-प्रश्वास के विषय में और 'मरिण' को स्पन्दित प्रभा के विषय में उपमान के रूप में प्रयुक्त किया जाता है[१]। इनके 'पूर्ण सादृश्य' का कोई प्रश्न नहीं उठता।

१५.६३.१ प्रकार और सादृश्य

'सादृश्य' और 'प्रकार' की बात को अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि कुछ के मत में 'प्रकार' और 'सादृश्य' सर्वथा एक ही बात को कहते हैं, जबकि कुछ लोग 'प्रकार' की बात को अनेकत्र भिन्न रूप में पाते हैं[२]। वस्तुतः 'थाल्'[३] और 'क'[४] प्रत्यय 'इव', 'सादृश्य' और 'प्रकार' आदि अर्थों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। 'अव्ययीभाव' समास के विधायक सूत्र में परिगणित अर्थों में एक अर्थ 'सादृश्य' भी है,[५] और उसका सूचक अव्यय 'सह' माना गया है[६]। इसके विपरीत 'यथा' शब्द 'वीप्सा' और 'सादृश्य' के अर्थ में प्रयुक्त होकर भी उनसे भिन्न है[७]। इसीलिए पाणिनि उन दोनों को पृथक् से गिनाते हैं[८]।

'सादृश्य' का सूचक एक अन्य अव्यय है 'अनु'। किन्तु यह बात सर्वत्र सत्य नहीं है। 'धर्म' और 'योग्यता' के विषय में यह प्रयोग सत्य हो सकता है। किन्तु यदि मूर्तिगत साम्य की बात हो, तब 'अनु' के स्थान पर 'सह' के द्वारा कथन अभीष्ट होगा[९]। 'ईदृशः' या 'इत्थं' के प्रयोग से भी 'सादृश्य' की सूचना मिलती है। किन्तु ऐसे सभी प्रयोग वस्तुतः 'बुद्ध्यवस्था' पर आश्रित होते हैं। 'वक्ता का अभिप्रेत' ही शब्द का वास्तविक 'अभिधेय' होता है।

१५.६४ ऊह

अलंकार-विधान में 'ऊह' का अपना स्थान है। भर्तृहरि ने महाभाष्य की अपनी 'त्रिपदी टीका' में इसको पर्याप्त विस्तार से विचारा है। अनेक उदाहरणों द्वारा उन्होंने इसके विविध रूपों को स्पष्ट किया है। 'वाक्यपदीय' में भी उन्होंने इस विषय की चर्चा की है। पतंजलि की चर्चा से उनकी यह चर्चा उभयत्र अधिक व्यापक और भिन्न रही है। 'प्रसिद्ध उपमान एक ही होने पर, तथा उसकी समानता के आकांक्षी उपमेय अनेक होने पर, यह निर्णय करना कठिन होता है

---

१. वही, ६१६।
२. वही, ६२१।
३. पा० ४. ३. ३२।
४. पा० ५. ४. ३।
५. पा० २. १. ६।
६. वा० ३. १४. ६२३।
७. वही, ६२४।
८. पा० २. १. ७।
९. वा० ३. १४. ६२६।

कि इनमें से बड़ा-छोटा अथवा प्रधान-अप्रधान आदि किसे माना जाए[1] !' यहां हेलाराज अपनी टीका में भर्तृहरि द्वारा उद्धृत[2] तीन उदाहरणों को पुनः दुहराते हैं : **'अंगानि जातिनामानि'**, **'यत्पशुर्मायु'०**, एवं **'कश्यपे वां सा०'** आदि[3]। उनके द्वारा वे यही बताते हैं कि 'ऊह' विभक्तिवचनादि के विषय में भी होता है।

'ऊह' का कारण बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं : **'प्रकृतौ समर्थानां विकारेण सामर्थ्याभावात् प्रकृतिरूपादानर्थवये प्रसक्ते शब्दन्तरत्वं लिंगवचनान्तरेण क्रियते[4] ।'** उदाहरण के लिए वे 'अग्नि' को लेते हैं। अर्थविचार की दृष्टि से उसकी प्रकृति 'आग' है; 'सूर्य' आदि अर्थ उसके अर्थविकार हैं। इसे वे 'मुख्या वृत्ति' और 'गौणी वृत्ति' का परिणाम बताते हैं। उनके शब्दों में : **'शब्दवती प्रकृतिरशब्दो विकारः स्यात् । अथाप्यग्निशब्द एवोपादीयेत, मुख्या वृत्तिः सूर्यार्थं न प्रतिपादयेत् । अथाप्यस्य गुणादर्थान्तरे सूर्ये मुख्यवृत्तिक्रमेण प्रयोग आश्रीयेत, प्रकृतिविपरीतः शब्दप्रवृत्तिधर्म आश्रितः स्यात्[5] ।'**

इस प्रकार 'ऊह' केवल वचन-विभक्तिगत ही नहीं होता, आश्रयजन्य भी होता है। इस 'आश्रय' को ही हम 'अर्थ' के रूप में मान लेते हैं। वस्तुतः लिंगवचनादि भी इसी आश्रय पर आश्रित होते हैं। यह 'ऊह' जहां यज्ञादि का विषय है, वहां अलंकार-विधान की दृष्टि से भी इसका महत्त्व अत्यधिक है।

वृत्ति : समस्याएं

१५.६५ प्रत्यय विभक्ति और वृत्ति

इसी अध्याय के आरम्भ में 'वृत्ति और प्रत्यय' शीर्षक के अन्तर्गत हम भर्तृहरि का यह मत स्पष्ट कर आए हैं कि समासों में प्रयुक्त तथाकथित पद प्रत्ययहीन रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। उन्हें इसी रूप में स्वीकार करना अभीष्ट है। उनके अनुसार व्याकरण के नियमों के अन्तर्गत जो 'प्रत्ययलोप या लुक्' आदि होता माना गया है, उसकी आवश्यकता शास्त्रीय दृष्टि से साधुत्व के विनिश्चय के लिए अवश्य है। इससे अधिक महत्त्व उसका नहीं है। 'गर्गाः'[6] और 'बभ्रूः'[7] के उदाहरणों के द्वारा प्रत्ययहीनता के इस महत्त्व को, और उसकी वास्तविकता को, स्पष्ट करते हैं। 'एकपद' होने के कारण **'सुप्तिङन्तं पदम्'**[8] की परिभाषा के अनुसार जो

---

१. वही, ५६३।
२. म० त्रि० १. १. १।
३. वा० ३. १४. ५६३, टीका।
४. म० त्रि०, १. १. १।
५. वही, १. १. १।
६. वा० ३. १४. ८३।
७. वही, ८४।
८. पा० १. ४. १४।

सुप् आदि प्रत्ययों का योग होता है, वह समासयुक्त पदों में पाई जाने वाली एक अनिवार्यता है। अन्यथा, वृत्तिप्रसंग में प्रत्ययों का योग तो समझने-समझाने की सुविधा और 'अबुध-प्रतिपत्ति' का उपायमात्र है।

१५.६५.१ लिंगादि का महत्त्व

भर्तृहरि ने अनेकत्र यह स्पष्ट किया है कि 'लिंग' और 'संख्या' का वृत्ति में योग उन पदों के, द्रव्यपक्ष की अपेक्षा, जातिपक्ष को अधिक स्पष्ट करता है[1]। यद्यपि यह बात भी अवधेय है कि समास-योजना में 'जातिशब्दों' में लिंगवचनादि का योग नहीं रहता[2]। '**कुक्कुटाण्डम्**' में 'कुक्कुट' से 'कुक्कुटी' का ही ग्रहण होता है[3]। पर 'जातिवाचक 'लिंग' का प्रयोग समास में होने पर भी वचनादि का योग स्वतः सिद्ध नहीं होता[4]। यह तो पदसूचित द्रव्य के व्यक्तिरूप के आश्रय-प्रसंग की ही विशेषता है कि लिंग और संख्या की योजना अनिवार्य सी हो जाती है[5]। विभक्ति के सम्बन्ध में भी ये ही सत्य विविध रूप में कहे जा सकते हैं[6]।

(क) विभक्ति-विचार

१५.६६ समास में अनुपयोगिता

समास-योजना में प्रत्ययों की अनुपयोगिता की बात ऊपर कही ही गई है[7]। इन प्रत्ययों का सम्बन्ध सामान्यतः 'विभक्ति' से ही होता है। भर्तृहरि इस बात को स्पष्ट करते हैं कि 'समास' में जिसे हम प्रत्ययहीन पाते हैं, उसका वृत्ति में सप्रत्यय प्रयोग अवास्तविक और 'उपायमात्र' है। अबुध लोगों की प्रतिपत्ति के लिए ही उस उपाय को अपनाना पड़ता है[8]। सच तो यह है कि इस प्रकार की वृत्तिगत विभक्ति-योजना 'वाचिका' या 'द्योतिका' ही होती है। इनसे हम तथा-कथित 'गूढ़ अर्थ' को पाने का प्रयास करते हैं। पर अन्ततः है यह सब 'वृत्ति' का चमत्कार ही[9]। '**गोचरः**' और '**गोषुचरः**' एवं '**कालकण्ठः**' और '**कण्ठेकालः**' में लुक्-अलुक् की स्थिति-भिन्नता समास में केवल अर्थ-भिन्नता के निमित्त से ही प्रयुक्त होती है। उससे विभक्ति के प्रयोग से सम्बद्ध निष्कर्ष निकालना निष्प्रयोजन

---

१. वा० ३. १४. १०३, १३९-४०।
२. वही, १३०, १३५।
३. पा० ६. ३. ४२, पर वार्त्तिक।
४. वा० ३. १४. १७६-८०।
५. वही, १९०-१।
६. वही, ११७, १२६।
७. वही, ८३-८४।
८. वही, ८९-९६, ९९।
९. वही, १००।

ही है[1]। इस दृष्टि से 'अव्ययों' और 'नामों' की स्थिति सामासिक रचना में एक जैसी प्रतीत होती है। पर अर्थात्मक दृष्टि से उनमें गहरा अन्तर है[2]। फिर, '**स्तोकान्मुक्तः**' जैसे प्रयोगों में विभक्ति की विद्यमानता में भी 'वचन' की अस्पष्टता कही जा सकती है। '**स्तोकेभ्यो मुक्तः**' के स्थान पर भी सामासिक प्रयोग '**स्तोकान्मुक्तः**' ही होगा[3]। स्पष्ट है कि यहां वृत्तिगत पूर्णता अभीष्ट नहीं है। अतः लुक् और अलुक् की स्थिति तथाकथित वृत्तिगत 'अपूर्णता' की दृष्टि से एक सी ही है[4]। बहुव्रीहि का 'षष्ठ्यन्त' प्रयोग न होकर प्रथमान्तादिप्रयोग भी इसी बात का सूचक है[5]।

१५.६७ विभक्त्यन्तर और अनिश्चितता

जन-प्रयोगों के विश्लेषण के बाद यह सिद्ध हो जाता है कि सामान्य प्रयोगों की भांति वृत्तिगत प्रयोगों में भी 'विभक्ति-योग' स्थिर और निश्चित प्रवृत्ति का नहीं कहा जा सकता। 'तत्पुरुष' समास की प्रकृति को देखने और उसकी वृत्ति का विश्लेषण करने के बाद यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि प्रत्यक्षतः जो समास-रचना एक ही प्रकृति की दीखती है, उसकी व्याख्या प्रायः विविध विभक्तियों के द्वारा की जाती है। इतना ही नहीं ; तथाकथित 'एक' ही समस्त पद की व्याख्या एकाधिक विभक्तियों के द्वारा विविधार्थों में की जा सकती है। यह बात विभक्ति की उस प्रकृति से भिन्न है, जिसके कारण एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी का प्रयोग हुआ करता है। **षष्ठी, द्वितीया** और **तृतीया** में 'तमप्' के योग में ऐसा सन्देह उपस्थित हो जाता है[6]। 'तरप्' के सम्बन्ध' में भी यही स्थिति होती है[7]। गुण की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में अन्य विभक्तियों के स्थान में 'तरप्-तमप्' की 'वृत्ति' में 'षष्ठी' की ही कल्पना की जाती है[8]।

यह बात आलंकारिक प्रयोगों में अधिक स्पष्ट होती है। इसी प्रकरण में हम, 'वाचक' शब्दों के प्रसंग में, यह बता आए हैं कि किस प्रकार तुल्य, इव और वत् के योग में विविध विभक्तियों की कल्पना की गई है। **तृतीया**[9], **सप्तमी**[10], और **षष्ठी**[11] के परस्पर उलझे प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाते हैं। यह सब इस कारण

---

१. वही, १०८।
२. वही, १०७।
३. वही, १३३।
४. वही, १५५।
५. वही, १६१।
६. वही, १६२।
७. वही, २१८-९।
८. वही, १६४।
९. वही, ५२७, ५५१, ५५५।
१०. वही, ५५०-२।
११. वही, ५४३,५५३।

कि हम जिसे समास के रूप में प्रयोग होता पाते हैं, वह शब्द विभक्तिहीन होता है। उसकी 'वृत्तिगत' व्याख्या ही उसमें रूपात्मक भिन्नता ला देती है। पर यह सब व्याख्याकाल में, और वृत्तिगत रूप में, ही होता है। वास्तविक सत्य इसमें कुछ भी नहीं है।

(ख) वचन और संख्या

१५.६८ समास में अनुपयोगिता

विभक्ति की भांति वचन और संख्या की स्थिति भी समासयुक्त पदों में अवास्तविक है। 'वृत्ति' में ही वचन-प्रयोग का अवसर उपस्थित होता है। अन्यथा, प्रयुक्त पदों में तो केवल पदान्त में ही वचन का प्रयोग होता है। इस प्रयोग का अवयवभूत पदों के वचन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका एक विभेदक उदाहरण **'गार्ग्यतरः'** और **'गर्गतराः'** के रूप में लिया जा सकता है[1]। व्याकरण की दृष्टि में यहां **'गार्ग्य'** एकवचन में और **'गर्गाः'** बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। 'गार्ग्यः' का बहुवचन 'गर्गाः' ही बनता है[2]। परन्तु भाषाविज्ञानी इस सत्य को समझता है। उसकी दृष्टि में यह अन्तर 'वचन' का नहीं शब्दरूप का है। **'गार्ग्यः अतिशेते'** और **'गर्गा अतिशेरते'** से ही **'गार्ग्यतरः'** और **'गर्गतराः'** का रचनात्मक अन्तर स्पष्ट नहीं होता[3]। वास्तव में 'गार्ग्य और 'गर्ग' का आरम्भिक रचनागत भेद ही 'गार्ग्यतरः' और 'गर्गतराः' के रूपभेद का कारण है। अन्यथा, जिस प्रकार 'गार्ग्य' के साथ एकवचन प्रयुक्त नहीं हुआ है, उसी प्रकार 'गर्ग'-भाग में भी बहुवचन अप्रयुक्त ही है।

१५.६९ समासान्त में वचन

समासान्त में वचन की स्थिति इससे भिन्न है। वह समास के तथाकथित 'अंशभूत' पदों के वचन से भिन्न है। वास्तव में उससे जिस द्रव्य की सूचना मिलती है, वह भागीदार 'पदों' से सूच्य द्रव्य से भिन्न ही होता है। उसकी सूचना उनके समवेत रूप से ही मिलती है। समास में भाग लेने वाले सभी पद विभक्ति-हीन होकर ही प्रयुक्त होते हैं। उन्हें भर्तृहरि ने रूपात्मक दृष्टि से अव्ययों से अभिन्न ही माना है।[4] यह बात पहले भी कही जा चुकी है। सामासान्त में आने

---

१. वही १६२-३।

२. पा०. २. ४. ६४।

३. वा०, हेला० ३. १४. १६२।

४. वा० ३.१४. २३०-१।

वाले विभक्तिवचनसूचक प्रत्यय का पृथक् ही उद्देश्य होता है। पाणिनि इसे व्याकरणात्मक आवश्यकता के रूप में पहले 'प्रातिपदिक' संज्ञा देकर उससे 'सुप्' प्रत्यय का विधान स्वीकार करते हैं[1]। परन्तु इन्हीं प्रत्ययों के संयोग से ही यह भी सिद्ध होता है कि 'अव्यय' और 'समास' की प्रकृति में कुछ मौलिक अन्तर है। 'सुप्' और तद्भूत वचनादि का प्रयोग तो एक व्यावहारिक और प्रायोगिक अनिवार्यता है,[2] जिससे केवल प्रत्ययविहीन भाषाओं में ही बचा जा सकता है।

१५.७० संख्या-योग

तब क्या समास से संख्यायोग का कोई सम्बन्ध नहीं? और क्या इसके बिना भी द्रव्य की स्थिति रह सकती है? इसका उत्तर '**शुक्लपटाः**' आदि उदाहरणों से दिया जा सकता है। यहां रूपात्मक दृष्टि से 'पटाः' में लिंग और वचनादि का योग है, जबकि 'शुक्ल' में इनमें से कुछ भी नहीं है। तब इन दोनों का सम्बन्ध कैसा? पाणिनि के अनुसार 'विशेषण' का वचन महत्त्वपूर्ण होता है[3]। परन्तु साथ ही वे समासगत उन पदों में वचनादि की सत्ता स्वीकार करते हैं, जिनसे 'सुप्' आदि का 'लुक्' स्वीकार कर लिया गया है[4]। भर्तृहरि इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि, ''शुक्ल' और 'पट' के अभिन्न होने के कारण ही उन दोनों का समास हुआ है। अब इस अभिन्नता के कारण ही उनके पृथक्-पृथक् वचन का महत्त्व नहीं रह जाता। पर वृत्ति-प्रसंग में हम उनमें लिगसंख्यादि का योग करते हैं। स्पष्ट है कि यह शास्त्रीय युक्तिक्रम का परिणाम है[5]।' सत्य तो यह है कि यदि द्रव्य ससंख्य और सलिंग है, तब उसका अभिधायक प्रत्येक शब्द भी उन धर्मों से युक्त ही होगा। पर समास में अभिन्नता के कारण यह श्रुति भिन्न-भिन्न नहीं होती। 'वृत्तिकाल' में इनकी पृथक्ता अवश्य प्रदर्शित की जाती है[6]। 'विशेषण' में लिंग और वचन का योग इसी आधार पर होता है[7]। वास्तव में 'द्रव्य' स्वतः 'लिंग' और 'संख्या' से अभिन्न है: ये उसके स्वाभाविक धर्ममात्र हैं[8]। परन्तु किन्हीं गुणों की अधिकता या बहुलता के आधार पर ही 'वचनों' का योग नहीं होता। यदि ऐसा ही होता, तब कई जगह 'एकवचन' के स्थान पर 'बहुवचन' का ही प्रयोग होता[9]। फिर, केवल 'संख्या' ही वचन की निर्धारिका नहीं कही जा सकती। पाणिनि अपने दो सूत्रों में इसे स्पष्ट करते हैं[10]। भर्तृहरि

---

१. पा० १. २. ४६।
२. वा० ३. १४. १३६।
३. पा० १. २. ५२।
४. पा० १. २. ५१।
५. वा० ३. १४. १३६।
६. वही, १३६, १४०।
७. वही, १४१, १५५।
८. वही, १६५।
९. वही, १८१, १८२।
१०. पा० १. २. ५८; १. ४. २१।

कहते हैं : 'कई बार शास्त्र वास्तविक संख्या का ध्यान नहीं रखता[1]'।

१५.७१ व्यक्ति : वचन

पर इससे भी बड़ा सत्य यह है कि जब वक्ता प्रत्येक व्यक्ति का कथन करना चाहता है, तब उसके साथ वह वचन का योग भी करता है। किन्तु व्यक्तिकथन अभीष्ट न होने पर 'एकशेष' आदि की सम्भावना भी उठती है[2]। जाति के आधायक व्यक्ति-पदार्थों में प्रवृत्ति-भिन्नता के कारण ही लिंग और संख्या का वैयक्तिक प्रयोग होता है।[3] सच तो यह है कि यदि प्रत्येक वस्तु का 'व्यक्तित्व' अभिधेय न हो, तो अकेला एकवचन—**पाकः**—ही काम चला सकता है। **'पाकौ'**, **'पाकाः'** आदि का प्रयोग तभी उचित कहा जा सकता है, जब व्यक्तित्व का कथन अभीष्ट हो[4]। अतः इनका सम्बन्ध आश्रयों और उनके व्यक्तिरूप से ही होता है[5]। और यह व्यक्तिवाचकता जातिशब्दों में ही आती है[6]। वस्तुतः **द्रव्यात्मा** या **व्यक्तिरूप** में आने के बाद 'जाति' अपनी संख्यावत्ता का उत्सर्ग कर देती है[7]।

और, भर्तृहरि तो 'एक-नाना' की सारी कल्पना ही प्रयोक्ता की भेद-अभेद-बुद्धि पर आश्रित मानते हैं।[8] वक्ता की 'अभेददृष्टि' ही 'समास' को जन्म देती है, और उसकी भेददृष्टि 'नानात्व' और 'व्यक्ति' को। पर इस पर भी यह सत्य है कि संख्याश्रित होकर भी 'वचन', अपने प्रयोग-व्यवहार में, अन्तर्हित संख्या से भिन्न रूप से आचरण करता है। और उसका यही आचरण व्याकरण और भाषाविज्ञान का विषय ठहरता है।

(ग) लिंग-प्रयोग

१५.७२ समास में अनुपयोगिता

उक्त दोनों तत्त्वों की भांति लिंग का महत्त्व और स्थान भी समासनिर्माण अथवा समस्त पद में अनिश्चित ही है। समास विशेष्य-विशेषण पर आधारित हो या अन्य किसी सम्बन्ध पर, पदों में परस्पर लिंग-वचन-विभक्ति की समानता या अनुरूपता की बात न तो सर्वत्र पाई जाती है, और न ही वह सर्वत्र उपयोगी ही कही जा सकती है। **'तया कृतम्'** और **'तेन कृतम्'** की विविधलिंगात्मक अभिव्यक्तियों को **'तत्कृतम्'** की निर्लिंग एक ही अभिव्यक्ति के द्वारा समान रूप से

---

१. वा० ३. १४. ३३१-२।
२. वही, ३३४, पा० १. २. ६४।
३. वा० ३. १४. ३४२।
४. वही, ३४५।
५. वही ३४६।
६. वही, ३४७।
७. वा० ३. १. ९८।
८. वा० ३. १४. ३६९।

कह दिया जाता है। यहाँ 'तत्' का प्रयोग यह संकेत भी देता है कि समास में भाग लेने वाले पद अपने 'प्रातिपदिक' रूप में ही उसमें भाग लेते हैं। 'प्रातिपदिक' लिंगादि-चिह्न-विहीन ही कल्पित होते हैं। उनमें लिंगयोग, व्याकरण की दृष्टि में, बाद में ही सम्भव होता है[1]। पर इसे अन्यथा भी सिद्ध किया जा सकता है। जहां हम सामान्य और जातिधर्मों का कथन करना चाहते हैं, वहां प्राय: निर्लिंग या अलिंग प्रयोग ही होता है[2]। उसे हम **'पुंवद्भाव'**[3] कहें या किसी अन्य रूप में; यह हमारी अपनी इच्छा है। अन्यत्र जहां व्यक्ति-कथन और व्यक्ति-धर्म पर बल देना अभीष्ट होता है, वहां सलिंग प्रयोग आवश्यक हो जाता है।[4]

इससे बड़ा सत्य यह है कि समास में लिंग के प्रयोग का प्रश्न उतना ही महत्त्वहीन है, जितना समास में 'पदों' की उपस्थिति का प्रश्न। समास स्वतः 'एकपद' है। अतः उसके अंशों में 'लिंग' की बात सर्वथा उपहासास्पद और अनुचित लगती है। हां, समास के रूप में आने के बाद सम्पूर्ण पद जिस 'द्रव्य' को अभिहित करता है, उसके साथ लिंगयोजना अवश्य महत्त्वपूर्ण हो जाती है। 'मृगदुग्ध', 'श्यामपटा', 'गुड्नेचर्ड', आदि में लिंगविहीनता, और 'गार्गीपुत्र', 'राधाकान्त', आदि में सलिंगता, की विवेचना यहां यथावसर ही होगी।

१५.७३ अनियमित प्रयोग

लिंग-प्रयोग की इस अनियमितता को भर्तृहरि 'विलिंगता' और 'सलिंगता' के दो वर्गों में बांटकर देखते हैं। एक ओर, 'सामान्य' के सूचक **'शुक्लतरा'**,**'शुक्लतमा'** आदि उदाहरणों में वे विलिंगता का स्पष्ट उल्लेख करते हैं,[5] तो दूसरी ओर वे **'कालतरः'**, **'कालितरा'**, **'कुमारितरा'**, आदि उदाहरणों से यह सिद्ध करते हैं कि समास में सलिंग प्रयोग भी सम्भव होते है।[6] इसकी पहचान है : **'सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्**।' अर्थात्, वाग्व्यापार के बृहत् लक्ष्य के समान ही समासरचना का लक्ष्य भी वक्ता के अभिप्राय की पूर्णाभिव्यक्ति ही है। यह अभिव्यक्ति उसी क्षण पूर्ण हो जाती है, जिस क्षण 'सोऽयम्' के रूप में निश्चयात्मक प्रतीति हो जाती है। इसीलिए इस विषय में किसी सर्वव्यापक नियम की कल्पना नहीं की जा सकती।

१५.७४ द्रव्य से अभिन्न

संख्या के समान ही 'लिंग' भी मूलतः द्रव्यात्मा से अभिन्न ही रहता है।[8]

---

१. पा० ४. १. ४-६।
२. वा० ३. १४. १३५।
३. वही, १५३., पा० ६. ३. ३४, ४३।
४. वा० ३. १४. १४०।
५. वही, १६१।
६. वही, १६२-३।
७. वही, १६५।
८. वही, १६७।

उसे केवल बाह्यचिह्नों के रूप में ही सीमित नहीं मान बैठना चाहिए। 'मृगदुग्ध' स्वयं में एक द्रव्य है। उसके अंशरूप में न 'मृगी' का अस्तित्व है, न 'मृग' का। अतः लिंग उस सम्पूर्ण द्रव्य का ही होना चाहिए। पर, इस पर भी, यदि वृत्ति-प्रसंग में खींचातानी की ही जाए, तब यह सिद्ध होगा कि 'दुग्ध' क्योंकि 'मृगी' का ही संभव है, मृग का नहीं, अतः 'मृगदुग्ध' कहने का अभिप्राय स्वतः 'मृगीदुग्ध' ही है। परन्तु जब हम 'गार्गीपुत्र' कहते हैं, तब 'गार्ग्य का पुत्र' अर्थ सम्भव होने पर भी हम 'गार्गी' का प्रयोग साभिप्राय करते हैं। अतः वहां सलिंग प्रयोग ही होता है।[1] वहां 'मातृत्व' पर बल होता है। इस बात को समझकर ही यह भी कहा जा सकता है कि 'काल' और 'काली' के समान 'गार्ग्य' और 'गार्गी' भी दो भिन्न-द्रव्यसूचक शब्दों के रूप में ही समास में व्यवहृत होते हैं। 'गार्गी' को 'गार्ग्य' का महज़ स्त्रीलिंगरूप नहीं कहा जा सकता। 'शुक्लपटा' में यह स्थिति भिन्न है। यहां 'पटा' स्त्रीलिंगात्मक है, जबकि 'शुक्ल' विलिंग है। पर यह प्रयोग 'साधु' है। कारण यह कि 'शुक्ल' शब्द गुणवाचक और विशेषण है। यह गुण किसी भी द्रव्य में रह सकता है। अतः द्रव्य से अभिन्न होने के कारण इसमें, समासावस्था में, लिंग-प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती। उस द्रव्यविशेष में ही संख्या और लिंग का योग रहता है।[2]

१५.७५ विरोध और पुंवद्भाव

समास-प्रसंग में पाणिनि 'भाषितपुंस्क' शब्दों में 'पुंवद्भाव' स्वीकार करते हैं।[3] दूसरी ओर, हमें 'गार्गीपुत्र' जैसे ऐसे समास भी मिलते हैं, जो 'पुंलिंगान्त' होकर भी, प्रथम पद में स्त्रीलिंग से युक्त होते हैं। 'मृगदुग्ध' से इस उदाहरण में एक बड़ा विरोध दिखाई देता है। इसका वास्तविक कारण ऊपर दिया जा चुका है। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह 'विरोध' नहीं है, बल्कि वक्ता के अभिप्राय के अनुकूल अभिव्यक्ति का एक सामान्य मार्ग है। अत्यधिक विस्तार से भर्तृहरि सिद्ध करते हैं कि स्त्रीलिंग 'संस्त्यान' पर निर्भर करता है; किन्तु इस 'संस्त्यान' की अभिव्यक्ति प्रत्ययों के माध्यम से ही हो, यह अनिवार्य नहीं है।[4] दूसरे शब्दों में, प्रत्यय की उपस्थितिमात्र का अर्थ ही 'संस्त्यान' नहीं है। वस्तुतः प्रत्ययार्थ 'जाति' को बताता है, 'संस्त्यानादि' गुणों को नहीं।[5]

---

१. वही, १३५।
२. वही, १३६-७।
३. पा० ६. ३. ३४, ४३।
४. वा०, ३.१४.१७२-६।
५. वही, १८०।

'शुक्लपटा' आदि उदाहरणों में व्याख्या यह की जा सकती है कि 'शुक्ल-पटा' में आश्रयद्रव्य 'पट' है, और वह प्रधान है। वहां स्त्रीत्व आदि की प्रतीति प्रत्ययों से अवश्य होती है, परन्तु उन प्रत्ययों से उनके द्रव्यत्व में कोई अन्तर नहीं आता। अतः 'स्त्रीत्व' की पहचान भी 'सोऽयम्' के विनिश्चय के रूप में ही होती है[1]। वास्तविकता यह है कि 'गुण' सदा 'सामान्य' होता है, और द्रव्य से सम्बद्ध होकर भी उसकी प्रतीति सदा 'सामान्य' के रूप में ही होती है।[2] लिंग और संख्या की पृथक् प्रतीति तो वहां अनिवार्य हो जाती है, जहां एक ही वस्तु में 'भेद-कल्पना' के द्वारा बात कहना चाहें। 'गार्गीपुत्रः' में 'गार्गी' के लिंग की स्थिति इसी प्रकार की है। यह भेदकल्पना ही 'व्यक्तित्व' का आधार है। व्यक्तित्व ही लिंग और संख्या के आधान का निमित्त बनता है। अतः **व्यक्तिकथन** अभिप्रेत होने पर ही **लिंग** और **संख्या** का कथन अभीष्ट ठहरता है।[3]

१५.७६ उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण **समास-रचना** एक ऐसा वाग्व्यापार है, जिसका अस्तित्व पद के समान ही है। जिस प्रकार 'पद' स्वतः एक **अपोद्धार-कल्पनामात्र** है, उसी प्रकार 'समास' में से 'पदकल्पना' अव्यावहारिकता-मात्र है। फिर भी हम **'पद'** में प्रकृति-प्रत्यय-कल्पना करते ही हैं। ऐसे ही 'समास' की 'वृत्ति' में पदभेद और प्रत्ययलोप आदि की बात, असत्य होते हुए भी, व्यवहारगत आवश्यकता मानकर की जाती है। 'वाक्य' और 'समास' का अन्तर भी इस दृष्टि से अवास्तविक ठहरता है। यह अन्तर केवल रूपात्मक ही कहा जा सकता है, भावनात्मक नहीं। रूपात्मक दृष्टि से प्रत्ययहीनता और प्रत्ययसंयोग की जो बात की जाती है, उसकी दृष्टि से भी यह विचार्य है कि ये दोनों बातें 'पद' से सम्बद्ध हैं, वाक्य से नहीं। 'वाक्य' तो 'वाक् की अविभाज्य इकाई' का नाम है। उसमें 'समास' का अन्तर्भाव भी सामान्य पदों की भांति ही हो जाता है। अतः **'वृत्ति'** का विचार भी 'शब्दशक्ति' के विचार के समान ही महत्त्वहीन एवं तर्का-श्रितमात्र ही है। वास्तव में वाक्य के द्वारा सम्पूर्णता में गृहीत होने वाला अर्थ 'वृत्ति' या 'शक्ति' के अन्तर्गत आने वाली 'कल्पित' शब्दराशि की भावना को भी स्वतः अन्तर्भूत करके ही बढ़ता है। ऐसे कल्पित 'उपायों' को वास्तविक मान बैठना उचित नहीं। हां, अर्थ-विचार की दृष्टि से इसकी उपयोगिता, इसे **अबुधप्रतिपत्ति का उपाय** मान कर ही, स्वीकार की जा सकती है।

---

१. वही, १८७-८।
२. वही, १८६।
३. वही, १६०-१।

सहायक ग्रन्थ सूची : BIBLIOGRAPHY

(क) शास्त्र-ग्रन्थ

१ **ऋग्वेद**, स्वाध्याय मण्डल, सतारा।

२ **अष्टाध्यायी**, चौखम्बा, बनारस।

३ **निरुक्त**, दुर्गवृत्ति, निर्णयसागर, बम्बई।

४ **श्रीमद्भगवद्गीता**, स्वाध्याय मण्डल, सतारा।

५ **मीमांसा सूत्र**, जैमिनी, आनन्दाश्रम, पूना।

६ **वैशेषिक दर्शन**, कणाद, सार्वदेशिक प्रेस, दिल्ली।

७ **सांख्य दर्शन**, कपिल, ,, ,, ,, ।

८ **काशिका वृत्ति**, चौखम्बा, बनारस।

९ **सिद्धान्तकौमुदी**, भट्टोजिदीक्षित, चौखम्बा, बनारस।

१० **महाभाष्य**, एफ्० कीलहार्न, बम्बई।

११ **महाभाष्य**, प्रदीप-प्रदीपोद्योतसहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

१२ **महाभाष्य दीपिका/टीका/त्रिपदी**, बनारस/पूना।

१३ **वाक्यपदीय**, काशी संस्कृत सीरीज़, बनारस।

१४ **वाक्यपदीय**, हेलाराज टीका, त्रिवेन्द्रम।

१५ **वाक्यपदीय**, पं० रघुनाथ शर्मा की टीका सहित दोनों खण्ड, काशी।

१६ **वाक्यपदीय**, डा० ऐयर द्वारा सम्पादित एवं अनूदित सभी संस्करण।

१७ **वाक्यपदीय**, ब्रह्मकाण्ड, चारुदेव शास्त्री, डा० सत्यकाम वर्मा, सूर्यनारायण शुक्ल, आदि की टीका सहित।

१८ **उणादिकोष, धातुपाठ, गणपाठ**, आदि का विविध ग्रन्थों से अवलोकन।

१९ **स्फोट-सिद्धि**, मण्डन मिश्र, मद्रास।

२० **शब्दशक्तिप्रकाशिका**, जगदीश तर्कालंकार, बनारस।

२१ **ऋक्प्रातिशाख्य**, डा० मंगलदेव शास्त्री, इलाहाबाद।

२२ **शब्दकौस्तुभ**, भट्टोजिदीक्षित, बनारस।

२३ **वैयाकरणभूषण**, कौण्डभट्ट, बनारस।

२४ **वैयाकरणभूषणसार**, कौण्डभट्ट, बनारस।

२५ **माधवीया धातुवृत्ति**, सायण, बनारस।

२६ **क्षीरतरंगिणी**, क्षीरस्वामी, बनारस।

२७ **स्फोट-निर्णय**, कौण्डभट्ट, पूना। इत्यादि......।

(ख) आलोचनात्मक : हिन्दी-संस्कृत

१ **अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन**, डा० कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद।
२ शब्दब्रह्मवाद : (लेख) 'झा अभिनन्दन ग्रन्थ', पूना।
३ व्याकरण-दर्शन-भूमिका, रामाज्ञा पाण्डेय, सरस्वतीभवन सीरीज़, बनारस।
४ व्याकरणदर्शनपाठिका, रामाज्ञा पाण्डेय, सर० भ० सीरीज़, बनारस।
५ **भाषातत्त्व और वाक्यपदीय**, डा०सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन, दिल्ली।
६ **संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास**, डा० सत्यकाम वर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
७ **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**, युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेर।
८ **संस्कृत का भाषावैज्ञानिक अध्ययन**, डा० भोलाशंकर व्यास, बनारस।
९ **भाषाविज्ञान**, डा० भोलानाथ तिवारी, इलाहाबाद।
१० **संस्कृत भाषा**, टी० बरो, बनारस।
११ **तुलनात्मक भाषाविज्ञान**, डा० मंगलदेव शास्त्री, बनारस।
१२ **भाषा का इतिहास**, पं० भगवद्दत्त, दिल्ली।
१३ **भाषा-सर्वेक्षण** (सभी भाग), ग्रियर्सन, दिल्ली।
१४ **भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी**, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, इलाहाबाद।
१५ **भाषा**, ब्लूमफील्ड, दिल्ली।
१६ **भारतीय भाषाविज्ञान**, किशोरीदास वाजपेयी, बनारस।
१७ **सामान्य भाषाविज्ञान**, डा० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग।
१८ **हिन्दी भाषा का इतिहास**, डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग।
१९ **हिन्दी भाषा : उद्भव और विकास**, डा० उदयनारायण तिवारी।
२० **भाषा शास्त्र**, डा० उदयनारायण तिवारी। इत्यादि………।

(ग) ENGLISH AND OTHERS

Abhyankar, K.V., *Dictionary of Sanskrit Grammar*, Poona.
Bally Ch , *Le Language et la vie*, Geneve.
Biardeau, M., Dr., *Vakyapadiya Brahmakanda*, Paris.
——, *Theorie da la Connaissance et Philosophie de la parole dans le Brahmanisme Classique*, Paris.
Bloomfield, L., *Language*, London.
Bradley, H., *The Making of English*, London.
Breal, M., *Essai de Semantique*, Paris.

Brough, J., *Theories of General Linguistics in Sanskrit Grammarians*. Transactions of the Philological Society, Oxford 1951.

——, *Some Indian Theories of Meaning*, Oxford, 1953.

Brunot, F., *La Pensee et la Langue*, Paris.

Chakravarti, P.C., *The Philosophy of Sanskrit Grammar*, Calcutta.

——, *The Linguistic Speculations of Hindus*, Calcutta.

Devasthali, Dr., *Mimansa : Vakyashastra of India*, Poona.

Deutschbein, M., *System der Neuenglischen Syntax*, Cothen.

Gardiner, H., *The Theory of Speech and Language*, New York.

Heimann, Betty, *Sphota and Artha*, Poona.

Iyer, Subramaniam K.A., *Sphatasidhi*, Deccan College, Poona

——, *Vakyapadiya with Vrtti*, Translation, Poona.

——, *Bhartrhari*, Poona.

Jesperson, Otto, *The Philosophy of Grammar*, London.

——, *Language*, London.

——, *A Modern English Grammar*, in 7 Parts, London.

Katre, S.M., *Dr., Dictionary of Panini*, Deccan College, Poona.

Lyons, J., *Introduction to Theoretical Linguistics*, Cambridge.

Madvig, J.N., *Kleine Philologische Schriften*, Leipzig.

Noreen, A., Vart Sprak, Lund.

Pandey, R. C., *The Problem of Meaning in Indian Philosophy*, Delhi

Renou, L., *Terminologie Grammaticale du Sanskrit*, Paris.

Satyavrat, Dr., *Articles regarding the Concept of Time and Space in Vakyapadiya*, Jas & Abori.

Schleicher, A., *Nomen and Verbum*, Leipzig.

Shastri, Gaurinath, *The Philosophy of Word and Meaning*, Calcutta.

Steinthal, H., *Charakteristik der hauptsachl. Typen des Sprachbaues*, Berlin.

Varma, Satyakam, Dr., *Different articles on Bhartrhari's Linguistic concepts*.

Varma, S., Dr., Articles on : *Indian Analysis* of *Meaning*.

Whatmough, Joshua, *Language*, London.

सन्दर्भानुक्रमणी

[सू०—पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि और येस्पर्सन के नामों का उल्लेख इसलिए नहीं किया गया कि वे बहुत अधिक मात्रा में विकीर्ण मिलेंगे। सारा विषय ही उनके उल्लेखों पर आधारित है। —ले०]

'डा० सत्यकाम वर्मा सम्प्रति दिल्ली विश्व विद्यालय के स्नातकोत्तर संस्थान में संस्कृत विभाग के रीडर एवं प्रमुख हैं। उनकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा 'गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार' में हुई। वहाँ से १९४८ ई० में स्नातक हुए। दिल्ली विश्वविद्यालय में उन्होंने १९५९ ई० से पढ़ाना आरम्भ किया। 'स्नातकोत्तर संस्थान' में वे १९६१ ई० से हैं। सन् १९६० में उन्हें सम्पादन और अध्यापन कार्य के लिए रोम (इटली) जाना पड़ा। सन् १९६५-६६ में वे **'वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के स्थायी आयोग'** के रुड़की विश्वविद्यालय स्थित विभाग में 'भाषाविद्' के पद पर भी रहे।

सन् १९४६ से आरम्भ कर अब तक उनके १३ मौलिक ग्रन्थ और १५ अनूदित प्रकाशित हो चुके हैं। **'भाषातत्त्व और वाक्य प्रदीप'** नाम से प्रथम 'शोध प्रबन्ध' १९६३ में प्रकाशित हुआ। **'वाक्य पदीय'** (आगम काण्ड) की त्रिभाषी टीका १९७० में सामने आई। अब इस प्रबन्ध के साथ ही उनका **'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास'** भी प्रकाशित हो रहा है।

हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी

(Hindi Phonetics and Phonemics)

लेखक

डा० रमेश चन्द्र महरोत्रा

एक ओर हिन्दी की और दूसरी ओर भाषा विज्ञान की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई परिधियों के बीच प्रकाशित इस पुस्तक में हिन्दी के खंडीय और अखंडीय ध्वनियों की संध्वनियों और क्रमों सहित हिन्दी उच्चारण के विपत्खण्ड तक के विविध पक्षों से संबंधित स्थूल और सूक्ष्म तथ्यों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। यह अध्ययन तथाकथित परिनिष्ठित या प्रामाणिक हिन्दी के उच्चारण का सम्पूर्ण-स्वरूप लेकर चला है, अर्थात् यह किसी विशेष स्वबोली पर आधारित न होकर विभिन्न क्षेत्रों की बहुत सी स्वबोलियों के सामान्यत्व पर आधारित है। एक कालिक उपगम का आश्रय लेकर किए गए इस कार्य में यथास्थान विवादास्पद प्रश्नों को भी सुलझाने का प्रयास किया गया है। विषय का विवेचन पारिभाषिक सीमाओं में होने के कारण यह पुस्तक सामान्य पाठक के लिए न होकर ऐसे विद्यार्थियों के लिए है, जिन्हें वाणी की क्रिया-विधि रुचिकर लगती हो और जो भाषा विज्ञान के प्रवाह में हाथ-पैर मारना आरम्भ कर चुके हों।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार इस महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय कार्य की पहुँच हिन्दी भाषा सीखने और इसमें आगे शोध करने के इच्छुक सभी विद्यार्थियों तक शीघ्रातिशीघ्र होनी चाहिए।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में वैज्ञानिक पद्धति पर किये गये इस मौलिक कार्य के निष्कर्ष हिन्दी की ध्वनिकी और ध्वनिमी से संबंधित अनेक समस्याओं पर नव्य प्रकाश डालते हैं।

डा० उदय नारायण तिवारी की दृष्टि में हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रीय मानक अन्वेषित करने का दुष्कर कार्य निष्ठावान शोधार्थियों द्वारा इस अध्ययन को आदर्श मान कर किया जाना चाहिए।

रु० १८.५०

* * *

प्राकृत-प्रवेशिका

(Int:oduction to Prakrit)

लेखक

आल्फ्रेड सी० वूलनर

अनुवादक

डा० बनारसी दास जैन

रु० १८.५०